हिन्दी

॥ श्री ज्ञानेश्वरी ॥

पारायण प्रत

श्री ज्ञानेश्वर महाराज संस्थान आळंदी से प्रकाशित

हिन्दी पारायण प्रत

श्री ज्ञानेश्वर महाराज संस्थान

आळंदी द्वारा प्रकाशित

हिन्दी

श्री ज्ञानेश्वरी

पारायण प्रत

प्रकाशक

श्री ज्ञानेश्वर महाराज संस्थान

आळंदी, जि. पुणे.

प्रकाशक-प्रमुख विश्वस्त
ज्ञानेश्वर आगाशे,
श्री ज्ञानेश्वर महाराज संस्थान,
आळंदी.

□

श्री ज्ञानेश्वरी
अनुवादिका

□

प्रथम संस्करण १९९६-१९९७
(श्री ज्ञानेश्वर महाराज संजीवन समाधि
सप्तशताब्दी महोत्सवी वर्ष के
उपलक्ष मे प्रकाशित

□

टाइपसेटींग
एच्. एम्. टाइपसेटर्स
११२० सदाशिव पेठ,
पुणे ३०.

□

मुद्रक
प्रमोद वि. बापट
स्मिता प्रिंटर्स
१०१९ सदाशिव पेठ,
पुणे ३०.

□

मूल्य : १२५ रु.

ॐ

।।वन्दना।।

नमो ज्ञानेश्वर निष्कलंका। जिनकी गीताकी पढते टीका।
ज्ञान होवे लोगोंको नीका। आतिभाविक ग्रंथार्थियोंको।।

सन्त एकनाथ

"चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति" ज्ञानी मनुष्य अज्ञानियोंकों को मार्ग दिखाते हैं। भारतीय वाङ्मय की आत्मा है वेद। उसका प्राण है प्रस्थानत्रयी-उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्र। इनमें श्रुति, अनुभूति और युक्ति के रूप में वेद ही विवृत हुआ है।

"भावार्थ दीपिका" अथवा "ज्ञानेश्वरी" में सन्त ज्ञानेश्वर का सन्तत्व उनका विदेह, आत्मसाक्षात्कार की उद्दीप्त अनुभूति तथा एक रससिद्ध कवि की कविता दृष्टिगोचर होती है। मराठी साहित्यका यह सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। मराठी भाषा-भाषी जनता ही प्राचीन मराठी भाषासे विभूषित इस "ज्ञानेश्वरी" का ज्ञानासव पान करें और हिन्दी भाषा-भाषी जन इसके अमृत रसास्वादन से वंचित रहें यह तो "ज्ञानेश्वरी" के ऐश्वर्य को संकुचित रहने देना होगा।

सौभाग्यवती उर्मिला जामदार के उदात्त हृदय को ज्ञानेश्वरी का यह भाषा-बन्धन केवल अप्रिय ही नही प्रतीत हुआ अपितु वह उन्हे अपनी मुक्ति और प्रसार के लिये प्रेरणा देता रहा, एवं परमात्मा की अहेतुकी कृपा से उन्हे निरन्तर अनुवाद के लिये प्रेरित करता रहा।

श्रीमती जामदार ने ज्ञानेश्वरी का यह अनुवाद उसके मूलरूप से निकटतम संबंध बनाये रखते हुये ही किया है। प्रभु प्रेरणा से यह अनुवाद मूल ओवी छंद में ही प्रस्फुटित हुआ है यह इसकी विशेषता है।

बडी प्रसन्नता की बात है कि "श्री ज्ञानेश्वर संस्थान आळंदी" द्वारा इस अमृतवर्षिणी ज्ञानेश्वरी की इस ऐतिहासिक "हिन्दी ज्ञानेश्वरी पारायण प्रत" का प्रकाशन सन्तश्री ज्ञानेश्वर महाराज संजीवन समाधि सप्तशताब्दी महोत्सवी वर्ष में प्रस्तुत हो रहा है।

राष्ट्राभाषा हिन्दी में यह ग्रंथ श्री ज्ञानेश्वर महाराज का यह श्रेष्ठ एवं विश्वकल्याणकारी तत्त्वज्ञान संपूर्ण मानवमात्र को आलोकित करें यही प्रभु चरणों मे प्रार्थना!

अन्त मे श्री ज्ञानेश्वरी की दिव्य वाणीमें :-
आगे आगे सब जीवजाति। लाहे इस ग्रंथ की पुण्यसंपत्ति।।
होवे संपूर्ण सुख की प्राप्ति। सब को सदा।।

ॐ तत्सत्
महामंडलेश्वर नरसिंहपीताधीश
महन्त श्री रामचंद्रदासजी शास्त्री

अथ ध्यानम्

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्नयं,
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं, भगवतीमष्टादशाध्यायिनी,
मम्ब त्वामनुसंधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।। १।।
नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वलितो ज्ञानमयः प्रदीपः।। २।।
प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः।। ३।।
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।। ४।।
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद् गुरुम्।। ५।।
भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला।
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी।
सोत्तीर्गा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः।। ६।।
पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं,
नानाख्यानकेसरं हरिकथासंबोधनाबोधितम्।
लोके सज्जनषट् पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा,
भूयाद्भारतपंकजं कलिकमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे।। ७।।
मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्।। ८।।
यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुवन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो,
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः।। ९।।

– गीता ध्यान समाप्त –
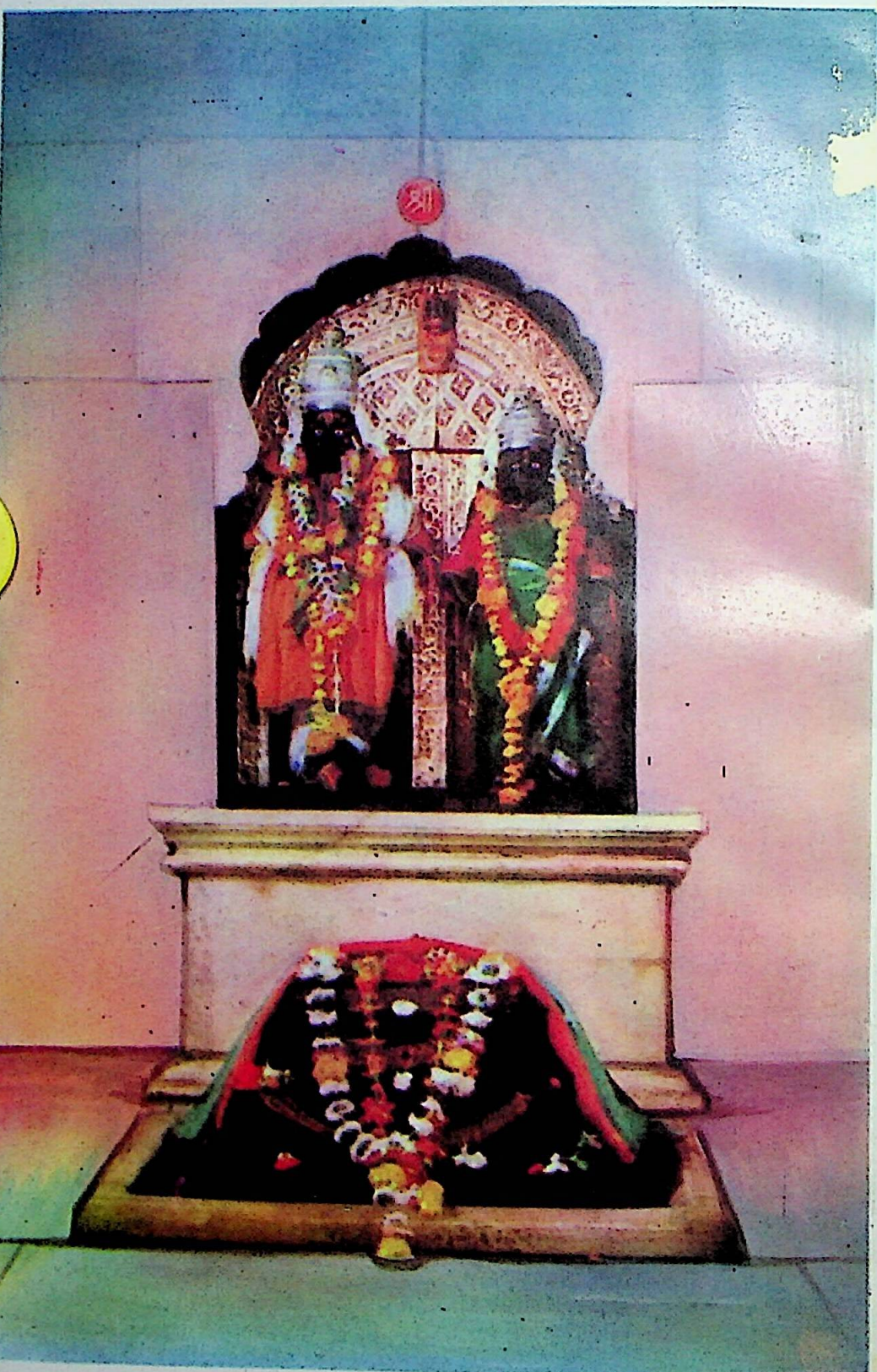
संजीवन - समाधी

श्री ज्ञानेश्वर महाराज संजीवन समाधि सप्तशताब्दी महोत्सव
(हिन्दी पारायण प्रत प्रस्तावना)

प्रकाशक का मनोगत :

ग्रंथराज "श्री ज्ञानेश्वरी" यह मराठी साहित्यका अनमोल अलौकिक रत्न है। ज्ञानेश्वरी का सौंदर्य बहुरंगी है। वैश्विक साहित्य की गरिमा प्राप्त यह काव्यात्मक साहित्यकृति वास्तव में प्रत्येक शिक्षक ने शिक्षणशास्त्र के अध्ययन के लिये अवश्य पढना चाहिये। अद्वैत तत्त्वज्ञान का यह ओवी रूप "मधुकलश" है। मोक्ष प्राप्ति के लिये आवश्यक ज्ञान, भक्ति कर्म इन तीन मार्गों का सुयोग्य समन्वय साधनेवाली काव्यगंगा है; काव्य, विद्वत्ता और मोक्षसाधना का त्रिवेणी संगम है। काव्यरूप में अलंकृत यह तत्त्वज्ञान सामान्यजनोंके लिये सुलभ करके सादर किया है।

मेरी शुद्ध बोली प्राकृत। अमृत से भी पैज लेत।
ऐसे रसिक अक्षर बहुत। संकलित मैने।
सुनो सुरसता का गुण। जो जिव्हा होत श्रवण।
इंद्रियो मे कलह उत्पन्न। आपस मे।।
जो जो भेटत भूत। मानिजे उसे भगवंत
यह भक्तियोग निश्चित। जानो मेरा।।

सन्त श्री नामदेव महाराज ज्ञानेश्वरी के वैभव का वर्णन करते हुए कहते है "इस दिव्य ग्रंथ के कम से कम एक ओवी का अनुभव जीवनमें अवश्य लेना चाहिये"।

ऐसे अथाह अनुभवसागरमे श्री ज्ञानेश्वर महाराज के संजीवन समाधि सप्तशताब्दी को कार्तिक वद्य त्रयोदशी शके १९१८ को सातसौ साल पूर्ण हो रहे है। इस सप्तशताब्दी महोत्सवी वर्ष के उपलक्ष्यमे इस ज्ञानेश्वरी हिन्दी पारायण प्रत के प्रकाशन को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है।

"सातसौ" इस संख्या को भगवद्गीतामें और उसीके अनुषंगसे ज्ञानेश्वरी में अलौकिक स्थान प्राप्त हुआ है।

गीता के सातसौ श्लोक न होते तो यह अमर्याद ब्रह्म की प्राप्ति किसीको कैसी होती? ऐसा प्रश्न करते हुए ज्ञानेश्वरजीने इस संख्या के आशय की और

सबका लक्ष्य आकृष्ट किया है। ज्ञानेश्वरजी के दृष्टि में भगवद्गीताके सातसौ श्लोक ये अविद्यारूप अंधेर का नाश करनेवाले और सूर्य को भी प्रतिज्ञापूर्वक जीतनेवाले सातसौ सूर्य ही हैं। अथवा संसारमार्गपर अग्रसर श्रान्त पथिकोंका श्रमपरिहार के लिये गीतारूप मंडप के उपर सातसौ श्लोकों की अक्षररूपी द्राक्षलतिकायें प्रसरित हुई हैं। श्री ज्ञानेश्वरजी के अवतार-समाप्ति के संधि कालको सातसौ साल पूर्ति के अवसर पर यह ऐतिहासिक 'हिन्दी पारायण प्रत' प्रकाशित करते समय श्री ज्ञानेश्वर महाराज संस्थान आळंदी के समस्त विश्वस्तजनोंको अतीव समाधान की अनुभूति हो रही है।

इस प्रारंभिक आवृत्ति के निर्माण कार्य मे जिन जिन महानुभावोंका सहयोग प्राप्त हुआ है उन सबको मनःपूर्वक धन्यवाद!

कार्तिक वद्य त्रयोदशी
शके १९१८
८-१२-१९९६.

प्रमुख विश्वस्त
ज्ञानेश्वर आगाशे
श्री ज्ञानेश्वर संस्थान
आळंदी

॥ॐ॥

गीता ज्ञानेश्वरी

श्री ज्ञानेश्वरी पारायण पद्धति

दिवस	पद्धति	ओवी संख्या
१.	प्रथम अध्याय से चतुर्थ अध्याय पर्यंत	११२७
२.	पंचम अध्याय से अष्टम अध्याय पर्यंत	११५८
३.	नवम् अध्याय से ग्यारहवे अध्याय पर्यंत	११७८
४.	बारहवें अध्याय से तेरहवें अध्याय पर्यंत	१४१७
५.	चौदहवें अध्याय से पन्द्रहवें अध्याय पर्यंत	१०१४
६.	सोलहवें अध्याय से सतरहवें अध्याय पर्यंत	९०६
७.	अठारहवें अध्याय सम्पूर्ण	१८१०
	कुल	९०१०

।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – पहला

।। श्री गणेशाय नमः।।

ॐ नमोजी आद्या। वेद प्रतिपाद्या। जय जय स्वसंवेद्या आत्मरूपा।।१।। देव! तुम ही गणेश। सकलार्थ मति प्रकाश। कहे निवृत्तिदास। श्रवण कीजिये जी।।२।। जो शब्द ब्रह्म अशेष। वही मूर्ति सुवेश। वर्णवपु निर्दोष। विराजित।।३।। स्मृति वही अवयव। देखो आंगिक भाव। पूर्ण लावण्य लाघव। अर्थशोभा।।४।। अष्टादश पुराण। वे ही मणि

भूषण। पद पद्धति कुंदन। प्रमेय रत्नों की।।५।। पदबंध नागर। रंग दिया अंबर। साहित्य बाना सुंदर। प्रकाश मान।।६।। काव्य नाटक देखा। कटि योजना सकौतुका। रुनझुनत क्षुद्र घंटिका। अर्थध्वनि।।७।। नाना प्रमेय प्रकार। श्लेषादिक अलंकार। मार्मिक पद झंकार। रत्न मंडित।।८।। व्यासादि की सुमत। कटि मेखला शोभत। विमलता झलकत। पल्लव दशा।।९।। देखिये! षड्दर्शन कहत। वही सुंदर भुजाकृत। विसंवाद धारण करत। आयुध हस्त।।१०।। तर्क सोही फरश। नीति भेद अंकुश। वेदांत महारस। मोदक सोहे।।११।। एक हस्त में दंत। जो स्वभावतः खंडित। सोही बौद्धमत संकेत। वार्तिकों का।।१२।। पद्मकर वरद। सहज सत्कारवाद। धर्म प्रतिष्ठा सिद्ध। अभय हस्त।।१३।। देखो! विवेकवंत सुविमल। वही शुंडादंड सरल। परमानंद केवळ। महासुखों का।।१४।। संवाद सोहे दशन।जो समता शुभ्रवर्ण। देव उन्मेषसूक्ष्मेषण। विघ्नराज।।१५।। मुझे प्रतीत दो कर्ण। मीमांसा श्रवण स्थान। बोध मदामृत मुनिजन। अलि सेवत।।१६।। प्रमेय प्रवाल सुप्रभ। द्वैताद्वैत निकुंभ। समसमा सोहे इभ--। मस्तक स्थान।।१७।। उपरि दशोपनिषद। उदार ज्ञान मकरंद। सुमन मुकुट सुगंध। विराजित।।१८।। अकार चरण युगल। उकार उदर विशाल। मकार महामंडल। मस्तकाकार।।१९।। तीन तत्त्व एक हुए। शब्द ब्रह्म प्रकट भये। गुरुकृपा नमन किये। आदि बीज।।२०।। जो अभिनव वाग् विलासिनी। चातुर्यार्थ कलाकामिनी। सो श्री शारदा विश्वमोहिनी। वंदी मैंने।।२१।। मेरे हृदयस्थ सद्गुरू। पार किया संसार सागरू। अतः विशेष अत्यादरू। विवेक बोध में।।२२।।

नेत्रांजन जहां पावत। तहां दृष्टिज्ञान प्रकटत। मार्ग स्पष्ट दिखत। महानिधि का।।२३।। या चिंतामणि हुआ प्राप्त। सदा विजय मनोरथ। वैसा मैं पूर्ण काम श्री निवृत्त। कहे ज्ञानदेव।।२४।। अतः सूझे गुरु भजिजे। स्वयं कृतकार्य होईजे। जैसे मूल सिंचन से सहजे। शाखा पल्लव संतोषत।।२५।। तीर्थ सकल त्रिभुवन में। होत समुद्र अवगाहन में। या अमृत रसास्वादन में। रस सकल।।२६।। वैसा वांछित मनोरथ। पूर्ण करे जो समर्थ। सो अभिनमित श्री गुरुनाथ। बारंबार।।२७।। अब सुनिये कथा गहन। जो सब कौतुक जन्मस्थान। या अभिनव उद्यान। विवेक तरुका।।२८।। सर्व सुखों की आदि। प्रमेय महानिधि। नवरस सुधाब्धि। परिपूर्ण जो।।२९।। या परमधाम प्रकट। सकल विद्या मूलपीठ। शास्त्रजातको विशिष्ट। आधार स्तंभ।।३०।। सकल धर्म आधार। सज्जनों का जिव्हार। लावण्य रत्न भण्डार। शारदाजी का।।३१।। नाना कथा रूप भारती। प्रकट भयी त्रिजगती। अविष्कार महामती। व्यास मुनी का।।३२।। अतः यह काव्य राव। ग्रंथ गुरुबती का ठाव। नवरस को प्रकट भाव। विशेष रूप।।३३।। सुनो सज्जन सुमता। शब्द श्री सत् शास्त्रीयता। महाबोध में कोमलता। प्रकट भयी।।३४।। चतुरता प्रवीण भयी। प्रमेय को सुरुचि आयी। भाग्यश्री वर्धित हुई। महासुख की।।३५।। माधुर्य को मधुरता। श्रृंगार को सुंदरता। योग्यता को श्रेष्ठता। शोभत यहां।।३६।। कला को कुशलता प्राप्त। पुण्य को अधिक प्रताप। अतः जन्मेजय का पाप। सहज नष्ट।।३७।। यदि देखे क्षणैक। रस में सुरसता अधिक। गुण सगुण अत्यैक। वर्धमान।।३८।। भानु तेज प्रकटत। त्रैलोक्य पूर्ण प्रकाशत।

व्यास मति जगत शोभत। प्रकाश युक्त।।३९।। जैसे सुक्षेत्र में बीज। प्रस्फुटत सहज। भारत में अर्थजात सहज। प्रकटत।।४०।। अथवा नगरांतर में बसिजे। स्वयं नागर होईजे। वैसे व्यासोक्ति तेजे। आलोकित सकल।।४१।। होवे यौवनावस्था प्राप्त। लावण्य शोभा अतुलित। जैसी न्यारी प्रकटत। अंगना अंग में।।४२।। होत वसंतागमन। प्रगट वन शोभाखान। आदि से अति सुहावन। सृष्टि रूप।।४३।। नाना घनीभूत सुवर्ण। जैसे प्रतीत साधारण। अलंकार सौंदर्य पूर्ण। शोभा न्यारी।।४४।। वैसे व्यासोक्ति अलंकृत। इतिहास पुराण प्रतिष्ठित। लीनता अंगी धरत। महाभारत में।।४५।। नहीं जो ज्ञान भारत में। पावत नहीं त्रिलोक में। इसीलिये कहा वर्णन में। "व्यासोच्छिष्ट जगत्रय"।।४६।। ऐसी यह सुरस कथा। जो उद्गम परमार्था। मुनि कहे नृपनाथा। जन्मेजय को।।४७।। जो अद्वितीय उत्तम। पवित्रैक निरूपम। परम मंगल धाम। श्रवण कीजियेजी।।४८।। अब भारत कमल पराग। गीताख्य सुप्रसंग। वक्ता स्वयं श्रीरंग। श्रोता अर्जुन।।४९।। कि यह शब्द ब्रह्माब्धि। मंथन करत व्यास बुद्धि। प्रकटत निरवधि। नवनीत यह।।५०।। ज्ञानाग्नि संपर्क। पाक सिद्ध विवेक। हुआ पद परिपाक। घृतामोद।।५१।। विरागी जिसे अपेक्षत। नित्य संत अनुभवत। ब्रह्मनिष्ठ सतत स्मरत। सोहं रूप।।५२।। जो भक्ति से श्रवणीय। त्रिजगत में आदि वंद्य। भीष्मपर्व सुनय (सुनीति) वर्णितजोनिर्देशित।।५३।। भगवद्गीता जिसे कहिजे। ब्रह्मेश स्वयं प्रशंसिजे। सनकादिक सेविजे। आदरयुक्त।।५४।। जैसी शारदीय चंद्रकला--। मध्ये अमृत-कणिका कोमला। चुगत मन से सकुशला। चकोर-

चूजे।।५५।। वैसे सूज्ञ रसिक श्रोता। अनुभविजे यह कथा। लाकर अति कोमलता। चित्तवृत्ति में।।५६।। यह शब्द रहित संवादिजे। इंद्रियों बिना भोगिजे। वाणी पूर्व पाविजे। प्रमेय सिद्धि।।५७।। जैसे भ्रमर पराग लेत। नहीं कमलदल जानत। वैसी कुशल रीत। ग्रंथ सेवन की।।५८।। या अपना ठाँव न छांडत। प्रकटत चंद्रमा आलिंगत। अपूर्व अनुराग भोगत। कुमुदिनी हृदय।।५९।। ऐसा जो गंभीर। अंतःकरण जिसका स्थिर। वही जाने कथासार। न अन्य।।६०।। अहो अर्जुन के समान। श्रवण में पूर्ण सावधान। वे कृपालु संत जन। अवधान देवें।।६१।। सुन बालक का तुतलाना। अति संतोष समाधाना। पावत सहज पितर मना। स्वभावतः।।६२।। आपका सखोल हृदय। प्रभु सदा दयामय। दुलार से करत विनय। चरण में।।६३।। अंगीकृत आपका देखिये। अब न्यून मेरा सहिये। क्षमा सहज कीजिए। प्रार्थना किसलिये?।।६४।। किंतु मेरा अपराध अन्य। जो मैं गीतार्थ में महान। आपको मांगत अवधान। श्रवण के लिये।।६५।। यह दुष्कर गीतार्थ। साहस करे मेरा चित्त। क्या सूर्य के समक्ष खद्योत। शोभा देत?।।६६।। क्षुद्र चोंच से आपुन। टिट्टिभ समुद्र करे प्राशन। वैसा मेरा यह प्रयत्न। दुष्कर अति।।६७।। यदि आकाश को लिपटाना। स्वयं उससे विशाल होना। यह तत्त्वार्थ समझाना। अनाकलनीय।।६८।। इस गीतार्थ का महत्व। स्वयं शंभू वर्णन करत। श्री भवानी प्रश्न पूछत। विस्मित होकर।।६९।। हर कहे अनोखा। देवी जैसा रूप आपका। नित्य नूतन देखा। गीता तत्व।।७०।। यह वेदार्थ-सागर। जिस निद्रित की घरघर। वह स्वयं सर्वेश्वर। प्रत्यक्ष वर्णित।।७१।। ऐसा जो

अगाध। जहां भ्रमित प्रत्यक्ष वेद। वहां मैं अति मतिमंद। अल्पबुद्धि।।७२।। यह अपार कैसे जानिजे। महातेज किससे प्रकाशिजे। गगन मुठ्ठी में समाइजे। मशक से कैसे?।।७३।। किंतु यहां एक आधारू। मैं कहत साधारू। सानुकूल सद्गुरु। कहे ज्ञानदेव।।७४।। वैसा मैं बालक मूर्ख। करत हूं अविवेक। संतकृपा दीपक। सोज्वल होत।।७५।। लोह का कनक होत। पारस में यह सामर्थ्य। कि मृत ही होत जीवित। अमृतसिद्धि।।७६।। या सिद्ध सरस्वती प्रसन्न होत। मूक सुंदर वाचा पावत। यहां केवल वस्तुशक्ति सामर्थ्य। आश्चर्य कैसे?।।७७।। जिसकी स्वयं कामधेनु माता। उसको सब सुलभ सर्वथा। प्रवर्तत ग्रंथ कथा--। कथन में।।७८।। इसलिये न्यून को पूर्ण। अधिक वह सान। कर लीजिये कृपा निधान। विनय नम्र।।७९।। अब दीजिये अवधान। मेरी वाणी आपके आधीन। जैसे चेष्टत सूत्राधीन। दारू यंत्र।।८०।। वैसा मैं अनुग्रहीत। साधुजन आज्ञांकित। जो स्वेच्छा से अलंकारत। प्राणिमात्र।।८१।। तब कहे गुरुनाथ। न बोलिजे अन्य बात। अब ग्रंथ में दीजे चित्त। शीघ्रातिशीघ्र।।८२।। सुन गुर्वाज्ञा निवृत्तिदास। पावे परम उल्हास। सुनिये कहे मन को अवकाश। देके पूर्ण।।८३।।

धृतराष्ट्र उवाच--

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः। मामकाः पांडवाश्चैव किम कुर्वत संजय।।१।।

तब पुत्रप्रेम से मोहित। धृतराष्ट्र नृप पूछत। कहो संजय बोलिये बात। कुरु क्षेत्र की।।८४।। जो धर्मालय कथित। गये जहां लेकर हेत। मेरे पुत्र और पंडुसुत। युद्ध काज

का।।८५।। वे वहां इस अवसर पर। क्या करत हैं परस्पर। कथन करो शीघ्र। मुझको सब।।८६।।

संजय उवाच--

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा। आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्।।२।।

तब बोले संजय। उछलत पांडव सैन्य। जैसा भयंकर महाप्रलय। कृतांत मुख।।८७।। वैसे वह घनदाट। सज्ज होत एक बाट। जैसे उफनत कालकूट। शमवत कौन?।।८८।। अथवा बड़वानल भड़कत। प्रलयवात पोखत। शोषत सागर उछलत। अंबर तर।।८९।। वैसे दल दुर्धर।। नाना व्यूह परिकर। अवगमत भयंकर। उस समय।।९०।। देखके वह दूर्योधन। अवहेलित तुच्छ जान। जैसे न गणिजे पंचानन। गजघण्टा।।९१।।

दुर्योधन उवाच--

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्। व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।३।।

तब द्रोण के सन्निध। जाकर कहत विबुध। उछलत दलभार किस विध। पाण्डवों का।।९२।।गिरी दुर्ग जैसे चलत। वैसे विविध व्यूह शोभत। रचना करत बुद्धिमंत। द्रुपद कुमर।।९३।। जो आप से दीक्षित। विद्यानिधि मूर्तिमंत। चतुर सैन्य सिंह बिखरत। देख देख।।९४।।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि। युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।४।।

और भी असाधारण। शस्त्रास्त्रों में प्रवीण। क्षात्र धर्म में निपुण। महावीर।।९५।। बल

पराक्रम से योग्य। भीमार्जुन तुल्य। सकौतुक सहज वर्ण्य। बतलाऊं मैं।।९६।। यहां युयुधान सुभट। आया हुआ विराट। महारथी श्रेष्ठ। द्रुपद वीर।।९७।।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्। पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः।।५।।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्। सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।।६।।

चेकितान धृष्टकेत। काशीराज वीर विक्रांत। उत्तमौजा नृपनाथ। शैब्य देखो।।९८।। कुंतिभोज युधामन्य। पुरुजितादि सब अन्य। देख सुभद्राहृदयनंदन। प्रति अर्जुन।९९।। और भी द्रौपदी कुमर। ये सब महारथी वीर। अनगिनत अपार। पहुंचे यहां।।१००।।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम। नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।।७।।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः। अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।।८८।।

अब अपने दल नायक। जो रूढ़वीर सैनिक। आप आदि प्रमुख। निर्देशु मैं।।१।। यह भीष्म गंगानंदनु। जो प्रताप तेजस्वी भानु। रिपुगज पंचाननु। कर्णवीरु।।२।। इन एक-एक का मनोव्यापार। करे विश्व का संहार। पूरा कृपाचार्य वीर। अकेला एक।।३।। यहां विकर्ण महावीर। अश्वत्थामा पैलपार। सदैव जिसका डर। कुतांत मन में।।४।। समितिंजय सोमदत्त। ऐसे और भी बहुत। जिनका बल अपरमित। धाता न जाने।।५।।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः। नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्ध विशारदाः।।९।।

जो शस्त्रविद्या पारंगत। मंत्रावतार मूर्त। जिनसे अस्त्रजात समस्त। रूढ़ होत।।६।। ये अप्रतिमल्ल जगत में जान। वीरता प्रताप संपूर्ण। समर्पित जीव प्राण। मेरे काज।।७।।

जैसा पतिव्रता हृदय। पतिबिन न स्पर्शत अन्य। वैसा मैं अनन्य। इन सुभटों का।।८।। मेरे कार्य पूर्ति कारण। न गिनत स्वयं के प्राण। ऐसे अति उत्तम महान। स्वामिभक्त।।९।। युद्ध निपुण चतुर। कीर्ति कुशलता अपार। क्षात्रनीति साचार। रूढ़ इन्हीं से।।१०।। ऐसे सर्वतोपरि निपुण। मेरे दल में विद्यमान। अनगिनत सुजान। अपार वीर।।११।।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्। पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।।१०।।

सर्व क्षत्रियों में सुभट। जो जगजेठी जंगश्रेष्ठ। सेनाधिपत्य का पाट। उस भीष्म को।।१२।। इसके बल अधीन। दुर्ग जैसा रचित सैन्य। न कोई वीर समान। लोकत्रय में।।१३।। पहिले ही समुद्र जैसा। अति दुस्तर होत वैसा। उस पर वड़वानल सरिसा। सहायकर्ता।।१४।। अथवा प्रलय वन्हीं महावात। इन दोनों का संघात। वैसा यह गंगासुत। सेनापति।।१५।। अब जूझे इससे कौन। अल्प सांच पांडवसैन्य। पर रचना कुशल महान। दिखत अतुल।।१६।। उस पर भीमसेन समर्थ। हुआ उसका सेनानाथ। कहकर नृप इतनी बात। स्तब्ध होत।।१७।।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः। भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।११।।

तब नृप पुनः बोलत। सब सेनापति को आदेशत। अपने दलभार त्वरित। करो सिद्ध।।१८।। जिनके आधीन जितनी। रण मे स्थित अक्षौहिणी। कीजेउसकी निगरानी। महारथियों।।१९।। अपनी अक्षौहिणी सम्हालिये। भीष्माज्ञा सम्मानिजे। द्रोण को कहत कीजिये। निगरानी सबकी।।२०।। मानो भीष्म को मुझसमान। यत्न से करो उनका

रक्षण। वे ही कुरुसैन्य के महान। आधार स्तंभ।।२१।।

संजय उवाच--

तस्य संजयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः। सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखः दध्मौ प्रतापवान्।।१२।।

सुनके नृप की यह बात। वृद्ध सेनापति संतोषत। अति आनंद से करत। सिंहनाद।।२२।। वह नाद अति विलक्षण। दोनों सैन्य में संपूर्ण। प्रतिध्वनि अंबर में दारुण। न समावत।।२३।। साथ यह प्रतिरव। वीरवृति प्रभाव। दिव्यशंख भीष्म देव। आस्फुरित।।२४।। ये दो नाद एकत्रित। त्रैलोक्य बधिरि भूत। गिरे आकाश होके खंडित। अवनीपर।।२५।। धड़धड़त अंबर। उछलत सागर। क्षोभत चराचर। छूटत कंप।।२६।। वह महाघोष गजर। दुमदुमत गिरिकंदर। गर्जत रण वाद्य स्वर। दोनो दल मे।।२७।।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः। सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।१३।।

रणवाद्य नाना प्रकार। नाद जिनका भयंकर। कांपत बलवंत धीर। महाप्रलय में।।२८।। भेरी निशान मांदल। शंख झांज ढोल। भयासुर रण कोलाहल। सुभटो का।।२९।। आवेग से दंड ठोकत। गर्जत परस्पर पुकारत। महामद गजझुंड होत। निरंकुश यहां।।१३०।। वहां भीरू की क्या बात। कस्पट सम उड़त जात। दचकत स्वयं कृतातं। डरत मन में।।३१।। कइयों के खड़े-खड़े प्राणजात। कइयों की बोलती बंद होत। शूरवीर को छूटत। कँपकँपी तन में।।३२।। ऐसा अद्भुत तुमुल (युद्धनाद)। सुन ब्रह्मा होत विकल। देव कहत प्रलयकाल। भासत आज।।३३।।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ। माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।।१४।।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः। पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः।।१५।।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः। नकुल सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।१६।।

ऐसा स्वर्गलोक भयभीत। देख के वह आकांत। तब पांडव दल अंतर्गत। क्या वर्तत।।३४।। जो विजय का निजसार। महातेज का भंडार। गरुड़ जैसे अश्वचार। शोभत जहां।।३५।। पंखयुक्त मेरू जैसा। रथश्रेष्ठ विराजे वैसा। व्यापत पूर्ण दशदिशा। तेज जिसका।।३६।। जहां स्वयं अश्वसंचालन। करे वैकुंठाधिपति कृष्ण। उस रथ के गुण। बरनूं कैसे।। ३७।। ध्वज के ऊपर वानर। जो मूर्तिमंत शंकर। सारथी शांरगधर। अर्जुन को।।३८।। देखो नवल प्रभु का। अद्‌भुत प्रेम भक्त का। जो सारथ्य पार्थ का। स्वयं करे।। ३९।। सेवक पीछे राखत। आप आगे सज्ज होत। पांचजन्य आस्फुरित। लीलया सहज।।१४०।। किंतु वह घोष घोर। गर्जत वहां भयंकर। जैसा उदित हो भास्कर। नक्षत्र लोपत।।४१।। वैसे वाद्य स्वर बहुत। कौरव दल में निनादत। वे लुप्तप्राय होत। समस्तहि।।४२।। वैसाहि देखो दुसर। ध्वनि जिसका गंभीर। देवदत्त धनुर्धर। आस्फुरित।।४३।। दोनों शब्द अद्‌भुत। हुए जहां एकत्रित। तहां ब्रह्म-कटाह शतकूट। होत गमत।।४४।। तब भीमसेन आवेशत। महाकाल जैसा उछलत। भीषण पौण्ड्र आस्फुरत। महाशंख।।४५।। वह महाप्रलय जलधर। जैसा गर्जत गंभीर। तब अनंत विजय युधिष्ठिर। आस्फुरित।।४६।। नकुल सुघोषक। सहदेव मणिपुष्पक। आस्फुरित भयकारक। काँपत

काल।।४७।।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः। धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते। सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक।।१८।।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्। नभश्च पृथिवी चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।१९।।

वहां भूपति अनेक। द्रुपद द्रौपदेयादिक। यह काशिपति देख। महावीर।।४८।। अभिमन्यु अर्जुन का सुत। सांत्यकि अपराजित। धृष्टद्युम्न नृपनाथ। शिखण्डी आदि।।४९।। विराटादि नृपवर। सैनिक प्रमुख वीर। नाना शंख निरंतर आस्फुरित।।१५०।।

सुन के महाघोष निर्घात। शेष कूर्म चकित होत। हड़बड़ा के त्यजत भू भार को।।५१।। तीन लोग डगमगत। मेरु मंदार आंदोलित। समुद्र जल उछलत। कैलास पर्यत।।५२।। पृथ्वी तल उलटत। अंबर भूमि पर गिरत। जहाँ तहाँ बिखरत। नक्षत्र माला।।५३।। सृष्टि गई रे गई। देव जाति निराधार भई। ऐसी एक घोषणा हुई। देव लोक में।।५४।। दिन में सूर्यगति रुकत। जैसा प्रलयकाल पावत। वैसा हाहाकार होत। त्रिभुवन में।।५५।। देख के आदि पुरुष विस्मित। कहें शीघ्र होत अंत। शंखनाद अति अद्भुत। अवरोधत।।५६।। इसिलिये विश्व सुरक्षित। ना तो युगान्त निश्चित। जब महाशंख आस्फुरित। कृष्णादिक।।५७।। वह घोष बंद होत। किंतु प्रतिध्वनि घूमत। दल भार विध्वंस करत। कौरवों का।।५८।। जैसे गज-झुंड चलत। सिंह सहज विदारत। तैसे हृदय भेदत। कौरवों का।।५९।। वह ध्वनि जब सुनत। त्वरित धैर्य छूटत। परस्पर कहत जात। दक्ष रे दक्ष।।१६०।।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः। प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।२०।।

वहां पुरुषार्थी सुधीर। महारथी बली वीर। पुनरपि दलभार। आश्वासित।।६१।। तब दोनों दल समान। उछलत होत द्विगुण। क्षोभत सब त्रिभुवन। आवेश से।।६२।। बाण पर बाण धनुर्धर वर्षत वहां निरंतर। जैसे प्रलयांतक जलधर। अनिवार होत।।६३।। तब संग्राम में सिद्ध होत। सकल कौरव दल देखत। लीलया धनुष उठावत। पंडुकुंवर।।६४।।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते। सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।२१।।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्। कैर्मया कह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे।।२२।।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः। धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।२३।।

तब अर्जुन कहत जी सुनिये। अब अपना रथ चलाइये। दोनो दल बीच स्थापिये। शीघ्राति शीघ्र।।६५।। मैं इनको क्षणैक। निहारू वीर सैनिक। सिद्ध यहां अशेख। युद्धार्थ जो।।६६।। रण में वीर नाना। इनमें से किससे जूझना। यह तो मुझे देखना। आवश्यक।।६७।। बहुत करके कौरव। ये आतुर दुःस्वभाव। करत भीरु दुराग्रह भाव। युद्ध काज का।।६८।। इनको युद्ध की हवस। रण में न धरत साहस। सुनो राजा परिहास। संजय कहे।।६९।।

संजय उवाच--

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत। सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।।२४।।

भीष्मद्रोण प्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्। उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति।।२५।।

तत्रापश्यात्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान। आचार्यन्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तंथा।।२६।।

श्वसुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि। तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।।२७।।

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत।

सुनो, अर्जुन इतना कहत। तब श्रीकृष्ण रथ त्वरित। दो दल बीच व्यवस्थित। खड़ा करत।।१७०।। जहां भीष्म द्रोणादिक। आप्तवर सन्मुख। पृथ्वीपति अनेक उपस्थित।।७१।। वहां स्थिर करके रथ। अर्जुन खड़ा देखत। वह दलभार समस्त। संभ्रम से।।७२।। कहत, देव, देख देख। ये तो गोत्रगुरु अशेख। कृष्ण मन में क्षणैक। विस्मित होत।।७३।। वे अपने मन में कहत। यह क्या बात। जो अर्जुन के हृदय में वसत। आश्चर्यकारी।।७४।। परंतु सबका मनोगत। जानत सहज हृदयस्थ। मौन धरे निवान्त। उस समय।।७५।। तब तहां पार्थ सकल। पितृ पितामह केवल। गुरुबंधु मातुल। देखत जात।।७६।। सुहृदजन समधी श्वसुर। अपने सब इष्टमित्र। कुमर पौत्र धनुर्धर। अवलोकत।।७७।। संकट में अनेक बार। किया रक्षण उपकार। अब वे सान श्रेष्ठ एकत्र। उपस्थित यहां।।७८।। ऐसे सब गोत्रज। मन में लिये युद्धकाज। दोनो दळो में सज्ज। दृष्टि देखत।।७९।।

तब मन में खिन्न होत। सहज कृपा उपजत। अपमानित होके त्यागत। वीरवृत्ति।।१८०।। जो स्वयं उत्तम कुलीन। लावण्यवती गुण संपन्न। वर्चस्व न साहत स्त्री का अन्य। स्वतेज बल से।।८१।। या तपोबल से ऋद्धि। लभत भ्रंशत बुद्धि। तब वह विरक्त सिद्धि। भुलत सहज।।८२।। अथवा नवप्रीत के काज। कामुक बिसरत कांता निज। गुणहीन अनुबंध

सहज। भ्रमित जैसा।।८३।। वैसा अर्जुन का अंतःकरण। उपजत जहां कारुण्य। सहज पुरुषार्थ गुण। लुप्त होत।।८४।। अशुद्ध मंत्रोच्चार करत। मांत्रिक भूतोन्माद पावत। वैसे अर्जुन वीर ग्रसित। महामोह से।।८५।। अतः धैर्य होत नष्ट। हृदय अत्यन्त द्रवीभूत। जैसे चंद्रकला स्पर्शत। सोमकान्तको।।८६।। वैसे वीर पार्थ। अति स्नेह से मोहित। तब सखेद बोलत। श्री अच्युत को।।८७।।

अर्जुन उवाच--

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थिम्।।२८।।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति। वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।२९।।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते। न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।।३०।।

कहत, अवधारे, देव। देखा यह समुदाव। तब गोत्रवर्ग सर्व। उपस्थित यहां।।८८।। ये संग्राम को उद्युक्त। हुए यहां समस्त। किन्तु इनसे युद्ध उचित। कैसे होत?।।८९।। इन सब से युद्ध कार्य। कल्पना मुझे असह्य। मन बुद्धि ठाँय। स्थिर न रहत।।१९०।। देख देह कंपत मुख अति शुष्क होत। विकलता उपजत। अवयवों में।।९१।। सर्वांग मे रोमांच उठत। अति संताप उभड़त। हाथ शिथिल होत। गांडीव पर से।।९२।। हाथ से धनुष फिसलत। न जाने कब गिरत। ऐसा हृदय व्याप्त। आप्त मोह से।।९३।। जो वज्र से भी कठिन। दुर्धर अति दारुण। उसमें स्नेह असाधारण। नवल अति।।९४।।

जिसने युद्ध में हर को हराया। निवात कवच का नाम मिटाया। उस अर्जुन को

महामाया। ग्रासत क्षण में ।।९५।। जैसे भ्रमर सहज भेदत। कठिन से कठिन काष्ट। किन्तु कलिका मध्य अटकत। अति कोमल।।९६।। तब त्यजत अपने प्राण। किन्तु न करत दल छेदन। वैसी कोमलता कठिन। स्नेह की देखो।।९७।। ये आदि पुरुष की माता। धाता के भी न आवत हाथा। अतः भ्रमत नृप पार्था। संजय कहे।।९८।। बोले तब अर्जुन। देख के सब स्वजन। बिसरत निज अभिमान। संग्राम का।।९९।। कैसी सदयता आवत। तब मन में कृपा उपजत। कृष्ण को त्वरित कहत। न रहिये यहां।।२००।। मेरा मन अति कोमल। वाणी होत विकल। जो वधना इन सकल। आप्तजन को।।१।।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव। न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।।३१।।

यदि ये कौरव वधिये। क्यों न युधिष्ठिर को वधिये?। ये दोनों तो देखिये। स्वजन बंधु।।२।। जल जाय यह युद्ध!। यह तो अति निषिद्ध। मेरा मन सुबुद्ध। कदापि न माने।।३।।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च। किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।३२।।
येषांमर्थे काक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च। त इमेऽवास्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।३३।।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः। मातुलाः श्वसुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।।३४।।

न विजय की कांक्षा। न मुझे राज्य की आशा। न भोग की अभिलाषा। कहे पार्थ।।४।। राज्य सुख त्यागेंगे। दारुण्य दुःख भोगेंगे। जीवन अपना देंगे। इन्ही के लिये।।५।। किन्तु इनका कर के घात। स्वयं राज्यभोग लेत। स्वप्न में भी विचार न आत।

कदापि मन में।।६।। किसलिये जन्म लेना। जो श्रेष्ठों का अहित चिन्तना। किन के लिये जीना। प्रतिकूल होकर।।७।। पुत्रेच्छा करत कुल। क्या उसका यही फल। जो मारिये केवल। गोत्रज अपने।।८।। यह मन में कैसे धरिजे। कैसे वज्र जैसे होईजे। उनकी तो सेवा कीजे। यही धर्म।।९।। जो जो प्राप्त कीजिये। वह समस्त इन्हे दीजिये। यह जीवन भी अर्पिये। उनके काज।।२१०।। हम दिगंत के भूपाल। पराजित करके सकल। संतुष्ट अपना कुल। करना योग्य।।११।। परंतु ये समस्त। कैसे कर्म विपरीत। जो हुये यहां उद्यत युद्धकाजको।।१२।। अंतःपुर के स्त्री पुत्र। त्याग के विविध भंडार। शस्त्राग्रपे जिव्हार (हृदय)। रखत ये।।१३।। इनको कैसे मारूं? कैसा शस्त्राघात करूं। निज आप्तेष्ट (हृदय) संहारू? कैसे उचित यह।।१४।। न जानत तुम ये कौन?। इस पार भीष्म द्रोण। जिनके उपकार असाधारण। हम पर बहुत।।१५।। यहां शालक श्वसुर मातुल। और बंधुवर्ग सकल। पुत्र पौत्र केवल। आप्तजन।।१६।। सुनो ये अत्यंत निकट। सकल हमारे इष्ट। इनसे युद्ध की बात अनिष्ट। महापाप।।१७।।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन। अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।।३५।।

यदि ये करत विपरीत। हम को यहां मारत। तथापि इनका घात। मन में न चिंतू मैं।।१८।। त्रिलोक का निष्कलंकित। राज्य यदि होवे प्राप्त। तथापि यह अनुचित। न करूंगा मैं।।१९।। ऐसा यदि कर्म बिकट। करके कौन सम्मान देत। कैसे मुख देखत। कृष्ण आपका।।२२०।।

निहत्य धार्त्राष्ट्रान्नः की प्रीतिः स्याज्जनार्दन। पाप मेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः।।३६।।

जो करे आत्मघात। महादोष वह पावत। प्राप्त तुम दूर होत। निःसंशय।।२१।। कुलमारण महापातक। हम को जड़त अशेख। तब आपका श्रीमुख। कैसे देखे?।।२२।। जैसे उद्यान में अनल। संचरत देख के प्रबल। तब क्षण एक भी कोकिल। स्थिर न रहे।।२३।। अथवा सकर्दम सरोवर। अवलोककर चकोर। न सेवत अव्हेर। करत जात।।२४।। वैसे हे देवदेवेश!। होते मेरा पुण्य नाश। फसत जहां मायापाश। बिछड़त आप।।२५।।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धारतराष्ट्रान्स्वबान्धवान्। स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्यास माधव।।३७।।

अतः यह निंद्य कृत्य। न करूं मैं दोषयुक्त। इस संग्राम में शस्त्र। न धरूं मैं।।२६।। होगा तेरा अंतराय। तुम बिन दुख असह्य। इससे मेरा हृदय। विदीर्ण होत।।२७।। इसलिये कौरव मारिये। तब राज्य उपभोगिये। यह असंभव जानिये। अर्जुन कहे।।२८।।

यद्यप्यते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः। कुलक्षयकृतं दोष मित्रद्रोहे च पातकम्।।३८।।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् कुलक्षयकृत दोषं प्रपश्यभ्दिर्जनार्दन।।३९।।

ये अभिमान-मद से उन्मत्त। यद्यपि युद्धार्थ उद्यत। तथापि हमको अपना हित। देखना युक्त।।२९।। ये विपरित कैसे कीजिये। जो आप्त स्वकीय मारिये। जानबूझ के सेविये। कालकूट।।३०।। यदि मार्ग में चलत चलत। सिंह सामने आवे अकस्मात। तब टालना ही उसे युक्त। लाभकारी।।३१।। अथवा छोड़ के प्रकाश। अंधकूप में करत प्रवेश। क्या

लाभ हे देवेश!। पावत वहाँ?।।३२।। या सामने अग्नि प्रदीप्त। देखकर दूर न हटत। तब क्षण में भस्म करत। सहज भाव से।।३३।। वैसे यह दोष मूर्त। अंग में उपजत निश्चित। समझकर यहां प्रवृत्त। होना किसलिये?।।३४।। उस समय पार्थ। कहे, देव सुनो समर्थ। इस कल्मश का अर्थ। बतलाऊँ मैं।।३५।।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः। धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नधर्मोऽभिभवत्युत।।४०।।

जैसे काष्ठ से काष्ठ मथत। वहां वन्हि उपजत। काष्ठजात पूर्ण जलत। प्रदीप्त होके।।३६।। तैसा गोत्रज का परस्पर। मत्सर से वध साचार। तब महादोष घोर। कुल को नाशत।।३७।। अतः कुलक्षय से इस। कुलधर्म पावत नाश। अधर्म का होत प्रवेश। कुल के बीच।।३८।।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः। स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।।४१।।

जहां सारासार विचार। योग्यायोग्य आचार। विधिनिषेध साकार। नष्ट होत।।३९।। जलता दीप बुझाइये। फिर अंधकार में भटकिये। सरल मार्ग से लटपटिये। वैसा व्यवहार यह।।२४०।। कुल में कुलक्षय होत। तब आद्यधर्म विलोपत। फिर क्या और बचत। पाप बिन।।४१।। जब यम नियम लुप्त होत। इंद्रिया स्वैर भटकत। इसलिये व्यभिचार घटत। कुल स्त्रियों से।।४२।। उत्तम अधम संचार। होत परस्पर वर्णसंकर। जातिधर्म सदाचार। नष्ट समूल।।४३।। चौगड्डे पर बलि रखत। चौ बाजू से काक झड़पत। वैसे महापातक संचरत। कुल में ऐसे।।४४।।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।४२।।

तब कुल अशेख। तथा सब कुल घातक। दोनों पावत घोर नरक। इस पाप से।।४५।। देखो वंशवृद्धि समस्त। इस प्रकार होत दूषित। पूर्व पुरुष स्वर्गस्थ। पावत पतन।।४६।। जहां नित्यादि क्रिया रुकत। नैमित्तिक बंद होत। कौन किसको देत। तिलोदक वहां।।४७।। जैसे नखाग्र को व्याल डसत। त्वरित शिखांत पहुंचत। आप्तवध से आब्रह्मकुल समस्त। आप्लावित।।४८।।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः। उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।४३।।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन। नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।४४।।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्। यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।४५।।

देव सुनो और एक। यहां घटत महापातक। संगदोष से यह लौकिक। नष्ट होत।।४९।। दुर्भाग्य से आग लगत। तब अपना घर जलत। प्रज्वलित भस्म करत। अन्य गृह भी।।२५०।। वैसे उस कुल की संगत। जो-जो लोग पावत। उनको विघ्न बाधत। इस निमित्त।।५१।। नाना दोष सकल। अर्जुन कहे वह कुल। तब महाघोर केवल। निरय भोगत।।५२।। पावत यह नरक घोर। कल्पान्त न होत उद्धार। ऐसा अधःपात भयंकर। कुलक्षय से।।५३।। देव, सुनकर अर्थ नाना। न उपजत मन में घृणा। हृदय वज्र सा करना। युक्त न होत।।५४।। जिसके लिये अपेक्षिजे राज्य सुख। वह देह तो क्षणिक। जानकर कुलक्षय अविवेक। त्याज्य सर्वथा।।५५।। जो ये श्रेष्ठ पूज्य। हमने देखा माना वध्य। यह पाप बड़ा अक्षम्य।

हुआ हमसे।।५६।।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणय:। धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।४६।।

अब इसके आगे जीना। उससे अच्छा शस्त्र त्यागना। इनके बाण सहना। अधिक उत्तम।।५७।। यदि आवे मरण। वह भी श्रेयस्कर जान। किंतु यह दारुण। पाप न कर्तव्य।।५८।। ऐसे देख के सकल। अर्जुन ने, अपना कुल। कहे, यह राज्य केवल। निरय भोग।।५९।।

संजय उवाच--

एकमुक्त्वार्जुन: संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्। विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानस:।।४७।।

ऐसे उस अवसर में। अर्जुन कहे समर में। सुनो राजा धृतराष्ट्र मैं। संजय कहत हूं।।२६०।। तब उदास अत्यंत। अनिवार विकल होत। रथ नीचे उतरत पार्थ। अति व्यथित।।६१।। जैसा राजकुंवर पदच्युत। सर्वथा होत उपहत। कि रवि राहुग्रस्त। प्रभाहीन।।६२।। जैसे महासिद्धी संभ्रम। तपस्वी को होत भ्रम। तब उफनत काम। दीन होत।।६३।। वैसा वह धनुर्धर। अत्यंत दुःखजर्जर। दिखत जहा रहंवर। छोड़ा उसने।।६४।। धनुष-बाण त्यागत। न रूकत अश्रुपात। सुन नृप क्या वर्तत। संजय कहे।।६५।। अब श्री वैकुंठनाथ। देख के सखेद पार्थ। इसविध करत परमार्थ। निरूपण।।६६।। वह सविस्तार आगे कथा। सुनिये सकौतुक सर्वथा। श्री ज्ञानदेव रचयिता। निवृत्तिदास।।२६७।।

इति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।।
(श्लोक ४७; ओवियाँ २६७)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।

।। गीता ज्ञानेश्वरी ।।

अध्याय – दूसरा

संजय उवाच-

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्। विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।१।।

तब संजय कहे नृप को। सुनो, देखो पार्थ को। अति विकल शोकाकुल को। रुदन करत।।१।। वहां कुल देख कर समस्त। स्नेह उपजत अद्‌भुत। उससे द्रवित होत चित्त। कैसे देखो।।२।। जैसे लवण जल में घुलत। या वायु से अभ्र छटत। वैसे सधीर किंतु

द्रवत। हृदयांतर में।।३।।अतः ममता से आकुल। दिखत अति व्याकुल। कर्दम में रूपत विकल। राजहंस जैसा।।४।। इस विध वह पंडुकुँवर। मोह से अति जर्जर। देख के श्री शारंगधर। क्या कहत।।५।।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्। अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।।२।।

अच्युत कहे पार्थ। क्या यह यहां सार्थ?। तुम कौन? क्या यथार्थ। कार्य तेरा।।६।। यह क्या हुआ तुमको?। क्या न्यून है मन को?। जो धरत हो खेद को। इस समय।।७।। तू अनुचित कभी न करत। धीर कभी न छोड़त। तेरे नाम से कांपत। अपयश स्वयं।।८।। तुम निधि वीरता का। मुकुटमणि क्षत्रियों का। तेरे शौर्य का डंका। त्रिभुवन में।।९।। तुमने युद्ध में हर हराया। निवात कवच का नाम मिटाया। गंधर्व से सामना किया। दिखाया शौर्य अद्भुत।।१०।। तुम्हारा यश अतुलित। त्रैलोक्य न्यून भासत। ऐसा महान पुरुषार्थ। पार्थ तेरा।।११।। सो तुम आज धैर्य को। छोड़ के वीरवृत्ती को। अधोमुख रुदन को। करत यहां?।।१२।।हे विचारवंत अर्जुनः। करुणा से क्यों होत दीनु?। क्या अंधःकार से भानु। ग्रसित होत?।।१३।। क्या मेघ से डरत पवन?। या अमृत को प्राप्त होत मरण?। पावक को भक्षत इंधन? जगत में।।१४।। कि लवण से जल द्रवत?। संसर्ग से कालकूट मरत?। या महाफणी को निगलत। दर्दुर कभी।।१५।। जंबुक चढ़त गजराज। वैसा अघटित काज। वह आश्चर्य तुम आज। दिखावत सबको।।१६।। इसलिये हे अर्जुन!। मोह को न देना स्थान। त्वरित करके सधीर मन। सावधान।।१७।। छोड़ दे यह मूर्खता।

धारण कर धनुष्य-भाता। कैसी अनाठाँय सदयता। युद्ध प्रसंग में।।१८।। तुम तो ज्ञाता अर्जुन। करो विचार हे सुजान। संग्राम में यह कारुण्य। उचित कोई?।।१९।। यह तो कीर्ति का नाश। पारलौकिक अपभ्रंश। कहत जगन्निवास। अर्जुन को।।२०।।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।।३।।

अतः शोक न करना। पूर्ण धीरज धरना। इस खेद को छोड़ना। पंडुकुँवर।।२१।। तुमको न यह उचित। इससे प्राप्त यश नाशत। आगे अब अपना हित। सोचना युक्त।।२२।। यहां संग्राम का अवसर। यहां कारुण्य क्लैब्य घोर। क्या ये अभी सगे सहोदर। हुए तेरे?।।२३।। क्या ये पहिले नहीं ज्ञात?। अपने गोत्रज नहीं परिचित?। वृथा अतिशयोक्ति करत। दुःखी होत।।२४।। आज का यह युद्धकाज। क्या जन्म में अपूर्व अचरज?। यह तो निरन्तर व्याज। परस्पर वैर का।।२५।। अब यदि आप्त मोह कीजे। प्राप्त प्रतिष्ठा गवाँइजे। इह पर दोनों खोइजे। एक साथ।।२६।। हृदय का यह दुर्बलपन। नहीं कल्याण का कारण। यह संग्राम में अधःपतन। क्षत्रियों का।।२७।। ऐसा वह कृपावंत। नाना विध प्रबोधत। सुनकर सब पंडुसुत। क्या कहत?।।२८।।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन। इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।४।।

अर्जुन कहत यह युद्ध। निश्चित सर्वथा प्रमाद। श्रेष्ठों से स्पष्ट भेद। होत हमसे।।२९।। देख माता-पितर अर्चिजे। सदा संतोष पाईजे। पश्चात उन्हीं को वधिजे। युक्त कैसे?।।३०।। संतवृन्द को नमन करिजे। उनको निरन्तर पूजिजे। किंतु उनको स्वयं निंदिजे। यह तो

निंद्य।।३१।। ये गोत्र गुरु नित्य। मुझको सदा पूजनीय। भीष्म-द्रोण अति प्रिय। शिरसावंद्य।।३२।। स्वप्न में भी इनके साथ। सहत न शत्रुत्व की बात। तब प्रत्यक्ष इनका घात। करना योग्य कैसा?।।३३।। जल जाये यह जीवन!। धिग् मेरा विद्याध्ययन। क्या इनका संहरण। कुशलता मेरी?।।३४।। मैं तो द्रोण से दीक्षित। इन से धनुर्वेद मुझे विदित। कैसे करूं शिष्य उपकृत। घात उनका?।।३५।। जिनसे पाना कृपावर। उनसे करूं दुराचार। क्या मैं हूं भस्मासुर?। कहे अर्जुन।।३६।।

गुरुनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्।।५।।

समुद्र गंभीर कहत। किंतु वह भी क्षुब्ध होत। द्रोण मन में न उपजत। क्षोभ कभी।।३७।। यह अपार गगन। उसका भी होगा मान। किंतु अगाध गहन। हृदय इनका।।३८।। कभी अमृत भी बिगड़त। कालवश वज्र भी फूटत। किंतु मनोधर्म न बदलत। आचार्य का।।३९।। स्नेह के लिये माता। माता से जग में सदयता। यह तो स्वयं सर्वथा। कृपामूर्ति।।४०।। यह कारुण्य का आदि। सकल गुणों का निधि। विद्या सिंधु निरवधि। अर्जुन कहे।।४१।। सर्व दृष्टि से यह श्रेष्ठ। हमारे लिये कृपावंत। बोलो, इन का घात। कीजे कैसा?।।४२।। इनको रण में मारना। स्वयं राज्यभोग भोगना। यह कदापि न चिंतना। प्राणांत में भी।।४३।। यह धर्म महाकठिन। यह राज्यभोग तो महान। किंतु इससे भिक्षायाचन। श्रेयस्कर हमें।।४४।। देव! नव निशित शर मारना। इनके जिव्हार भेदना। रक्त रंजित भोग भोगना। मन को न

भाए।।४५।। सुन यह कथन। देख अच्युत को अप्रसन्न। होकर मन में भयभीत। अर्जुन बोले।।४६।।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो। यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।६।।

मेरे मन की बात। सोचकर कह दी स्पष्ट। परंतु क्या युक्तायुक्त। आप ही जानो।।४७।। जिनसे बैर की बात। सुनके प्राण त्यागना युक्त। वे यहां खड़े उद्युक्त। युद्ध काज से।।४८।। अब इनको मारना। या रण को त्यागना। इष्टानिष्ट कहना। न जानूं मैं।।४९।।

कार्पण्यदोषोपहत स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।७।।

हमको क्या उचित। सोचकर भी न सूझत। जो मोह से यह चित्त। व्याकुल मेरा।।५०।। जब तिमिरा-वरुद्ध नेत्र। दृष्टि तेज क्षीण होत। निकट होकर न दिखत। वस्तुजात।।५१।। वैसे मेरा मन। भ्रांति से ग्रसित पूर्ण। न जानत कुछ ज्ञान। हिताहित।।५२।। अच्युत! आप ही विचारिये। उचित हमको कहिये। जो सखा सर्वस्व जानिये। आप हमको।।५३।। आप गुरु-बंधु पिता। आप हमारे इष्ट देवता। आप सदा रक्षणकर्ता। आपत् काल में।।५४।। जैसे शिष्य को गुरु। सर्वथा न करत अव्हेरु। या सरिता को सागरु। त्यजत कैसे?।।५५।। अथवा बालक छोटा। छोड़ दे यदि माता। जी न सकत सर्वथा। सुनो कृष्ण।।५६।। अतः हमको उचित। और जो धर्म सम्मत। शीघ्र कहो वह बात। पुरुषोत्तम।।५७।।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम।।८।।

ये सब गोत्रज देख। उपजत मन में शोक। वह न जाये बिना सीख। आप के प्रभु।।५८।। यदि सार्वभौम राज्य प्राप्त। इंद्रपद होत हस्तगत। मोह से मेरा मन विमुक्त। कदापि न होत।।५९।। दग्ध बीज लीजिये। सुक्षेत्र में बोइये। भूरि जल से सींचिये। न अंकुरत कभी।।६०।। जब आयु नष्ट होत। औषधि सब जात व्यर्थ। वहा एक ही परमामृत। लाभकारी।।६१।। वैसे यह राज्यभोग समृद्धि। नहीं मानत जीवबुद्धि। यहां प्रेरक कृपानिधि। दया आपकी।।६२।। ऐसा अर्जुन बोलत। क्षण एक भ्रांति नाशत। पुनरपि होत ग्रसित। महा मोह से।।६३।। इसका सवर्म हृदयकल्लार। कारुण्य पूर्ण यह अवसर। मोहकाल सर्प लहर। ग्रासत पुनः।।६४।। सुन अर्जुन की पुकार। जिसका दृष्टिपात विषहर। सो सपेरा शारंगधर। दौड़त त्वरित।।६५।। अतः वह पार्थ। मोह फणिग्रस्त। यदर्थ यह दृष्टान्त। दिया मैंने।।६६।। देखिये वहां फाल्गुन। भ्रांति से ग्रसित पूर्ण। जैसा भास्कर भगवान। अभ्राच्छादित।।६७।। अथवा वह धनुर्धर। दुःख से हुआ जर्जर। जैसे दावानल से गिरिवर। ग्रीष्मकाल में।।६८।। वहां सहज सुनील। कृपामृत से सजल। वर्षत श्री गोपाल। महामेघ।।६९।। सु-दशनों की सुंदर द्युति। विद्युल्लता की दीप्ति। सुगंभीर वचनोक्ति। मेघगर्जना सम।।७०।। अब होगी उदार वृष्टि। अर्जुनाचल पावेगा तृप्ति। होगी नव पल्लव निर्मिति। उन्मेष की।।७१।। यह कथा सुरस गहन। सुनिये

देकर अवधान। श्री ज्ञानदेव करत निरूपण। निवृत्तिदास।।७२।।

संजय उवाच--

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप। न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूवह।।९।।

संजय कहत नृपनाथ। पुनरपि शोकाकुल पार्थ। सखेद कृष्ण को कहत। न लडूंगा मैं।।७३।। ऐसा सहसा कहत। खड़ा मौन धरत। श्रीकृष्ण विस्मय पावत। देखकर उसे।।७४।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत। सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।१०।।

मन ही मन में कहत कृष्ण। अर्जुन सर्वथा अनजान। इस अवसर इसको ज्ञान। बोधु कैसे?।।७५।। यह समझत किस प्रकार। कैसा स्वीकारत धीर। जैसा ग्रह को पंचाक्षर। अनुमानत।।७६।। असाध्य देखकर व्याधि। अमृतसम दिव्य औषधि। वैद्य योजत निरवधि। अंतिम क्षण में ।।७७।। वैसा वहां श्री अनन्त। दोनों दलमध्य विचारत। किस विध पार्थ होत मुक्त। महाभ्रांति से।।७८।। अज्ञान कारण जानत। सरोष कृष्ण बोलत। जैसा मातृक्रोध में गुप्त। स्नेह वसत।।७९।। अथवा औषधि का कटुत्व। व्याप्त एक अमृत तत्त्व। प्रत्यक्ष गुणतत्त्व। प्रकटत।।८०।। वैसा ऊपर से उदास। परन्तु अति सुरस। ऐसा वचन हृषीकेश। उपदेशत।।८१।।

श्री भगवान उवाच--

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।११।।

तब अर्जुन को कहत। आज एक नवल होत। जो तुम करत अकस्मात। अविवेक यहां।।८२।। होकर स्वयं सज्ञान। न छोड़त अज्ञान। हमको उपदेशत ज्ञान। नीति तत्त्व।।८३।। जात्यंध को होत उन्माद। तब वह धावत स्वच्छंद। वैसा यह प्रज्ञामद। भासत तेरा।।८४।। सस्वरूप न जानत। कौरव कारण शोक करत। हमको बहु विस्मय होत। बारंबार।।८५।। बोलो अब अर्जुन। क्या त्रिभुवन तेरे स्वाधीन?। यह अनादि विश्वनिर्माण। असत्य कांई?।।८६।। यहां समर्थ एक ईश्वर। जिससे पंचतत्त्व संसार। क्या यह कथनसार। वृथा सर्व।।८७।। जन्म-मृत्यु तुम स्वयं सृजत। सांप्रत तो यह ही प्रतीत। तथा तुम से ही नाश पावत। सृष्टि सब।।८८।। तेरा यह वृथा अहंकार। जो इनका न करेंगे संहार। तब क्या ये होंगे निरंतर। चिरंतन।।८९।। यह अनादि सिद्ध सर्व। जन्ममरण स्वस्वभाव। व्यर्थ न धर शोकभाव। पार्थ यहां।।९०।। जो स्वतः विचारवन्त। जानत ये दोनों भ्रान्त। अतः शोक न उचित। किसी एक का।।९१।।

ने त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः। न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।१२।।

सुनो अर्जुन सत्य। हम तुम सब भूपत। न होत नित्य अनित्य। दोनो भ्रांत।।९२।। यह सृष्टि एवं विनाश। भासत पूर्ण मायावश। अन्यथा वस्तु अविनाश। तत्त्वतः देख।।९३।। जैसे वायू से तोय हिलत। तरंगाकार भासत। यहां कौन कहां उपजत। कहना कठिन।।९४।। जहां बंद होत पवन। वहां जल ही जल संपूर्ण। कौन किस में विलीन। विचारणीय।।९५।।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।१३।।

सुनो शरीर एक। किंतु वयसाभेद अनेक। यह प्रत्यक्ष देख। प्रमाण तू।।९६।। यहां प्रथम कुमारत्व। तारुण्य में होत लुप्त। परन्तु देह न नाशत। दोनों संग।।९७।। वैसे चैतन्य में अनन्त। शरीरान्तर होत जात। जो जाने उस को न होत। व्यामोह दुःख।।९८।।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।१४।।

अज्ञान का यही कारण। जो होत इंद्रिया आधीन। इनसे व्याप्त अंतःकरण। भ्रमत पूर्ण।।९९।। इंद्रियां नाना विषय सेवत। हर्ष शोंक उत्पन्न करत। आसक्त अंतर आप्लावत। निरन्तर।।१००।। देख, शब्दादि की व्याप्ति। निंदा तथा स्तुति। द्वेषाद्वेष उत्पत्ती। श्रवणमात्र से।।१।। मृदु एवं कठिन। स्पर्श के दोनों गुण। शरीर संग कारण। संतोष खेद का।।२।। भयंकर एवं सुरेख। यह रूप का स्वरूप देख। जिस कारण सुख-दुख। नेत्रद्वार से।।३।। सुगंध तथा दुर्गंध। यह परिमल भेद। घ्राणेंद्रिय से विषाद। या संतोष।।४।। तैसे विविध रस। उद्भवत प्रीतित्रास। इसलिये यह अपभ्रंश। विषयसंग से।।५।। यदि इंद्रियाधीन होत। तब शीतोष्णता पावत। सुख-दुख दोनों भोगत। प्राणिजात।।६।। इन विषय बिना काही। अन्य पदार्थ रम्य नाही। ऐसा इंद्रियों का नित्य होई। स्वभाव जानो।।७।। इन विषयों का स्वरूप। रोहिणी का जैसा आप। कि स्वप्न का आभासरूप। भद्रजाति।।८।। यह विषय सदा अनित्य। सर्वथा त्यागना युक्त। न धरो इन की संगत। धनुर्धर।।९।।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ। समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

विषय जिसको न बाधत। वह सुख-दुख के परे होत। कदापि गर्भवास संगत। न पावत।।११०।। वह नित्यरूप पार्थ। जानिजे ब्रह्मरूप यथार्थ। इंद्रिय विषयों से समस्त। अलिप्त जो।।११।।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।१६।।

और एक बात। तुझको बतलाऊं पार्थ। विचार से ज्ञानी जानत। वस्तुरूप।।१२।। इस चराचर में गुप्त। चैतन्य वसत सर्वगत। वह तत्त्वज्ञानी सन्त। स्वीकारत।।१३।। जल में पय मीनत। एकरूपता पावत। राजहंस एक जानत। पृथक्करण।।१४।। अथवा अग्निमुख में अशुद्ध। सुवर्ण होत विशुद्ध। वैसा विवेक तर्क शुद्ध। बुद्धिमंत का।।१५।। बुद्धि चातुर्य से। दधिमंथन करने से। अंत में मक्खन जैसे। प्राप्त पार्थ।।१६।। तूष बीज एक साथ। उड़ावनी से कण स्थित। उड़त वह भूसा पार्थ। जानो तुम।।१७।। अतः यह ज्ञान सामर्थ्य। नाशत सब प्रपंचमात्र। एक तत्त्व यथार्थ। शेष बचत।।१८।। अशाश्वत का नहीं अस्तित्व। नहीं शाश्वत का अनित्यत्व। ज्ञानी विवेकी ज्ञानत तत्त्व। उभय पक्ष।।१९।।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।१७।।

देखो सारासार विचार। तब असार यह संसार। एक ब्रह्म साचार। नित्य तत्त्व।।१२०।। यह लोकत्रयाकार। जिसका स्वयं विस्तार। वहां नामवर्ण आकार। लक्षण नाही।।२१।। जो सर्वदा सर्वगत। जन्ममरण के अतीत। यत्न से भी उस का घात। कदा न होत।।२२।।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।१८।।

यह संपूर्ण शरीरजात। स्वभावतः नाशवंत। अतः युद्ध करना युक्त। पंडुकुंवर।।२३।।

य एनं वेत्ति हन्तारं. यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

तुम देहाभिमान सहित। शरीर मानत सत्य। मैं मारिता ये मरत। कहत जात। किन्तु अर्जुन तुम अनजान। तत्त्व को यथार्थ जान। स्वयं को न वधिता मान। न ये वध्य।।२४।।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

वेदविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्। कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२१।।

जैसे स्वप्न देखिजे। उसको सत्य मानिजे। जागृत होकर पाइजे। वृथा सर्व।।२५।। वैसी यह सब माया।। भ्रममूल साच अविद्या। क्या शस्त्राघात से छाया। छिन्न होत?।।२६।। या पूर्ण कुंभ उलटत। प्रतिबिंब नष्ट होत। कितुं भानु न नाशत। उसके साथ ।।२७।। मठ भीतर आकाश जैसा। मठाकृत भासे तैसा। मठ भंग से स्वरूप वैसा। अपरिवर्तित।।२८।। शरीर का होत नाश। परन्तु आत्मा तो अविनाश। भ्रांतिमूल अन्य भास। सर्वथा त्याज्य।।२९।।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

जैसे जीर्ण वस्त्र त्यागत। नूतन परिधान करत। वैसे देहांतर स्वीकारत। चैतन्य नाथ।।१३०।।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयाति मारुतः।।२३।।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२४।।

यह अनादि नित्य सिद्ध। निरुपाधि विशुद्ध। अतः शस्त्रादिक से छेद। इसका न होत।।३१।। यह महाप्रलय से नाप्लवत। अग्नि दाह न संभवत। महाशोष न प्रभवत। मारूत का यहां।।३२।। अर्जुन यह नित्य। अचल और शाश्वत। सर्वत्र सदोदित। परिपूर्ण।।३३।।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते। तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।२५।।

यह तर्क शास्त्र से दृष्टि-। गोचर नहीं किरीटी। ध्यान इसके भेंट के प्रति। उत्सुक सदा।।३४।। मन को यह दुर्लभ होत। साधन से नही प्राप्त। जीव मात्र में श्रेष्ठ। अनंत रूप।।३५।। यह गुणत्रय रहित। अनादि अविकृत। निराकार अतीत। सर्वरूप।।३६।। अर्जुन ऐसा इसे देख। सर्वगत सकलात्मक। तब सहज होत विमुक्त। शोकताप।।३७।।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्। तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि।।२६।।

यदि आत्मा अविनाशी जानत। या नित्य जात मृत मानत। शोक न करना युक्त। पंडुकुंवर।।३८।। जो आदि स्थिति अंत। निरन्तर होत नित्य। जैसा प्रवाह अनुस्यूत। गंगाजल का।।३९।। उद्गम स्थान में न टूटत। समुद्र में निरन्तर मीनत। प्रवाह रूप से बीच में दिखत। जैसे पार्थ।।१४०।। वैसे उत्पत्ति स्थिति लय। रहत एकत्र कौन्तेय। स्वाभाविक व्यवस्था यह। टालना न शक्य।।४१।। यह प्राणिजात संपूर्ण। जन्म क्षय

आधिन। यहा शोक का न कारण। धनुर्धर।।४२।।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

उपजत वह नाशत। नाशत पुनरपि उपजत। जैसे यह घटिका यंत्र। परिभ्रमत।।४३/४४।। स्वाभाविक उदय अस्त। जैसा नित्य अखंडित। वैसा जन्ममरण होत। अनिवार्य।।४५।। महाप्रलय अवसर। त्रैलोक्य का होत संहार। अतः आदि अंत साचार। अपरिहार्य।।४६।। इस कारण हे पार्थ!। शोक न करना व्यर्थ। होने के लिये व्यथित। न कोई विषय।।४७।। यहां और एक बात। अन्यान्य विचार से भी पार्थ। न तुमको करना युक्त। शोक कभी।।४८।।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।२८।।

यह सब प्राणिजात। जन्म के पूर्ण अमूर्त। जन्म पश्चात पावत। व्यक्ताकार।।४९।। वे जहां लय पावत। पूर्व स्थिती एवलभत। अन्य अवस्था न प्रवेशत। निःसंशय।।१५०।। मध्ये जो प्रतिभास। निद्रित का स्वप्नाभास। आकार भासत मायावश। स्वस्वरूप।।५१।। पवन स्पर्शत नीर। भासत तरंगाकार। पर इच्छा से अलंकार। व्यक्त कनक।।५२।। वैसा सफल साकार। जानो सब मायाकार। जैसे व्यापत अंबर। अभ्रपट से।।५३।। जो आदि से भास मात्र। उसके लिये रुदन व्यर्थ। देखो अक्षय अनन्त। चैतन्य एक।।५४।। उसकी लगन लगत। संत को विषय त्यागत। उसके लिये विरक्त। वनवासी होत।।५५।। जिस लक्ष्य के प्राप्त्यर्थ। करत ब्रह्मचर्यादि व्रत। कठोर तप आचरत। मुनीश्वर।।५६।।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२९।।

एक स्थिर चित्त अर्जुन। करके केवल निरीक्षण। विस्मरत संपूर्ण। संसार जात।।५७।। कित्येक गुणगान गात। चित्त उपरति पावत। निरवधि तल्लीन होत। निरंतर।।५८।। कित्येक श्रवण से शान्त। देहाभिमान से निवृत्त। अनुभव मात्र से पावत। तद्रूपता।।५९।। जैसा सरिता ओघ समस्त। समुद्रमध्य प्रविशत। किन्तु कदापि न निवर्तत। स्थानाभाव से।।१६०।। तैसी योगीश्वरों की सुमत। मिलते ही एकाकार होत। कभी न पुनः प्रवेशत। संसार में।।६१।।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत। तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।३०।।

जो सर्वत्र व्याप्त। सर्वदा अवध्य होत। सर्वात्मक सर्वगत। शुद्ध चैतन्य।।६२।। जिस चैतन्य का स्फुरण। जग स्थिति अंत का कारण। इसलिये शोक अकारण। कदापि न युक्त।।६३।। देखो वैसे भी पार्थ। क्यों न माने तेरा चित्त। जो शोक करना अनुचित। बहुप्रकार से।।६४।।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि। धर्माद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

क्यों न सोचत अर्जुन। क्या यह मन में चिंतन। तारक स्वधर्म संपूर्ण। भूले तुम?।।६५।। इन कौरवों को कुछ संकट। या तुझको हुआ अनुचित। अथवा समय प्राप्त। युगान्त का?।।६६।। तथापि अपना धर्म। न त्यागना सुवर्म!। क्या ऐसे कृपालुत्व से तुम। तर

जाओगे कभी?।।६७।। सुनो हे पार्थ!। दया से यदि तेरा चित्त। द्रवित क्या यह उचित?। युद्धप्रसंग में यह?।।६८।। यदि हो गोक्षीर। और आवे नवज्वर। होवे विषसम साचार। अतः त्याज्य वह।।६९।। वैसे कर्म अनुचित। किया समय पर अनुचित। होवे अहितकारी पार्थ। सुनिश्चित।।१७०।। परधर्म का आचरण। होवे नाशका कारण। इसलिये हे अर्जुन!। सावधान होना तुम।।७१।। जैसे सन्मार्ग आचरत। सर्वथा अपाय न पावत। कि दीपाधार से चलत। न लड़खड़त कभी।।७२।। वैसे ही हे पार्थ!। स्वधर्माचरण युक्त। सकल कामपूर्णत्व। सहज प्राप्त।।७३।। न अन्य पर्याय नीका। संग्राम बिना क्षत्रियों का। अतः निःशंक होकर इन का। सामना कीजे।।७४।। मन से निष्कपट होना। आवेश से युद्ध करना। अब और कैसे समझाना। सुधी तुम।।७५।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृत्तम्। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।३२।।

सांप्रत यह युद्ध अर्जुन!। पूर्व जन्मो का पुण्य। सकल धर्म निधान। प्राप्त तुझ को।।७६।। यह संग्राम का अर्थ। मूर्तिमंत स्वर्ग सार्थ। तव प्रताप से पार्थ। प्रकट यहां।।७७।। किंबहुना तव गुण से मोहित। प्रीति से होकर आसक्त। कीर्ति स्वयंवर रचत। तेरे काज।।७८।। क्षत्रिय बहु पुण्य करत। युद्ध का अवसर लभत। जैसे मार्ग से चलत पावत। चिंतामणि।।७९।। जम्हाई देत खोलत मुख। अचानक पड़त पीयूख। वैसा यह संग्राम देख। प्राप्त यहां।।१८०।।

अथ चेत्त्वामिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।३३।।

यदि इसको त्यागत। व्यर्थ शोक करत जात। स्वयं अपना घात। करोगे तुम।।८१।। पूर्वजों ने जो कमाया। वह सब यश गमाया। यदि शस्त्र त्याग किया। रण में इस।।८२।। प्राप्त कीर्ति नाशत। जग अभिशाप सहत। निंदापात्र स्वयं होत। स्वकर्म से।।८३।। जैसी भर्तार बिना वनिता। उपहास पावत सर्वथा। वैसी हीन अवस्था। स्वधर्म बिना।।८४।। रण में शव छांडत। चौबाजू से गिद्ध विदारत। वैसे स्वधर्महीन को व्यापत। महादोष।।८५।।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्। संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।३४।।

अतः स्वधर्म यदि त्यागत। वह पाप का भागी होत। अपयश का दाग न मिटत। कालान्त तक।।८६।। ज्ञानी धरत जीवित। जब तक न अपकीर्ति पावत। कैसे अकेले लौटत। समरांगण से अब।।८७।। तुम सदय निर्मत्सर। न चाहत युद्ध अवसर। किंतु यह बात कुरूवीर। न मानेंगे कभी।।८८।। ये चौबाजू से घेरेंगे। बाणों की बौछार करेंगे। कदापि न छोड़ेंगे। पार्थ तुमको।।८९।। इत्युपरि यदि जीवित। सकल कीर्ति नाशत। जीवन दुःसह होत। मरण से भी।।१९०।।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः। येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।३५।।

एक और विचार युक्त। आवेश से रण में प्रवेशत। दयार्द्र होकर निवर्तत। युद्ध से पुनः।।९१।। तुम ही कहो अर्जुन। यह तेरा कारुण्य। वैरी कौरव दुर्जन। क्या मानत सत्य?।।९२।।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः। निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।३६।।

कहेंगे गया रे गया। वीर अर्जुन भीरू भया। कटु उक्ति निंदनीया। प्राप्त होत।।९३।। लोग यत्न से बहुत। अर्पित अपना जीवित। धर्ममान करत पार्थ। स्वकीर्ति को।।९४।। वैसी कीर्ति निःसीम। तुझको प्राप्त निरूपम। तेरे गुण उत्तम। त्रिलोक में।।९५/९६।। दशदिशा के भूपत। भाट बनकर बखानत। जो सुनकर आतन्कित। कृतांतादिक।।९७।। ऐसी महिमा गहन। जैसी गंगा पावन। सुन सुभट सुजान। विस्मित होत।।९८।। पौरुष तेरा अद्‌भुत। सुनकर ये समस्त। कुरुवीर होत विरक्त। जीवित हेतु।।९९।। जैसी सिंह की गर्जना। मत्त गज को काल समाना। वैसी समस्त कौरव सेना। आतंकित तुझसे।।२००।। जैसे पर्वत वज्र को। अथवा विषधर गरुड़ को। वैसे अर्जुन ये तुमको। मानत सदा।।१।। वह महात्म्य नाशत। हीनत्व क्षुद्र पावत। यदि पार्थ निवर्तत। बिना युद्ध।।२।। यदि पलायन चाहत। ये तुझको पकड़त। नाना कुशब्द बोलत। अश्रवणीय।।३।। तब हिय होत विद्ध। क्यों न शौर्य से कीजे युद्ध?। जीतकर कौरव निंद्य। महीतल भोगिजे।।४।।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।३७।।

यदि संग्राम में जूझत। निज जीवित समर्पित। स्वर्गसुख श्रेष्ठ लभत। सुनिश्चित।।५।। अतः हे वीर श्रेष्ठ!। न कर विचार भ्रष्ट। धनुष लेकर उत्तिष्ठ। युद्ध काज को।।६।। देखो स्वधर्म आचरत। सकल दोष नाशत। क्यों भ्रमित करत चित्त। पापशंकी।।७।। कहो कोई डूबत नौका से?। ठोकर न लगे सुमार्ग से। किन्तु न चले यदि अच्छे से। संभव वह

भी।।८।। मारक होत अमृत। यदि विष के संग सेवत। स्वधर्म दोष पावत। फलाशापूर्वक यदि।।९।। अतः हे पार्थ!। कर्म फल त्यज सर्वथा। करो क्षात्रवृत्ति वीरता। पूर्वक युद्ध।।२१०।।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।३८।।

सुख में संतोष पाना। दुःख से विषाद न करना। तथा लाभा-लाभा न धरना। मन में कभी।।११।। युद्ध में होगा विजय। या देह नष्ट कौन्तेय। भविष्य की चिन्ता व्यर्थ। न करना तुम।।१२।। अपने लिये उचित। स्वधर्म सदा आचरत। जो लभत सो चुप रहकर। सहन कीजे।।१३।। ऐसा जिसका निश्चय। वह न दोष पात्र होय। इसलिये जूझना योग्य। निभ्रांत होकर।।१४।।

ऐशा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रुणु। बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।३९।।

यह सांख्यस्थिति मुकुलित। तुजको निरूपित संक्षिप्त। अब बुद्धि योग सुनिश्चित। करो श्रवण।।१५।। जिस बुद्धि से युक्त। पुरुष यदि होत पार्थ। कर्मबंध समस्त। न बाधत।।१६।। वज्र कवच धारण कर। शस्त्र वर्षा सहकर। पावत विजय सुवीर। अबाधित।।१७।।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।४०।।

वैसा ऐहिक न नाशत। और मोक्ष भी सुनिश्चित। धर्मानुष्ठान पूर्वकृत। सफल होत।।१८।। कर्माधार से वर्तना। किंतु कर्मफल न चाहना। जैसे मांत्रिक ने न पाना। भूतबाधा कभी।।१९।। इस कारण जो सुबुद्धि। स्वयं मिरासकत निरवधि। जन्म-मरण उपाधि। कदा न

बाधत।।२२०।। जहां न संचरत पुण्य-पाप। जो सूक्ष्म अति निष्कंप। गुणत्रयादिकका लेप। न स्पर्शत कभी।।२१।। अर्जुन यदि पुण्यवश प्राप्त। अल्प भी हृदय में प्रकाशत। तब अशेष नाशत। संसार भय।।२२।।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।४१।।

जैसी दीप कलिका सूक्ष्म। पसरत तेज असीम। वैसी सद्बुद्धि ससीम। न मानो तुम।।२३।। जो अपेक्षत सन्त। चराचर में न होत प्राप्त। सर्वथा दुर्लभ पार्थ। सद्वासना यह।।२४।। जगत में पत्थर बहुवस। न होत पारस सरिस। प्राप्तशत अमृत लेश। दैव-योग से ही।।२५।। वैसी दुष्प्राप्य जो सद्बुद्धि। जिसको ईश्वर एक अवधि। जैसे गंगा को उदधि। निरन्तर।।२६।। वैसे बिना ईश्वर प्राप्ति। जिसको न अन्यगति। वह एकमेव सद्वृत्ति। जग में अर्जुन।।२७।। इसके बिना अन्य। दुर्बुद्धि निश्चित जान। वहां निरन्तर स्थान। अविवेकवन्त को।।२८।। अतः इनको हे पार्था। प्राप्त स्वर्ग संसार अवस्था। आत्मसुख दर्शन सर्वथा। दुष्प्राप्य सदा।।२९।।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवारताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।

भोगेश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।४४।।

ये वेदाधार बोलत। केवल कर्म प्रतिष्ठित। किंतु कर्मफल में आसक्त। रहत सदा।।२३०।। कहत संसार में जन्म लेना। यज्ञादिक कर्म करना। तब स्वर्गसुख अवश्य

भोगना। मनोहर।।३१।। इसके बिना अन्य। न यह लोक में सुख अर्जुन। दुर्बुद्धि अयोग्य प्रतिपादन। ऐसा वरत।।३२।। देखो कामना अभिभूत। होकर कर्म आचरत। केवल भोग में चित्त। रखत नित्य।।३३।। क्रियाविशेष अनुष्ठान। धर्म में होकर निपुण। आचरत विधि विधान। बहुविध।।३४।। किंतु त्रुटि एक करत। स्वर्गकाम मन में धरत। यज्ञपुरुष को विस्मरत। भोक्ता जो।।३५।। कर्पूर की रास रचना। अग्नि से जला देना। अथवा मिष्ठान्न में मिलाना। कालकूट।।३६।। दैव से अमृत कुंभ पाया। वह पांव से उलटाया। व्यर्थ स्वधर्म गंवाया। सकाम कर्म से।।३७।। यत्न से पुण्य पावत। उससे संसार वांछत। क्या कीजे न जानत। मूढ़ जन।।३८।। गृहिणी पाकसिद्धि करत। मोल से उसको बेचत। भोग प्राप्त्यर्थ आचरत। अविवेकी धर्म।।३९।। अतः हे पार्थ!। जो अर्थवादरत। वे दुर्बुद्धि सार्थ। निश्चित जानो।।२४०।।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। निर्द्वन्द्वो नित्यसंत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।४५।।

तीनों गुणों से आवृत्त। यह वेद जानो निभ्रांत। यहां उपनिषद समस्त। सात्विक होत।।४१।। शेष रजतमात्मक। जहां निरूपित कर्मादिक। जो केवल स्वर्ग सूचक। धनुर्धर।।४२।। इसलिये हे अर्जुन!। ये सुख-दुख का कारण। इनको अपना मन। कदापि न देना तुम।।४३।। तुम गुणत्रय को त्यागना। निर्द्वंद्व निर्योगक्षेम होना। आत्मसुख न होने देना। वंचित कभी।।४४।।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।४६।।

यदि वेदों में बहुत। विविध मार्ग प्रबोधित। जिससे होत अपना हित। वही ग्राह्य।।४५।। जैसे गभस्ति प्रकटत। अशेष मार्ग स्पष्ट होत। क्या सब पर एक साथ। चलना युक्त?।।४६।। अथवा उदकमय सकल। यदि होत महीतल। लेना उतना ही जल केवल। आवश्यक जितना।।४७।। वैसा जो ज्ञानवन्त। वेदोपदेश मानत। अपेक्षित स्वीकारत। शाश्वत जो।।४८।।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।४७।।

अतः हे पार्थ!। देखे यदि तत्त्वतः। तुमको उचित होत। स्वधर्म यह।।४९।। करके विचारणा समस्त। तब यदि मन को प्रतीत। न तुम त्यागना युक्त। विहित कार्य।।२५०।। किंतु कर्मफल की आस न कीजे। कुकर्म संगत न धरिजे। यह सत्क्रिया ही आचरिये। कर्मफल बिना।।५१।।

योगस्थः कुरु कर्माणि संड्गं त्यक्त्वा धनंजय। सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।४८।।

तुम योगस्थ होकर। फलाशा का त्याग कर। अर्जुन चित्त लगाकर। करो कर्म।।५२।। किंतु कृतकर्म जान। दैव से यदि होत पूर्ण। विशेष संतोष हे अर्जुन!। न करो कदा।।५३।। या किसी एक कारण। सिद्ध न होत रहे अपूर्ण। मन में होकर उद्विग्न। क्षोभ न करना।।५४।। कर्म यदि हुआ पूर्ण। और यदि रहा अपूर्ण। हुआ सकल संपूर्ण। मानो ऐसा तुम।।५५।। देखो सब कर्माचरण। करो आदिपुरुष को अर्पण। तब वह सहज परिपूर्ण। जानो पार्थ।।५६।। सकल सदसत्कर्म। समसमा मनोधर्म। यही योगस्थिति उत्तम। मानत सन्त।।५७।।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय। बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।४९।।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।५०।।

अर्जुन समत्व चित्तका। वही सार ज्ञान योग का। जहां मन एवं बुद्धि का। ऐक्य होत।।५८।। वह बुद्धि योग पार्थ। कर्मयोग से उत्तम निश्चित। किंतु पावत योगस्थिति यथार्थ। कर्मोत्तर ही।।५९/२६०।। अतः बुद्धियोग श्रेष्ठ। अर्जुन स्थिर कीजे चित्त। मन से कर्मफल हेत। त्यागो सर्वथा।।६१।। जो बुद्धियोग आचरत। वे ही होत पारंगत। उभयबंध से मुक्त। पापपुण्य के।।६२।।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः। जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।५१।।

ज्ञानी कर्म आचरत। किंतु कर्म फल न कांक्षत। अतः यातायात लोपत। जन्ममृत्यु की।।६३।। तब निरामय सहित। पद पावत अच्युत। वे ज्ञानी योग युक्त। धनुर्धर।।६४।।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

ऐसी स्थिती तब प्राप्त। जब होइजे मोह से मुक्त। वैराग्य ज्ञान संचरत। सहज मन में।।६५।। वहां निष्कलंक गहन। प्रकटत आत्मज्ञान। निरिच्छ होत मन। स्वाभाविक।।६६।। उस समय अर्जुन। किसी वस्तु का ज्ञान। अथवा पूर्व घटना का स्मरण। नष्ट पूर्ण।।६७।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

इंद्रियों की संगति। जो चंचल करत मनोगति। वह स्थिर होत मति। आत्मरूप में।।६८।। समाधि सुख में केवल। जब बुद्धि होत निश्चल। तब प्राप्त होत सकल।

योगस्थिती।।६१।

अर्जुन उवाच--

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव। स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।५४।।

तब अर्जुन कहे, देव!। यह अभिप्राय सर्व। मुझको कहो अभिनव। कृपानिधि।।२७०।। तब कहत अच्युत। जो तेरे मन में व्याप्त। पूछो वह प्रश्न पार्थ। निःसंकोच।।७१।। यह सुनकर अर्जुन। कहे निरुपिजे हे कृष्ण!। स्थितप्रज्ञ का लक्षण। कैसें जाने?।।७२।। किसको स्थिर बुद्धि कहत?। कौन चिन्ह से जानत?। जो समाधि सुख में स्थित। निरंतर।।७३।। कैसी उसकी अवस्था होत। कौन रूप में जग में वर्तत। हे देव!, हे लक्ष्मीकान्त!। कहो मुझ से।।७४।। तब परब्रह्म अवतरण। जो षड्गुणाधिकरण। वह साक्षात नारायण। क्या बोलत?।।७५।।

श्री भगवान उवाच--

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।५५।।

सुनो अर्जुन नरेशा। अदि बलवत्तर अभिलाषा। करत स्वसुख नाशा। निरंतर।।७६।। जो सर्वदा नित्यतृप्त। अंतःकरण ज्ञानयुक्त। किंतु होत विषयासक्त। जिस संग से।।७७।। वह काम जब नाशत। आत्म संतोष में मन रमत। वही स्थितप्रज्ञ होत। पुरुष जान।।७८।।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।

नाना दुःख होत प्राप्त। उद्विग्न न जिसका चित्त। सुख में न हो आसक्त। जिसका

मन।।७९।। अर्जुन उस का चित्त। सहज कामक्रोध रहित। भयलेश न उद्‌भवत। परिपूर्ण जो।।२८०।। ऐसा जो निरवधि। वह जान स्थिरबुद्धि। निरसत सब उपाधि। भेद रहित।।८१।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

जो सर्वत्र सदा सम। जैसा पूर्ण चंद्रमा सुवर्म!। न जाने अधमोत्तम। देत प्रकाश सम।।८२।। ऐसी अखण्ड समता। भूतमात्र से सदयता। अखंडित चित्त स्थिरता। अविचल सदा।।८३।। इच्छा प्राप्ति से संतुष्ट। दुःख प्राप्ति से न विषाद प्राप्त। न कभी प्रभावित। दोनों से पार्थ।।८४।। ऐसे हर्ष शोकरहित। जो आत्मबोध सहित। वह जानो प्रज्ञायुक्त। धनुर्धर।।८५।।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्‌गानीव सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

अथवा कूर्मांग सदृश। प्रसरत अवयव अशेष। पुनः सकुचंत इच्छावश। अपने आप।।८६।। वैसी इंद्रिया स्वाधीन। वर्तत इच्छा समान। उसकी प्रज्ञा जान। प्रतिष्ठित।।८७।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।५९।।

अर्जुन अन्य एक। सुन विशेष कौतुक। इन विषयों को साधक। त्यजत नित्य।।८८।। श्रोत्रादि इंद्रियां निवारत। किन्तु रसना स्वाधीन न करत। वे सहस्रधा होत ग्रसित। विषयों से इन।।८९।। जैसे उपरि कोपल तोड़त। जड़ में जल सींचत। तब कहो कैसा होवत। नाश वृक्ष का।।२९०।। उदक के बल कारण। अधिक पुष्ट वृक्ष जान। वैसे प्रगटत विषय उफान। रसना द्वार से।।९१।। अन्य इंद्रियों के विषय। निग्रह से नष्ट कौन्तेय। रसना का

न निग्रह शक्य। जो जीवनाधार वह।।९२।। किंतु जब साधक। होत परब्रह्म उन्मुख। इंद्रियनिग्रह अशेख। सहज घटत।।९३।। तब शरीर भाव नाशत। इंद्रियां विषय विस्मरत। जब सोहंभाव प्रतीत। प्रगट होत।।९४।।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपाश्चितः। इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।

यदि सोचे अर्जुन। इंद्रियजय महाकठिन। यत्न से भी इनका दमन। दुष्कर अति।।९५।। अभ्यास जिनका पहरेदार। यमनियम उसकी बागुर। मन मुट्ठि के अंदर। निरंतर।।९६।। वे भी होत व्याकुल। ऐसा इंद्रियों का बल। मंत्रज्ञ को पिशाच्च भूल। पाडत जैसा।।९७।। देखो यह विषय विष। करके ऋद्धि-सिद्धि क मिष। योगियों को करके स्पर्श। करत वश।।९८।। ऐसी इंद्रियों की शक्ति। अभ्यास में उपजत विरक्ति। मन की रुकत गति। स्तब्ध होत।।९९।।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः। वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

इसलिये हे पार्था! नष्ट करो उनको सर्वथा। सर्व विषयों की आस्था। छोड़ कर सदा।।३००।। वह एक तू जान। योगनिष्ठा का कारण। फंसत जिसका मन। विषय सुख में।।१।। जो आत्मबोध से युक्त। विचरत जगत में सन्तत। मुझको कदा न विस्मरत। हृदयस्थ को।।२।। बाह्यतः विषय त्याग पार्थ। किन्तु मन में विषय ध्यान नित्य। मानत संसार सत्य। निश्चित जानो।।३।। जैसा विष का लेश-। मात्र होत भूयस। निभ्रांत करत नाश। जीवित का।।४।। वैसी यह विषय शंका पार्थ। मन में यदि वसत किंचित। संपूर्ण

नष्ट करत। विवेक ज्ञान को।।५।।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।६२।।

यदि मन में विषय स्मरत। निस्संग को भी संग उपजत। संग से प्रगटत मूर्त। अभिलाषा।।६।। जहां काम होत उत्पन्न। क्रोध वहां विद्यमान। क्रोध से सम्मोह जान। सुनिश्चित।।७।। सम्मोह से व्याप्त व्यक्ति। नाश पावत स्मृति। प्रचण्ड वात से ज्योति। नाशत जैसी।।८।। दिनमणि पावत अस्त। निशा तेज को ग्रसत। वैसी स्मृति भ्रंश से होत। दुर्दशा जीव की।।९।। तब अज्ञान केवल। आप्लवत विवेक सकल। वहां बुद्धि होत विकल। हृदयान्तर में।।३१०।। पलायन प्रसंग प्राप्त। जात्यंध सैर धावत। वैसा भ्रमित बुद्धिमंत। साधक पार्थ।।११।। जब होत स्मृतिभ्रंश। सर्वथा वहां बुद्धिनाश। पावत समूल विनाश। ज्ञानजात।।१२।। जहां चैतन्य नष्ट होत। जो दशा शरीर पावत। वैसी बुद्धिनाश से होत। जीवदशा।।१३।। सुनो हे अर्जुन। विस्फुलिंग स्पर्शत इंधन। प्रदीप्त होत त्रिभुवन। भस्म करत।।१४।। वैसे यह विषय ध्यान। यदि कदाचित करत मन। उससे होत अधःपतन। निश्चित जान।।१५।।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।६४।।

अतः विषय समस्त। त्यजो मन से पार्थ। तब राग द्वेष नष्ट। होत स्वयं।।१६।। पार्थ अन्य एक बात। यदि राग द्वेष नाशत। विषय संग न बाधत। कदापि उसको।।१७।। जैसा सूर्य आकाशगत। रश्मिकर से स्पर्शत। क्या संगदोष से लिप्त। होवे कदा?।।१८।। वैसा

इंद्रियार्थ उदासीन। आत्मरस से निर्भिन्न। जो काम-क्रोध विहीन। वर्तत जग में।।१९।। विषय सर्वथा जान। न मानत स्वरूप से भिन्न। तब कहो किसको कौन। बाधक होत?।।३२०।। यदि उदक में उदक डूबत। या अग्नि से अग्नि जलत। तब ही विषय राग से आप्लावित। परिपूर्ण जो।।२१।। ऐसा पुरुष जो केवल। रहत होकर निखिल। उसकी प्रज्ञा अचल। निभ्रान्त जानो।।२२।।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।६५।।

देखो प्रसन्नता अखण्डित। चित्त में जिसके वसत। वहां न प्रवेश प्राप्त। संसार दुःख को।।२३।। जैसा अमृत का निर्झर। प्रसवत जिसका जठर। उसको क्षुधातृष्णा का डर। कुछ भी नहीं।।२४।। हृदय यदि प्रसन्न रहत। वहां दुःख कैसे भासत?। बुद्धि स्वयं रमत। आत्मस्वरूप में।।२५।। जैसा निर्वात स्थल में दीप। सर्वथा न पावत कंप। वैसा स्थिर बुद्धि स्वस्वरूप। योगयुक्त।।२६।।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना। न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।६६।।

यह मर्म न जो जानत। उसका बुद्धिनाश होत। गुण सब उसको बाधत। विषयादिक।।२७।। बुद्धिनाश से पार्था। स्थिरता न पावे सर्वथा। स्थैर्य के प्रति न आस्था। उपजत कभी।।२८।। निश्चलत्व की भावना। मन में न जिसके अर्जुना। तब शांति समाधाना। पावत कैसे?।।२९।। जहां नहीं शान्ति का लेश। नही वहां सुख को प्रवेश। जैसे पापी को मोक्ष। दुष्प्राप्य सदा।।३३०।। दग्धबीज अंकुरण। वैसा अशान्त को सुखकारण। सर्वथा अशक्य जान।

जगत में।।३१।। देखो अस्थैर्य मन का। वही कारण दुःख का। इसलिये इंद्रियों का। दमन युक्त।।३२।।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।६७।।

इंद्रियां जो जो वांछत। यदि पुरुष आचरत। तदा कभी न तरत। विषय सिन्धु।।३३।। नौका तटपर पहुंचत। पुनः बाढ़ग्रस्त होत। वैसा प्राप्त पुरुष दुःख पावत। विषय दुलार से।।३४/३५।।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६८।।

इसलिये हे अर्जुन। यदि इंद्रियां होत स्वाधीन। न उसके समान। सार्थक अन्य।।३६।। सुनो हे पार्थ। जैसे कूर्मांग समस्त। प्रसरत तथा संकुचत। स्वेच्छा से वह।।३७।। वैसे इंद्रियां वश होत। आज्ञा जिसकी मानत। उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित। सर्वथा जानो।।३८।। अन्य एक गहन। पूर्णत्व का लक्षण। तुझको हे अर्जुन। बतलाऊं मैं।।३९।।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।६९।।

जब भूतमात्र निद्रित। तब जो रहे जागृत। जब जीव जागृत। निद्रा करे जो।।३४०।। वह एक निरुपाधि। अर्जुन वह स्थिरबुद्धि। सोहि जानो निरवधि। मुनीश्वर।।४१।।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी।।७०।।

पार्थ! और एक लक्षण। स्थित प्रज्ञ की पहिचान। जैसी अक्षोभता अक्षुण्ण। समुद्र

में।।४२।। यदि सरिता ओघ समस्त। परिपूर्ण होकर समर्पित। तदापि अधिक न होत ईषत्। सीमा न छोड़े वह।।४३।। अथवा ग्रीष्मकाल में सरिता। शुष्क होत समस्ता। तथापि न्यून न होवे पार्था। समुद्र जैसा।।४४।। तैसी पाकर ऋद्धि-सिद्धि। न उल्हसित जिसकी बुद्धि। न छोड़े धीरज असिद्धि-। से कदापि जो।।४५।। या सूर्य के घर में पार्थ। क्या दीपमात्र से प्रकाश होत?। यदि दीप न प्रकाशित। रहे अंधेरे में वह?।।४६।। देखो ऋद्धि-सिद्धि उसमें। प्राप्ता-प्राप्त न खेद मन में। मग्न रहत अंतर में। महासुख में।।४७।। स्वगृह शोभा के सामने। इंद्र भुवन को तुच्छ जाने। कैसा भिल्लपर्णकुटि से माने। समाधान वह?।।४८।। जो अमृत को मानत हीन। न करत कांजी सेवन। वैसा स्वसुख में मग्न। ऋद्धि न चाहे।।४९।। पार्था यह नवल देख। न गणत वह स्वर्गसुख। ऋद्धि-सिद्धि भी अशेख। सामान्य माने जो।।३५०।।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

ऐसा आत्मबोध से तृप्त। जो परमानन्द से संतुष्ट। वो ही स्थिरबुद्धि निश्चित। जानो पार्थ।।५१।। जो अहंभाव को छोड़त। सकल कामना त्यागत। विश्व होकर विचरत। विश्वमध्ये।।५२।।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति। स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।७२।।

यह ब्राह्मी स्थिती निस्सीम। अनुभव से होत निष्काम। वह पावत परब्रह्म। अनायास।।५३।।

चिद्रूप में लीन होत। मृत्यु कभी न बाधत। देहभाव न आकुलित। स्थितप्रज्ञ को।।५४।। वही ये आत्मस्थिति। स्वमुख से कहत श्रीपति। निवेदत अर्जुन के प्रति। संजय कहे।।५५।। ऐसा कृष्णवाक्य सुनत। अर्जुन मन में कहत। यह तो हमको सम्मत। विचारसरणी।।५६।। जो कर्मजात अशेष। निषेधत स्वयं सर्वेश। युद्धकर्म अनुचित सर्वशः। इसलिये।।५७।। सुन अच्युत का कथन। हर्षित होत अर्जुन। पूछेगा मार्मिक प्रश्न। आशंकित।।५८।। वह प्रसंग सुंदर। जो सकल धर्म का आगार। अथवा विवेकामृत सागर प्रान्तहीन।।५९।। स्वयं सर्वज्ञनाथ। निरूपत श्री अनन्त। ज्ञानदेव वर्णन करत। निवृत्तिदास।।३६०।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगोनाम द्वितीयोऽध्यायः।।
(श्लोक ७३; ओवियाँ ३६०)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।

।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – तीसरा

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन। तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।१।।

उस अवसर कहे अर्जुन। देव! आपने जो कहा वचन। वह मैंने किया श्रवण। कृपानिधि।।१।। वहाँ कर्म और कर्ता। शेष न रहत सर्वथा। ऐसा विचार आपका अनंता। निश्चित यदि।।२।। फिर मुझे क्यों उपदेशत। कहत यह संग्राम उचित। महाघोर कर्म आज्ञापत। सांप्रत मुझको।।३।। आद्य कर्म अशेख। निराकारत निःशेख। मुझसे यह कर्म

हिंसक। क्यों करावत?।।४।। इसलिये हे अच्युत! कर्म मार्ग में देकर चित्त। इसविध हिंसार्थ अयुक्त। उद्युक्त होत?।।५।।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।२।।

आपका व्यामिश्र वचन। हम तो साच अनजान। भासत विवेक संपूर्ण। समाप्त होत!।।६।। देव, उपदेश यदि ऐसा। इससे और भ्रम कैसा?। आपसे आत्मबोध की आशा। हो चुकी अब।।७।। वैद्य स्वतः पथ्य बतावत। पश्चात उसीमें विष घोलत। तब रोगी कैसे जीयत। कहो मुझको?।।८।। अंध को कुमार्ग दिखावत। या मर्कट को मद्य देत। वैसा यह उपदेश युक्त?। प्राप्त हमको।।९।। मैं अज्ञानी अच्युत। उस पर मोह से ग्रस्त। इसलिये विवेक समस्त। पूछत आपको।।१०।। आप एकेक नवल कहत। मन उलझन में फँसत। शरणागत होत भ्रमित। इस कारण।।११।। काया वाचा मन से। आश्रय चाहत आपसे। आप व्यामिश्र उक्ति से। बहलावत हमको।।१२।। अब कैसी ज्ञान की आशा। विवेक विचार बोध कैसा?। स्थिरता मन की सर्वशः। पावत नाश।।१३/१४।। आपका चरित्र श्रीकृष्ण। न जानत, बड़ा गहन। क्या इस मिष से चित्त परीक्षण। क्या करत मेरा?।।१५।। अतः देव, सुनिये। गूढ़ार्थ न हमको कहिये। विवेक स्पष्ट बोधिये। हमको अब।।१६/१७।। मैं जड़मति अत्यंत। किन्तु मुझको होवे सहज ज्ञात। निश्चयात्मक कहिये अच्युत। कथन शीघ्र।।१८।। यदि चाहत रोग मुक्ति। करना औषध नियुक्ति। किन्तु चाहिये रुच्य अति। और मधुर।।१९।। वैसे सकलार्थ भरित। तत्त्व

कहिये उचित। जिससे पावे मेरा चित्त। पूर्ण बोध।।२०।। जब आपसा निज गुरु। इच्छा तृप्ति क्यों न करूँ?। किसलिये संकोच धरूं। माता से अब।।२१।। कामधेनू का गोरस। यदि प्राप्त दैववश। कामना पूर्ति सर्वेश। (क्यों न होते)? निश्चित होत।।२२।। चिंतामणि प्राप्त जैसा। वहाँ फिर संकोच कैसा?। मन को जो भाए वैसा। माँगना युक्त।।२३।। या अमृत सिंधु के निकट। यदि तृषार्त जैसा तड़पत। तब किसलिये पास पहुँचत। यत्न से वहाँ।।२४।। वैसे जन्मान्तर में बहुत। हुई उपासना कमलाकांत। जो दैव से आज प्राप्त। आप हमको।।२५।। तब अपनी इच्छावश। क्यों न माँगें वस्तुविशेष। जो आप हे विश्वेश। प्राप्त हमको।।२६।। आज कामना परिपूर्ण। फलीभूत पूर्वपुण्य। सकल मनोरथ संपूर्ण। सिद्ध होत।।२७।। जी जी परम मंगलधाम। सकल देव देवोत्तम। स्वाधीन हे कल्पद्रुम। हमको आप।।२८।। माता के पास वैसे। बालक जात अनवसर से। पावत स्तन्य जैसे। निरंतर।।२९।। वैसे आपको देवेश। पूछत प्रश्न विशेष। स्वेच्छा से हे सर्वेश। कृपानिधि।।३०।। जिससे पारत्रिक हित। और आचरने को उचित। वह बोलो एक निश्चित। कहे पार्थ।।३१।।

श्री भगवान उवाच--

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।३।।

इस कथन से श्री अच्युत। कहत होकर विस्मित। अर्जुन, अभिप्राय संक्षिप्त। ध्वनित यहाँ।।३२।। वह उद्देश्य तुम न जानत। वृथा क्षोभ करत। दोनो जान निश्चित। कथित

मैंने।।३३।। अवधारो वीर श्रेष्ठा। ये दोनों निष्ठा!। मुझसे ही प्रकट सुभटा। अनादि सिद्धा।३४।। एक ज्ञान योग कहत। जो सांख्य आचरत। जिससे सहज पावत। तद्रूपता।।३५/३६।। अन्य कर्मयोग जान। जहाँ साधक जन निपुण। होकर पावत निर्वाण। यथा समय।।३७।। ये मार्ग यद्यपि भिन्न। फल जान अभिन्न। जैसे भोजन तृप्ति समान। सिद्ध साध्य से।।३८।। अथवा पूर्वापर सरिता। भिन्न दिखत सर्वथा। पावत अंत में ऐक्यता। समुद्र मिलन में।।३९।। वैसे दोनों मत। कारण एक निर्देशत। किन्तु उपासना होत। योग्यताधीन।।४०।। देखो उप्लवन सरिसा। पंछी फल को पावत जैसा। कहो नर पावत कैसा। समवेग से?।।४१।। वह शनैः शनैः पहुँचत। शाखा से शाखा पर चढ़त। यथासमय निश्चित। पावत फल।।४२।। एक प्रसिद्ध विहंगम पथ। संपूर्ण ज्ञानाधिष्ठित। सांख्य सद्य लाभत। मोक्ष सिद्धि।।४३।। कर्माधार से योगी अन्य। पिप्पिलिका मार्ग से जान। पावत स्वआचार से निर्वाण। यथा काल।।४४।।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

बिन कर्मारंभ उचित। न आचरत सिद्धवत। कर्महीन को न होवे निश्चित। ज्ञान प्राप्ति।।४५।। अथवा प्राप्त कर्म त्यागिये। कर्म विनिर्मुक्त होइये। उस पर सिद्धी वांछिये। यह तो मूर्खता।।४६।। नदी पूर्ण बाढ़ग्रस्त। पैलपार जाना चाहत। बिन नौका कैसे संभवत। कहो अर्जुन?।।४७।। भोजन तृप्ति कांक्षत। स्वयं पाक न करत। सिद्ध अन्न न सेवत। तब क्या करिये?।।४८।। जब तक निरिच्छ न होत। तब तक व्यापार निश्चित।

संतुष्टता जब होवे प्राप्त। रुकत सब।।४९।। अतः सुनो पार्था। ज्ञिनको नैष्कर्म्य में आस्था। उचित कर्म सर्वथा। करणीय सदा।।५०/५१/५२।।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।५।।

यह प्रकृति का अधिष्ठान। ग्रहण, त्याग सब अज्ञान?। यहाँ क्रिया गुणाधीन। सहज भाव से।।५३।। देखो जितना विहित कर्म। यदि सर्वथा त्यागत। स्वभाव न परिवर्तत। इंद्रियों का।।५४।। क्या कर्ण सुनना छोड़त?। अथवा नेत्र ज्योति लोपत। नासिकारंध्र न लेत। परिमल?।।५५।। या बंद प्राणापान गति?। अथवा क्या निर्विकल्प होत मति?। क्षुधातृषादि आर्ति। नष्ट होत?।।५६।। अथवा स्वप्न जागृति लुप्त। या चरण चलना बिसरत। जन्म-मरण यातायात। होत बंद?।।५७।। ऐसा इंद्रियों का व्यापार। न रुकत कदा साचार। अतः कर्मत्याग असंभव सुवीर। बुद्धिमंत को।।५८।। कर्म पराधीन होत। प्रकृति गुण से उपजत। कर्म त्यागना न उचित। स्वेच्छा से।।५९।। देखो रथ में आरुढ़िये। यदि निश्चल बैठिये। चल होकर भ्रमण करिये। परतंत्र गुण से।।६०।। अथवा वायुवश भ्रमत। जैसे कोई शुष्क पत्र। निश्चेष्ट किन्तु वेगयुक्त। आकाश में।।६१।। वैसे प्रकृति का आधार। कारण कर्मेंद्रिय विकार। नैष्कर्म्य से करत व्यापार। निरंतर।।६२।। अतः संग जहाँ प्रकृति का। तब वहाँ न त्याग कर्म का। जो ऐसे कहत उनका। केवल दुराग्रह।।६३।।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

जो उचित कर्म त्यागत। नैष्कर्म्य मन से वांछत। कर्मेंद्रिय प्रवृत्ति का करत। निरोधन।।६४।।

उनका न घटत कर्म त्याग। जो धरत विषय अनुराग। करत कर्मातीत का ढोंग। जगत
में।।६५।। ऐसे जन पार्था। विषयासक्त सर्वथा। यह जानो तत्त्वता। सुनिश्चित।।६६।।
अब दीजे अवधान। प्रसंगवश करूं निरूपण। नैराश्य का क्या चिन्ह। धनुर्धर!।।६७।।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।

जो अंतर में दृढ़। परमात्मरूप में गूढ़। बाह्यरूप से रूढ़। लौकिक जैसा।।६८।। जो
इंद्रियों को आज्ञा न करत। विषय भय न धरत। प्राप्त कर्म न अव्हेरत। उचित जो
जो।।६९।। कर्मेंद्रिय कर्म करत। उनको न कभी रोकत। किन्तु न आधीन होत। विकारों
के।।७०।। कामनामात्र से न मोहित। मोह मल से न लिंपत। जल में जल से नाप्लवत।
पद्मपत्र जैसे।।७१।। वैसा संसार में वास। सामान्य जन जैसा भास। जैसा सलिल संग
आभास। भानूबिंब को।।७२/७३।। ऐसे लक्षण से युक्त। देखो वही सांच मुक्त। जो
आशापाश रहित। नित्य जान।।७४।। वही योगी पूर्ण। जगमें निश्चित जान। ऐसा होना तुम
अर्जुन। इसीलिये।।७५।। करो नियम मन में। निश्चल होना अंतर में। कर्मेंद्रिय को व्यापार
में। रहने दो।।७६।।

नियतं कुरू कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।८।।

अतः पूर्ण कर्म रहित। होना यहाँ न संभवत। कैसे निषिद्ध आचरना युक्त। सोचो
स्वयं।।७७।। इसलिये जो उचित। और अवसर से प्राप्त। वह कर्म फल रहित। आचरिये
सदा।।७८।। पार्था! और एक। तू न जाने कौतुक। जो ऐसा कर्म मोचक। होत सहज।।७९।।

अनुक्रमाधार से जान। जो करे स्वधर्माचरण। उस व्यापार से मोक्ष पूर्ण। निश्चित पावे।।८०।।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।।९।।

स्वधर्म जो संपूर्ण। वहीं नित्य यज्ञ जान। अतः पाप को वहाँ अर्जुन। संचार नहीं।।८१।। यह निज धर्म जहाँ छूटत। और कुकर्म में रति होत। बंधन पावत निश्चित। सांसारिक।।८२।। अतः स्वधर्मानुष्ठान। वह अखण्ड यज्ञ याजन। जो करत उसको बंधन। कभी न प्राप्त।।८३।। कर्म से बद्ध यह जगत। अतः मायाधीन होत। नित्य यज्ञ विस्मरत। इसीलिये।।८४।। इस कारण अब पार्था। तुमको कहूँ एक कथा। जब सृष्ट्यादि संस्था। विधि-रचत।।८५।।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।१०।।

तब नित्य याग सहित। निर्मित भूतजात समस्त। किन्तु नित्य विहित न जानत। सूक्ष्मता कारण।।८६।। तब वे प्रार्थत विधि को। कहो उपाय हमको। कहत कमलजन्मा उनको। भूत मात्र को।।८७।। वर्ण विशेष को जो सम्मत। स्वधर्म जो नियमित। आचरण से जिसके इष्ट। पावत काम।।८८।। तुम व्रत नियम न करना। शरीर को न दंडना। दूर कहीं न जाना। तीर्थाटन को।।८९।। योगादिक साधन। साकांक्ष आराधन। मंत्र-तंत्र विधान। न कीजे कदा।।९०।। देवतान्तर न भजना। यह सब कुछ न करना। तुम स्वधर्म यज्ञ यजना। अनायास।।९१।। छोड़के कर्मफल को। एकमेव आचरना इसको। पतिव्रता पूजत पति को। जिस विध।।९२।। वैसा स्वधर्मरूप मख। यही सेव्य तुमको एक। ऐसा सत्यलोक नायक (ब्रह्मा) उपदेशत।।९३।। देखो स्वधर्म आचरण। फलद्रूप सब कारण।

यह कामधेनू सा जान। सदा तुमको।।९४।।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।११।।

यदि करत स्वधर्माचरण। संतुष्ट होत देवतागण। तब वे देत तुमको जान। इप्सित फल।।९५।। स्वधर्म पूजा आचरत। सकल देवता भजत। वे करत सुनिश्चित। योगक्षेम तेरा।।९६।। तुम देवता को भजत। देवता तुमसे परितोषत। परस्पर में उपजत। प्रीति भाव।।९७।। तब जो मन में कारण। वह सहज सिद्ध जान। वांछित सब होत पूर्ण। मनोगत।।९८।। तब पावत वाचासिद्धि। आज्ञांकित महाऋद्धि। करत सेवा निरवधि। दास्य भाव से।।९९।। ऋतुपति का द्वार। वनश्री वहाँ निरंतर। फल-पुष्प भार। लावण्य सहित।।१००।।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः। तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।१२।।

वैसे सब सुख सहित। देखो दैव मूर्तिमंत। स्वयं पीछा करत। खोजत तुमको।।१।। ऐसे समस्त भोग भरित। जब होइजे अनार्त (ऐश्वर्युक्त) यदि वर्तत स्वधर्म निरत। जग में सदा।।२।। किन्तु प्राप्त सकल संपद। जो अनुसरत इंद्रियमद लुब्ध होकर लेत स्वाद। विषयों का।।३।। (संतुष्ट) जो यज्ञभावित सुर। देत संपदा प्रचुर। उससे स्वधर्म से ईश्वर। न भजे जो।।४।। अग्निमुख में हवन। न करत देवता पूजन। प्राप्तकाल अन्नदान। ब्राह्मण को न देत।।५।। गुरुभक्ति को विमुख। न करत आदरातिथ्य। स्वजाति को संतोख। कदा न दे।।६।। ऐसा स्वधर्म क्रिया रहित। संपत्तिमद से उन्मत्त। केवल भोगासक्त। रहत

जो।।७।। उसको संकट घोर घेरत। जिससे प्राप्त ऐश्वर्य नाशत। उपलब्ध भोग समस्त। व्यर्थजात।।८।। जैसे गतायुष शरीर। चैतन्यहीन गात्र अथवा निदैवी के घर। लक्ष्मी न वसत।।९।। वैसे जब स्वधर्म लोपत। सकल सुख ठाँव छोड़त। जैसे दीप के संग नाशत। प्रकाश पूर्ण।।१०।। निजवृत्ति जहाँ लुप्त। स्वातंत्र्य होत नष्ट। सुनो प्रजाजन निश्चित। विरंचि कहे।।११।। अतः जो स्वधर्म त्यागत। काल उसको दण्ड देत। चोर कहकर छीनत। सर्वस्व उसका।।१२।। तब उसको दोष सकल। चौ बाजूसे घेरत सबल। निशा समय स्मशान स्थलको पिशाच जैसा।।१३।। वैसे त्रिभुवन के दुःख। और नानाविध पातक। दैन्य जात अशेख। वसत वहाँ।।१४।। ऐसी गति पावत उन्मत्त। रुदन उसका होत व्यर्थ। कल्पांत में भी न छूटत। सुनो सब।।१५।। अतः निजवृत्ति न त्यागना। इंद्रियों को स्वैर न छोड़ना। ऐसे चतुरानन प्रजा को नाना। करत बोध।।१६।। जैसे जलचर जलबिन। पावत मृत्यु तत्क्षण। इसलिये स्वधर्माचरण। न त्यागिये कभी।।१७।। अतः आप समस्त। अपने कर्म में उचित। सदा रहना निरत। कहे विधि।।१८।।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।१३।।

देखो विहित क्रिया विधि। निर्हेतु की स्वबुद्धि। जो यथाशक्ति समृद्धि। विनियोग करत।।१९।। गुरु गोत्र, अग्नि पूजत। यथाकाल द्विज सेवत। पर्व काल में तर्पण करत। पितरोद्देश।।१२०।। यह यज्ञ क्रिया उचित। अग्नि में हवन करत। हुतशेष स्वभावतः। अवशिष्ट जो।।२१।। वह गृह में सुख से आपन। सकुटुंब करे सेवन। यज्ञावशिष्ट से होत

अर्जुन। कल्मष नाश।।२२।। वह अशेष अन्न। करत पापनाशन। जैसे महारोगी को अमृतपानसे नाशत व्याधि।।२३।। या तत्त्वनिष्ठ को अशेष। न बाधत भ्रान्ति लेष। वैसा शेष भोगी को दोष। न बाधे कदा।।२४।। अतः स्वधर्म से जो अर्जित। वह स्वधर्म से ही विनियोजत। शेष जो वह भोगत। संतोष से।।२५।। इसके बिन पार्था। श्रेय न वर्तन अन्यथा। ऐसी यह आद्य कथा। श्री मुरारी कहत।।२६।। जो स्वयं को देह मानत। विषय को भोग्य कहत। उसके बिना न स्मरत। अन्य वस्तु।।२७।। इंद्रिय रुचिनुसार। पक्वान्न बहु प्रकार। वे पापी साचार। भक्षत पाप।।२८।। यह यज्ञोपकरण सकल। जानत पूर्ण निष्फल। अहं बुद्धि केवल। भोगत जात।।२९।। यह संपत्तिजात देखिये। केवल हवन द्रव्य मानिये। स्वधर्म यज्ञ से अर्पिये। आद्य पुरुष को।।१३०।। न जानत वे मूर्ख। अपने लिये देख। सिद्ध करत पाक। नाना विध।।३१।। जिससे यज्ञ सिद्धि होत। परमेश संतोषत। उस अन्न को समझत। सामान्य जान।।३२।। इसे न कहो साधारण। अन्न ब्रह्मरूप अर्जुन। जो होत जीवन कारण। इस विश्व को।।३३।।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।१४।।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्। तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

अन्न के कारण भूत। वृद्धि पावत समस्त। पर्जन्य से सर्वत्र उपजत। अन्न सकल।।३४।। पर्जन्य को यज्ञ से जन्म। यज्ञ को प्रकटत कर्म। कर्म को आदि ब्रह्म। वेदरूप।।३५।। वे वेद को परात्पर। प्रसवत स्वयं अक्षर। अतः यह चराचर। ब्रह्माधीन।।३६।। सुनो

सुभद्रापति। कर्म की जो मूर्ति। यज्ञ में अधिवास श्रुति। अखण्ड जानो।।३७।।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः। अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

ऐसी यह आदि परंपरा। संक्षेप में धनुर्धरा। तुमको कथित अध्वरा। विषय में।।३८।।
अतः समूल यह उचितु। स्वधर्मरूप क्रतु। न अनुष्ठित जो उन्मत्तु। इह लोक में।।३९।।
वह पाप का ढेर। भूमि को मात्र भार। इंद्रियों को विषय व्यवहार। कुकर्म से देत।।१४०।।
वह जन्म कर्म सकल। अर्जुन अति विफल। जैसे दिखत अभ्रपटल। अकाल में।।४१।।
या जैसा अजागल स्तन। वैसा उसका जीवन। जो स्वधर्मानुष्ठान। न करे कदा।।४२।।
इसलिये अर्जुन। न त्यागिये स्वधर्माचरण। सर्वथा इसका अर्चन। करना युक्त।।४३।।
इस शरीर के साथ। कर्तव्य सहज प्राप्त। तब क्यों अपना उचित। अव्हेर कीजे?।।४४।।
सुन अर्जुन बात मन की। मूर्ति पाकर देह की। खंत करत कर्म की। वे मूढ़ सब।।४५।।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।

यदि रहत देह धर्म। न लिंपत उसको कर्म। जो अखंडित मग्न। स्वस्वरूप में।।४६।।
वह आत्मबोध से तृप्त। जग में होत कृतकृत्य। इसलिये सहज नष्ट। कर्म संग।।४७।।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।१८।।

तृप्ति पाकर जैसे। साधन अनावश्यक वैसे। सहज आत्म संतोष से। कर्मनाश।।४८।।
जब तक हे अर्जुन। न पावत यह ज्ञान। तबतक यह साधन। करना प्राप्त।।४९।।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर। असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।१९।।

इसलिये तुम नियत। सकल कामना रहित। होकर स्वधर्म निरत। आचरना युक्त।।१५०।। जो स्वधर्म से निष्कामता। अनुसरत नित्य पार्था। वह कैवल्यपद तत्त्वता। पावत जग में।।५१।।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।।२०।।

देखो जनकादिक। कर्मजात अशेख। न त्यागकर मोक्षसुख। पावत जान।।५२।। इस कारण पार्था। रखना कर्म में आस्था। जिससे एक उपयुक्तता। और होत।।५३।। स्वतः करे आचरण। जन पावत उचित ज्ञान। निरसत दुःख अज्ञान। अनायास।।५४।। देखो जो स्वयं प्राप्तार्थ। पूर्ण निष्कामता अर्जित। उनको भी कर्म प्राप्त। जनकारण।।५५।। मार्ग में अंध के आगे जैसा। दृष्टिवान चलत वैसा। मूढ़ो को प्रकटत धर्म तैसा। स्वआचार से।।५६।। जो ऐसा न करेंगे। अज्ञानी कैसे मानेंगे?। वे किसविध जानेंगे। मार्ग यह।।५७।।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।२१।।

यहाँ श्रेष्ठ जो-जो करत। उसको धर्म संज्ञा देत। अन्य जन अनुसरत। सामान्य सकल।।५८।। ऐसा सहज स्वभाव होत। अतः कर्म त्याग न उचित। विशेषरूप से करना युक्त। संत जन को।।५९।।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।२२।।

औरों की क्या बात। कहूँ तुझको पार्थ। मैं स्वयं वर्तत। धर्माचार से।।१६०।। क्या मुझको संकट?। क्या मन में कामना पार्था। जिससे मैं कर्म करत। यदि शंका तुझको।।६१।।

सुनो प्रिय अर्जुन! मुझ जैसा गुणसंपूर्ण। अखिल जगत में जान। नाही अन्य।।६२।। मृत गुरु-पुत्र किया जीवित। वह आश्चर्य तुमको विदित। वह मैं निरिच्छ स्वयं वर्तत। कर्म मार्ग से।।६३।।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।२३।।

साकांक्ष पुरुष जैसा। स्वधर्म आचरत वैसा। मन में उद्देश्य तैसा। रखके वर्तत।।६४।। भूतजात सकल। मेरे आधीन केवल। न होवे भ्रष्ट उच्छश्रृंखल। इसलिये।।६५।।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।२४।।

हम पूर्ण काम होकर। आत्मस्थिति में रहत स्थिर। तब कैसे प्रजा का उद्धार। जग में होत।।६६।। इनको हमारा आदर्श। वर्तनक्रम के लिये खास। नाशत यदि रहत उदास। जग रीति।।६७।। अतः जो समर्थ। जिसको सर्वज्ञता प्राप्त। सविशेष कर्मरत। रहना युक्त।।६८।।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत। कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।।२५।।

रखकर फल की आशा। आचरत फलेच्छु जैसा। कर्म पर जोर देवे वैसा। निरिच्छ पुरुष।।६९।। जैसे कि सर्वदा पार्था। यह सकल लोकसंस्था। सदा रक्षणीय सर्वदा। इस कारण।।१७०।। मार्गाधार से चलिये। विश्व को सन्मार्ग में प्रेरिये। स्वतः अलौकिक न होइये। जग में कदा।।७१।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्। जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समारचन्।।२६।।

जो सायास सेवत स्तन्य। कैसे भक्षत वह पक्वान। न देना युक्त इस कारण। धनुर्धर।।७२।। कर्म में जिनकी अयोग्यता। उनको यह नैष्कर्म्यता। भूलके भी इसकी वार्ता। करना न युक्त।।७३।। वहाँ सत्क्रिया बोधिये। वही एक ही प्रकटिये। निष्काम स्वयं आचरिये। उनके लिये।।७४।। लोकसंग्रह कारण। कीजिये स्वतः कर्माचरण। तब कर्मबंध अर्जुन। न बाधत कदा।।७५।। बहुरुपिया के रानी-राव। मन में न स्त्री-पुरुष का भाव। दर्शक को वैसा ही स्वभाव। दर्शवत।।७६।।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।२७।।

देखे दूसरों का भार। यदि लीजे अपने माथे पर। तब क्यों न धनुर्धर। पावे कष्ट?।।७७।। वैसे शुभाशुभ कर्म। जो उपजवत प्रकृति धर्म। मूर्ख को कैसा मति भ्रम। कहत मैं कर्ता।।७८।। ऐसा जो अहंकार रुढ़। एकदेशी वह मूढ़। उनको यह परमार्थ गूढ़। न करें प्रकट।।७९।। रहने दो यह सांप्रत। तुझको कहूँ तेरा हित। वह अर्जुन देकर चित्त। अवधारो अब।।१८०।।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।२८।।

तत्त्वज्ञ का मन। न करत देहाभिमान। जिससे कर्मजात अर्जुन। उपजत।।८१।। वे अभिमान छोड़कर। त्रिगुण को लांघकर। साक्षीभूत होकर। वर्तत जगमे।।८२।। अतः यदि शरीरी होत। कर्मबंधसे न लिंपत। जैसे भूतचेष्टा से न गभस्त। परिवर्तत।।८३।।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु। तानकृत्स्नविदो मन्दानकृत्स्नविन्न विचालयेत्।।२९।।

यहां जो कर्माधीन। गुणसंभ्रमसे हीन। प्रकृति वश होकर दीन। वर्तत जग में।।८४।। इंद्रियां गुणाधार। करत निज व्यापार। वह परकर्म बलात्कार। स्वयं लेत।।८५।।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा। निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः।।३०।।

अतः उचित कर्म संपूर्ण। मुझको करना अर्पण। किन्तु चित्तवृत्ति रखना पूर्ण। आत्मरूप में।।८६।। और यह कर्म मैं कर्ता। मेरे कारण सब वार्ता। ऐसा अभिमान सर्वथा। चित्त में न लाना।।८७।। तुम शरीर पर न होना। कामनाजात छोड़ना। अवसरोचित भोगना। भोग सकल।।८८।। अब कोदण्ड करो धारण। रथ पर करना आरोहण। वीरवृत्ति को दो आलिंगन। ससमाधान।।८९।। जगमें कीर्ति पाओ। स्वधर्म मान् बढ़ाओ। दुष्टों से बचाओ। मेदिनी यह।।१९०।। अब निःशंक होना पार्थ। संग्राम में देना चित्त। और कुछ अन्य बात। न सोचो तुम।।९१।।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः। श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।३१।।

यह अनुपरोध (प्रतिबंधरहित) मेरा मत। परमादर से मानकर सत्य। श्रद्धापूर्वक आचरना नित्य। धनुर्धर।।९२।। वे कर्म सकल करत। किंतु जानो कर्म रहित। इसलिये करना युक्त। सतत जान।।९३।।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुनिष्ठन्ति मे मतम्। सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।।३२।।

किंतु प्रकृतिमंत होकर। इंद्रियों का करके दुलार। मेरे मत का अव्हेर। करत जात।।९४।।

इसको सामान्य समझत। अवज्ञा करके उपेक्षत। केवल अर्थवाद कहत। मूढ़जन।।९५।। वे मोहमदिरा सक्त। विषय विष से व्याप्त। अज्ञान पंक में आप्लवित। निभ्रांत जान।।९६।। जैसे शव के हस्तगत। रत्न वह व्यर्थ जात। जात्यंध को प्रकाश दिखत। कोई न प्रमाण।।९७।। चंद्रमा का उदय जैसा। उपयुक्त न वायस को वैसा। मूर्ख को विवेक यह तैसा। सूचत न कभी।।९८।। तैसा जिनसे पार्थ। विमुख यह परमार्थ। उससे संभाषण सार्थ। करना व्यर्थ।।९९।। वे न कभी मानत। निंदा ही करत जात। कहो पतंग साहत। प्रकाश कभी?।।२००।। पतंग का दीप को आलिंगन। वहां उसका निश्चित मरण। वैसा करत विषयाचरण। आत्मघात।।१।।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।३३।।

अतः इंद्रियों की प्रीत। ज्ञानी पुरुष को न युक्त। न उसका कौतुक व्यर्थ। करना युक्त।।२।। क्या सर्प से क्रिड़ा उचित?। व्याघ्र संसर्ग सिद्धिप्रद होत?। हलाहल पचाना संभवत?। कहो तुम?।।३।। सहज घटत अग्निस्पर्श। प्रदीप्त न होवे वश। वैसा इंद्रिय परिवेश। भला न होत।।४।। वैसे भी अर्जुन। यह शरीर पराधीन। इसके लिये भोगार्जन। न कदापि कार्य।।५।। स्वयं करके यत्न बहुत। प्राप्त समृद्धि नाशत। पोषण देह का इस अहोरात्र। किस लिये?।।६/७।। यह तो पांचों का मेल पार्थ। अंत में पन्चत्व पावत। सकल यत्न व्यर्थ। निरर्थक।।८।। अतः केवल देहाभिमान। वह निश्चित हानि जान। इसको अपना अंतःकरण। न दीजे कदा।।९।।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३४।।

वैसा यह विषय सेवन। चित्त के संतोष का कारण। नित्य नया प्रलोभन। होत जात।।२१०।। किंतु यह चोर की संगत। क्षणभर स्वस्थ भासत। जब तक न नगर प्रांत। उल्लंघत।।११।। देखो विषका मधुरपन। भासत चित्त को सुहावन। परिणामी तत्त्वतः अर्जुन। नाशकारी।।१२।। इंद्रियस्थ जो काम जान। सुखाशा नाशत पूर्ण। जैसा गलग्रह से मीन। फसत जात।।१३।। जो उसमें कंटक गुप्त। अज्ञानवश न जानत। अंत में प्राण हरत। सुनिश्चित।।१४।। इसलिये विषय अभिलाष। यदि रखत मूढ़ पुरुष। वह करत प्रवेश। क्रोधाग्नि में।।१५।। जैसा अवसर देख व्याध। करत मृगका बुद्धि भेद। करने को उसका वध। निःसंशय।।१६।। वैसा यह विषय साथ। बाधक तुझको पार्थ। काम क्रोध दोनों निश्चित। घातक जान।।१७।। इसलिये इनका स्मरण। न देना स्थान। एक निजवृत्ति को अंतःकरण। देना सतत।।१८।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

देखो स्वधर्म अर्जुन। यदि होत विगुण। उसका ही अनुष्ठान। करना युक्त।।१९।। अन्य जो परधर्म। दिखत अति उत्तम। तथापि अपना निजधर्म। आचरना युक्त।।२२०।। शुद्रगृहका अन्न। नानाविध पक्कान्न। कैसे करे द्विज सेवन। निर्धन यदि?।।२१।। यह अनुचित कैसे कीजे?। अग्राह्य कैसे वांछिजे। यदि इच्छित पाईजे। तथापि न युक्त।।२२।। दूसरों का धवलार। देखकर मनोहर। अपना कुटिया सा घर। तोड़ना कैसे?।।२३।।

दैवयोग से निज वनिता। कुरूप किंतु सुरता। भोग के लिये तत्त्वता। वही भली।।२४।। वैसा स्वधर्म यदि दुर्घट। आचरण उसका विकट। तथापि वह सन्मित्र। परत्र के लिये।।२५।। देखो शर्करा और दुग्ध। मधुरता के लिये प्रसिद्ध। किंतु कृमिदोष में निषिद्ध। ग्राह्य कैसे?।।२६।। यदि इसपर भी सेवत। रोगी हठ धरत। परिणाम में हानि करत। धनुर्धर।।२७।। अतः दुसरों का निहित। किंतु अपने लिये अनुचित। न कीजे कदापि हित। अपना देखे।।२८।। स्वधर्म का अनुसरण। नाशत यदि निज जीवन। उभय लोक में निश्चित जान। यश प्राप्त।।२९।। ऐसा समस्त सुरशिरोमणि। बोलत जहां शारंगपाणि। अर्जुन कहत विनयबानी। सुनो, देव।।३०।। आपने किया निरूपण। वह सकल किया श्रवण। कुछ पूछूं। मन में जो प्रश्न?। अपेक्षित।।३१।।

अर्जुन उवाच--

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः। अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।३६।।

कहो प्रभु यह कैसे?। ज्ञानी भी ग्रसित बुद्धि भ्रंश से। सन्मार्ग त्यागकर सहज से। कुमार्गी होत?।।३२।। जो सर्वज्ञ होत। सारासार जानत। वे भी परधर्म व्यभिचरत। किस गुण से?।।३३।। बीज और भूसा। पृथक न करत अंध जैसा। किंतु दृष्टिवंत भी क्षण में तैसा। भ्रमत क्यों?।।३४।। जो प्राप्त संग त्यागत। पुनः संग करके-अतृप्त। ज्ञानी जन सेवत। जनपद को।।३५।। स्वतः न चाहत पापकृत्य। रहना चाहत अलिप्त। किंतु बलात्कार सें प्रेषित। होत उसमें।।३६।। जिससे करत घृणा। वही वेष्टत विषयवासना।

हटाना चाहत पुनः पुनः। किन्तु ग्रसित होत।।३७।। यह ज्ञानियों पर बलात्कार। किसका यह आग्रह साचार। बोलो मुझको लक्ष्मीवर। अर्जुन कहत।।३८।।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्।।३७।।

तब हृदय कमल आरामु। जो योगियों का निष्काम-कामु। वह कहत पुरुषोत्तमु। सुनो पार्थ।।३९।। देखो ये क्रोध काम। जो होत अति निर्मम। नाश करत यमसम। कालरूप।।२४०।।ये ज्ञाननिधि के भुजंग। विषय दरी के बाघ। भजन मार्ग के मांग। मारक जो।।४१।। ये देह दुर्ग के पत्थर। इंद्रिय ग्राम का कारागार। इन व्यामोहादिक का भार। जग के ऊपर।।४२।। ये रजोगुण मन के। समूल असुर संपदा के। भोक्ता अविद्या के। जग में अर्जुन।।४३।। रजोगुण से उत्पन्न। ये तमोगुण को प्रसन्न। किया निजपद दान। प्रमाद मोह को।।४४।। इनको प्रिय मृत्युनगर। पावत वहां अति आदर। जीवित का करत वैर। इसीलिये।।४५।। भूख इनकी सबल। विश्व न होत एक कवल। इनके व्यापार को बल। आशा देत।।४६।। मुष्टि जहां बंद करत। चौदह भुवन सहज समावत। ऐसी जो प्रिय कनिष्ट। भ्रांति भगिनी।।४७।। इस भ्रांति का आश्चर्य। सहज भक्षत लोकत्रय। तृष्णा इसकी दासी होय। जीयत जग में।।४८।। यहां मोह को सम्मान। अहंकार का व्यापार पूर्ण। जो जग को नचावत संपूर्ण। स्वेच्छा से जान।।४९।। जिसने विदीर्ण किया सत्य। उसमें भरा तृणकूट दुष्कृत्य। दंभ को कराया ख्यात। जगत में इस।।२५०।। ये साध्वी शांति को लूटत। माया मांगी को श्रृंगारत। उससे भ्रष्ट करवत।

साधु वृंद।।५१।। ये विवेक को करत नष्ट। वैराग्य की खाल उधड़त। जीते जी गर्दन मरोड़त। उपशम की (इंद्रियनिग्रह)।।५२।। इन्होने संतोषवन किया खंडित। धैर्य दुर्ग जमींदोस्त। आनंद अंकुर उखड़त। गिरावत नष्ट करत।।५३।। बोध वृक्ष काट दिया। सुख का नाम मिटाया। हृदय में अग्नि जलाया। तापत्रय का।।५४।। ये शरीर के साथ उत्पन्न। प्राण के साथ संलग्न। खोजकर न लाभत अर्जुन। ब्रह्मादिक को ।।५५।। वसत चैतन्य के पास। ज्ञान के साथ इनका वास। करत जगत का नाश। अनावर ये।।५६।। बिना जल आप्लवत। अग्निबिन भस्म करत। अनवधान ग्रासत। जीवों को सकल।।५७।। बिन शस्त्र करत आघात। रज्जू बिन बद्ध करत। ज्ञानियों को तो जीतत। प्रतिज्ञापूर्वक।।५८।। ये कर्दमबिन रोंदत। पाशबिन जखड़त। अंतर तम में वसत। वश न होत।।५९।।

धूमेनाव्रियते वन्हिर्यथादर्शो मलेन च। यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।३८।।

चंदन की जड़ जैसे। वेष्टत व्याल वैसे। अथवा उल्ब वेष्टन तैसे। गर्भस्थ को।।२६०।। या प्रभाबिन भानु। धूम्रबिन हुताशनु। जैसा दर्पण पारदहीनु। रहत न कदा।।६१।। वैसे बिना काम क्रोध। न वसत ज्ञान शुद्ध। जैसे छिलके से अनुविद्ध (संलग्न)। बीज सदा।।६२।।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा। कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।३९।।

ऐसे यह ज्ञान शुद्ध। किंतु इनसे नित्य आच्छादित। इसलिये वे अगाध। त्रिजगत में।।६३।। प्रथम इनको जीतना। पश्चात ज्ञान को पाना। तब संभव पराभव करना। रागद्वेष का।।६४।। इनके निर्दालन कारण। जो बल जोड़त अर्जुन। वह अग्नि को जैसा

ईंधन। सहायक होत।।६५।।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।४०।।

मन बुद्धि इनका अधिष्ठान। मोह से आवृत करत ज्ञान। हठयोगियों को भी हे अर्जुन!। जीतत जग में।।६६।। यद्यपि ये अजिंक्य। इसका भी एक उपाय। यदि तुझको शक्य। कहूंगा मैं।।६७।।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ। पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।४१।।

इंद्रियां इनका मूल स्थान। इनसे कर्म प्रवृत्ति जान। अतः करना इनका निर्दालन। निःशेष पार्थ।।६८।।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।४२।।

तब मनवृत्ति होगी कुंठित। बुद्धि होगी सुसंस्कृत। कामक्रोध का नष्ट होत। समूल प्रस्थ।।६९।।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना। जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।४३।।

अंतःकरण से इनकी बस्ति। उखड़त तब ये पावत मुक्ति। जैसे रश्मि बिन न स्थिति। मृगजल को।।२७०।। जब राग द्वेष होत नष्ट। जीवब्रह्म ऐक्य पावत। तब आत्मसुख भोगत। स्वयं जाने।।७१।। यह गुरुशिष्य की बात। मूल अद्वैत सिद्धांत। वहां स्थिर करके चित्त। रहना अचल।।७२।। ऐसे सकलसिद्धि मुकुटमणि। आगे कहत शारंगपाणि। कथा पुरातन अमृतबानी। सुनो नृप।।७३।। अब पुनः वह अनंत। एक आद्य कथा कहत। तब

प्रश्न पूछत। पंडुसुत।।७४।। वह कथा की योग्यता। और उसकी रसिकता। रस वर्षा से पावे श्रोता। श्रवण सुख।।७५।। ज्ञानदेव कहे निवृतीका। सुसज्ज होकर उन्मेषका। संवाद हरि पार्थका। अनुभविजे पूर्ण।।२७६।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगोनाम तृतीयोऽध्यायः ।।
(श्लोक ४३; ओवियाँ २७६)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।

।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – चौथा

आज श्रवणेंद्रियां जागत। जो गीता निधान देखत। स्वप्नहि साकारत। सत्यसम।।१।। यह विवेक की गोष्ठी। उसको प्रतिपादत जगजेठी। श्रोता भक्त राज किरीटि। श्रवण करत।।२।। जैसा पंचमालाप और सुगंध। परिमल और सुस्वाद। वैसा भला हुआ विनोद। कंथा का इस।।३।। कैसी अपूर्वाई दैव की। जो गंगा बहत अमृत की। की जप तपस्या श्रोताओं की। फलीभूत।।४।। अब संपूर्ण इंद्रियजात। श्रवण स्थान में वसत।

संवाद सुख भोगत। इस गीताख्य का।।५।। ऐसा अपूर्व अवसर। कथा कहत शारंगधर। संजय बोले हे नृपवर। सुनो अब।।६।। दैवी संपदा से अधिष्ठित। अर्जुन को कहत श्री अच्युत। अति प्रीति से गुपित (गुह्य)। प्रकट करत।।७।। जो न कहे पिता वसुदेव को। न कहे माता देवकी को। या न बलभद्र को वह अर्जुन को। कहत गुह्य।।८।। जो लक्ष्मी सदा निकट। वह भी न देखे यह प्रेम सुप्त। वह कृष्ण स्नेह को पात्र। अकेला पार्थ।।९।। सनकादि मुनिवर। अभिलाषत बहुसार। न लभत प्रीतथोर। यत्नपूर्वक।।१०।। इस जगदीश्वरका प्रेम। यहां प्रकटत अनुपम। कैसे अर्जुन ने सर्वोत्तम। किया पुण्य!।।११।। कैसी इसकी प्रीत। जो करत अमूर्त को व्यक्त। दोनों एकरूप होत। अभिन्न भासत।।१२।। वेदार्थ को भी अगम्य योगियों को भी दुष्प्राय। ध्यान चक्षु असहाय। न पावत इसे।।१३।। वह निजस्वरूप। अनादि निष्कंप। किन्तु कैसा होत सकृप। अर्जुन को यह।।१४।। यह त्रैलोक्य पटका तहकार। स्वयं सदा निराकार। प्रेमवश हुआ साकार। भक्ताधीन।।१५।।

श्री भगवान उवाच--

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।१।।

तब देव कहत पांडुसुत को। यहि योग विवस्वत को। बहुकाल पूर्व सूर्य को। बतलाया मैंने।।१६।। आगे यह विवस्वत। यह योगस्थिति पार्थ। संपूर्णतः श्रेष्ठ निरूपत। मनुप्रति।।१७।। मनु स्वतः आचरत। इक्ष्वाकुको उपदेशत। ऐसी परंपरा विस्तारत। पुरातन।।१८।।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः। स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।।२।।

तदनंतर हे अर्जुन!। अन्य राजर्षि जानत पूर्ण। किंतु सांप्रत यह योगज्ञान। नष्ट सकल।।१९।। अब प्राणियों को विषय प्रीति। देहभाव का आदर अति। इसलिये विस्मरत मति। आत्मबोध।।२०।। कुमार्ग में आस्थाबुद्धि। विषय सुखहि परमावधि। जीव के सम उपाधि। रुचत सबको।।२१।। देखो वस्ती में दिगंबरों की। क्या कीमत सुंदर वस्त्रों की?। क्या महती सूर्य की?। जात्यंध को।।२२।। अथवा बधिर का सभास्थान। संगीत को देत सम्मान?। या शृगाल को चंद्रमा जाण। प्रिय होत?।।२३।। चंद्रोदय पूर्व जैसा। दृष्टिनाश होत वायसा। उसको चंद्रमा का कैसा। ज्ञान होगा?।।२४।। वैसे अज्ञात वैराग्य जिनको। जो न जानत विवेक को। वे मूर्ख मुझ ईश्वर को। पावत कैसे?।।२५।। कैसा न जानत मोह बढत?। उससे बहुकाल व्यतीत व्यर्थ। इस कारण योग यह लुप्त। इस लोक में।।२६।।

एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः। भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।३।।

वही योग सांप्रत। तुमको हे कुंतीसुत!। कहूंगा तत्त्वतः। करो न संदेह।।२७।। यह योग मेरा जीवप्राण। तुमसे कैसे छिपाउं अर्जुन। जो तुम मेरा प्रिय सखा जान। इसलिये।।२८।। तुम प्रेम का पुतला। भक्ति मूर्ति कोमला। मित्रता की चित्कला। धनुर्धर।।२९।। तुम मेरे विश्वास भाजन। कैसे करूं तुझसे प्रतारण। यदि संग्राम को भी हम अर्जुन। सिद्ध जान।।३०।। अतः यह युद्ध का अवसर। क्षणैक रख के दूर। यह तेरा अज्ञान घोर। हरना युक्त।।३१।।

अर्जुन उवाच--

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः। कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।४।।

अर्जुन कहे अच्युत!। माता सुत को स्नेह करत। इसमें आश्चर्य की क्या बात। कृपानिधी?।।३२।। आप छाया संसारश्रान्तों की। माता अनाथ जीवों की। कृपा से तत्त्वता आपकी। जन्म मेरा।।३३।। अपत्य पंगु उपजत। मां को जन्म से कष्ट देत। यह सब आपको विदित। कृपाधन।।३४।। अब मैं जो पूछूं प्रश्न। सुनो देकर चित्त पूर्ण।कोप न करना कृष्ण। मुझपर।।३५।। तब कहा हे अनन्त!। पुरातन जो कही बात। न माने मेरा चित्त। कदापि जान।।३६।। यह जो वर्णित विवस्वत। न मेरे पूर्वज भी जानत। तुम उनको उपदेशत। यह तो विचित्र।।३७।। बहुकाल पूर्व उसका जन्म। तुम तो अभी के पुरुषोत्तम। इस बात को मानत हम। विसंवाद।।३८।। देव चरित्र तेरा गहन। न जानत हम अनजान। कैसे कहूं इसे असत्य कृष्ण। एकाएक।।३९।। तब यह कथा सब। कहिए हमको अब। रवि को उपदेश किया कब। स्पष्ट बोलो।।४०।।

श्री भगवान उवाच--

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।।५।।

तब श्रीकृष्ण कहे पंडुसुत!। जिस काल में था विवस्वत। यदि मानत मैं अनुपस्थित। यह भ्रम तेरा।।४१।। न जानत तुम अर्जुन। व्यतीत अपने अनेक जन्म। परंतु तुमको उनका स्मरण। नहीं सांप्रत।।४२।। मैं जिस-जिस अवसर। लेत जो-जो अवतार। वे समस्तहि

धनुर्धर। जानु सदा।।४३।।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।।६।।

इसलिए यह संपूर्ण। अतीत मुझको स्मरण। मैं अजन्मा प्रकृति कारण। पावत ज़न्म।।४४।। मेरा अव्ययत्व न नाशत। अवतार कार्य भासत। मायावश प्रतिबिंबित। मुझमें ही सदा।।४५।। मेरी स्वतंत्रता अबाधित। किन्तु कर्माधीन भासत। यदि चित्त भ्रमित होत। अन्यथा नहीं।।४६।। अथवा एक भासत दूसर। इसको केवल दर्पण आधार। क्या वहां वस्तु विचार। अन्य होत?।।४७।। तैसा किरीटि मैं अमूर्त। किन्तु जब प्रकृति अधिष्ठित। साकार होत नटी-नट। जगत् कारण।।४८।।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।

यह धर्मजात संपूर्ण। युग-युग में करूं रक्षण। यह मेरा स्वभाव जान। पंडुसुत!।।४९।। त्यागकर मेरा अजत्व। भूलकर अव्यक्तत्व। जब अधर्म ऱ्हास करत। धर्म का यहां।।५०।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय चदुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।८।।

तब भक्त स्नेह के कारण। मैं साकार होत अर्जुन। अज्ञान तम संपूर्ण। करत नष्ट।।५१।। अधर्म की अवधि तोड़त। दोषों की सनद फाड़त। सज्जनों से गुड़ी उभारत। सुख की जगमें।।५२।। दैत्यों का कुल नाश पूर्ण। साधु को देत सन्मान। नीति धर्म संवर्धन। करत सदा।।५३।। हरके अविवेक काजल। विवेक दीप करत उज्ज्वल। योगियों को आनंद निर्मल। निरंतर देत।।५४।। तब सुख से विश्व व्यापत। धर्म एक जग

में वसत। भक्तों के मन में प्रकटत। सात्विक गुण।।५५।। पाप का अचल नष्ट। पुण्य की होवे प्रभात। जब मूर्ति मेरी प्रकटत। पंडुकुँवर।।५६।। यह मेरा कार्य। जग में इसीलिये अवतार। जो जानत साचार। विवेकी वह।।५७।।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।९।।

मेरा अजत्व से जन्म। अकर्तृत्व से कर्म। निर्विकार स्वरूप धर्म। जाने वह मुक्त।।५८।। वह अक्रियत्व से कर्म करत। देह भाव से रहत विमुक्त। पंचत्व पाकर विलीन होत। रूप में मेरे।।५९।।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः। बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।१०।।

वे न शोचत परापर। कामनाशून्य साचार। क्रोध के आधीन धनुर्धर। कदापि न होत।।६०।। जो विषय प्रीत रहित। मत्स्वरूप को प्राप्त। आत्मबोध से तृप्त। वीतरागी।।६१।। जो राशी पुंज तपोतेजका। एकायतन ज्ञानका। पावित्र्य तीर्थों का। स्वयं तीर्थ रूप।।६२।। जो मद्भाव प्राप्त। होत जो मद्रूप। भिन्न भाव न उरत परंतप। निःसंशय।।६३।। पीतल की कालिख। जब फिटत निःशेख। तब सुवर्ण का देख। शोध व्यर्थ।।६४।। जो यम नियम से सिद्ध। तपो ज्ञान से शुद्ध। वे मैं ही स्वयंसिद्ध। न संशय इसमें।।६५।।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।११।।

वैसे यदि देखत। जो जैसे मुझको भजत। मैं उनको वैसेही भजत। सहज भाव से।।६६।। यह मनुष्य मात्र सकल। स्वभावतः भजनशील। मेरे प्रीत्यर्थ केवल। प्रवृत्त जो।।६७।।

किन्तु ज्ञान बिना नाशत। बुद्धि भेद पावत। इसलिये कल्पत। अनेकत्व।।६८।। अतः अभेद में भेद देखत। अनाम को नाम रखत। यह देव यह देवी कहत। अचर्चा को।।६९।। जो सर्वत्र सदा सम। वहां विभाजत अधमोत्तम। मतिवशसे संभ्रम। मानत जात।।७०।।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः। क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।१२।।

नाना कारण प्रकार। मानत देवतांतर। यथोचित उपचार। करत जात।।७१।। वहां ज़ो-जो अपेक्षित। वैसेहि पावत समस्त। किन्तु वह कर्मफल निश्चित। जानो तुम।।७२।। यदि देखे तत्त्वता। दाता और ग्रहण कर्ता। कर्महि एक फलकर्ता। अन्य नाही।।७३।। जैसे क्षेत्र में बीज बोवत। उससे भिन्न कभी न उपजत। जो देखत वही दिखत। दर्पण में।।७४।। गिरी शिखर तल में जान। अपनाहि बोल अर्जुन। प्रतिध्वनिरूप निनादत पूर्ण। कारणवश।।७५।। वैसा उपासना को समस्त। मैं ही एक साक्षीभूत। यहां भावना प्रतिफलत। अपनी अपनी।।७६।।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। तस्य कर्तारमहि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्।।१३।।

अब ऐसेहि मानो अर्जुन। जो यह चारों वर्ण। मैंने ही किये उत्पन्न। विभागशः।।७७।। लेकर प्रकृति का आधार। देखकर गुणाधार। कर्म तदनुसार। व्यवस्थित।।७८।। यद्यपि ये सकलजन। जन्म से एक समान। गुण कर्म से भिन्न। हुए सहज।।७९।। इस कारण पार्था। यह वर्णभेद संस्था। मैं न कर्ता सर्वथा। निश्चित जानो।।८०।।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा। इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।१४।।

यद्यपि यह वर्णभेद। मुझसे ही हुआ प्रसिद्ध। मैं अकर्ता यह भेद। जानत वह मुक्त।।८१।।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः। कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

मुमुक्षु जो पूर्वजात। यह बात उनको ज्ञात। करत कर्म समस्त। धनुर्धर।।८२।। बीज जैसा भस्मीभूत। कभी न अंकुर दशा पावत। वह कर्महि उनको होत। मोक्षकारक।।८३।। यहां और एक अर्जुन। यह कर्माकर्म विवेचन। स्वेच्छा से ज्ञानी को भी जान। दुष्कर अति।।८४।।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।

कर्म कहत वह कौन। अथवा अकर्म का क्या लक्षण। विचार करके विचक्षण। भ्रमित होत।।८५।। जैसा झूठा चलन। भासत सत्य समान। स्वदृष्टि में करत उत्पन्न। संशयपूर्ण।।८६।। प्रतिसृष्टि संकल्प मात्र से करत। ऐसा सामर्थ्य जिनको प्राप्त। नैष्कर्म को कर्म जानत। बद्ध होत।।८७।। जहाँ सर्वज्ञ भी मोह से व्याप्त। वहां मूर्खों की क्या बात। वही ज्ञान साम्प्रत। बोधु तुझको।।८८।।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

स्वभाव का संकल्प अर्जुन। वही कर्म विश्व निर्माण। उसका रूप यथार्थ पूर्ण। जानिये यहां।।८९।। वर्णाश्रम को उचित। जो विशेष कर्म विहित। वह भी समझना निश्चित। फल सहित।।९०।। निषिद्ध इसके विपरीत। उसका भी स्वरूप जानिये सार्थ। ऐसी धारणा जब होत। सहज मुक्त तब।।९१।। वैसे जग यह कर्माधीन। उसकी व्याप्ति गहन। सुनो

अब चिन्ह। प्राप्त पुरुष का।।९२।।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।

जो सकल कर्म में रत। अपनी नैष्कर्म्यता देखत। कर्म फल न इच्छत। कदापि जान।।९३।। वह जानो कर्मातीत। स्वस्वरूपबिन अन्य न जानत। इसीलिये कर्म न शेष रहत। इस जग में।।९४।। यदि क्रिया कलाप पूर्ण। करत सम्यक कर्माचरण। यदि प्राप्त उसमें ये लक्षण। वही ज्ञानी।।९५।। जैसा खड़ा जल समीप। जल में देखें स्वस्वरूप। निश्चित जानत अपने आप। कहत मैं भिन्न।।९६।। अथवा नौका में स्थित। तट पर वृक्ष देखे धावत। यदि साचोकार सोचत। तब वे अचल।।९७।। जैसे उदयास्त में अर्जुन। अचल सूर्य का चलना जान। नैष्कर्म्यत्व जानत पूर्ण। कर्माचार में।।९८।। वैसे सब कर्म करत। किन्तु इसको वृथा मानत। एक परमात्मा कर्म रहित। मानत सत्य।।९९।। वह मनुष्यसम भासत। किन्तु मनुष्यत्व उसे न घटत। जैसे जल में नाप्लवत। भानुबिंब।।१००।। वह न दृष्टा किन्तु विश्व देखत। न कर्ता किंतु सर्व करत। न भोक्ता अखिल भोगत। भोग्यजात।।१।। एक स्थान में उसका वास। परंतु सर्वत्र करत प्रवास। स्वयं होत विश्व खास। स्वशरीर से जान।।२।।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

जिस पुरुष का चित्त। कर्म का न खेद करत। फलापेक्षा न प्रवेशत। मन में कदा।।३।। यह कर्म मेरे कारण। पावेगा मुझसे सिद्धि पूर्ण। यह संकल्प मन को अर्जुन। न स्पर्शत

कदा।।४।। ज्ञानाग्नि का मुख। भस्म करत कर्म अशेख। यद्यपि धरत नर देह देख। परब्रह्म केवल।।५।।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः।।२०।।

जो शरीर से उदास। कर्म फल से निराश। नित्य रहत उल्हास। आनंद रूप।।६।। वह गर्भागार संतोष का। पक्वान्न आत्मबोध का। आरोगण कभी उसका। न कहे अलम्।।७।।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः। शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।२१।।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः। समः सिंद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।२२।।

कैसे अधिकाधिक प्रेम से। मधुरता लेत महासुख से। उतारत आरती आशा से। अहंभाव सहित।।८।। अतः अवसर से जो पावे। उससे ही सदा सुखावे। आप पर दोनों वे। मानत सम।।९।। निजदृष्टि जो देखत। स्वतः वही बनत। श्रवण जो-जो करत। स्वयं होत।।११०।। चरण से चलत। मुख से जो बोलत। जो क्रियाजात करत। माने आप को।।११।। किंबहुना विश्व सकल। स्वरूप देखत केवल। उसको कर्म अखिल। बाध्य न होत।।१२।। यह मत्सर जहां से उत्पन्न। वह द्वैतभाव अर्जुन। न शेष उसमें जान। निर्मत्सर पूर्ण।।१३।। अतः सर्वतः वह मुक्त। सकर्मा किन्तु कर्म रहित। सगुण परंतु गुणातीत। निभ्रांत जान।।१४।।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः। यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।२३।।

देह संग में वसत। चैतन्यसम भासत। ब्रह्मकष पर उतरत। शुद्ध पूर्ण।।१५।। कदाचित् कभी सकौतुक। करत कर्म यज्ञादिक। लय पावत निःशेख। उसमें ही सदा।।१६।। अकाल में अभ्र उठत। वृष्टि बिन आकाश में लोपत। उदय के साथ नाशत। अपने आप।।१७।। वैसे विधि विधान समस्त। यदि संपूर्ण आचरत। ऐक्य भाव से वे पावत। ऐक्य ही सदा।।१८।।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।२४।।

यह हवन मैं होता। अथवा यज्ञ में अन्य भोक्ता। ऐसी बुद्धि को भिन्नता। नहिं जिसमें।।१९।। जो इष्ट यज्ञ यजन। हविर्मनादि संपूर्ण। ब्रह्मस्वरूप देखत जान। आत्मबुद्धि।।१२०।। अतः ब्रह्म वही कर्म। ऐसा बोध जिसको सम। उसका कर्तव्य होत नैष्कर्म्य। धनुर्धर।।२१।। अविवेक कौमार्य नष्ट जान। विरक्ति से होत पाणिग्रहण। तब योगाग्नि का उपासन। अद्वैतरूप से।।२२।।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते। ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।२५।।

जो अहर्निश यजनशील। मन सहित अज्ञान सकल। गुरुवाक्य अग्नि में निखिल। करत हवन।।२३।। योग रूप अग्नि यजत। वही दैवयज्ञ मानत। जिससे आत्मसुख पावत। पंडुकुमर!।।२४।। दैव से ही देह पालन। ऐसा निर्णय परिपूर्ण। जो न चिंतत देह के कारण। महायोगी वह।।२५।। श्रवण करो बात एक। जो ब्रह्माग्नि साग्निक। अग्निहोत्र यज्ञ देख। उपासत।।२६।।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति। शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।२६।।

कोई यजत संयम अग्निहोत्र। उच्चारत युक्तित्रय मंत्र। यज्ञ करत पवित्र। इंद्रिय द्रव्य से।।२७।। किसी में वैराग्य रवि प्रकट। तब संयम को विहार प्राप्त। वहां प्रकटत होत। इंद्रियानल।।२८।। विरक्ति ज्वाला सहित। विकार ईंधन प्रदीप्त होत। पांचों कुण्ड को त्यागत। आशा धूम।।२९।। तब वेद विधि अनुसार। विषय आहुति समग्र। इंद्रियाग्नि में साचार। करत हवन।।१३०।।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे। आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

इस विध कोई अर्जुन। करत सर्व दोषक्षालन। कोई करत विवेक का मंथन। हृदय अरणि पर।।३१।। दबा के धैर्यभार से। बांध के शांति रज्जू से। किया मंथन गुरुवाक्य से। दृढ़तापूर्ण।।३२।। समरस से मंथन किया। शीघ्र कार्य सिद्ध हुआ। उद्दीपित तब हुआ। ज्ञान अग्नि वह।।३३।। ऋद्धि-सिद्धि रूप संभ्रम। वह नष्ट होत धूम। प्रकटत वहां सूक्ष्म। विस्फुल्लिंग।।३४।। शम दम से महीम। जो शुष्क हुआ मन। वह उसमें ईंधन। समर्पित।।३५।। भड़कत ज्वाला समृद्धा। वासनांतर की समिधा। मोह स्नेह से नाना विधा। प्रदीप्त होत।।३६।। वहां सोऽहं मंत्र से दीक्षित। उस ज्ञानानल में प्रदीप्त। इंद्रिय कर्मों की समस्त। आहुति देत।।३७।। प्राण क्रिया स्रुवा सहित। पूर्णाहुति उसमें समर्पित। वहां समरस अवभृथ। सहज होत।।३८।। तब आत्मबोध का सुख। जो संयमाग्नि का हुत शेख। वही पुरोडाश देख। करत ग्रहण।।३९।। इस विध करके यजन। होत त्रिभुवन में

मुक्त जान। नाना यज्ञ क्रिया यदि भिन्न। किन्तु प्राप्तव्य एक ।।१४०।।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।२८।।

एक होत द्रव्य-यज्ञ। एक कहत तपो-यज्ञ। योग बल से योगयज्ञ। भिन्न प्रकार।।४१।।
शब्द से शब्द को यजिये। उसको वाग्यज्ञ कहिये। ज्ञान से ज्ञेय पाइये। वह ज्ञान यज्ञ।।४२।।
वह सब यज्ञ अर्जुन। अनुष्ठान इनका गहन। जितेंद्रिय को ही प्राप्त जान। योग्यतावश।।४३।।
इनमें जो प्रवीण। योग समृद्धि सुसंपन्न। जो आत्मा को अर्पण। करत स्वजीव।।४४।।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे। प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।२९।।

अपानाग्नि मुख में एक। प्राणरूप द्रव्य देख। हवन करत अशेख। अभ्यास योग से।।४५।। कोइ प्राण में अपान। कोई दोनों का करत निरोधन। वे कहलावत अर्जुन। प्राणायामी।।४६।।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति। सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।।३०।।

एक वज्रयोग करत। सर्वाहार संयमत। प्राणाग्नि में शीघ्र करत। प्राण को हवन।।४७।।
ऐसे मोक्षकाम सकल। समस्त ये यजनशील। जो यज्ञ द्वारा मनोमल। क्षालन करत।।४८।।
जब दग्ध अविद्याजात। शुद्ध निजस्वरूप बचत। अग्नि और होता भेद नष्ट। अद्वैत रूप।।४९।।
जहां यज्ञकर्ता की कामना पूर्ण। शेष न रहत यज्ञ विधान। न बचत वहां संपूर्ण। क्रिया जात।।१५०।। जहां विचार न प्रवेशत। फलहेतु न स्पर्शत। वहां द्वैतदोष से पार्थ। लिप्त न होत।।५१।।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्। नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।३१।।

ऐसा अनादि सिद्ध पवित्र। जो ज्ञानयज्ञावशिष्ट। सेवन करत ब्रह्मनिष्ठ। ब्रह्मास्मि मंत्र से।।५२।। ऐसा शेषामृत से तृप्त। अमर्त्य भाव को प्राप्त। अतः स्वयं ब्रह्म होत। अनायास।।५३।। अन्यों को विरक्ति न वरत। जो संयमाग्नि न सेवत। योगयाग न करत। जन्म में कभी।।५४।। जिनका ऐहिक भला नाही। उनका परत्र पूछत काई। अतः यह बात छोड़ो यहीं। पंडुकुवर!।।५५।।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

ऐसे ये यज्ञ समस्त। तुझको बतलाये पार्थ। वह वर्णित विस्तृत। वेद द्वारा।।५६।। सुनके उनका वर्णन। जानो ये कर्म से उत्पन्न। तब न होगा कर्मबंधन। सुनिश्चित।।५७।।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप। सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।

अर्जुन! वेद जिसका मूल। क्रिया विशेष स्थूल। जिनका प्रथम फल। स्वर्गसुख।।५८।। वे द्रव्ययज्ञ समस्त। ज्ञान यज्ञ की तुलना न पावत। जैसे तारा तेज संपत। दिनकर सम्मुख।।५९।। देखो परमात्मसुख निधान। प्राप्ति प्रीत्यर्थ योगीजन। जागृत जो रहत डाल के अंजन। उन्मेष नेत्र में।।१६०।। आरंभित कर्म का प्राप्त स्थान। नैष्कर्म्य बोध की खान। मुमुक्षुओं का समाधान। आत्मप्राप्त्यर्थ।।६१।। जहां प्रवृत्ति पंगु होत। तर्क दृष्टि होत कुंठित। जिससे इंद्रिया विस्मरत। विषय संग।।६२।। जहां मन की नाशत मनोवृत्ति। वाणी की स्तंभित वाचाशक्ति। जहां प्रकटत ब्रह्मव्याप्ति। ज्ञेय की सदा।।६३।। वैराग्य

क्लेश नाशत। विवेक वासना लोपत्। विनाक्रम पावत। आत्मज्ञान।।६४।।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

वह सर्वोत्कृष्ट ज्ञान। यदि प्राप्त करना अर्जुन। सेविजे संत ज्ञान संपन्न। सर्व भाव से।।६५।। जो ज्ञान की हवेली। वहां सेवा ही देहली। वह स्वाधीन यदि कर ली। सेवा धर्म से।।६६।। कीजे तनमन जीवार्पण। धरिये उनके चरण। अगर्वता से करो अर्जुन। दास्य सकल।।६७।। तब वे सेवा से प्रसन्न। सुबोधित अपेक्षित प्रश्न। जिससे होत स्वांतःकरण। संकल्प रहित।।६८।।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

जिनका ज्ञानप्रकाश पूर्ण। करत चित्त को धैर्यवान। ब्रह्मसम होत अर्जुन। निःशंक मन।।६९।। तब अपने सह वर्तमान। अशेष भूतमात्र ज्ञान। मेरे स्वरूप में संपूर्ण। देखेगा तू।।१७०।। ऐसे ज्ञान प्रकाश से देखत। तब मोहांधकार नष्ट होत। जब गुरूकृपा होत प्राप्त। तुझको पार्थ।।७१।।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।३६।।

यदि कल्मष का आगार। तुम भ्रांति का सागर। व्यामोह का डोंगर (पहाड़)। होकर रहत।।७२।। यह ज्ञान शक्ति असीम। ये सब दोष क्षुद्रतम। ऐसा सामर्थ्य महान। ज्ञान में जानो।।७३।। यह विश्वाभास संपूर्ण। अमूर्त का लघु किरण। प्राप्त यदि ज्ञान। नाशत भ्रांति।।७४।। ऐसा यह ज्ञान श्रेष्ठ। मनोमल होत नष्ट। इसमें न शंका युक्त। अतुलनीय

यह।।७५।।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

धूम्र त्रिभुवन का प्रदीप्त। गगन व्यापी सहज नाशत। तब अभ्र की क्या बात। प्रलय वात सम्मुख।।७६।। या प्रलयाग्नि वायु सहित। जल को भी भस्म करत। वह क्या कभी शमत। तृणकाष्ठ से।।७७।।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मानि विन्दति।।३८।।

जैसे यह दोनों अघटित। विचारतः विसंगत। न हि ज्ञान सम पवित्र। वस्तु जग में।।७८।। यह उत्तम एक ज्ञान। न अन्य इसके समान। जैसे चैतन्य अर्जुन। अनुपमेय।।७९।। क्या प्रतिबिंब सूर्य सम्मुख?। आकाश को आच्छादन शक्य?। क्या पृथ्वीसम वस्तु एक। समभार?।।१८०।। अतः बहुविध विचार। करत यदि बारंबार। ज्ञान के सम पवित्र साचार। ज्ञान ही एक।।८१।। अमृत का स्वाद जैसा। अमृत ही समान वैसा। ज्ञान को उपमान तैसा। ज्ञान ही जानो।।८२।। अब आगे जो चर्चा विचार। वह कालापव्यय साचार। कहे सत्य धनुर्धर। कहना आपका।।८३।। कैसे कीजे यह ज्ञान प्राप्त। प्रश्न अर्जुन का मनोगत। जानत श्री अच्युत। अंतर्यामी।।८४।। तब कहत जगजेठी। सावधान सुनो किरीटि!। किस विध होत ज्ञानप्राप्ति। कहूं तुझको।।८५।।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः सयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति।।३९।।

आत्मसुख में लेत विलास। माने सब विषय नीरस। जो इंद्रियां अशेष। अवमानत।।८६।।

न बतावे स्वमन की कामना। न जांने कर्मजन्य वासना। ज्ञान प्राप्ति की श्रद्धा से अर्जुना। संतोषत।।८७।। उस पुरुष को ही निश्चित। जिस ज्ञान में शांति अचुंबित। वह ज्ञान जो सदा खोजत। प्राप्त होत।।८८।। ज्ञान जब हृदय में प्रविष्ट। और शांति को अंकुर फूटत। तब विस्तार बहुत प्रकटत। आत्मबोध का।।८९।। तब जहां देखत वहाँ दिखत। शांति ही शांति वसत। आप- पर न जानत। साचोकार से।।१९०।। ऐसा यह उत्तरोत्तर। ज्ञान बीज का विस्तार। कहने को यह अपार। साम्प्रत अलम।।९१।।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

जिस प्राणि के ठाँई। इस ज्ञान की रुचि नाही। उसके जीवन से सबही। मरण उत्तम।।९२।। शून्य जैसा गृह। की चैतन्य हीन देह। वैसे जीवित सम्मोह। ज्ञानहीन।।९३।। सत्य ज्ञान नहीं प्राप्त। किन्तु यदि कामना करत। तब वहां संभव किंचित। धनुर्धर।।९४।। ज्ञान नही मन मे। आस्था भी नहीं उसमें। वह संशय हुताग्नि में। गिरा जानो।।९५।। जब अमृत से घृणा होत। सहज अरुचि उपजत। तब मरण समय निश्चित। जानो तुम।।९६।। जो विषय सुख से तृप्त। ज्ञान के विषय उदास अत्यंत। संशय से होत ग्रस्त। न शंका इसमें।।९७।। यदि होत संशयवश। निभ्रांत होत नाश। इह परत्र सुख खास। वंचित होत।।९८।। अंग में संचरत काल ज्वर। सन्निपात शीतोष्ण न जाने धनुर्धर। धूप और चांदनी साचार। मानत सम।।९९।। वैसे सत्य और असत्य। अनुकूल प्रतिकूल पार्थ। न जाने हित और अहित। संशयी पुरुष।।२००।। दिवस और रात्र देख। जात्यंध को

अपरिचित। वैसा वह संशय ग्रस्त। कुछ न जाने।।१।।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्। आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।।४१।।

अतः संशय से थोर (बड़ा) । अन्य नही पाप घोर। यह विनाश की वागुर। प्राणियों को।।२।। इसलिये यह त्याज्य। प्रथम इसका जय योग्य। ज्ञान अभाव के मध्य। स्थान इसका।।३।। अज्ञान तम निविड़ घोर। जब वर्धत मन में थोर। अतः विश्वास का साचार। नाश होत।।४।। हृदय में यह न समावत। बुद्धि को सर्वथा आच्छादत। वहां संशयात्मक दिखत। लोकत्रय।।५।।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः। छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।४२।।

ऐसा यह महान। एक उपाय से होत स्वाधीन। यदि हाथ में अर्जुन। ज्ञान खड्ग।।६।। यह ज्ञानशास्त्र तीक्ष्ण। नाशत उसको संपूर्ण। निःशेष मन से जान। लुप्त होत।।७।। इस कारण हे पार्थ!। उठो वेग से समर्थ। नाश करो हृदयस्थ। संशय को इस।।८।। ऐसे सर्वज्ञ का बाप। जो श्रीकृष्ण ज्ञानदीप। कहत वह सकृप। सुनो नृप!।।९।। यह पूर्वापर कथा पूर्ण। विचार सम्यक् करके अर्जुन। समयोचित पूछेगा प्रश्न। अच्युत को।।२१०।। इस कथा की संगति। अभिप्रायों की संपत्ति। विविध रसों की उन्नति। होगी आगे।।११।। जिस रस की यह कीर्ति। अन्य आठ उतारत आरती। जो सज्जन जन बुद्धि विश्रांति। स्थान नित्य।।१२।। वह शांत अपूर्व बोल। अर्थपूर्ण प्राकृत अनमोल। जो समुद्र से भी सखोल। कीजे श्रवण।।१३।। जैसे बिंब यदि बचकाना। प्रकाश को त्रैलोक्य लघु गणना। शब्दार्थ

व्याप्ति की तुलना। अनुभविजे तैसी।।१४।। या कामीजन इच्छा सरिसा। फलत कल्पवृक्ष जैसा। बोल व्यापक होवे तैसा। अवधान दीजे।।१५।। अधिक क्या कहना बात। सर्वज्ञ आप सहज जानत। अब नीका देना चित्त। विनति मेरी।।१६।। जहां साहित्य और शांति। उस बोल की ऐसी पद्धति। जैसी लावण्यवती गुण-कुलवती। और पतिव्रता।।१७।। पहिले ही शर्करा प्रिय जान। यदि हो औषध का अनुपान। क्यों न करना सहर्ष सेवन। बारंबार।।१८।। मलयानल मंद सुगंध। उसको हो अमृतस्वाद। और सम्मिलित पंचम नाद। दैव योग से।।१९।। स्पर्श से शीतल अंग होत। स्वाद से जिव्हा संतोषत। स्वर से श्रवण तृप्त कहत। साधु-साधु!।।२२०।। वैसे यहे कथा श्रवण। होत कर्णों का पारण। और संसार दुःख हरण। विकृति बिना।।२१।। यदि मंत्र से होत शत्रु नाश। क्यों कटार चलाना व्यर्थ। शर्करा से यदि रोग जात। पीना नीम क्यों।।२२।। वैसे न करना मन का संयमन। न ही इंद्रियों का दमन। यहां एक मात्र श्रवण। मोक्ष दायक।।२३।। अतः लेकर उत्कंठा पूर्ण। गीतार्थ नीका और गहन। कहे ज्ञानदेव करो श्रवण। निवृत्तिदास।२२४।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानसन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।।
(श्लोक ४२; ओवियाँ २२४)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।
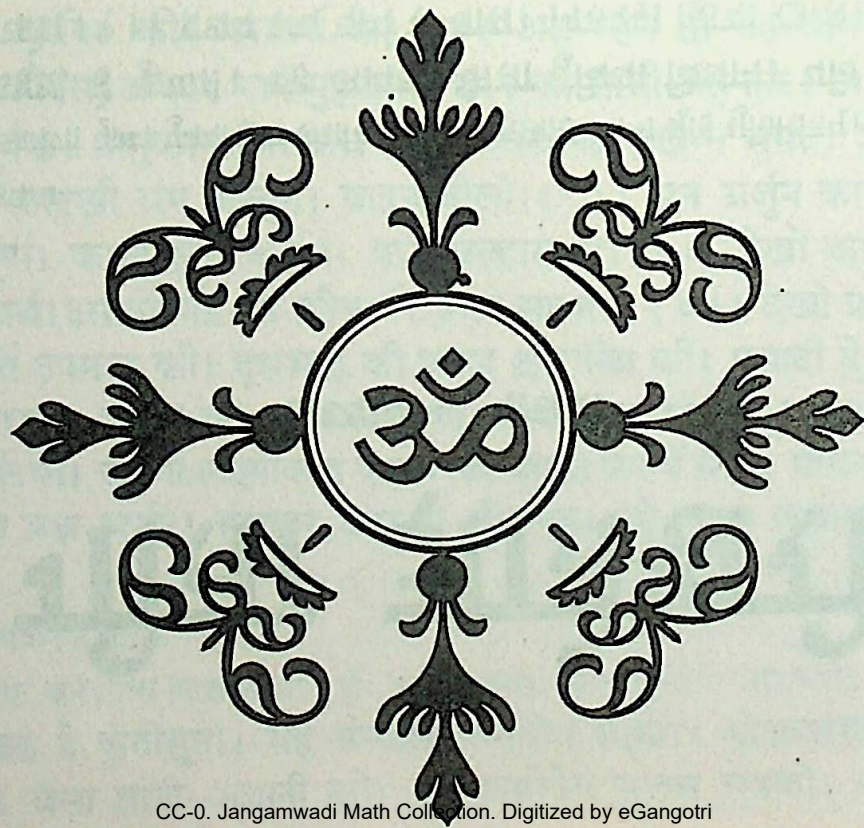
।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – पाँचवाँ

अर्जुन उवाच--

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि। यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।१।।

तब पार्थ कहत, हे कृष्ण!। यह आपका कैसा दुविधा विधान। यदि एक कथन तब मन। मानेगा उसको।।१।। प्रथम सब कर्म संन्यास। निरुपण किया खास। सांप्रत कर्मयोग विशेष। प्रतिपादित।।२।। ऐसा द्वयर्थी भाषण।हम अच्युत अनजान। आपका मनोगत

पूर्ण। जान न पावे।।३।। सुनो एक तत्व कहिये। मार्ग एक बताइये। आपको यह कहना किसलिये। सर्वज्ञ आप।।४।। इसीलिये पहले ही आपको। बिनती की थी मैंने श्रेष्ठ को। जो न बतलाना ध्वनित को। परमार्थ के।।५।। अब रहने दो यह बात। बतलावो स्पष्ट सांप्रत। दोनों में कौनसा उचित। मार्ग मुझको।।६।। जो साथी अंत तक। अचूक फलदायक। सुलभ नियम पूर्वक। अनुष्ठान जिसका।।७।। जैसे निद्रासुख न भंगत। और मार्ग भी बहु आक्रमत। ऐसे पालखी सम अच्युत। वाहन बोलो।।८।। सुन अर्जुन का यह कथन। देव मन में संतुष्ट पूर्ण। कहत सुनो अर्जुन। परम उल्हास से।।९।। देखो कामधेनु सम मात। दैव से लभत पार्थ।उसको चंद्र भी क्रीडार्थ। प्राप्त सहज।।१०।। देखो प्रसन्नता शंभू की। पूर्ण करत आर्ति उपमन्यू की। दूधभात की जगह क्षीराब्धि की। प्रसादी देत।।११।। ऐसा औदार्य का निधान। अर्जुन को प्राप्त श्रीकृष्ण। सर्व सुख संपूर्ण। लभत सहज।।१२।। यहां चमत्कार कैसा। स्वामी लक्ष्मीकांत जैसा। जो वांछत मन में वैसा। मांगना युक्त।।१३।। अतः जो पूछत प्रश्न अर्जुन। हंसकर उत्तर में श्रीकृष्ण। जो कहत कथन संपूर्ण। बतलाऊं मैं।।१४।।

श्री भगवान उवाच--

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।२।।

अच्युत कहे हे कुंतीसुत!। यह संन्यास-कर्मयोग सर्वतः। मोक्षकारक तत्वतः। दोनो जानो।।१५।। वैसा ज्ञानी-अज्ञानी को। यह कर्मयोग सुलभ सबको। जैसी नौका स्त्री-

बालक को। तोय तरणी।।१६।। यदि देखे सारासार। यह ही सुलभ साचार। संन्यास फल बिन उपचार। लभत उसको।।१७।। इसलिये हे अर्जुन। कहूं संन्यासियों का लक्षण। तब सहज अभिन्न। जानेगा तू।।१८।।

ज्ञेयःस नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति। निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते।।३।।

गत वस्तु न स्मरत। अप्राप्तकी आशा न करत। अंतर में सुस्थिर रहत। मेरु जैसा।।१९।। और मैं, मेरा यह स्मरण। विस्मरत जिसका अंतःकरण। पार्थ वह संन्यासी जान। निरंतर।।२०।। मन से निस्पृह होत। विषय संग उसको त्यजत। अतः सुख से प्रसन्न रहत। अखंडित।।२१।। उसको न करना गृह त्याग। न त्यागना यज्ञ याग। वह स्वयं सदा निःसंग। इसलिये।।२२।। देखो अग्नि बुझत। रक्षामात्र शेष बचत। तब वह कपास से आवृत्त। करना शक्य।।२३।। वैसे जो रहत उपाधि में। किंतु न लिप्त कर्मबंधन में। जिसके नहिं बुद्धि में। संकल्पकण।।२४।। अतः कल्पना जब नष्ट। तबही संन्यास प्राप्त। इस कारण दोनों सम होत। संन्यास और योग।।२५।।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।४।।

वैसे सुनो पार्थ। जो मूर्ख सर्वथा। वह सांख्य योग संस्था। क्या जाने?।।२६।। सहज वे अनजान। इसलिये कहत भिन्न। क्या दीप के पास अन्यान्य। प्रकाश होत?।।२७।। किन्तु सम्यक् यह अनुभव। यदि देखत सब तत्व। दोनों में स्थित-ऐक्य-भाव निरंतर।।२८।।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

सांख्य से जो लभत। वही योग से भी होवे प्राप्त। अतः दोनों एक तत्वतः। इस प्रकार।।२९।। देखो आकाश और अवकाश। भेद नाही अशेष। तैसे योग और संन्यास। जाने जो।।३०।। वह इस जग में ज्ञानवान। आत्मस्वरूप द्रष्टा, अर्जुन। जिसने जाना भेद बिन। सांख्य और योग।।३१।। जो युक्ति पंथ से पार्थ। चढ़त मोक्षसुखपर्वत। वह महासुख का माथ। पावे सत्वर।।३२।।

संन्यास्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः। योगयुक्तो मुनिर्ब्रम्ह नचिरेणाधिगच्छति।।६।।

जो योगस्थिति न आचरत। ज्ञान प्राप्ति की कामना करत। वे कभी न पावत। ज्ञानयोग।।३३।।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः। सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।७।।

जिसने मन किया भ्रांतिमुक्त। गुरु वाक्य से चित्त पवित्र। पश्चात आत्मस्वरूप में समर्पित। लीन जो।।३४।। जैसे समुद्र में लवण। घुलने से पहले भिन्न। जब विलीन सिन्धु समान। स्वयं होत।।३५।। वैसे संकल्पहीन पूर्ण। मन ही होत चैतन्य अर्जुन। दिखत एक देशीय किन्तु जान। त्रिलोक व्यापी।।३६।। यहं कर्म, मैं कर्ता। न जिसके बुद्धि में सर्वथा। वह कर्म करते हुए अकर्ता। जग में जानो।।३७।।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत् तत्त्ववित्। पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।।८।।

प्रलपनन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।९।।

जिसको नही देहभाव। नष्ट पूर्ण अहंभाव। उसको कैसा कर्तृत्व भाव। बचत शेष?।।३८।।

ऐसे तनु त्यागबिन। अमूर्त के सब गुण। दिखत उसमें संपूर्ण। योगयुक्त में।।३९।। वह अन्य समान। शरीरी होत अर्जुन। अखिल व्यापार में पूर्ण। रत सदा।।४०।। वह भी नेत्र से देखत। कर्ण से सब सुनत। किंतु न कभी लिप्त। नवल देखो।।४१।। वस्तु स्पर्श जानत। घ्राण से परिमल सेवत। अवसरोचित बोलत। वह नर।।४२।। करे आहार का स्वीकार। त्याज्यका योग्य परिहार। प्राप्त निद्रा का अवसर। सुख से सोवे।।४३।। अपनी इच्छावश। करत कर्म अशेष। श्वासोच्छवास निमिषोनिमिष। आदि क्रिया।।४४/४५।। उसमें दिखत पार्थ। सब यह समाविष्ट। किंतु वह न कर्ता सार्थ। प्रतीतिबल से।।४६।। जब भ्रांतिशय्या पर निद्रित। स्वप्न सुख में भ्रमित। ज्ञानोदय से हुआ जागृत। तब वह नर।।४७।।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।१०।।

अब अधिष्ठान संगतसे। अशेष इंद्रिय वृत्ति से। अपने-अपने विषय से। वर्तत जगमें।।४८।। दीपक के प्रकाश से। गृह के व्यापार जैसे। देहीको कर्मजात तैसे। योग युक्त को।।४९।। वह कर्म सकल करत। किंतु कर्म फल से नाबद्ध होत। जैसे जल में न जल से लिंपत। पद्म पत्र।।५०।।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गंत्यक्त्वात्मशुद्धये।।११।।

जहां न बुद्धि का गुणाधार। ऐसे मन को न उपजत अंकुर। ऐसा जो होवे व्यापार। कहिये शारीर।।५१।। बालक की चेष्टा जैसी। योगीजन की क्रिया तैसी। सुनो स्पष्ट

गुड़ाकेशी। केवला तनु।।५२।। वैसे पंचभौतिक सृष्ट। शरीर जन यह निद्रित। यहां मन ही एक संचरत। स्वप्न में जैसे।।५३।। नवल सुनो धनुर्धर। कैसा यह वासना संसार। देह को सुख दुःख भोग व्यापार। अनजाने देत।।५४।। इंद्रियों को न जिसका ज्ञान। ऐसा व्यापार जो अर्जुन। वह केवल तू जान। मानस व्यापार।।५५।। योगीजन वह करत। परंतु कर्मसे न बद्ध होत। जो वे त्यागत संगत। अहंभाव की।।५६।। अब यदि भ्रम से हत। जैसे पिशाच का चित्त। इंद्रियों की चेष्टा दिखत। अव्यवस्थित।।५७।। सामने रूप वह देखत। कोई पुकारे वह सुनत। स्वतः प्रत्युत्तर देत। किंतु जानेना।।५८।। निष्कारण जो क्रियमाण। इंद्रियों का कर्म फल जान। जान के किया जो कर्म, अर्जुन।। वह बुद्धि पुरस्सर।।५९/६०।। वे बुद्धि को धुरा कर। कर्म करत चित्त देकर। परंतु नैष्कर्म्यभाव पाकर। मुक्त होत।।६१।। बुद्धि से देहपर्यंत। अहंभाव का न स्मरण किंचित। इसलिये यदि कर्मरत। शुद्ध रूप वे।।६२।। सुनो अकर्ताभाव से कर्म। वही जानो नैष्कर्म्य। यह जानिजे सुवर्म। गुरुगम्य जो।।६३।। जब शांतरस का पूर। छलकत पात्र से बाहर। जो शब्दातीत अक्षर। वर्णित मैंने।।६४।। यह तत्व श्रवणका अधिकार। उसको ही प्राप्त साचार। जिसने इंद्रियजय समग्र। किया साध्य।।६५।। अब रहने दो विषयांतर। न छोड़ो कथा संगत सार। होगी श्लोक संगति भंगसमग्र। इसलिये।।६६।। जो मन को अगम्य। बुद्धि को अप्राप्य। कहा तत्व अनाकलनीय। दैवानुकूलता से।।६७।। जो स्वभावतः शब्दातीत। यदि विशद किया स्पष्ट। और क्या बचत शेष। अब कहो कथा।।६८।। श्रोताओं की

विशेष आर्ति। जानकर दास निवृत्ति। कहे मनन के साथ सप्रीति। सुनो संवाद।।६९।। तब पार्थ को कहे श्रीकृष्ण। प्राप्त के चिन्ह संपूर्ण। तुझको कहूं करो श्रवण। चित्त देकर।।७०।।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्। अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।१२।।

जो आत्मयोग से तृप्त। कर्मफलाशा से मुक्त। गृह प्रवेश कर वरत। शांति स्वयं।।७१।। अन्य कर्मबंध से जान। अभिलाषा बद्ध अर्जुन। फल भोग खूंटे से पूर्ण। जखडत स्वयम्।।७२।।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।१३।।

जैसा फलाशासंग। कर्म करत यथासांग। अकर्ता भाव से कर्मत्याग। वह पुरुष श्रेष्ठ।।७३।। जहां जहां फेरत दृष्टि। वहां होत सुख की वृष्टि। जहां कहत वहां वस्ति। महाबोध की।।७४।। नवद्वार देह में वसत। किंतु नही सम भासत। करके क्रिया अकर्ता होत। फलत्यागी जान।।७५।।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।१४।।

जैसा वह सर्वेश्वर। स्वभावतः निर्व्यापार। किंतु रचत विस्तार। त्रिभुवन का।।७६।। वह कर्ता भासत। परंतु कर्म से अलिप्त। वह न कदापि स्पर्शत। उदास वृत्ति से।।७७।। योगनिद्रा न भंगत। अकर्ता भाव न लुप्त। महाभूत समुदाय सृजत। भलीभांति।।७८।। वसत सब प्राणिमात्र में। किंतु न कदा किसी में। जगसृष्टि लय में। ध्यान न देत।।७९।।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।

पाप पुण्य पूर्ण। समीप किंतु न देखे अर्जुन। नहीं साक्षीभूत जान। और क्या बात?।।८०।।

किंतु जब लेत अवतार। मूर्त करत देहाचार। परंतु न नष्ट साचार। अमूर्तभाव प्रभुका।।८१।। सृष्टि पोषण संहार। वह करत बोले चराचर। यह तो अज्ञान घोर। पंडुकुंवर।।८२।।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।१६।।

जब अज्ञान समूल नष्ट। तब भ्रांति कालिख नाशत। अकर्तृत्व प्रकटत। मुझ ईश्वर का।।८३।। यहां ईश्वर एक अकर्ता। यदि ऐसे मानत पार्था। वही मैं स्वभावतः। आदि सिद्ध।।८४।। ऐसा विवेक प्रकाश मन में। क्या भेद उसको त्रिभुवन में?। जानत स्वानुभव से जग में। सब मुक्त।।८५।। जैसे पूर्व दिशा में गभस्ति। प्रकटत जहां प्रकाश दीप्ति। अन्य दिशाओं में समव्याप्ति। नाशत तम।।८६।।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।१७।।

बुद्धि निश्चय से आत्मज्ञान। ब्रह्मरूप स्वयं जाने अर्जुन। ब्रह्मनिष्ठा राखत पूर्ण। तत्परायण अहर्निश।।७८।। ऐसे व्यापक सम्यक् ज्ञान। हृदय में प्रविष्ट अर्जुन। उनकी समता दृष्टि पूर्ण। निरंतर।।८८।। अपने समान जैसा। सब विश्व देखे तैसा। इसमें नवल कैसा? स्वभावतः।।८९।। भाग्य कौतुक से भी अर्जुन। कभी न देखत दैन्य। भ्रांति का परिचय जान। विवेक को कभी?।।९०।। तम का स्वरूप अर्जुन। सूर्य न देखत उसका स्वप्न। अमृत को न कभी श्रवण। मृत्यु कथा।।९१।। या उष्मा ताप कैसा?। चंद्र न जानत जैसा। भूत में भेद न माने तैसा। ज्ञानी पुरुष।।९२।।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राम्हणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः स 'दर्शिनः।।१८।।

तब वह मशक यह गज। या यह श्वपच यह द्विज। वह अपर यह आत्मज। भेद कैसा?।।९३।। अथवा यह धेनु वह श्वान। एक गुरु एक हीन। यह द्वैतभाव का स्वप्न। जागृत को कैसा?।।९४।। यह भेद न शेष। जब अहंभाव नष्ट निःशेष। समूल पावत नाश। विषमत्व वहां।।९५।।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रम्ह तस्माद् ब्रम्हणि ते स्थिताः।।१९।।

अतः सर्वत्र सदा सम। जो स्वयं अद्वय ब्रम्ह। यह संपूर्ण जानो मर्म। समदृष्टी का।।९६।। जो विषयसंग न त्यजत। इंद्रियों को न दण्डत। किंतु निःसंगता भोगत। कामना बिन।।९७।। लोकाधार से वर्तत। लौकिक व्यापार करत। किंतु अज्ञान त्यजत। लैकिक जो।।९८।। जैसा जनमध्ये खेचर। विचरत किंतु न गोचर। वैसा शरीरी परंतु संसार। न जानत उसको।।९९।। जैसे पाकर पवन का मेल। जल में उछलत जल। जन कहत उसको कल्लोल। देखत भिन्न।।१००।। वैसे नाम रूप से भिन्न। किन्तु वह ब्रह्मसत्य जान। समत्व पावे जिसका मन। सर्वत्र जग में।।१।। ऐसा समदृष्टि जो अर्जुन। वह पुरुषका लक्षण। संक्षेप से तुझको करूं कथन। कहे अच्युत।।२।।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्। स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्माणि स्थितः।।२०।।

जैसे मृगजल का पूर। न बहा सकत गिरिवर। वैसे शुभाशुभ से विकार। न पावे वह।।३।। वह एक सत्य। समदृष्टि तत्त्वतः। हरि कहे पंडुसुत!। स्वयं ब्रह्म वह।।४।।

ब्राह्मस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्। स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।२१।।

आत्मरूप में स्थित अर्जुन। न कभी इंद्रिय ग्रामाधीन। वह न करत विषय सेवन। इसमें नवल कैसा?।।५।। सहज स्वसुख से अपार। संतुष्ट जिसका अंतर। न भटकत बाहर। चित्त उसका।।६।। कुमुद दल उपरि अर्जुन। जो चकोर सेवत चंद्रकिरण। वह मरुस्थल में सिकता कण। चुम्बत कैसे?।।७।। जिसको स्वस्थान में सहज। प्राप्त आत्मसुख निज। विषय संपूर्ण दिया त्यज। शंका न कोई।।८।। वैसे यदि कौतुक से। करे विचार मनसे। कौन भ्रमत विषय सुख से। इहलोक में?।।९।।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।२२।।

जिनको न प्राप्त आत्मसुख। उनको रोचत विषय सुख। जैसा भक्षत भूखा तुख। रंक नर।।११०।। अथवा मृग तृषा पीड़ित। भ्रम से जल को भूलत। तोय बुद्धि धावत। मरुस्थल में।।११।। वैसे जिनको न आत्मज्ञान। सदा स्वसुख-विहीन। उसको ही विषय सेवन। प्रीतिकर।।१२।। और विषय से सुख प्राप्त। यह बात न कदा सत्य। क्या विद्युत्स्फुरण से कभी पड़त। प्रकाश जग में?।।१३।। वात वृष्टि धूप निवारण। यदि अभ्रच्छाया से होत अर्जुन। तब त्रिमालिका गृह जान। बनाना किसलिये?।।१४।। यह विषय सुख सेवन। केवल असत्य अर्जुन। जैसे विषकंद का 'मधुर' नाम। प्रचलित एक।।१५।। अथवा भौम का नाम मंगल। किंवा रोहिणी को कहत जल। तैसा सुख प्रवाद केवल। विषय ये।।१६।। यह सब बोली वैसी। सर्पफन की छाया जैसी। वह होगी

शीतल कैसी। मूषक को कभी?।।१७।। जैसे आमिषकवल अर्जुन। भला जब तक न सेवत मीन। वैसा यह विषयसंग पूर्ण। निभ्रांत जान।।१८।। अतः विरक्त की दृष्टि। जब देखे किरीटि। तब पांडुरोग की पुष्टि। सम भासमान।।१९।। विषय भोग से जो सुख। वह साद्यंत जानो दुःख। किंतु क्या कीजे मूर्ख। सेवतजात।।१२०।। वे न जानत मर्म। अगत्य करत विषय सेवन। क्या पूयपंक के कीट अर्जुन। घृणा करत?।।२१।। ऐसे दुखियों को दुःख प्रीतिकर। वे विषय कर्दम के दर्दुर। भोग जल के जलचर। कैसे त्यजत?।।२२।। विषय के प्रति जीवमात्र। यदि होत विरक्त सर्वत्र। तब व्यर्थ होत समस्त। पापयोनियां।।२३।। अथवा गर्भवासादि संकट। या जन्ममरणादि कष्ट। अविश्रांत इनका पथ। चलेगा कौन?।।२४।। विषयासक्त त्यजत विषय। तब महादोष को कौन ठाय?। संसार शब्द वृथा होय। इस जगत में।।२५।। अतः विषय भोग से जो दुख। मानत वे उसको सुख। अज्ञान की बात यथार्थ। प्रतिपादत जग में।।२६।। इस कारण हे सुभट!। ये विषय अति बिकट। भूल से भी इनकी बाट। चलना न युक्त।।२७।। अतः जो विरक्त पुरुख। त्यजत इनको जैसे बिख। निरीच्छ वे न भोग दुःख। उनको कदा।।२८।।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।२३।।

ज्ञानियों के पास। न ही विषय का लेश। देह के देहभाव स्ववश। किये इसलिये।।२९।। जिनको बाह्य का स्मरण। नही निःशेष अर्जुन। आत्मसुख संपूर्ण। हृदय में व्याप्त।।१३०।। इस उपभोग की न्यारी रीत। जैसे पंछी करत भक्षण। स्वयं अपना न विस्मरत।

भोक्तापन।।३१।। आत्मसुख भोग वृत्ति उत्पन्न। नष्ट अहंभाव वस्त्र संपूर्ण। सुख को दृढ़ आलिंगन। देत जात।।३२।। वह आलिंगन काल। सहज होत स्वरूप मेल। जैसे जल से जल। न दिखत भिन्न।।३३।। जब आकाश वायु रहित। तब दोनों का भिन्नत्व लोपत। वैसे सुख ही शेष बचत। सुरति में।।३४।। जहां द्वैत की भाषा नष्ट। द्रष्टा दृश्य एक होत। वहां साक्षी कौन रहत। ज्ञाता अन्य?।।३५।।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः। स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।२४।।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्पषाः। छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।२५।।

यह रहने दो पार्थ। कहने की न यह बात। आत्मवेत्ता सब जानत। स्वानुभव से।।३६।। जो ऐसे सुख से तृप्त। आत्मरति निमग्न मत्त। मैं जानू वे मूर्ति साक्षात। सामरस्य की।।३७।। वे आनंद साकार। सुख के वे ही अंकुर। महाबोध का विहार। निर्मित जैसे।।३८।। या विवेक का गांव। परब्रह्म का स्वभाव। अथवा सालंकृत अवयव। ब्रह्मविद्या के।।३९।। वे सत्व के सात्विक। चैतन्य के आंगिक। कितना वर्णन एकेक। बखानत जात।।१४०।। संत स्तवन में रत। मूल कथा विस्मरत। निराकार ब्रह्म बरनत। सुरस जान।।४१।। अब यह रहने दो संक्षिप्त। ग्रंथार्थ दीप प्रदीप्त। साधु हृदय मंदिर में करो प्रकाशित। मंगल उषा।।४२।। ऐसा श्रीगुरुका अभिप्राय। निवृत्तिदास को शिरोधार्य। कहे बोलत जो कृष्ण राय। वही सुनो।।४३।। अनन्त सुख के दह में। तल पा लिया जिसने। स्थिर होकर हुए उसमें। तद्रूप वे।।४४।। अथवा आत्मप्रकाश से निर्मल। देखे स्वयं में विश्व अखिल। वह

देही परब्रह्म केवल। निश्चित जानो।।४५।। जो साचोकार परम। अक्षर निःसीम। अधिकारी निष्काम। पुरुष जानो।।४६।। वह सुख हे अर्जुन!। महर्षियों का भाग्य जान। विरक्त निःसंदेह पूर्ण। निरंतर।।४७।।

कामक्रोधवियुक्ताना यतीनां यतचेतसाम्। अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।।२६।।

जिन्होंनें विषय से अपना मन। स्ववश कर लिया संपूर्ण। वे विस्मरत देहभान। निश्चित जान।।४८।। वे परब्रह्म निर्वाण। जो आत्मविदों का कारण। वही वे पुरुष अर्जुन। ज्ञानमूर्ति।।४९।। वे कैसे महत्त्व पावत। देह में ही प्राप्त ब्रह्मत्व। पूछोगे यदि तत्त्व। संक्षिप्त कहूं मैं।।१५०।।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः। प्राणापानौसमौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।२७।।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः। विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।२८।।

लेकर वैराग्य का आधार। खदेड़ा विषय बाहर। शरीर में मन एकाग्र। किया जिसने।।५१।। इडा, पिंगला, सुषुम्ना भेट। जहां भ्रूपल्लवों की पड़त गांठ। प्रत्याहार से चक्र में ललाट। स्थापत दृष्टि।।५२।। छोड़के दक्षिण वाम। प्राणापान किया सम। पश्चात चित्त को व्योम। गामी करत।।५३।। वहां जैसे रथ्योदक समस्त। गंगा लेकर समुद्र में मीनत। तब एकेक विभक्त। करना न शक्य।।५४।। वासनान्तर का विवेचन। सहज नष्ट अर्जुन। चिदाकाश में लीन मन। प्राणनिरोध से।।५५।। जिस पर संसार चित्र अंकित। वह मनोरूप पट फटत। जैसे सूखे सरोवर में होत। प्रतिबिंब नष्ट।।५६।। जहां मुद्दल मन ही

हुआ अमन। वहां अहंभावादि कैसे विद्यमान?। अतः सशरीर ब्रह्मभाव अर्जुन। अनुभवत वह।।५७।।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्। सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२९।।

मैंने पहले बताई बात। जीतेजी ब्रह्मत्व पावत। वे योग मार्ग आचरत। इसलिये।।५८।। और यम नियम का शिखर। अभ्यास का सागर। उल्लंघन करके पैलपार। पहुंचे वे।।५९।। वे स्वतः उपाधि रहित। प्रपंच आजमावत। हुए ब्रह्मरूप सत्य। इस कारण।।१६०।। ऐसा योग युक्ति का उद्देश्य। जहां कहत हृषिकेश। वहां अर्जुन सुदंश (मार्मिक ज्ञाता)। चकित होत।।६१।। वह देखकर अच्युत। हँस के पार्थ को कहत। क्यों तेरा मन प्रसन्न होत। कथन से मेरे?।।६२।। तब अर्जुन कहत हे देव!। परचित्त लक्षणों का राव। अच्छा जान लिया भाव। मानस का मेरे।।६३।। मैंने विचारपूर्वक पूछना प्रश्न। सो पहले ही जाना आपने कृष्ण। तब कहो जो किया कथन। विस्तार से पुनः।।६४।। यह योगमार्ग अच्युत। जो दिखाया सुगम किंचित। तैरने से पांव से सुलभ होत। जलमार्ग जैसा।।६५।। वैसे सांख्य से प्रांजल। हम जैसे निर्बल। साध्य करत कुछ काल। करके व्यतीत।।६६।। अतः एक बार देव। कहो यही अनुभव। विस्तृत कहिये सर्व। साद्यंत तक।।६७।। तब कहत श्रीकृष्ण। यह मार्ग यदि रुचत अर्जुन। मुझे कहने में क्या विघ्न। कहूंगा सुख से।।६८।। सुनकर यह पार्थ। अनुष्ठान करोगे यदि सार्थ। तब मैं निश्चित यथार्थ। बतलाऊंगा तुझको।।६९।। पहले ही माता का चित्त। उस पर प्रिय पुत्र का निमित्त। वहां स्नेह का

दिव्यत्व। प्रकटत सहज।।१७०।। कारुण्यरस की वृष्टि। अद्भुत नूतन स्नेह की सृष्टि। हरिकी वह कृपादृष्टि। बरनु कैसी?।।७१।। अमृत के मूषसे ढलत। या प्रेम पीकर उन्मत्त। अतः अर्जुन मोह से ग्रस्त। निकलना न जाने।।७२।। इसका जितना करे वर्णन। होगा विषयान्तर जान। तथापि स्नेह कृष्णार्जुन। शब्दातीत।।७३।। अतः विचार करना व्यर्थ। ईश्वर कैसा जानिये यथार्थ। जो स्वयं अनाप अनन्त। इसलिये।।७४।। किन्तु पूर्वाभिप्राय पर से। अर्जुन प्रति मोहित जैसे। कहत उसको आग्रह से। सुनो-सुनो!।।७५।। पार्थ, तुझको जिसविध। चित्त में होवे बोध। वैसा कौतुक से प्रबोध। करूंगा तुझको।।७६।। जिसको कहत योग। क्या उसका उपयोग?। अथवा अधिकार प्रसंग। किसको यहां?।।७७।। ऐसा जो-जो कथन। योग्य यहां अर्जुन। वह सकल ज्ञान। कहूंगा अब।।७८।। सुनो तुम देकर चित्त। ऐसे कहकर श्री अच्युत। जो आगे बरनत। कथा भाग।।७९।। श्रीकृष्ण अर्जुन को द्वैत। न छोड़कर योग निरूपत। वह प्रसंग करूंगा व्यक्त। कहे निवृत्तिदास।।१८०।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम पंचमोऽध्यायः।।
(श्लोक २९; ओवियाँ १८०)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।
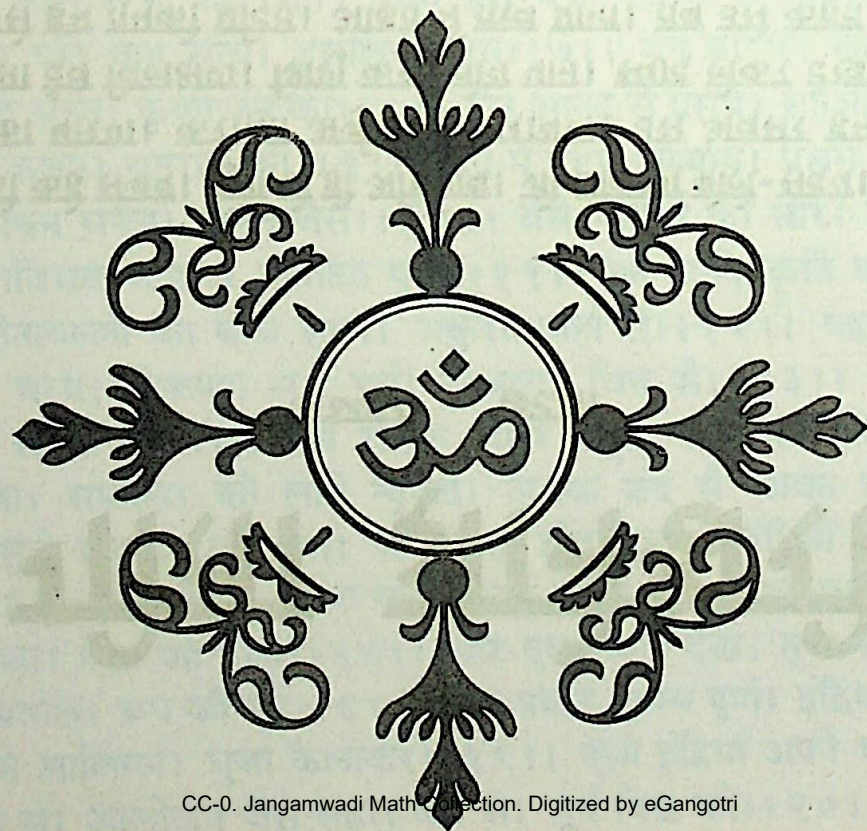
।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – छटवाँ

तब राजा को कहे संजय। सुनो वो ही अभिप्राय। जो श्रीकृष्ण बोले-सदय। योगरूप।।१।। सहज ब्रह्मरस का पारण। करावत अर्जुन को नारायण। उस अवसर हम मेहमान। पहुंचे वहां।।२।। कैसा दैव विलक्षण। शिशु करत तोय पान। स्वाद लेकर देखत जान। तब वह अमृत।।३।। वैसे हम तुमको घटित। आढ़त में तत्त्व प्राप्त। तब उसे कहत धृतराष्ट्र। न पूछूं यह मैं।।४।। सुनके राजा का कथन। संजय जाने उसका मन। इस अवसर उत्कंठित

पूर्ण। पुत्र वार्ता कारण।।५।। जान के मन में हँसत। कहे वृद्ध मोहभ्रमित। कृष्णार्जुन संवाद उत्कृष्ट। अवसर में यह।।६।। किंतु इसे क्या महत्व?। जात्यंध कभी दृष्टि से देखते?। रूठेगा यदि कहूं सत्य। इसलिये डरत।।७।। मन ही मन संतोषत। चित्त हर्ष पावत। जो संवाद सुनत। कृष्णार्जुन का।।८।। इस आनंद से प्रसन्न। साभिप्राय अंतःकरण। आदर से करत कथन। धृतराष्ट्र को।।९।। गीता में षष्टम अध्याय। प्रसंग अति रहस्यमय। प्राप्त क्षीरार्णवमंथन समय। अमृत जैसे।।१०।। वैसे गीतार्थ का सार। विवेक सिंधु का पार। नाना योगविभव भांडार। प्रकटित पूर्ण।।११।। जो आदिप्रकृति का विश्राम। ब्रह्म का विराम। गीतावल्ली का बीज सूक्ष्म। अंकुरत जहां से।।१२।। यह अध्याय षष्टम। साहित्यालंकार परम। निरूपण सुनो मर्म। सावधान चित्त से।।१३।। मेरी शुद्ध बोली प्राकृत। अमृत से भी पैज लेत। ऐसे रसिक अक्षर बहुत। संकलित मैंने।।१४।। जिस बोल की मृदुता। सप्तस्वर को लाये न्यूनता। अथवा छंद से आवत लीनता। परिमल को।।१५।। सुनो सुरसता का गुण। जो जिव्हा होत श्रवण। इंद्रियों में कलह उत्पन्न। आपस में।।१६।। शब्द विषय श्रवण का। किन्तु रसना कहत रस उसका। घ्राण जानत भाव परिमल का। ऐसा यह बोल।।१७।। और एक नवल देख। तृप्त नयन कहत पार्थ। बोल न खान प्रत्यक्ष। रूप की यह।।१८।। जब प्रकट वाक्य पूर्ण। इंद्रिय बाहिर निकसत मन। दौड़त देने आलिंगन। भुजा फैलाकर।।१९।। ऐसी इंद्रियां अपने भाव से। लिपटत रीझत समरूप से। आलोकत जैसे सहस्त्र कर से। सूर्य विश्व को।।२०।। वैसा शब्द का

व्यापकपन। दिखत अति असाधारण। मर्मज्ञ देखत उनमें गुण। चिंतामणिसम।।२१।। इन शब्द रत्नों की थाल। कैवल्यरस भरके निखिल। यह प्रतिपत्ति दी सकल। निष्कामी जनको।।२२।। आत्म-ज्योति नित्य नूतन। करके दीप प्रज्वलन। जो इंद्रियपरे करत सेवन। उसको ही प्राप्त।।२३।। श्रवण का साधन। वह त्यज के कर्ण। मन के निजांग से अर्जुन। भोगना इसको।।२४।। खोल के बोल का आवरण। तद्रूप लक्ष्यब्रह्म प्रति मन। सुख से सुख का सेवन। कीजे खुशी से।।२५।। ऐसी अंग में सूक्ष्मता। तब ही उपयोग होत तत्त्वता। नहीं तो सब होगी वार्ता। मूक बधिर की।।२६।। अब रहने दो यह पार्थ। श्रोताओं को न परखना व्यर्थ। वे ही अधिकारी स्वभावतः। निष्काम काम जो।।२७।। आत्मबोध इच्छुक अंतर। स्वर्ग संसार किया निछावर। बिन उसके रस मधुर। न जाने अन्य।।२८।। जैसे काक न चंद्र देखत। वैसे अनभिज्ञ जन प्राकृत। जैसे हिमांशु की चाहत। चकोर को ही।।२९।। तैसे सज्ञान को इसका ज्ञान। अज्ञानी को न इसका भान। अतः इसकी चर्चा अर्जुन। अकारण।।३०।। किन्तु कहा प्रसंगानुसार। क्षमा कीजिये सज्जनवर। अब कहूंगा जो श्रीधर। निरूपित स्वयम्।।३१।। बुद्धि को भी अगम्य पार्थ। कदाचित शब्द से होत व्यक्त। श्री निवृत्ति कृपादीप से प्रदीप्त। देखूंगा मैं।।३२।। जो दृष्टि को न प्राप्त। गुरुकृपा से दिखत। अतींद्रिय किंतु लभत। ज्ञानबल से।।३३।। किमयागार को भी अप्राप्त। लोह में वह सुवर्ण प्राप्त। यदि दैवयोग से हस्तगत। पारस पार्थ।।३४।। वैसी जब गुरुकृपा होय। तब प्रयत्न से क्या न प्राप्य?। वह अपार मुझे सहाय। कहे

ज्ञानदेव।।३५।। मैं बोलूं उसी कारण। दिखाऊं अरूप का रूप दर्शन। कराऊं अतींद्रिय का अनुभव अर्जुन। इंद्रियों द्वारा।।३६।। सुनो, यश श्री औदार्य। ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य। ये एकत्र षड्गुण वर्य। वसत जहां।।३७।। अतः वह भाग्यवंत। जो निःसंग का संगी होत। कहे, पार्थ! होना दत्तचित्त। इस समय।।३८।।

श्री भगवान उवाच--

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निराग्निर्न चाक्रियः।।१।।

सुनो, योगी और संन्यासी। भिन्न न जानो प्रियदर्शी। देखे विवेक से समदर्शी। तब वह एक।।३९।। उनमें भिन्नत्व का मात्र आभास। क्योंकि योग वही संन्यास। दोनों में न कोई अवकाश। ब्रह्मदृष्टि से।।४०।। जैसे नामों से भिन्न। पुकारना पुरुष एक को अर्जुन। अथवा भिन्न मार्गों से गमन। एक ही स्थान को।।४१।। या एक ही उदक लीजे। भिन्न घटों में भरिजे। वैसे भिन्नत्व जानिये। योग संन्यास का।।४२।। सुनो सर्व सम्मति से विरागी। जग में एक वही योगी। जो कर्म करके न रागी। फलेच्छा में।।४३।। जैसे महि उद्भिज समस्त। अहं बुद्धि बिन उपजवत। उनसे फल कदाचित। न अपेक्षत।।४४।। वैसे आत्मप्राप्ति के आधार से। जाति के अनुकार से। जो-जो अवसर से। करना प्राप्त।।४५।। वह वैसे ही करत उचित। शरीर में अहंकार न धरत। बुद्धि को न जाने देत। फलाशा पर्यन्त।।४६।। वही संन्यासी जान। सुनो हे अर्जुन। निःसंशय पूर्ण। योगीश्वर।।४७।। जो प्रासंगिक कर्म उचित। उसको बन्धक मानत। अन्य कर्म में प्रवृत्त। होत जात।।४८।। एक

लेप प्रक्षालत। दूजा लगावत जात। आग्रह से त्यजत कर्म युक्त। पाईक जैसा।।४९।। गृहस्थाश्रम का भार विहित। दैवयोग से सहज प्राप्त। छोड़कर संन्यास का लेत। अन्यभार शीघ्र।।५०।। अतः अग्निसेवा न छोड़िये। कर्मरेखा न लांघिये। योगसुख सहज भोगिये। अपने आप।।५१।।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव। न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।।२।।

योगी और संन्यासी पार्थ। एक वाक्यता का ध्वज समस्त। फहरावत शास्त्र बहुत। जग में इस।।५२।। त्याग से जब संकल्प नष्ट। तब योगसार से होवे भेंट। ऐसा अनुभव प्राप्त। स्वयं जिसको।।५३।।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।३।।

अब योगाचल का माथ। यदि प्राप्त करना पार्थ। तब सोपान कर्मपथ। चढ़ना न भूलो।।५४।। यमनियम प्रथम तल। पगडंडी आसन की चल। प्राणायाम शिखर अचल। चढ़ना ऊपर।।५५।। फिर प्रत्याहार की चोटी बिकट। जहां बुद्धि के भी पांव फिसलत। पर्वतपतन के डर से शर्त छांडत। हटयोगीजन।।५६।। परंतु अभ्यास के बल से। प्रत्याहार के अवलंबन से। होत शनैः शनैः वैराग्य से। प्रवेश संभव।।५७।। ऐसे पवन अश्व पर सवार। पहुंचत धारणा का पैसार। चलत जब तक ध्यान का घर। प्राप्त होत।।५८।। तब मार्ग की दौड़ रुकत। प्रकृति का व्यामोह लोपत। साध्य साधन एकाकार होत। ब्रह्मानंद में।।५९।। अग्रमार्ग जहां बंद। प्राश्व स्मरण का होवे निरोध। ऐसी समान भूमिका पर

सन्नद्ध। समाधि शुद्ध।।६०।। ऐसे यत्न से योगारूढ़। निरवधि हुआ प्रौढ़। उसका लक्षण दृढ। सुनो, कहूं मैं।।६१।।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते। सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।

इंद्रियों के घर में समस्त। विषयों का आना जाना नष्ट। जो तलघर में सोवत। आत्मबोध के।।६२।। सुख-दुख संघर्ष में पूर्ण। न चेतत उसका मन। विषय अति निकट अर्जुन। किंचित न स्मरण।।६३।। यदि इंद्रियां कर्म में प्रवृत्त। सकल क्रिया करत। किंतु फलेच्छा से निवृत्त। अंतःकरण उसका।।६४।। रहे देह में विद्यमान। जागृत किंतु दिखत निद्राधीन। वही योगारूढ़ अर्जुन। जानो तुम।।६५।। तब अर्जुन कहत अनंत। मुझे विस्मय होत बहुत। कहो उसको इतना महत्व। कौन देत?।।६६।।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।५।।

तब हँसके बोलत कृष्ण। नवल तेरा यह कथन। किसको क्या देगा कौन। अद्वैत दशा में?।।६७।। किंतु व्यामोह की शेज में। बल से अविद्या शय्या में। जन्म मृत्यु दुःस्वप्न में। कष्ट सहत।।६८।। पश्चात अकस्मात् जागत। तब सब वृथा जानत। अमर सद्भाव उपजत। स्वस्वरूप में।।६९।। अतः अपना आपन। घात करत अर्जुन। मन में झूठा देहाभिमान। धारण करत।।७०।।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६।।

विवेक से अहंकार त्यागिये। तब नित्यसिद्ध वस्तु होईये। अपना हित कीजिये। स्वयं

आपन।।७१।। कोशकीटक समान। अपना वैरी आपनं। इस चारुस्थली में पूर्ण। आत्मबुद्धि से पार्थ।।७२।। क्या कहिये लाभ के समय। अंधत्व का दोहद होय। दैवहीन को होवे अंतराय। वस्तु लाभ का।।७३।। अथवा कोई मनुष्य भ्रम से। कहत मैं खोया जैसे। ऐसा वृथा छंद मन से। दृढ़ धरत।।७४।। वैसा स्वयं अविनाश। किंतु हुआ बुद्धि नाश। क्या स्वप्न के घाव से विनाश। सांच होत?।।७५।। जैसा शुक का अंगभार। नलिका फिरत गरगर। मन में शंका जबर। उड़ न पावत।।७६।। वृथा गर्दन हिलावत। हिय पांव से पकड़त। चंचू से नली धरत। रहत स्तब्ध।।७७।। कहे मैं हुआ बद्ध। भाव मन में सन्नद्ध। पंजे में कसत दृढ़। अधिकाधिक।।७८।। ऐसा कारण बिन भ्रमित। न किसी अन्य से बद्धित। आधा काटो तब भी न छोड़त। नलिका वह।।७९।। अतः आप अपना रिपु। जिसने बढ़ाया यह संकल्पु। न धरत स्वयंबुद्धि स्वरूपु। वृथाभिमान से।।८०।।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः। शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।७।।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाष्मकाञ्चनः।।८।।

वह स्वांतः करणजित। सकल कामोपशान्त। परमात्मा उसके निकट। दूर नाही।।८१।। जैसे हीन सुवर्ण तप्त। शुद्धता होत प्राप्त। वैसे जीव को ब्रह्मत्व। संकल्प लोप से।।८२।। जैसा यह घटाकश। घट नष्ट होवे महाकाश। न कोई प्रयास विशेष। मिलनार्थ।।८३।। वैसा देहाहंकार व्यर्थ। समूल जाये जिसका पार्थ। वह परमात्मा सर्वव्याप्त। स्वतः सिद्धः।।८४।। शीत और उष्ण। सुख दुःख समान। तथा मानापमान। माने अभिन्न

जो।।८५।। जिस मार्ग सूर्य चलत। उतना ही विश्व प्रकाशित। परमभाव जहां प्राप्त। ब्रह्मरूप स्वयं।।८६।। मेघ से धारा छूटत। न कभी सागर को चुभत। वैसे न शुभाशुभ पार्थ। योगीश्वर को भिन्न।।८७।। जो यह भावविज्ञानात्मक। विवेक से व्यर्थ अशेख। जो ज्ञान अनुभवात्मक। सत्यस्वरूप।।८८।। अब व्यापक या एकदेश। चर्चा यह गुड़ाकेश। भासत व्यर्थ अशेष। अद्वैतभाव में।।८९।। यदि देहधारी दिखत। परब्रह्म से तुलत। जिसने ज़ित समस्त। इंद्रियजात।।९०।। वह जितेंद्रिय पार्थ। वही जान योगमुक्त। सान श्रेष्ठ भेद न जानत। कदापि जो।।९१।। सुवर्ण की ढेरी। मेरुसम भारी। तथा मिट्टी मुट्ठीभरी। मानत सम।।९२।। पृथ्वी का मोल हीन। ऐसा अनर्घ्य रत्न। मानत पत्थर समान। जाने तुच्छ।।९३।।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।९।।

वहां सुहृद् एवं शत्रु। उदासु अथवा मित्रु। यह भाव-भेदु विचित्रु। कल्पना कैसी?।।९४।। कौन बंधु उसको। द्वेषी न कोई उसको। मैं ही विश्व ऐसा जिसको। बोध प्राप्त।।९५।। तब उसकी दृष्टि। अधमोत्तम न जाने किरीटि। क्या पारस की कसौटी। भिन्न होत?।।९६।। वह जैसी करत शुद्धवर्णा। तैसी जिसकी बुद्धि अर्जुन। निर्मल निरन्तर सम जान। चराचर में।।९७।। विश्वालंकार का बिस्तार। यदि होत बहु प्रकार। मूल वस्तु सुवर्ण साचार। परब्रह्म।।९८।। ऐसे शुद्ध एवं सत्य। जिसने जाना तत्त्व। वह रचना से विचित्र। भ्रमित न होत।।९९।। यदि देखत पट में दृष्टि। तब वह सब तंतुओं की सृष्टि। तैसी वस्तु एक

किरीटि। अन्य न दूजी।।१००।। सब जग ऐसे प्रतीति से। जो मानत अनुभव से। वही समबुद्धि ऐसे। जानो पार्थ।।१।। जिसका नाम तीर्थराव। जिसके संग से ब्रह्मभाव। दर्शन से प्रशस्ति का ठाँव। भ्रान्त को भी।।२।। जिसके बोल से धर्म चलत। दृष्टि महासिद्धि प्रसवत। स्वर्ग सुखादि समस्त। खेल जिसका।।३।। सहज यदि होवे स्मरण। देत योग्यता स्वसमान। प्रशंसा से होत महान। लाभ जानो।।४।।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः। एकाकी यतचित्तात्मा निराशीर-परिग्रहः।।१०।।

कदापि न जिसका अस्त। ऐसा ज्ञान सूर्य जिसको प्रकट। स्वयं अपने में सदोदित। आत्मारत।।५।। ऐसा जो विवेकवंत। वह अद्वितीय पार्थ। तीनों लोक में यथार्थ। अपरिग्रही जो।।६।। इसविध असाधारण। सिद्ध पुरुष का लक्षण। अपने गौरव से श्रीकृष्ण। कथन करत।।७।। जो ज्ञानियों का बाप। दर्शकों का दृष्टिदीप। जिस समर्थ का संकल्प। विश्वसृष्टिकारक।।८।। ऊँकार पेठ में उत्तम। उत्पन्न वस्त्र शब्दब्रह्म। यश के लिये जिसके कम। आच्छादन को।।९।। जिसके अंग का तेज। रवि-चंद्र को करत सतेज। बिन उसके आधारकाज। विश्वस्थिति कैसी?।।११०।। नाम के आगे जिसके अर्जुन। आकाश लघु खण्ड समान। उसका एकेक गुण। अनाकलनीय।।११।। बहुत हुआ गुण बखान। अवर्णनीय उसका लक्षण। किंतु किंचित उसका दर्शन। कराया मैंने।।१२।। यदि नष्ट करके द्वैत। ब्रह्मविद्या करत स्पष्ट। तब सखा की प्रीति लोपत। प्रिय अर्जुन की।।१३।। अतः न कहत स्पष्ट ब्रह्मज्ञान। पट पीछे कहत कृष्ण। पृथक रखत अर्जुन का मन। प्रीति

भोगार्थ।।१४।। जो सोहंभावस्फुरण। मोक्षप्राप्ति के लिये दीन। उसका लगे दृष्टि दोष दारुण। प्रीति को तेरी।।१५।। यदि अहंभाव इसका नष्ट। मद्रूप यदि यह होत। तब अकेला मैं अवशिष्ट। रहूंगा कैसे?।।१६।। दृष्टि देख तोषिजे। मुख से मधुर बोलिजे। आलिंगन दृढ़ दिजे। ऐसा कौन?।।१७।। मन में जो न समावत। किससे कहूं वह सुरस बात। यदि अब ऐक्य होत। परस्पर।।१८।। इस भय से जनार्दन। अन्योपदेश युक्ति से जान। करत परिवर्तित मन। अर्जुन का देखो।।१९।। यदि भासत असत्य। तथापि यह बात सत्य। पार्थ ढली हुई मूर्त स्पष्ट। श्रीकृष्ण प्रेम की।।१२०।। अथवा वृद्धावस्था में देख। बांझ प्रसवत पुत्र एक। बनकर मोहमूर्ति अशेख। नाचन लागत।।२१।। वैसे श्री अनंत का प्रेम। अर्जुन पर निःसीम। इसलिये यह बात सप्रेम। कह दी मैंने।।२२।। कैसा यह नवल प्रीति विशेष। युद्ध प्रसंग में कैसा उपदेश। कारण प्रियमूर्ति गुड़ाकेश। सन्मुख स्थित।।२३।। प्रिय और लजावत। व्यसन से श्रम होत। बावला न बुद्धि भ्रमवत। तब वह कैसा?।।२४।। अतः भावार्थ यह विशेष। अर्जुन मैत्री का निवास। या सुख से शृंगारित। मानस दर्पण यह।।२५।। इसविध धन्य पुण्य पवित्र। जग में भक्ति बीज को सुक्षेत्र। वह कृष्णकृपा को पात्र। इसीलिये।।२६।। आत्मनिवेदन पूर्व की। जो पीठिका होय सख्य की। पार्थ अधिष्ठात्री उसकी। मातृका जानो।।२७।। पास स्वामी को न बखानिजे। पगपाईकका गुण गाईजे। ऐसा प्रिय अर्जुन देखिजे। जगन्नाथ को।।२८।। देखो अनुराग से भजत। प्रियतम को मान्य होत। पति से भी उसको बखानत। पतिव्रता को।।२९।। वैसे

अर्जुन का विशेष स्तवन। करने को ललचावे मेरा मन। त्रिभुवन भाग्य को अधिष्ठान। एकमेव जो।।१३०।। जिसके प्रीतिवश। अमूर्त धरत मूर्तवेष। पूर्णकाम कामनावश। सख्य से जिसके।।३१।। तब श्रोतागण अति मुदित। कहत दैवगति विचित्र। वर्णन शैली सुन्दर जीतत। नादब्रह्म को।।३२।। नवल देखो संतजन। प्राकृत भाषा में वर्णन। हिय में मुद्रा उमटत पूर्ण। साहित्य रंगों की।।३३।। कैसी उन्मेखचंद्रिका दीप्ति। भावार्थ से मन में तृप्ति। गीतार्थ कुमुदिनी अतिप्रीति। विकसत सहज।।३४।। मुमुक्षु की कामना। पावत समाधाना। श्रोतागण सुमना। प्रसन्न डोलत।।३५।। वह निवृत्तिदास जानत। अवधान दीजे कहत। पाण्डव कुल पर उदित। श्रीकृष्णसूर्य।।३६।। देवकी के उदर में वास। यशोदा से पोषण सायास। अंत में उपयोग विशेष। पाण्डवों को।।३७।। बहु दिवस सेवा करना। या सुअवसर में प्रार्थना। न हुआ प्रयास भी इतना। सुदैवी से।।३८।। कहो कथा शीघ्र श्रोता कहत। दुलार से तब अर्जुन कहत। संत चिन्ह सब न वसत। मुझ में कृष्ण।।३९।। इन लक्षणों का निजतत्व। जानने में मैं असमर्थ। किंतु बोध से आपके निश्चित। योग्यता पाऊं मैं।।१४०।। यदि आप चाहत। पाऊं मैं ब्रह्मतत्व। जो बतलाओ अभ्यास समस्त। क्या अशक्य मुझको?।।४१।। न जानत बताई किसकी बात। वह श्लाघनीय मुझे भासत। जिसके अंग में योग्यता वसत। धन्य वो नर।।४२।। ऐसा श्रेष्ठत्व मुझे दो कृष्ण। प्रभो! करोगे क्या इतना यत्न?। हँसके बोलत, निश्चित अर्जुन। करूंगा मैं।।४३।। यदि न संतोष पार्थ। सुख को न्यूनता सर्वत्र। यदि प्राप्त वह सर्वतः। सुख ही सुख।।४४।। जो सर्वेश्वर

का सेवक। ब्रह्मरूप सहज शक्य। झुकत फलभार से देख। सुदैव के।।४५।। जो जन्म सहस्त्र पर्यंत। इंद्रादिक को दुर्मिल पार्थ-। के वह इतना आधीन अच्युत। हर शब्द झेलत उसका।।४६।। तब जो कहत अर्जुन। जो होना मुझे ब्रह्म पूर्ण। वह सब सुनत कृष्ण। उस समय।।४७।। कहे जो ब्रह्मत्व के दोहद। इसके मन में सिद्ध। बुद्धि उदर में होत उपनिबंध। वैराग्य गर्भ का।।४८।। अथवा वह वृक्ष नूतन। वैराग्य वसंत में प्रसन्न। सोहंभाव बहर से पूर्ण। झुकत जात।।४९।। अतः सोचत लक्ष्मीपति। मोक्षफल की इसे शीघ्रप्राप्ति। जो अंतःकरण में विरक्ति। निश्चित वसत।।१५०।। जिसका करेगा अनुष्ठान। वह पावेगा तत्क्षण। अब यदि बोधूं अभ्यास ज्ञान। न होगा व्यर्थ।।५१।। ऐसे विचार से अनन्त। उस अवसर कहत। सुनो यह पार्थ। पंथराजु।।५२।। जिस प्रवृत्ति वृक्ष के तल। बिछे कोटि मोक्षफल। जिस मार्ग का यात्री असफल। अद्यापि शंकर।।५३।। अन्य योगीजन चलत पार्थ। प्रथम हृदयाकाश में वक्र वाट। आगे अनुभव से पावत। राजमार्ग में।।५४।। तब अज्ञान मार्ग त्यजत। बोध मार्ग से सीधे धावत। पूर्वी महर्षि जिससे पावत। श्रेष्ठत्व पूर्ण।।५५/५६।। जब यह मार्ग लभत। क्षुधा तृषा विस्मरत। रात्रि दिवस का होत। भान नष्ट।।५७।। पग जहां पड़त। मोक्ष की खान खुलत। आडमार्ग से भी पावत। स्वर्गसुख।।५८।। पूर्व मार्ग छांडत। पश्चिम पहुंचत। जहां पर चलना पार्थ। निश्चल बनके।।५९।। इस मार्ग से जहां जात। वह गांव स्वयं होत। यह बात सहज स्पष्ट। जानो तुम।।१६०।। तब पार्थ बोलत, हे कृष्ण!। कब कहोगे मुझे योगज्ञान। डूबत मैं आर्तिसमुद्र

में पूर्ण। निकालो मुझको।।६१।। तब श्रीकृष्ण कहत। मैं स्वयं तुझको निरूपत। क्यों पुनः प्रश्न पूछत। उच्छश्रृंखलता से?।।६२।।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।

अब विशेष कहूं स्पष्ट। जिसका अनुभव उपयुक्त। उस अभ्यासार्थ खोजना युक्त। स्थान एक।।६३।। जहां चित्त को समाधान। न भाये त्यागना वह स्थान। वैराग्य होवे दुगुन। देखने से जो।।६४।। पूर्वी संतों का जहां निवास। मन को सहज संतोष। चित्त पावत हर्ष। बढ़त धैर्य।।६५।। अभ्यास को मन उल्लसित। हृदय को अनुभव प्राप्त। ऐसा रमणीय स्थान युक्त। अखण्ड जहां।।६६।। जिस स्थान के निकट। तपश्चर्या का मनोरथ। पाखंडि को भी उपजत। आस्था समूल।।६७।। सहज यदि अवचित। उस स्थान में प्रवेशत। सकाम भी जाना विस्मरत। घर को अपने।।६८।। इच्छा न उसको भी रोकत। जानेवाले को बैठावत। हिलाकर करत जागृत। विरक्ति को।।६९।। श्रेष्ठ राज्य त्यागिये। निवांत यहां बैठिये। देखत ही मन लुब्ध होवे। विलासी का भी।।१७०।। जो इस प्रकार श्रेष्ठ। और शुद्ध विशिष्ट। जहां अधिष्ठान प्रकट। प्रत्यक्ष दिखत।।७१।। और एक देखना युक्त। साधक जन जहां वसत। अन्य जन पदरव से मुक्त। निरन्तर।।७२।। जिस स्थान में अमृतोपम। समूल मधुर उत्तम। घनदाट वृक्ष मनोरम। सदा फलत।।७३।। पग-पग पर उदक। वर्षाकाल में भी चोख। निर्झर बहत विशेख। सुलभ जहां।।७४।। सूर्य तेज जहां सौम्य। आतप भी तापहीन। पवन शीतल अर्जुन। मंद बहत।।७५।। वह स्थान

सदा निःशब्द। न बहुत श्वापद। शुक अथवा षटपद। अति नाहीं।।७६।। जल में बत्तख-हंस। दो चार रहे सारस। कभी-कभी नाद सुरस। कोकिला का वहां।।७७।। निरंतर सदा नाही। आते-जाते कभी कोई। रहत जहां मयूर ही। भाये हमको।।७८।। परन्तु आवश्यक पार्थ। स्थान ऐसा खोजना युक्त। जहां रहे मठ गुप्त। अथवा शिवालय।।७९।। दोनों में जो रुजत। चित्त को जो भावत। ऐसे स्थान में एकांत। बैठो तुम।।१८०।। ऐसा स्थान देखिये। मन को स्थिर कीजिये। यदि सुस्थिर बिछाइये। आसन ऐसा।।८१।। ऊपर शुद्ध मृगचर्म। मध्ये धूतवस्त्र नरम। तल में रखिये साग्रिम। कुशांकुर।।८२।। दर्भासन सुकोमल सरिस। सुबद्ध रहत आपस। स्वस्थान में सुवेश। व्यवस्थित।।८३।। कदाचित यदि ऊंचा होत। तब अंग अस्थिर डोलत। यदि नीचा बहुत पावत। भूमिदोष।।८४।। अतः वैसा न कीजिये। समभाव धरिजे। योजना ऐसी कीजे। आसन की पार्थ।।८५।।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेंद्रियक्रियः। उपविश्यासने युञ्जाद्योगमात्मविशुद्धये।।१२।।

फिर वहां अर्जुन। एकाग्र अंतःकरण। करके सद्‌गुरु स्मरण। अनुभव लीजे।।८६।। जहां सादर स्मरत। सबाह्य सात्विकता भरत। जब तक काठिण्य विरत। अहंभाव का।।८७।। विषय विस्मरण घड़त। इंद्रियों की कसमस मोड़त। तब मन को मोड़ पड़त। हृदयान्तर में।।८८।। ऐक्य जब तक ऐसा होवे। तब तक वहां रहिये। फिर उसी बोध से बैठिये। आसन ऊपर।।८९।। अंग से अंग सम्हालिये। पवन से पवन सवारिये। नित्य अनुभव पाईये। स्पष्ट सहज।।१९०।। प्रवृत्ति जहां निवर्तत। समाधि सहज सधत। बैठक से सिद्ध

होत। अभ्यासपूर्ण।।९१।। मुद्रा का श्रेष्ठत्व अर्जुन। कहूं अब करो श्रवण। दोनो उरु जंघा जान। सटके रको।।९२।। एक चरण दूजे पर। चरणतल मोडिये वक्र। आधारद्रुमके नीचे रखकर। संचारिये दृढ़।।९३।। सव्य तल में रखिये। उससे सीवन दबाइये। ऊपर सहज स्थापिये। वाम चरण।।९४।। गुद-मेढ़ में जो अंतर। गिनके अंगुली चार। सार्ध सार्ध दोनों ओर। छोड़के रखिये।।९५।। मध्ये अंगुली एक शेष। गुल्फोर्ध्वसे विशेष। शरीर तोल के अशेष। दबाइये नीका।।९६।। न जानकर उठा शरीर। पृष्ठांत उठाइये ऊपर। गुल्फद्वय साचार। सन्मुख धरिजे।।९७।। तब शरीर संच पार्था। संपूर्ण सर्वथा। पार्ष्णी के माथा। स्वयंभू होत।।९८।। जानो यह अर्जुन। मूलबन्ध का लक्षण। वज्रासन गौण। नाम इसका।।९९।। ऐसी आधारमुद्रा घटत। अधोमार्ग बंद होत। तब अपानवायु चढ़त। भीतर ही भीतर।।२००।।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।

तब सहज करसंपुट। वामचरण पर स्थित। बाहुमूल दोनों दिखत। उभारित।।१।। जब बाहुद्वय उत्थित। शिरकमल मध्य में गढ़त। नेत्र द्वार का होत। किवाड़ बंद।।२।। उर्ध्व पलक ढलत। अधोपलक विस्तारित। स्थिति अर्ध्वोन्मीलित। उपजत सहज।।३।। दृष्टि रहे अंतस्थित। यदि कौतुक से क्वचित। बाहर आवे रुकत। नासाग्र पीठ में।।४।। ऐसी भीतर ही भीतर। निकलत न कदा बाहर। इसलिये होत नासिकाग्र। निरन्तर।।५।। भिन्न दिशा गमन। अथवा अन्य रूप दर्शन। यह कामना नाशत पूर्ण। सहज जानो।।६।।

फिर कंठनाल ढकत। हनुअधो झुकत। दृढ़ होकर दबत। वक्षस्थल में।।७।। मध्य में कंठमणि लोपत। यह बंध जो घटत। वह जालंधर कहलावत। पंडुकुंवर।।८।। नाभि ऊपर उठत। उदर होत सपाट। अंतर्यामी विस्फारत। हृदयकोश।।९।। स्वाधिष्ठान के ऊपर। नाभिस्थान के अधर। बंध पड़त जो साचार। ओढ़ियाण वह।।२१०।। ऐसा शरीर बाहर से। अभ्यास प्रारंभ जब से। निराश्रय होत तब से। मनोधर्म।।११।।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः। मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः।।१४।।

कल्पना निमत। प्रवृति शमत। अंग मन विरमत। सहज भाव से।।१२।। क्षुधा कब होत। निद्रा कहां जात। यह स्मरणमात्र नाशत। समूल सहज।।१३।। मूलबंध से अवरोधित। अपानवायु परिवर्तित। शीघ्र ऊपर संकुचित। बढ़ने लगत।।१४।। वह क्षोभित बलवत्तर। बद्ध स्थान में करे गुरगुर। धड़क देत चक्र को मणिपुर। रह रह के तब।।१५।। फिर शांत चक्रवात। उदर में संचरत। शैशव से मल एकत्रित। फेकत बाहर।।१६।। तल में न मुड़त। पक्वाशय में प्रवेशत। कफ, पित्त का करत। नाश समूल।।१७।। धातु सागर उल्लंघत। मेद पर्वत फोड़त। अंतर्मज्जा काढ़त। अस्थिगत।।१८।। नाड़ियां शुद्ध करत। अवयव शिथिल होत। साधक को भय दिखावत। किंतु न डरना युक्त।।१९।। व्याधि करत उत्पन्न। शीघ्र नाशत पूर्ण। आप पृथ्वी का अर्जुन। मेल करत।।२२०।। फिर आसन से स्थिर। उष्मा उत्पन्न धनुर्धर। शक्ति करत उजागर। कुंडलिनी को।।२१।। नागिन का शिशु सान (छोटा)। कुंकुम से स्नापित पूर्ण। वलयांकित शयन। करत

जैसे।।२२।। वैसी वह कुंडलिनि। लघु औट वर्तिनी। अधोमुख सर्पिणी। करत शयन।।२३।। विद्युल्लता की चूड़ी। वन्हिज्वाला की झड़ी। शुद्ध सुवर्ण की लड़ी। चोखी जैसी।।२४।। नाभिस्कंद में अवरुद्ध। संकुचित सुबद्ध। वज्रासन से सन्नद्ध। होत सावधान।।२५।। तब नक्षत्र जैसे गिरत। या सूर्य का आसन ढलत। अथवा बीज अंकुरत। तेज का निखिल।।२६।। वैसा वेढ़ा छोड़त। सकौतुक अंग मोड़त। नाभिस्कंद में आरूढ़त। शक्ति स्वयं।।२७।। सहज बहुदिनों की भूख। जागृत होत मिख। आवेश से विस्फारत मुख। उर्ध्व दिशा में।।२८।। वहां हृदय कोशातल में पार्थ। पवन जो समाविष्ट। उसको समग्र आलिंगत। सुदृढ़ता से।।२९।। मुख की ज्वाला से। अधो ऊर्ध्व दिशा से। मांसादिक सवेग से। भक्षण करत।।२३०।। जो-जो जहां समांस। उसका सहज करत ग्रास। बचत जो फिर शेष। हिय में भरत।।३१।। चरण करतल शोधन। करत उर्ध्व खंड का भेदन। झपटत संधिस्थान। अंग प्रत्यंग के।।३२।। अधोभाग न छांड़त। नखों का सत्व निकालत। त्वचा धोकर जोड़त। कंकाल से।।३३।। अस्थि नलिका निचोड़त। शिराओं का गाभा भक्षत। उससे वृद्धि होत नष्ट। रोम बीजों की।।३४।। सप्तधातुओं का सागर। तृषार्त प्राशत समग्र। शुष्क करत शरीर। सवेग से।।३५।। नासिका पुट से पवन। बारा अंगुलि गतिमान। दृढ़ अंदर पकड़ के प्राण। निवर्तवत।।३६।। तब अध ऊर्ध्व जात। ऊर्ध्व तल में खींचत। आलिंगन से बचत। चक्रपंजर।।३७।। तत्क्षण दोनों एकवटत। किंतु कुंडलिनी क्षणैक दुश्चित। क्या काम? कहकर लौटावत। पूर्वस्थिती में।।३८।। समग्र धातु पार्थ।

भक्षत, न कछु बचत। उदर भाग चाटत। शुष्क करत।।३९।। ऐसी ग्रासत दोनों भूत। तब संपूर्ण संतुष्ट। सौम्य होकर रहत। सुषुम्ना संनिध।।२४०।। गरल जो वमत मुख। वही तृप्ति का संतोख। करत वह पीयुख। प्राण पोषण।।४१।। गरलाग्नि अंदर से प्रकटत। सबाह्य अंग शमवत। सामर्थ्य पुनः प्राप्त होत। पूर्व नष्ट जो।।४२।। मार्ग नाशत नाड़ी का। नवविध गुण वायुका। अतः धर्म शरीर का। रहत न शेष।।४३।। इडा-पिंगला एकवटत। ग्रंथी तीनों छूटत। षट्चक्र का नष्ट होत। परस्पर संबंध।।४४।। तब शशि और भानु। ऐसा कीजे जो अनुमानु। वह दीप से भी पवनु। ढूंढे न दिखत।।४५।। बुद्धि का विकास विरत। परिमल घ्राण में बचत। वह शक्ति सहित संचरत। मध्यमा में।।४६।। तब भृकुटि में स्थित। चंद्रामृत कुंड पलटत। उससे अमृत गिरत। शक्तिमुख में।।।४७।। नलिका में रस भरत। सर्वांग में संचरत। जहां के वहां शोषत। प्राण पवन।।४८।। तप्त मूस से जैसे। मोम नाशत तैसे। तब भर के पूर्ण रस से। रहत पार्थ।।४९।। वैसा दीप्तिमान पिण्डाकार। मूर्तिमंत तेज साकार। झलकत शरीर। त्वचावरण से।।२५०।। जैसा रहत गभस्त। अभ्रपटल से आच्छादित। हटत जब प्रकटत। दीप्ति सहित।।५१।। वैसे शरीर के ऊपर। शुष्क त्वचा का पातर। वह झड़त समग्र। दैसा तुष।।५२।। तब काश्मीर का स्वयंभ। अथवा रत्न बीज का कोंभ (अंकुर)। अवयव कांति का शोभ। वैसा दिखत।।५३।। या संध्या समय का रंग। लेकर बनाया अंग। अथवा अंतर्जोतिका लिंग। शुद्ध स्वच्छ।।५४।। कुंकुम का ठोस। या सिद्ध रस की मूस। मूर्तिमंत मुझको भास। शांतिरूप का।।५५।। वह

आनंदचित्र का लेप। या महासुख का रूप। अथवा संतोष तरु का रोप (पौधा)। स्थिर जैसा।।५६।। कनक चम्पा की कलिका जान। या अमृत का पुतला, अर्जुन। अथवा प्रफुल्लित उद्यान। कोमलता का।।५७।। शारदिया से सार्द्र पार्थ। चंद्रबिंब अति शोभित। अथवा तेज मूर्त। आसनस्थ।।५८।। वैसा शरीर भासत। जब कुंडलिनी चंद्र प्राशत। तब देहाकृति को भीत। कृतांत स्वयं।।५९।। वार्धक्य पीछे मुड़त। युवावस्था परिवर्तित। लुप्त पुनः प्रकटत। बाल्यदशा।।२६०।। वयसा दिखत सान। परन्तु बल महान। धैर्य की केवल खान। निरूपम।।६१।। कनकद्रुमपल्लव से अर्जुन। रत्नकलिका नित्य नूतन। वैसे नख नवीन। उपजत सुंदर।।६२।। दंतपंक्ति निकलत अन्य। परंतु अतिशय सान। दो बाजू शोभत दीप्तिमान। रत्नपंक्ति।।६३।। मणिकुल कणिका साग्र। सहज अतिलघु समग्र। वैसे उपजत रोमाग्र। सर्वांग से।।६४।। कर चरण तल। भासत जैसे रातोत्पल। चक्षु स्वच्छ नवल। कैसे कहूं?।।६५।। पक्व मुक्ता सुघट। संपुट मे न समावत। सीम जैसी मोकलत। शुक्ति पल्लवों की।।६६।। वैसी पलक द्वय में सुंदर। दृष्टि न समावत जात सुदूर। अर्धोन्मीलित किन्तु व्याप्त समग्र। गगन मंडल।।६७।। सुनो देह होत सुवर्ण का। परंतु चापल्य वायु का। जिसमें पृथ्वी और आपका का। अंश नाही।।६८।। तब समुद्र पार दिखत। स्वर्लोक का नाद सुनत। मनोगत जानत। पिप्पिलिका का।।६९।। पवन वारूपर आरूढ़त। चले उदक में न पद स्पर्शत। ऐसी सिद्धी बहु पावत। प्रसंगानुसार।।२७०।। प्राणवायु का पकड़कर हाथ। हृदयाकाश सीढी से पार्थ। मध्यमा का चढ़कर सोपान पथ।

हृदय में प्रविष्ट।।७१।। वह कुण्डलिनी जगदंबा। चैतन्य चक्रवर्ती की शोभा। छाया करत जो गाभा। जगद्बीज का।।७२।। जो शून्यलिंग की मूर्त। परमात्मा शिवका संपुट। जो प्रणव की स्पष्ट। जन्मभूमि।।७३।। ऐसी कुंडलिनी कोमल। हृदय में प्रवेशत सरल। तब अनुहत का बोल। बोलत सहज।।७४।। वहां बुद्धिसहित। ॐकारध्वनि किंचित। शक्ति श्रवण करत। उस स्थान में।।७५।। घोष कुण्ड से साचार। नाना प्रणवाकार। नादचित्र ॐकार। प्रकटत।।७६।। यह कल्पना से जानिये। किन्तु कल्पक कहां से लाइये। इसलिये न पावे। नाद यह।।७७।। और एक अर्जुन। जब तक नाश न होवे पवन। हृदयाकाश में उत्पन्न। नाद घूमत।।७८।। वह नाद अनाहत। अखंड जहां दुमदुमत। ब्रह्मरंध्र का खुलत। गवाक्ष शीघ्र।।७९।। सुनो कमल गर्भाकार। जो महदाकाश दूसर। वहां चैतन्य अधान्तर। वसत जानो।।२८०।। उस हृदयस्थान में अभ्यागत। कुंडलिनी परमेश्वरी पार्थ। तेजोरूप भोजन स्वादिष्ट। विनियोजित।।८१।। बुद्धिरूप शाक।। नैवेद्य पौष्टिक। द्वैत न वहां देख। शेष कुछ।।८२।। निजकान्ति नष्ट। केवल प्राणरूप बचत। कैसी उस समय भासत। बतलाऊं तुझको।।८३।। जैसी पवन की पुतरी। सुवर्ण पीतांबरधारी। वह फेंककर होत उधारी। वैसे दिखत।।८४।। अथवा वायु से लिपटत। दीपशिखा विरमत। या लखलखकर अदृश्य होत। बिजली गगन में।।८५।। वैसी हृदयकमल पर्यंत। सुवर्ण लड़ी भासत। अथवा झिरी झरत। प्रकाश जल की।।८६।। तब हृदयभूमी में शून्य। मीनत वह एक समय। वैसी शक्ति पावत लय। शक्ति में पार्थ।।८७।। उसको

शक्ति ही कहत। वैसे केवल प्राण मूर्त। नादबिंदु कलाज्योत। न कछु शेष।।८८।। मन का नष्ट व्यापार। पवन का आधार। ध्यान का आदर। नहीं वहां।।८९।। कल्पना न अवशिष्ट। नाशत सब खटखट। यह पंचमहाभूत की स्पष्ट। मूस होत।।२९०।। पिण्ड से पिण्ड का ग्रास। यह नाथपंथका संदेश। दर्शवत उद्देश्य। श्रीमहाविष्णु।।९१।। वह संकेत की गठरी छोड़कर। यथार्थ वस्त्र की परत झटककर। दिखाई मैंने खोलकर। ग्राहक श्रोताओं को।।९२।।

युञ्जंन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः। शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।१५।।

जब लोपत शक्ति। अदृश्य होत देहाकृति। अतिसूक्ष्म न देखत दृष्टि। जगत की।।९३।। शरीर रहत पूर्ववत। सावयव सब दिखत। किंतु जैसे भासत। वायुसमान।।९४।। कर्दली का गाभा अर्जुन। खड़ा बिन आच्छादन। अथवा अवयव उत्पन्न। नभ को जान।।९५।। वैसे होत शरीर। तब कहत उसको खेचर। प्राप्तसिद्धि तब चमत्कार। शरीरधारी को।।९६।। साधक जहां से गुजरत। पद पंक्ति अंकित। वहां ठाई-ठाई वसत। अणिमादिक।।९७।। किंतु इससे न कछु कर्तव्य। सुनो यह धनंजय। लोपत भूतत्रय। देह के देह में।।९८।। पृथ्वी आप में घुलत। तेज से आप शुष्क होत। पवन से तेज नाशत। हृदय में।।९९।। अंत में स्वयं अकेला शेष। शरीर आकार में गुड़ाकेश। पश्चात मीनत होके निकास। आकाश से।।३००।। तब कुण्डलिनी यह भाषा नष्ट। और मारुत नाम प्राप्त। किंतु शक्तितत्व शेष बचत। शिव मिलन पूर्व।।१।। तब जालंधर छोड़त। काकीमुख फोड़त। पर्वत पर आरूढ़त।

गगन के।।२।। तब ॐकार के पीठ पर। सहसा पांव देकर। लांघकर सीढ़ी करत पार। पश्यंतिकी।।३।। आगे तन्मात्रार्ध त्यजत। आकाश में लीन होत। जैसी सरिता मीनत। समुद्र में।।४।। वहाँ ब्रह्मरंध्रमें होकर स्थिर। सोहंभाव बाहु पसार। परमात्मालिंग को साचार। आलिंगत दृढ़।।५।। महाभूतों की जवनिका हटत। दोनो का मिलन होत। गगन सहित लीन होत। ब्रह्मानंद में।।६।। मेघ द्वारा शोषित। समुद्र में ओघ से प्रवेशत। वैसे वह पुनः पहुंचत। स्वभावतः।।७।। वैसे पिण्ड के मिष से। पद में पद प्रवेश जैसे। एकत्व होत तैसे। पण्डुकुंवर।।८।। तब मैं हूं भिन्न। यह आत्मा यह अन्य। यह विवंचना अर्जुन। बचत न शेष।।९।। गगन में गगन का लय होत। ऐसा जो तत्त्व ज्ञात। जो उसको अनुभवत। वह सिद्ध।।३१०।। अतः वहां की बात। शब्द में न होवे व्यक्त। अनुभव संवादातीत। धनंजय।।११।। सच मानो यह वाणी। जो मनोगत दर्शन की अभिमानी। वह वैखरी अनजानी। रहत दूर।।१२।। भृकुटि पीछे गुड़ाकेश। मकार को भी जहां न प्रवेश। प्राण को भी संकट विशेष। ब्रह्माकाश गगन में।।१३।। आगे जब वायु वहां प्राप्त। नादाकार शब्द दिन का अस्त। आकाश तत्त्व का भी होत। नाश पूर्ण।।१४।। अब महाशून्य का दह। जहां गगन को भी नहीं ठाँव। वहां कैसा स्थान होय। शब्द सृष्टि को?।।१५।। यह अक्षरों में अवर्णनीय। श्रवण को अगम्य। बात यह त्रिवार सत्य। धनंजय।।१६।। जो कभी दैवयोग से। अनुभव प्राप्त जैसे। तब तद्रूपभाव से। रहे निरन्तर।।१७।। आगे कुछ न शेष बात। जानने के लिये पार्थ। इसलिये अब व्यर्थ। कथन सब।।१८।। ऐसे निरसत

शब्दजात। संकल्प समूल पावत अस्त। न वहां प्रवेश किंचित। विचार को।।१९।। जो उनमनिया का लावण्य। जो तूर्याका तारुण्य। अनादि जो अगण्य। परम तत्त्व।।३२०।। जो विश्व का मूल। जो योगद्रुम का फल। जो आनंद का केवल। चैतन्य पार्थ।।२१।। जो आकाश का प्रांत। जो मोक्ष का एकांत। जहां आदि एवं अंत। पावत लय।।२२।। जो महाभूत का बीज। जो महातेज का तेज। एवं पार्थ जो निज-। स्वरूप मेरा।।२३।। वही यह चतुर्भुज मूर्ति। जिसकी होत सुनिर्मिती। देखकर नास्तिकों से आर्ति। भक्त वृंद की।।२४।। वह अनिर्वाच्य महासुख। स्वयमेव होत वे पुरुष। जिन्होंने पाया निष्कर्ष। प्राप्ति पर्यन्त।।२५।। हमने जो बताया साधन। निज शरीर से किया पूर्ण। वे हूए मत्समान। योगमार्ग से।।२६।। परब्रह्म के रस से। देहाकृति के मूससे। ढालत पूर्ण वैसे। सतेज दिखत।।२७।। यदि यह अंतर में प्रतीत। अशेष विश्व लोपत। तब अर्जुन नीका कहत। सत्य यह।।२८।। देव आपने जो कहा उपाय। निश्चित ब्रह्मप्राप्ति का ठाँव। इसलिये वहां होय। साक्षात्कार।।२९।। इस अभ्यास में दृढ़। निश्चित ब्रह्मपदारूढ़। कथन से आपके यह बोध। विशद मुझे।।३३०।। आपकी बात कृष्ण। सुनते ही उपजत ज्ञान। फिर अनुभव से तद्रूप मन। क्यों न होय?।।३१।। अतः यह सर्वथा। कदापि नहीं मिथ्या। किंतु क्षणैक सुनो यदुनाथा। बात एक।।३२।। अभी आपने बताया योग। मन को भाया सुरंग। किंतु मैं अशक्त अपंग। योग्यताहीन।।३३।। मुझमें जितनी शक्ति। यदि उससे होय प्राप्ति। तब यह मार्ग सुख से अति। अभ्यासू मैं।।३४।। नहीं तो आपका कथन। यदि मेरे

लिये अशक्य कृष्ण। तब आपही सोचो प्रश्न। योग्यानुकूल मेरे।।३५।। ऐसी धारणा मन में उत्पन्न। यही इस प्रश्न का कारण। इसलिये दीजे कृष्ण। अवधान मुझे।।३६।। हां जी आपका निरूपण। सुना मैने योगसाधन। परंतु क्या इसकी प्राप्ति पूर्ण। सबको शक्य?।।३७।। तब कहत श्रीकृष्ण। यह साच देत निर्वाण। किंतु वह अधिकार बिन। क्या सिद्ध होत?।।३८।। परंतु योग्यता जो कहिये। वह प्राप्ति के आधीन जानिये। अधिकार पाकर करिये। तब फलत शीघ्र।।३९/३४०।। इसलिये इसमें सार्थ। न कोई बाधा पार्थ। और न कोई योग्यता की यथार्थ। खान प्राप्त।।४१।। क्षणैक विरक्त। होत देहधर्म में नियत। क्या वह न पावत। अधिकार यह?।।४२।। इस युक्ति से अर्जुन। योग्यता तुझमें विद्यमान। ऐसे कहकर निवारत श्रीकृष्ण। संकट उसका।।४३।। ऐसी यह योग व्यवस्था। अनियत को सर्वथा। अशक्य जानो तत्त्वता। अव्यवस्थित को।।४४।।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः। न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।१६।।

जो रसनेन्द्रिय का अंकित। या निद्राधीन सर्वतः। वह कदापि न कहावत। योगाधिकारी।।४५।। दुराग्रह के वश। क्षुधा तृषा का करे नाश। आहार का करत ह्रास। अति निग्रह से।।४६।। निद्रा का नाम न लेत। दृढ़ अभिमान धरत। शरीर भी स्वाधीन न रहत। उसको योग कैसा?।।४७।। अतः अतिविषय सेवन। या सर्वस्व निरोधन। दोनों त्यमज्य मान। धनुर्धर।।४८।।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।१७।।

आहार तो सेविये। किंतु प्रयुक्ति से तौलिये। क्रिया जात करिये। परिमित।।४९।। मित बोली बोलिजे। परिमित श्रम कीजिये। निद्रा को भी मान दीजे। निश्चित समय।।३५०।। यदि करना जागरण। उसका भी होना परिमाण। जिससे धातुसाम्य पूर्ण। रहत सहज।।५१।। इसविध प्रयुक्ति से अर्जुन। इंद्रियों को देत मित भोजन। तब वृद्धि करत वही मन। संतोष की।।५२।।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते। निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।।

इन्द्रियां बहिर्नियमित। तब अंतःसुख वर्धत। योग सहज प्राप्त। अभ्यास बिना।।५३।। जैसे भाग्योदय से। उद्यम के मिष से। सकल समृद्धि स्वभाव से। प्रवेशत घर में।।५४।। तैसा कौतुक से युक्तिमंत। यदि योगमार्ग से चलत। आत्मसिद्धि पावत निश्चित। अनुभव उसका।।५५।। अतः युक्ति यह पार्थ। जिस सदैव को प्राप्त। वहां राज्य तट अलंकृत। अपवर्ग का।।५६।।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपना स्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।१९।।

युक्ति योग का मिलन। वही प्रयाग तीर्थ स्थान। मन क्षेत्र संन्यासी समान। स्थिर वहां।।५७।। उसे योगयुक्त कहो अर्जुन। प्रसंगानुरोध से यह जान। वह दीप का उपलक्षण। निर्वातस्थल के।।५८।। जानके तेरा मनोगत। कुछ मैं कहूं बात। वह नीका देकर चित्त। करना श्रवण।।५९।। तुम प्राप्ति की रखत आस। किंतु अभ्यास में नहीं दक्ष। क्या

समझत योग अशेष। महाकठिन?।।३६०।। तो सुनो हे अर्जुन!। त्रस्त न कर अपना मन।
वृथा हौआ बनावत दुर्जन। इंद्रियां उसका।।६१।। देखो आयुष्य अढल करत। जो मृत्यु को बी निवारत। उस औषध को क्या न कहत। जिव्हा वैरी?।।६२।। ऐसे हित के लिये जो सुखद। इंद्रियों को सदा वह दुःखद। वैसे योगसा सुलभ हितप्रद। साधन नाही।।६३।।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया। यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।२०।।

सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र च चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।२१।।

अतः आसन के बल से। निरूपित नीके अभ्यास से। हो सकेगा इस योग से। निग्रह इनका।।६४।। वैसे योग से पार्थ। इंद्रियों का वेध होत। तब अग्रसर यह चित्त। आत्म मिलन को।।६५।। यह चित्त गतिमान। सदा धावत सम्मुख जान। निवर्तित पावे स्वयं को तत्क्षण। तत्त्वरूप।।६६।। उस परिचय के साथ। सुख साम्राज्य पर आरूढ़त। आत्मानंद में विरत। समरस भाव से।।६७।। नाही अन्य जिस वस्तु बिन। इंद्रियों को कदापि न उसका ज्ञान। वह स्वतः ब्रह्मरूप अर्जुन। स्वयं होत।।६८।।

यं लब्ध्वा चापरं लाभंमन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।२२।।

यदि मेरूसम घोर। पावत देह दुःख भार। न उसका चित्त क्षणभर। व्यथित होत।।६९।। यदि शस्त्र से छेदत। देह अग्नि में प्रवेशत। चित्त महासुख में सोवत।न जागत कभी।।३७०।। ऐसे आत्मसुख में निमग्न। वहां देह का होवे विस्मरण। अनिर्वाच्य सुख में संपूर्ण। रहत लीन।।७१।।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।२३।।

ऐसा सुख का मधुरपन। मन आर्ति का छोड़े स्मरण। जो सर्वदा मगन। संसार में इस।।७२।। योग का उत्कट भाव। संतोष की राणीव (राज्य)। ज्ञान की जाणीव। पूर्ण जिसको।।७३।। उस अभ्यास से पार्थ। देखत मूर्तिमंत। वह सुख का दृष्टा निश्चित। तद्रूप होत।।७४।।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः। मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।२४।।

शनैः शनैरूपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।।२५।।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।२६।।

वह योग कहे पद्मनाभ। एक दृष्टि से सुलभ। यदि पुत्रशोक अशुभ। संकल्प को होत।।७५।। जब विषय लय सुनत। इंद्रिय निग्रह देखत। तब हिय फूट के त्यजत। जीवित्व पार्थ।।७६।। इसविध जब वैराग्य प्राप्त। संकल्प यात्रा पूर्ण लुप्त। धृति के धवलार में वसत। बुद्धि सुख से।।७७।।

बुद्धि धैर्य का आश्रय पावत। मन को अनुभव मार्ग दर्शवत। शनैः शनैः करत प्रतिष्ठित। आत्मभुवन में।।७८।। इस मार्ग से किरीटि। होत जीव को ब्रह्मप्राप्ति। यदि न शक्य सुनो सुलभ अति। मार्ग अन्य।।७९।। अब नियम यह एक। मन से करे साधक। कृतनिश्चय पालना देख। निरंतर।।३८०।। इसविध यदि चित्त स्थिर। अनायास काज सुकर। ना तो उसको स्वैर। छोड़िये मुक्त।।८१।। स्वच्छंद जहां घूमत। निश्चय वहां से

निवर्तत। ऐसा स्थैर्य होत प्राप्त। तत्काल पार्थ।।८२।।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्। उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।२७।।

पश्चात अनेक बार। जब ऐसा रहे स्थिर। आत्मस्वरूप समीप साचार। पहुंचत यह।।८३।। तब स्वरूप में एकवटत। अद्वैत में द्वैत मीनत। ऐक्य-तेज से प्रकटत। त्रैलोक्य यह।।८४।। आकाश में दिखत भिन्न। जब अभ्राच्छादित अर्जुन। विरत तब शुद्ध गगन। व्यापत विश्व।।८५।। वैसे जब सिद्ध चित्तलय। चैतन्य अशेष होय। ऐसा प्राप्ति का सुखोपाय। धनंजय।।८६।।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः। सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।२८।।

यह सुलभ योग स्थिति। अनुभव से होवे सुख प्राप्ति। संकल्प संपत्ति से निवृत्ति। बहुतों को।।८७।। वह सुख की संगत से। मिलत परब्रह्म पद से। लवण जल से जैसे। पृथक न होत।।८८।। ऐसे घटत उस मेल में। सामरस्य के मंदिर में। महासुख की समस्त जग में। दीपावली भासत।।८९।। वैसे पांव से अपने पीठ पर। योगाभ्यास से चलत नर। यदि यह भी दुष्कर। सुनो अन्य।।३९०।।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

मैं सब देहों में व्याप्त। इसमें न शंका पार्थ। वैसे मुझ में ही समाहित। विश्व सकल।।९१।। जग एवं ईश्वर। सामरस्य परस्पर। साधक को ऐसा विचार। बुद्धि ग्राह्य।।९२।। वैसे भी

अर्जुन। ऐक्यभाव से जिसका मन। सर्वभूतों में अभिन्न। भजत मुझको।।९३।। भूतमात्र का अनेकत्व। मन में न जिसके विविधत्व। जानत केवल एकत्व। सर्वत्र जो।।९४।। वह एक मैं और पार्थ। बोलना सर्वथा व्यर्थ। क्योंकि दोनों यथार्थ। एक रूप।।९५।। दीप और प्रकाश। जैसी एकता अशेष। वैसा उसका मुझमें वास। मेरा उसमें।।९६।। जैसे उदक में मिष रस। गगन निमित्त अवकाश। वैसे मेरे रूप से रूपस। पुरुष वह।।९७।।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।३१।।

जिसकी ऐक्यदृष्टि। देखे सर्वत्र मेरी व्याप्ति। जैसे पट सृष्टि में किरीटि। तंतु एक।।९८।। अथवा अलंकार बहुत। किंतु सुवर्ण न भिन्न होत। ऐसी ऐक्याचल की करत। स्थिति जो।।९९।। वैसे भी वृक्ष में जितने पर्ण। अवश्य न उतने बीजारोपण। अद्वैत प्रकाश से नष्ट पूर्ण। अज्ञान रात्री जिसकी।।४००।। वह पंचात्मक शरीर में स्थित। किंतु न कोई प्रतिबंध पावत। प्रतीतिभाव से तुलत। मत्समान।।१।। मेरा सर्वस्थान में व्यापकत्व। जाने जिसका अनुभव। पावे वह सर्वात्मक भाव। निःसंशय।।२।। यदि करत शरीरधारण। न वह शारिरी अर्जुन। शब्द से उसका वर्णन। शक्य कैसे?।।३।।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।३२।।

अतः यह विशेष। जो अपने सरिस। चराचर देखे पुरुष। अखंडित।।४।। सुख दुःखादि मर्म। अथवा शुभाशुभ कर्म। दोनों यह मनोधर्म। न जाने जो।।५।। यह सम यह विषमभाव। और भी विचित्र जो सर्व। जाने सब अपने अवयव। धनुर्धर।।६।। यह एकेक

कहूं कैसे?। जिसको संपूर्ण त्रैलोक्य जैसे। स्वस्वरूप स्वभाव से। ज्ञान प्राप्त।।७।। उसका देह तो साच रहत। लौकिक से सुखी दुःखी कहत। परंतु हमको ऐसा प्रतीत। साक्षात वह परब्रह्म।।८।। अतः अपने में विश्व देखिये। स्वयं विश्व होइये। ऐसा साम्यभाव उपासिये। पंडुकुंवर।।९।। यह तुझको अनेक बार। बतलाया हमने साचार। जो साम्यबिन नाही धनुर्धर। प्राप्ति जग में।।४१०।।

अर्जुन उवाच--

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन। एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।३४।।

तब कहत अर्जुन। जो योग बताया कृपाघन। परंतु न माने मेरा मन। चंचलस्वभाव से।।११।। कैसा यह मन कितना विस्तार। खोजे न मिलत साचार। भ्रमण के लिये इसके लक्ष्मीवर। अपूर्ण त्रिलोक।।१२।। अतः यह कैसे घटत। क्या मर्कट को समाधि प्राप्त?। क्या कहते ही स्थिर होत। महावात?।।१३।। जो मनबुद्धि को छलत। निश्चय को मोड़त। धैर्य को छोड़त। चकमा देकर।।१४।। जो विवेक को भुलावत। संतोष-छंद लगावत। मनुष्य को नचावत। दशदिशा में।।१५।। निरोधन से उछलत। निग्रह से सहाय करत। स्वस्वभाव अच्युत। छोड़ेगा कभी?।।१६।। यदि होत निश्चल। तब हमको साम्य सफल। किंतु यह मन अति चंचल। अतः दुष्प्राप्य वह।।१७।।

भगवान उवाच--

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।३५।।

तब कहत श्रीकृष्ण। तुम कहत वैसाहि यह मन। इसका स्वरूप चपल पूर्ण। निःसंशय।।१८।। किंतु वैराग्य का आधार। लाये यदि अभ्यास पथ पर। तब किसी एक अवसर। होगा स्थिर।।१९।। यह मन का एक सुगुण। जहां लगन वहां स्थिर मगन। अतः अनुभव सुख इसे पूर्ण। कौतुक से दिखाइये।।४२०।।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः। वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।३६।।

जिसका नाही विरक्त जीवन। और न करे अभ्यास अर्जुन। उसके वश न उसका मन। सुनिश्चित।।२१।। जो न आचरत यम नियमन। जिसको वैराग्य का न कभी स्मरण। केवल मीन सम मगन। विषय जल में।।२२।। कभी न जिसने जन्म से। युक्ति को छुआ मन से। तब निश्चल होगा कैसे। तुमही बोलो?।।२३।। अतः मनोनिग्रह का उपाय। प्रारंभ यदि त्वरित होय। तब चंचल मन का जय। क्यों न होवे?।।२४।। जितना यह योगसाधन। क्या वह सब वृथा अर्जुन। किंतु शक्य न तुझको अभ्यसन। कहो ऐसे।।२५।। अंग में यदि योगबल। तब मन कितना चपल। क्या महदादि सकल। वश न होत?।।२६।। तब बोलत पार्थ।देव कहत वह यथार्थ। योगबल से नं कभी तुलत। मनोबल।।२७।। योग कैसा किसविध जाने। अब तक वार्ता भी नही मन में। अतः उसको हम मानें। अनावर।।२८।। पूरे जीवन में हम। त्वत्प्रसाद से पुरुषोत्तम। योग परिचय उत्तम। पाया आज।।२९।।

अर्जुन उवाच--

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः। अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति। अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।३८।।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः। त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।३९।।

किंतु हे श्रीकृष्ण। सहज मन में संशय उत्पन्न। निराकरण को अन्य आपबिन। समर्थ न कोई।।४३०।। अतः कहो गोविंद। कवन एक मोक्षपद। बिन अभ्यास सश्रद्ध। कामना करत।।३१।। इंद्रियग्राम छोड़के। भक्तिमार्ग अपनाके। आत्मसिद्धिनगर के। लिये हुआ प्रवृत्त।।३२।। वहां मोक्ष न हुआ प्राप्त। निवर्तना भी न शक्य अच्युत। ऐसे में अचानक होत अस्त। आयुष्य भानुका।।३३।। सहज अकाल का अभ्र। सूक्ष्म एवं पातर। न टिकत न तु वृष्टिकर। जिस प्रकार।।३४।। वैसे दोनों दुरावत। प्राप्ति तो अलग रहत। अप्राप्ति भी छूटत। श्रद्धा से उसकी।।३५।। इसविध दोनों चूकत। किंतु भक्ति में मग्न रहत। वह कौन गति पावत। कहो कृष्ण।।३६।।

भगवान उवाच--

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते। न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।४०।।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।४१।।

तब कृष्ण कहत पार्था। जिसको मोक्षसुख में आस्था। उसको मोक्षबिन अन्यथा। गति नाहीं।।३७।। किंतु उसमें एक मर्म। जो मध्य में पावत विश्राम। परंतु भोगत सुख परम।

देवदुर्लभ।।३८।। यदि अभ्यास पथपर। होत वह अग्रसर। दिन अस्त पूर्व पावत शीघ्र।
सोहं सिद्धि।।३९।। उतनी न इसकी गति। इसलिये आवश्यक विश्रांति। किंतु पश्चात मोक्ष प्राप्ति। सुनिश्चित।।४४०।।

सुनो, यह कौतुक। यत्न से जो पावे शतमख। वह अनायास प्राप्त लोक। मोक्षकामी को।।४१।। वहां के जो अमोघ। अलौकिक भोग। भोगत ही वैताग। मन को होय।।४२।। यह अंतराय अवचित। क्यों उसको प्राप्त भगवंत?। दिविभोग मनको न भावत। अनुतापत नित्य।।४३।। पश्चात जन्मत संसार में। किंतु सकल धर्म आगर में। ऐश्वर्य युक्त गृह में। प्राणि वह।।४४।। जो कुल नीतिमान। करे सत्य पवित्र भाषण। जहां शास्त्रशुद्ध आचरण। निरंतर।।४५।। वेद जहां जागेश्वर। जिसका व्यवसाय निजाचार। सारासार विचार। मंत्री जिसका।।४६।। जिस कुल में चिंतन। ईश्वर पतिपारायण। जिसकी गृहदेवता अर्जुन। आदिऋद्धि।।४७।। ऐसे जिस कुल में पुण्य। जहां सुख समृद्धिसंपूर्ण। वहां जन्मत अर्जुन। योगच्युत।।४८।।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्। एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।४२।।
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्। यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।४३।।

अथवा ज्ञानाग्निहोत्री। परब्रह्मण्यश्रोत्री। महासुख धरित्री। के आदिवासी।।४९।। आरूढ़ सिद्धांत सिंहासन में। राज्य करत त्रिभुवन में। जो कूजत कोकिल वन में। संतोष के।।४५०।। विवेक द्रुम मूल में आसन। ब्रह्मरूप नित्यफल का सेवन। ऐसे योगियों के

कुल में जान। पावत जन्म।।५१।। जैसे देहाकृति उपजत। निजज्ञान उषा उदित। सूर्य पूर्व प्रकटत। प्रकाश जैसा।।५२।। वैसी दशा की राह न तकत। प्रौढ़ावस्था न वह पावत। शैशव में ही वरत। सर्वज्ञता उसको।।५३।। ऐसा सिद्ध प्रज्ञायुक्त। मन ही सारस्वत प्रसवत। स्वयंभू सकल शास्त्र। निकसत मुख से।।५४।। ऐसे उत्तम कुल में जन्म। जिसके लिये देव सकाम। स्वर्ग में जप होम। करत सदा।।५५।। अमरी (देवोंने) भाट होइये। तब मृत्युलोक बखानिये। ऐसे उत्तमजन्म ये। पावत वे।।५६।।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः। जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।४४।।

पूर्वप्राप्त जो सद्बुद्धि। जहां जीवित्व की हुई अवधि। वह आगे निरवधि। नूतन लभत।।५७।। सदैव और पांव से जन्म। उस पर नेत्र में हो दिव्यांजन। तब देखत पातालधन। लीलया सहज।।५८।। वैसे दुर्भेद अभिप्राय। जो केवल गुरुगम्य। वहां अचूक जाय। बुद्धि उसकी।।५९।। इंद्रियां स्वयं मन आधीन। पवन में एकवटत मन। चिद्गगन में पवन। प्रविष्ट सहज।।४६०।। और क्या कहूं बात। योग उसको सुलभ पार्थ। समाधि स्वतः पूछत। घर मन का।।६१।। जो योगपीठका भैरव। आरंभ रंभाका गौरव। या वैराग्य सिद्धि का अनुभव। मूर्तिमान।।६२।। यह संसार का परिमाण नाप। या अष्टांग सामग्री का द्वीप। जैसे परिमल से धरत रूप। चंदन का।।६३।। वैसा योगबल से अर्जुन। संतोष का पुतला पूर्ण। अथवा सिद्धि भांडार से उत्पन्न। साधक दशा में।।६४।।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।४५।।

कोटीवर्ष शतनन्तर। करके जन्म सहस्त्र की बाधा दूर। प्रयत्न से पावत तीर। आत्मसिद्धि का।।६५।। अतः सर्व साधनजात। स्वभावतः उसको प्राप्त। सिद्धिराज्य पर आरूढ़त। विवेक के।।६६।। विचार जहां गतिमान। विवेक भी पिछड़त अर्जुन। तब अविचारणीय ब्रह्म पूर्ण। प्राप्त सहज।।६७।। वहां मन का मेघ विरत। पवन का पवनत्व लोपत। अपने में सहज मीनत। आकाश भी।।६८।। प्रणव का माथा लुप्त। अवर्णनीय सुख प्राप्त। वाणी मौन होत। इस कारण।।६९।। ऐसी यह ब्राह्मी स्थिति। सकल गति को देत गति। उस अमूर्त की मूर्ति। बनकर रहत।।४७०।। बहु पूर्व जन्म में पार्थ। विक्षेप मल उदक से प्रक्षिप्त। अतः जन्म के साथ डूबत। लग्नघटिका।।७१।। तब तद्रूपता से लग्न। होकर रहत अभिन्न। जैसे अभ्रलोप से गगन। पावत स्वरूप।।७२।। वैसे जहां से विश्व उत्पन्न। तथा जहां उसका लय पूर्ण। रहे देह में विद्यमान। साक्षात ब्रह्म वह।।७३।।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।४६।।

जिस लाभ की आशा से। धैर्यबाहु के भरोसे से। निकसत षट्कर्म धारा में से। कर्मनिष्ठ।।७४।। जिस एक वस्तु प्रीत्यर्थ। पहिनकर ज्ञान कवच पार्थ। प्रपंच समरांगण में जूझत। ज्ञानी पुरुष।।७५।। अथवा चिकनी निराधार। तपोदुर्ग की चोटी पर। चलत दुर्गम राह पर। तपस्वी सकाम।।७६।। जो भक्तों का भज्य। याज्ञिकों का याज्य। एवं जो

पूज्य। सबको सदा।।७७।। वह स्वयं अर्जुन। साक्षात् निर्वाण। जो साधक का कारण। सिद्ध तत्त्व।।७८।। अतः कर्मनिष्ठ वंद्य। ज्ञानियों को वेद्य। तापस का आद्य। तपोनाथ।।७९।। जीव परमात्मा संगम। जिसका पूर्ण मनोधर्म। वह शरीरि किंतु माहात्म्य। पावत ऐसा।।४८०।। इसलिये पार्थ। तुझको मैं सदा कहत। अंतःकरण से होना योग युक्त। पंडुकुंवर।।८१।।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।

सुनो, योगी जो कहिये। वह देवों का देव जानिये। सुख सर्वस्व मेरा होइये। चैतन्य वह।।८२।। वहां भक्तभज्य भजन। यह संपूर्ण भक्ति साधन। अनुभव से मैं स्वयं अर्जुन। अखंडित।।८३।। उसकी मेरी प्रीत। रूप वर्णनातीत। हम दोनों एक साक्षात्। सुभद्रापति।।८४।। वह अलौकिक प्रेमा। यदि दीजे उपमा। तब मैं देह, वह आत्मा। यही सत्य।।८५।। ऐसे भक्त चकोरचंद्र। त्रिभुवनैक नरेंद्र। बोलत गुणसमुद्र। संजय कहे।।८६।। वहां आदि से ही पार्थ को। बहुत आस्था सुनने को। वह दुगनत यह यदुनाथ को। प्रतीत मन में।।८७।। सहज संतोषत कृष्णमन। जो प्रतिबिंबत अर्जुन दर्पण। सहर्ष करत निरूपण। कथाभाग।।८८।। आगे प्रसंग सुघट। जहां शांतरस सुस्पष्ट। करत गठरी प्रकट। प्रमेय बीजों की।।८९।। जहां सात्विकता की वृष्टि। सींचत आध्यात्मिक मिट्टी। सहज पक्व क्यारी की सृष्टि। होत चतुर चित्त में।।४९०।। उस पर अवधान का सुसमय। सुवर्णसा प्राप्त योग्य। अतः बीजारोपण का धैर्य। श्रीनिवृत्ति को।।९१।। ज्ञानदेव कहे मुझे सार्थ। सद्गुरु ने चाड़ी बनाई यथार्थ। मस्तक पर रखकर हाथ। डाला बीज।।९२।। अतः इस

मुख से जो स्त्रवत। संतहृदय में साच रूपत। अब कहूंगा जो अच्युत। निरूपित।।९३।। वह मनकर्ण से सुनिये। बुद्धिनयन से देखिये। बदले में दीजिये। चित्त अपना।।९४।। अवधान द्वारा पार्थ। हृदयांतर में प्रवेशत। तब कामना तृप्त करत। सज्जनों की।।९५।। ये बोल देत आत्म प्राप्ति। संकट से होत मुक्ति। जीव पर करत वृष्टि। लक्ष सुखों की।।९६।। अब अर्जुन को मुकुंद। नागर कहत विनोद। वह ओवियों का प्रबंध। कहूंगा मैं।।४९७।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ।।
(श्लोक ४७; ओवियाँ ४९७)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।

।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – सातवाँ

श्री भगवान उवाच--

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः। असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।१।।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।।२।।

सुनो, तब श्री अनंत। पार्थ को यह कहत। निश्चित तुम योगयुक्त। हुए अब।।१।।

मुझ समग्र को जानत वैसा। करतल स्थित रत्न जैसा। तुम्हें बतजाऊं ज्ञान तैसा।

विज्ञानसहित।।२।। विज्ञान का यहां क्या प्रयोजन। यदि ऐसे सोचत अर्जुन। तब प्रथम वही विज्ञान। समझना युक्त।।३।। आत्मज्ञान का सुअवसर। ज्ञान के बंद नयन समग्र। जैसी खड़ी नांव तीर पे स्थिर। कदा न ढले।।४।। वैसे ज्ञान जहां न प्रवेशत। विचार निवृर्तत त्वरित। ईर्षा तर्क की नाशत। न स्पर्शत कभी।।५।। अर्जुन! उसका नाम ज्ञान। बाकी प्रपंच वह विज्ञान। वहां सत्यबुद्धि यह अज्ञान। निश्चित जानो।।६।। जब नाशत अज्ञान अशेष। विज्ञान नष्ट निःशेष। ज्ञानस्वरूप गुड़ाकेश। होत सहज।।७।। वाणी वक्ता की मौन होत। संकट श्रोताका हरत। यह कनिष्ठ यह श्रेष्ठ। भेद न शेष।।८।। ऐसा मर्म जो गूढ। वह कहूं वाक्यारूढ़। जिससे होगा उद्बोध। बहुत मन में।।९।।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।३।।

सहस्र मानव मध्य। किसी एक को सिद्धि का छंद। यत्नशील साधकों में मेरा तत्त्वबोध। क्वचित् किसी को।।१०।। जैसे अखिल त्रिभुवन। वीर एकेक खोजकर अर्जुन!। चुन चुन के कीजे सेना संपूर्ण। लक्ष्यपर्यंत।।११।। किंतु तद्नंतर। वार होत जब मांस पर। कोई एक बैठत पदपर। विजयश्री के।।१२।। वैसे आस्था का महापूर। प्रवेशत कोटी नर। किन्तु प्राप्ति का पैलतीर। विरला पावे।।१३।। अतः नहीं यह सामान्य। अति विलक्षण असामान्य। आगे होत इसका निरूपण। प्रस्तुत विज्ञान सुनो।।१४।।

भूमिरापोऽनलो वायुः स्वं मनोबुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।४।।

अब अवधारो धनंजया। यह महदादि मेरी माया। जैसी प्रतिबिंबित छाया। निजांग

की।।१५।। इसे प्रकृति कहत। जो अष्टधा भिन्न पार्थ। लोकत्रय इससे प्रसवत। इसीलिये।।१६।। यह अष्टधा कैसी अर्जुन!। यदि विचार करत मन। तब सांप्रत करो श्रवण। विवेचन इसका।।१७।। आप, तेज, गगन। मही, मारुत मन। बुद्धि अहंकार भिन्न। आठों भाग।।१८।।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।५।।

इन आठों की साम्यावस्था। मेरी वह परम प्रकृति पार्था। उसीको नाम व्यवस्था। जीव ऐसी।।१९।। जो जीव को जीववत। चेतना को चेतवत।। मन को उपजवत। शोक मोह।।२०।। सान्निध्य से इसके अर्जुन। उपजत बुद्धिको ज्ञान। करे कौशल से जग धारण। अहंकार का।।२१।।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।६।।

यह सूक्ष्म प्रकृति पार्थ। स्वेच्छा से स्थूल से संयुक्त। टकसाल तब शुरू होत। सृष्टिजीवों की।।२२।। यह ठप्पा चतुर्विध। निकलत सिक्के स्वयंसिद्ध। मोल जिनका समबद्ध। यद्यपि जाति भिन्न।।२३।। चौरासी लक्ष चलन। जाति उपजाति अमित भिन्न।। आदिशून्य का व्यापत अर्जुन। गृह संपूर्ण।।२४।। ऐसे पंचभौतिक एक समान। घटत बहुवस चलन। उनके वृद्धि का लेखा पूर्ण। रखे यही।।२५।। प्रथम करे चलन का विस्तार। पश्चात उसका संहार। करे घटमोड कर्मानुसार। माया यही।।२६।। जानेदो इस रूपक को। स्पष्ट कहूं मैं तुझको। इस नामरूप विस्तारको। कारण प्रकृति ही।।२७।।

यह प्रकृति मेरे ठाई। भासत न अन्य कोई। अतः आदि अन्त मध्य मैं ही। इस जगत को।।२८।।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदास्ति धनंजय। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।७।।

यह रोहिणी का जल। देखा इसका यदि मूल। तब रश्मि नहीं केवल। सूर्य ही वह।।२९।। वैसे ही जानो किरीटि। प्रकृति से जिस निर्मित पृथ्वी। पावत वह समाप्ति। मद्रूप में ही।।३०।। उत्पन्न जो जो होवे नष्ट। मुझमें ही सब समाहित। धारण किया विश्व तद्वत। सूत्र में मणि जैसे।।३१।। सुवर्ण के मणि किये। सुवर्ण सूत्र में पिरोये। वैसे जग पूर्ण व्याप्त होवे। सबाह्य अन्तर में।।३२।।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। प्रणवः सर्व वेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।८।।

पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ। जीवनं सर्व भूतेषु तपःश्चास्मि तपस्विषु।।९।।

अतः उदक में रस। या पवन में स्पर्श। शशि सूर्य में जो प्रकाश। मैं ही जानों।।३३।। वैसा नैसर्गिक शुद्ध। पृथ्वी में निहित गंध। गगन में मैं शब्द। वेद में प्रणव।।३४।। नर के ठांई नरत्व। जो अहंभाव सत्व। वह पौरुष यह सत्य। बोधूं तुझको।।३५।। अग्निरूप देखो वैसे। तेज नाम का कवच्र जैसे। हटत जब साच शेष तैसे। निज तेज में।।३६।। नानाविध योनि में। जनम पावत त्रिभुवन में। वर्तत जीवन में। अपने अपने।।३७।। एक पवन प्राशत। एक तृणपर जीवत। एक अन्नाधार रहत। जल में एक।।३८।। ऐसे प्राणी अन्यान्न। प्रकृतिवश भिन्न जीवन। किन्तु सर्वान्तर में अभिन्न। एक मैं।।३९।।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।१०।।

बलं, बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्। धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

आदि के अवसर। पावे गगनांकुर विस्तार। निगलत अन्त में अक्षर। प्रणव पीठ के।।४०।। जब तक यह विश्वाकार। दिखत विश्वरूपाकार। महाप्रलय में होवे साचार। निराकार पूर्ण।।४१।। ऐसे अनादि सहज। वह यह विश्वबीज। तेरे हस्त में पार्थ स्वयंनिज। देत अर्जुन!।।४२।। जब यह करके स्पष्ट। सांख्य विचार करेगा पार्थ। तब इसका उपयोग श्रेष्ठ। देखेगा तू।।४३।। किन्तु यह अप्रासंगिक आलाप। रहने दो कहूं संक्षेप।। तपस्वियों का जो तप। वह रूप मेरा।।४४।। बलवानों का बल। जानो मैं दृढ़ सबल। बुद्धिमन्त की केवल। बुद्धि हूं मैं।।४५।। भूतमात्रस्थ काम। वही मैं कहे आत्माराम। जिससे अर्थ एवं धर्म। होवे सिद्ध।।४६।। वैसे विकार के विस्तार से। आचरत इंद्रिय विस्तार से। किन्तु धर्मविरुद्ध दिशा से। जाने न देत।।४७।। इस प्रकार काम प्रवर्तन। जो धर्माचरण पूर्ण समस्त। मोक्षरूप तीर्थ के होत मुक्त। संसार भोगी।।४८।। जो निषेध का आडमार्ग। छोड़कर आचरत विधिमार्ग। नियम की मशाल उनके पग। साथ चलत।।४९।। श्रुति गौरव कर्ममंडप पर। काम सृष्टि वेल चढ़ावे उपर। जब तक फल भार से झुककर। पावत वह मोक्ष।।५०।। ऐसा नियमित जो कंदर्प। प्राणिमात्र को बीजरूप। वह काम मैं कहे बाप। योगियों का।।५१।। यह एकेक कितना कहना। अब वस्तुजात को समझना। मुझसे ही प्रकट अर्जुना। विस्तार इनका।।५२।।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

जो ये सात्विक भाव। या रजतमादि सर्व। वे सब ममरूपसंभव। जानो तुम।।५३।। ये उत्पन्न मेरे ठाँई। किन्तु उनमें मैं नाही। जैसे स्वप्न के दहमें कोई। जागृति न डूबत।।५४।। जैसी रसपूर्ण सुघट। बीज कणिका धनवट। उपजत उससे काष्ट। अंकुर द्वारा।।५५।। तब उस काष्ट के ठाँई। कहो बीज भाव रहत कोई?। वैसा विकारी मैं नाही। यद्यपि विकारित।।५६।। गगन में उपजत बादल। किन्तु वहां गगन नहीं केवल। या अभ्र में निहित सलिल। वहां नभ नाही।।५७।। वहां उदक का घर्षण। प्रकटत तेज दीप्तिमान। उस विद्युत में विद्यमान। सलिल कोई?।।५८।। कहो अग्निमूल धूम सत्य। उस धूम में क्या अग्नि रहत?। वैसे विकार मुझसे प्रकट। न विकारी मैं।।५९।।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्। मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।१३।।

उदक में शैवाल उत्पन्न। ढांकत उदक को अर्जुन। या वृथा अभ्र से आच्छादन। आकाश को जैसे।।६०।। स्वप्न नित्य होत असत्य। किन्तु निद्रायोग से भासत सत्य।। क्या तब स्मरण अपना देत। अपने को कभी।।६१।। नेत्रद्रव से निर्मित। मोतीबिंदु नेत्र में उपजत। दृष्टि पूर्ण नष्ट पार्थ। करत न काई?।।६२।। वैसी यह मेरी छाया। त्रिगुणात्मक महामाया। आवृत करत धनंजया। जवनिका जैसी।।६३।। अतः प्राणि न मुझे जानत। मेरे ही किन्तु मद्रूप न होत। जलजन्य जल में न विरत। मुक्ताफल जैसे।।६४।। या मृत्तिका का घट। अपक्व तब मिट्टि में विरत। जब अग्निसंग से पक्व होत। रहत भिन्न।।६५।।

वैसे भूतजात सर्व। मेरे ही साच अवयव। परन्तु मायावशजीव। दशा को प्राप्त।।६६।। अतः मुझसे यदि उत्पन्न। किन्तु नहीं मेरा स्मरण। मैं मेरा भ्रांति से अर्जुन। विषयान्ध होत।।६७।।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।१४।।

ये महादादि मेरी माया। पारकर इसे धनंजया। मद्रूप करके मनोजया। यह शक्य कैसे?।।६८।। ब्रह्माचल चोटी से प्रथम। संकल्प जल का उद्यम। उसमें पांचों का बुदबुद सूक्ष्म। हुआ निर्माण।।६९।। आगे जो सृष्टि विस्तार से। चढ़त कालगति के वेग से। प्रवृत्ति-निवृत्ति तुंग तीर से। लांघत चली।।७०।। गुणधन की वृष्टि से। भ्रांतिरूप महापूर से। बहावत नगर जैसे। यम नियम के।।७१।। उसमें कई द्वेष आवर्त। मत्सर रूप मोड़ से बहत। प्रमादादि अनेक चमकत। महामीन।।७२।। जहां प्रपंच के मोड़ अर्जुन। कर्माकर्म का पूर भीषण। तरंगत ऊपर झाड़न। सुखदुःख का।।७३।। रतिसुख का जहां बेट। जहां कामोर्मि उछलत। जीवफेन बहुत। एकत्रित।।७४।। अहंकार तरंग अर्जुन। महात्रय का तूफान। विषय तरंग बहुत जान। उमड़त वहां।।७५।। उदयास्त का पूर। जन्म मरण के पत्थर। पंचभौतिक बहुतर। उपजत जात।।७६।। संम्मोह विभ्रम मीन। निगलत धैर्य मांस अर्जुन। महाआवर्त उत्पन्न। अज्ञान के।।७७।। भ्रांतिरूप मलिन जल में। आस्था की दलदल में। हीन रजोगुण के कल्लोल में। गर्जत स्वर्ग।।७८।। तमोगुण प्रवाह महान। सत्व डोह स्थिर अर्जुन।। किंबहुना यह मायानदी जान। दुस्तर अति।।७९।। जन्म-मृत्यु

पूर में पार्थ। सत्यलोक दुर्ग बहत। आघात से धंसत जात। ब्रह्माण्ड गोल।।८०।। उस बाढ़ का बहाव पार्थ। कोई न अब तक निरोधत। ऐसा यह मायापूर विस्तृत। तैरना न शक्य।।८१।। यहां नवल और एक। तरने के उपाय अनेक। सब होत अपायकारक। धनंजय।।८२।। स्वयंबुद्धि के बल से। नामशेष जो कूदत स्वयत्न से। निगलित अहंकार मद से। ज्ञानदह में कोई।।८३।। कोई वेदत्रयी की तरी सुवीर। लेकर साथ अहंके पत्थर। मदमीन के मुख भीतर। गये सब।।८४।। यौवन मद से कमर कसत। मन्मथ जाल में फसत। विषय-मकर चूर्ण करत। करालदंष्ट्र से।।८५।।तब वार्धक्य तरंग में बहत। मतिभ्रंश जाल में जखड़त। चौ बाजू से त्रस्त होवत। निरंतर।।८६।। शोकचट्टान का आघात। क्रोध आवर्त में फंसत। जहां उठावत सिर टोंचत। आपत्ति गिद्ध।।८७।। दुःख कंर्दम में लिप्त। मरण सिकता में रूपत। ऐसे ये विषय लंपट। व्यर्थ जात।।८८।। कोई यजनक्रिया की पेटी। बांधत कमर में किरीटि। वे खोह में प्रवेशत निश्चिति। स्वर्ग सुख की।।८९।। कोई मोक्ष प्राप्ति की आशा से। बाहुबल पर भरोसे से। किन्तु गिरत आवर्त में जैसे। विधि निषेध के।।९०।। जहां वैराग्य नाव न चलत। विवेक डोर न टिकत। किन्तु योगमार्ग से पार करत। क्वचित कोई।।९१।। जीव के अंगबल से। मायानदी शक्य तैराना ऐसे।। यह कथन को उपमा किससे। कहूं मैं तुझको।।९२।। यदि अपथ्यशीला व्याधि। साधु जानत दुर्जन की बुद्धि।। अथवा रागी त्यागत सिद्धि। प्राप्त होकर।।९३।। यदि चोर को न्याय सभा दबावत। या गल को मीन निगलत। अथवा भीरु

डरावें पार्थ। पिशाच्च को।।९४।। कुरंग शिशु वागुरा कुतरत। या चीटि मेरु लांघत। तब ही जीव पार करत। माया नदी को।।९५।। इसलिये हे पंडुसुता। जैसी न जीतत विषयी वनिता। वैसी मायामय यह सरिता। तरत न कोई।।९६।। यहां वे ही सहज तरत। सर्वभाव से मुझे जो भजत। इसपार ही मायाजल सूखत। उनके लिये।।९७।। जिनको नाविक सद्गुरु। अनुभव का दृढ़ आधारू। आत्मनिवेदन तरि सुवीरु। प्राप्त उनको।।९८।। जो अहंभाव छांड़कर। विकल्प आंधी त्यागकर। अनुराग बहाव टालकर। पंडुकुंवर।।९९।। जीवात्मा ऐक्य उतार। बोधाश्रय बेड़ेपर। निवृति पैलतीर की ओर। मुड़त वे।।१००।। उपरति हस्तसे जल काटत। सोऽहंभाव से तैरत। सहज बिनक्लेश पावत। निवृत्ति तट वे।।१।। इसविध मुझको भजत। वे मेरी माया तरत। किन्तु ऐसे न बहु भक्त। बिरला ही जानो।।२।।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।१५।।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।१६।।

बाकी और अन्य नर। अहंभाव भूत से धनुर्धर। ग्रसित होवे उनको बिसर। आत्मबोध का।।३।। नियमवस्त्रों का न इनको भान। अधोगति से न लज्जायमान। वेद निषिद्ध आचरण। करत जात।।४।। देखो यह इंद्रियग्राम। जिसलिये प्राप्त अर्जुन। वह कार्यार्थ संपूर्ण। विस्मरत वे।।५।। इंद्रियों के राजमार्ग पर पार्थ। अहंममता का बकवास व्यर्थ। विविध विकारान्तर का जुटावत। समुदाय वे।।६।। दुःखशोक प्रहार अर्जुन। उनको न

किंचित स्मरण। इसका एकमात्र कारण। जो माया ग्रस्त वे।।७।। अतः न मुझको पावत। सुनो अन्य चतुर्विध मुझे भजत। किया जिन्होंने आत्महित। वृद्धिंगत पार्थ।।८।। वह प्रथम जानो आर्त। द्वितीय को जिज्ञासु कहत। तृतीय अर्थार्थी पार्थ। चतुर्थ ज्ञानी।।९।। आर्त दुख निवारणार्थ। जिज्ञासु ज्ञान प्राप्त्यर्थ। तीजा अर्थार्थी द्रव्यार्थ। भजत मुझको।।११०।। किन्तु चतुर्थ के लिये अर्जुन। न कोई कर्तव्य कारण। अतः भक्त केवल वही जान। ज्ञानी पुरुष।।११।। जिसका ज्ञान प्रकाश। भेदाभेद तम का करत नाश। मुझसे होवे समरस। यद्यपि भक्त।।१२।। किन्तु अन्य के दृष्टि से क्षणैक। स्फटिक जैसे भासत उदक। वैसा ज्ञानी कितना कौतुक। करे उसका।।१३।। पवन गगन में लोपत। पवनत्व न उसका अवशिष्ट। वैसा भक्त का बाना अबाधित। यद्यपि एकरूप।।१४।। यदि देखे पवन को हिलाकर। गगन से भिन्न आकार। अन्यथा गगन ही धनुर्धर। स्वभावतः वह।।१५।। वैसा शरीर और कर्म से। भासत वह भक्त जैसे। किंतु अंतर प्रतीति बल से। केवल मैं ही वह।।१६।। ज्ञान के उदय से। जाने आत्मा अभिन्न ऐसे। अतः मैं भी परमोल्लास से। कहूं वैसे।।१७।। देखो जीवात्पर लक्षण। जानकर करे जो आचरण। क्या देहभिन्नत्व से अर्जुन। भिन्न वह?।।१८।।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।१८।।

अतः अपने हितकारण। भजत वे भी प्रिय जान। किन्तु मेरा वल्लभ अर्जुन। ज्ञानी एक।।१९।। देखो, दूध की आशा से। बांधत धेनु को रज्जु से। किन्तु बिन रज्जु पीवत

जैसे। वत्स दुग्ध।।२०।। वह तनु मन प्राण से। अन्य को न जाने जैसे। वस्तु जो दिखत दृष्टि से। कहे माता मेरी।।२१।। ऐसा वह अनन्य गति। अतः धेनु को भी उसकी प्रीति। ऐसा जो कहत लक्ष्मीपति। वह कथन सत्य।।२२।। ऐसे ज्ञानी व्यतिरिक्त। जो तुझको कहे भक्त। वे भी मुझको प्रिय अत्यंत। पंडुकुंवर।।२३।। मेरा जिनको सत्य ज्ञान। न पुनः उनको संसार स्मरण। जब सरिता सागर होत मीलन। न लौटत पुनः।।२४।। अन्तःकरण कुहर में उदित। प्रतीति गंगा मुझमें अर्पित। वह मद्रूप साक्षात। निःसंशय।।२५।। ऐसा जो ज्ञानवान। वह मेरा जीवप्राण। कहने की न यह बात अर्जुन। किन्तु कह दी स्पष्ट।।२६।।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१९।।

विषरूप धन बन। काम क्रोधादि संकट महान। टालकर चढ़त अर्जुन। सद्वासना पहाड़ वे।।२७।। पश्चात हे सुभट। सत्कर्म की ऋजुवाट। चलत निषिद्ध की कुबाट। छोड़कर।।२८।। जन्मसहस्त्र चलत भक्तिपथ। फलाशा पादुका रहित। वह ज्ञानी चिन्ता न करत। कर्म फल की कदा।।२९।। ऐसा देहभावरहित रात्री। मध्ये दौड़त एकल यात्री। अतः कर्मफल समाप्ति। उषा प्रकटत।।३०।। जब गुरुकृपा उषा उदित। ज्ञानसूर्य मृदु किरण प्रसरत। तब सामरस्य का प्रकटत। ऐश्वर्य वहाँ।।३१।। जहां जहां मार्ग चलत। एक मुझे ही दृष्टि निहारत। स्थिर यदि खड़ा निवान्त। देखे मुझको ही।।३२।। और क्या कहूं पार्थ। न कोई बिन मेरे सर्वत्र। जैसे नीर समस्त। जलमग्न घटको।।३३।। वैसा वह

मुझमें व्याप्त। मैं अन्तर्बाह्य उसमें समाहित। बात यह त्रिवार सत्य। निःसंशय।।३४।। और क्या कहूँ सर्वत्र। दिखत ज्ञान का भांडार। उसने मोल लिया धनुर्धर। अखिल विश्व।।३५।। यह समस्त ही वासुदेव। प्रतीति रस का मन में भाव। इसीलिये भक्तों में राव। और ज्ञानी वह।।३६।। जिसका अनुभव भांडार। व्याप्त सब चराचर। वह माहात्मा धनुर्धर। दुर्लभ अति।।३७।। अन्य बहुत मुझको भजत। भक्ति जिनकी भोग प्राप्यर्थ। आशा तिमिर से दृष्टि पार्थ। विषयान्ध होत।।३८।।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः। तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।२०।।

उनकी फलेच्छा से अर्जुन। हृदय में काम उत्पन्न।। उभय संसर्ग से ज्ञान। दीप बुझत।।३९।। ऐसे अन्तर्बाह्य तम व्याप्त। निकट मैं न उनको प्राप्त। तब सर्वभाव से अनुसरत। देवता अन्य।।४०।। पहले की प्रकृति के पाईक। भोग के लिये दीन रंक। लिप्सा का देखो कौतुक। मुझे न भजत।।४१।। कैसी नेम नियम बुद्धि। कैसी उपचार समृद्धि। अर्पण वे यथाविधी। करत जात।।४२।।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।२१।।

जो जिस देवतान्तर को अर्जुन। फलाशा से करे अर्चन। उसकी वह कामना पूर्ण। मैं ही करत।।४३।। मैं ही देव मैं ही देवी। यह निश्चय उनको नाही। अतः भिन्न उनके ठाँई। रखत भाव।।४४।।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमहिते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।।२२।।

बहु श्रद्धायुक्त। आराधना उनकी उचित। करत पूर्ण सिद्धि पर्यंत। यथाविधि।।४५।। जैसा जो वांछत। फल वही वह पावत। किन्तु यह समस्त घटत। मेरे ही कारण।।४६।।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्। देवान्देव यजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।२३।।

वे भक्त मुझे न जानत। न आशापाश से कभी मुक्त। इसलिये फल नाशवन्त। प्राप्त उनको।।४७।। किंबहुना ऐसा जो अर्चन। वह संसार का साधन। अन्य फलभोग वह स्वप्न। क्षणिक सब।।४८।। रहने दो यह अर्जुन। जिसको जो प्रिय दैवत जान। वह जिसका करे पूजन। पावत वही।।४९।। अन्य तनु मन प्राण सहित। अनुसरत मुझको पार्थ। देहान्तसमय वे निश्चित। मद्रूप होत।।५०।।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः। परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।२४।।

किन्तु प्राणि न वैसा करत। व्यर्थ स्वहित गमावत।। वे जल में ही तैरत। तलहस्तगत।।५१।। अमृत सागर में डूबना। मुख को वज्रमिठि डालना। मन में स्मरण करना। क्षुद्रोदक का।।५२।। ऐसा किसलिये करना?। अमृत में डूबके क्यों मरना?। क्यों न सुख से अमृत पीना। अमृत मध्ये।।५३।। क्यों न फलाशा का पिंजर। छोड़कर धनुर्धर। प्रतीति पंख से चिदम्बर। स्वामी न होना?।।५४।। इस चिदाकाश में। सुख के विस्तार में। जितना चाहे मन में। उड़ना स्वच्छन्द।।५५।। उस अनाप को क्यों नापना। क्यों अव्यक्त को व्यक्त जानना?। सिद्ध को क्यों साधना। साधन द्वारा?।।५६।। किन्तु मेरा

यह कथन। विवेक से देखें यदि अर्जुन। न यह विशेष रोचन। जीव जात को।।५७।।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः। मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।२५।।

योगमाया जवनिका से पार्थ। जो हुये अंधे समस्त। स्वरूप प्रकाश बल से न जानत। मुझको वे।।५८।। वैसे मैं जिसमें नाही। वस्तुजात न जग में कहीं। देखो उदक न कभी कोई। रस रहित।।५९।। पवन से क्या अस्पर्श?। नहीं किसमें आकाश?। वैसा विश्व में अशेष। व्याप्त मैं ही।।१६०।।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।२६।।

जितने भूतमात्र अतीत। मै ही वे अकेला पार्थ। और जो वर्तत साम्प्रत। मद्रूप वे भी।।६१।। अथवा भविष्य में अर्जुन। उपजत जो न मुझसे भिन्न। यह सब मात्र कथन। न कछु होत न जात।।६२।। डोरी का सर्प जैसा। काला, कबरा न गेहुंआ वैसा। प्राणिमात्र का तैसा। मिथ्यत्व जानो।।६३।। इसविध मैं पंडुसुत। सर्वत्र सदा अनुस्युत। किन्तु संसारी न जानत। कहत भिन्न।।६४।। अतः कहूं तुझको किरीटि। जो अहंकार-तनु की जडत प्रीति। इच्छा कन्या की होत सृष्टि। धनुर्धर।।६५।। यथाकाल प्राप्त यौवन। द्वेष से होवे संलग्न। दोनों से पुत्र उत्पन्न। द्वंद्वमोह नाम।।६६।।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत। सर्वभूतानि संभोहं सर्गे यान्ति परंतप।।२७।।

ऐसा यह द्वंद्वमोह। अहंकार इसका पितामह। पोषण करत सस्नेह। पंडुकुमर।।६७।। जो प्रतिकूल सदा घृतिको। न माने इंद्रियदमन को। आशा दुग्ध से नीको। पुष्ट होत।।६८।।

असंतुष्टि की मदिरा। मत्त करे धनुर्धरा। भोगत विषयकक्ष में सुवीरा। विकृति को।।६९।। भावशुद्धि के पथ पर। बिखरत विकल्प कंटक तीव्र। खोलत कुमार्ग सुवीर। अप्रवृत्ति के।।१७०।। भूतमात्र इससे त्रसित। संसार बन में प्रवेशत। महादुःख डंडे से पार्थ। खावत मार।।७१।।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्। ते द्वंद्वं मोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः।।२८।।

विकल्प के पोले अर्जुन। कंटक देखकर तीक्ष्ण। मतिभ्रम के पाश उत्पन्न। न गणत जो।।७२।। एकनिष्ठा को ऋजु पांव से। रगड़कर विकल्प काटे जैसे। पार किया महापातक के वैसे। अटवी को जिसने।।७३।। दौड़कर पुण्य पथ पर। आये मत्सन्निध धनुर्धर। वे मुक्त साचार। बटमारों से।।७४।।

जरामरण मोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये। ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२९।।

वैसे भी सुनो पार्था। जन्म-मरण की नाशत कथा। जिस यत्न से होवे ऐसी तत्वत्ता। इच्छा मन में।।७५।। उनको उस साधन से प्राप्त। क्वचित परब्रह्म फल पार्थ। पक्व जिससे रस स्त्रवत। पूर्णता का।।७६।। अवसर वह जग में धन्य। प्राप्त पूर्ण अध्यात्मज्ञान। उनका कर्मजात नष्ट अर्जुन। विरमत मन।।७७।। ऐसा अध्यात्म लाभ उनको। होवे धनंजय जिनको। मुद्दल मैं ही नीको। उद्यम में वह।।७८।। लभत ब्याज समदृष्टि। समृद्ध ऐक्यरूप संपत्ति। भेदरूप दैन्य की किरीटि। स्मृति भी नष्ट।।७९।।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः। प्रयाण कालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेत सः।।३०।।

साधिभूत सह मुझको। प्रतीति हस्त से यथार्थ को। पकड़कर आधिदैवत को। स्पर्शत पार्थ जो।।१८०।। ज्ञानबल से अर्जुन। मुझे अधियज्ञ जानत पूर्ण। तनु वियोग समय जान। दुःखित न होत।।८१।। जब जीवन डोर टूटत। भूतमात्र सब छटपटत। होत सजीव का भी विकल चित्त। युगान्त सम।।८२।। किन्तु जो मुझसे एकरूप। सदा मगन मद्रूप। वे न छांडत स्वस्वरूप। प्रयाण काल में भी।।८३।। वैसे भी अर्जुन। जो ऐसे निपुण। वे ही अन्तःकरण से पूर्ण। युक्त योगी।।८४।। इस श्रीकृष्ण शब्द कुपि के तल। न थी अवधान की अंजुल। उस समय अर्जुन एक पल। पीछे ही रहत।।८५।। जहां वे ब्रह्मवाक्य फल। नाना रससे रसाल। जो बिखरत परिमल। भक्तिरूप।।८६।। सहज कृपामंद अनिल। कृष्णद्रुम के फल। अर्जुन के श्रवण खोल। में अवचित गिरत।।८७।। वे आत्मज्ञान के सिद्धान्त। ब्रह्मरस सागर में स्नापित। अथवा शर्करा में अवगुंठित। परमानंद की।।८८।। ऐसे सुंदर फल शुद्ध। अर्जुन को होत उन्मेष के दोहद। लेत सुख से वह स्वाद। विस्मयामृत का।८९।। वह सुखसंपत जब प्राप्त। स्वर्ग को भी तुच्छ समझत। हृदयान्तर में होने लगत। गुदगुदाहट उसके।।९०।। ऐसा बाह्य सौंदर्य से मन। होवे सुख से संपूर्ण। तब कामना उत्पन्न। रसास्वादन की।।९१।। अनुमान करतल में त्वरित। श्रीकृष्ण वाक्य फल उठावत। प्रतीति मुख में एक साथ। डालन लागत।।९२।। तब विचार मुख में न समावत। हेतुदशन से न फूटत। देखकर ऐसे पार्थ। न चूमत उसको।।९३।। तब विस्मित अर्जुन। कहत ये तो जलस्थ तारांगण। कैसा भ्रमित मैं पूर्ण। अक्षर जाल

से।।१४।। ये नहीं अक्षरपद। यह तो गगन की तह शुद्ध। मेरी बुद्धि यद्यपि सुबुद्ध। पार न पावे।।१५।। यह तो अतर्क्य गोष्ठी। मन में जानकर किरीटि। पुनरपि निहारत दृष्टि। यादवेन्द्र की ओर।।१६।। तब विनति करत सुभट। देखो जी ये एकजुट। सप्तही पद अनुच्छिष्ट। नवल अति।।१७।। वैसे अवधान के वेग से। नाना प्रमेय अनुभव जैसे। श्रवण के निजबल से। क्या बोलना शक्य?।।१८।। यह तो सर्वथा अशक्य। देखकर अक्षर समुदाय। विस्मय को भी होत विस्मय। शारंगधर।।१९।। कर्ण के गवाक्षदार–। से बोल रश्मि प्रविष्ट अंदर। देख वह चमत्कार। स्तिमित मति मेरी।।२००।। जानने को वह शब्दार्थ। कामना तीव्र मन में अच्युत। अतः निरूपण त्वरित। कीजे देव।।१।। लेकर पूर्व प्रत्यंतर। दृष्टि रखत अभिप्राय पर। दर्शवत इच्छा धनुर्धर। पूछत प्रश्न।।२।। कैसी शैली कैसा प्रश्न। न करत सीमोल्लंघन। देत हृदय को आलिंगन। श्रीकृष्ण के पार्थ।।३।। श्रीगुरु को पूछना जो प्रश्न। कैसे रखना अवधान। अकेला जाने पूर्ण। सव्यसाची।।४।। आगे उसका प्रश्न उठाना। श्रीहरी का उत्तर देना। संजय का सस्नेह समझाना। नृप को कैसा?।।५।। उस कथा में देना चित्त। जो कहूं मैं शुद्ध प्राकृत। कर्ण पूर्व दृष्टि देखत। अर्थ जिसका।।६।। वहां बुद्धि जिव्हा से। न चखकर अक्षर का सत्व जैसे। केवल शब्द सौंदर्य से। इंद्रियां तृप्त।।७।। देख मालती की कलिका। परिमल से तृप्त नासिका। किंतु क्या न सौंदर्य उसका। देत दृष्टि को सुख?।।८।। वैसे इस देशीभाषा का सौष्ठव। इंद्रियां करत सुख से राणीव (राज्य)। प्रमेय सिद्धिका पावत गाव। त्वरित सुसज्ज।।९।। ऐसा

जिसका सुंदरपन। श्रवण से वाणी होवे मौन। सुनो ज्ञानदेव करे कथन। निवृत्तिदास।।२१०।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः।।
(श्लोक ३०; ओवियाँ २१०)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।

।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – आठवाँ

अर्जुन उवाच–

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम। अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।१।।

तब कहत अर्जुन। सुना आपने जो प्रश्न। मैंने पूछा वह संपूर्ण। सविस्तार कहिये।।१।।

कहो कौन वह ब्रह्म। किसकी संज्ञा कर्म। अथवा किसको अध्यात्म। कहत कृष्ण।।२।।

क्या होत अधिभूत। अधिदैव कौन अच्युत। सुनूं मैं स्पष्ट। ऐसे कहो।।३।।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन। प्रयाण काले च कथनं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।२।।

देव! अधियज्ञ यह कौन। इस देह में श्रीकृष्ण। इसका न होत अनुमान। न दृष्टिगोचर।।४।। और जो नियत अंतःकरणी। आपको जानत देहप्रयाणी। वह कैसे हे शार्ङ्गपाणी। कहो मुझको।।५।। चिंतामणि मंदिर में पार्थ। दैवयोग से यदि निद्रित। बर्राना भी उसका सत्य। व्यर्थ न होत।।६।। वैसा अर्जुन का बोल। सुनकर प्रसन्न कृपाल। कहत अवधारो खुशाल। जो पूछा प्रश्न।।७।। किरीटि वत्स कामधेनुका। ऊपर मंडल कल्पतरूका। अतः सिद्ध मनोरथ उसका। न नवल इसमें।।८।। कृष्ण रोष से जिसको मारे। वह साक्षात्कार पावे सारे। जिसको प्रीति से उपदेश करे। उसकी क्या बात?।।९।। जब स्वयं होत कृष्ण। कृष्ण होत अपना अंतःकरण। तब संकल्प आनंद में पूर्ण। ऋद्धि-सिद्धि दासी।।१०।। किंतु ऐसा जो प्रेम। अर्जुन पर पहले ही निःसीम। अतः उसका मनोकाम। सदा सफल।।११।। इस कारण श्री अनंत। जानकर उसका मनोगत। उत्तर की थाली परोसत। सहज भाव से।।१२।। स्तनपान करे जो बालक। माता को ही उसकी भूख। क्या उसको मांगना आवश्यक। तब ही देत?।।१३।। अतः सद्गुरु ठांई। नवल न देखो कोई। किन्तु अब सुनो जो गोसाईं। कहत स्पष्ट।।१४।।

श्री भगवान उवाच–

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते। भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।।३।।

तब कहत सर्वेश्वर। जो यह नव द्वार देहाकार। ओत प्रोत किन्तु न नाशत साचार।

कवन काल।।१५।। ऐसी सूक्ष्मता इसकी जान। देखे यदि तब यह शून्य। गगन वस्त्र से अर्जुन। छनत सहज।।१६।। इतना जो विरल। इस विज्ञान खोल–। में परब्रह्म निखिल। कदापि न गिरत।।१७।। यह शरीर जन्मजात। परब्रह्म जन्मधर्म न जानत। शरीर लोप से न नाशत। कदापि कहीं।।१८।। इसविधि अपनी सहज स्थिति। जिस ब्रह्म की नित्य ख्याति। उसका नाम सुभद्रापति। अध्यात्म जानो।।१९।। तब गगन जैसे निर्मल। कभी क्वचित काल। उपजत धन पटल। नानाविधि।।२०।। वैसे इस अमूर्त में विशुद्ध। महदादि भूतभेद। ब्रह्मांड आकार विविध। सृजत जात।।२१।। यह निर्विकल्प क्षेत्र में सुवीर। प्रस्फुटत आदि संकल्प अंकुर। जिससे उत्पन्न नाना आकार। ब्रह्मांड गोलक के।।२२।। उन एकेक में पार्थ। आदि बीज पूर्ण व्याप्त। उससे उपजत नाशत। अगणित जीव।।२३।। उस ब्रह्म गोलक के अक्षांश। प्रसवत आदि संकल्प जीव अंश। असंख्यात होत बहुवस। सृष्टि विस्तार।।२४।। किंतु दूजेबिन अकेला पार्थ। परब्रह्म व्याप्त सर्वत्र। अनेकत्व का उससे बहत। पूर जैसे।।२५।। सम विषमत्व न जाने कैसे। अकारण चराचर रचत जैसे। प्रसवत सहज तैसे। लक्षयोनियां।।२६।। इन जीवों के अतिरिक्त। नाना और भी होत बहुत। यदि उत्पत्ति उनकी देखत। तब मूल्य शून्य।।२७।। अतः न दिखत मुद्दल कर्ता। कारण ही नहीं सर्वथा। मध्ये कार्य स्वभावतः। वर्धमान।।२८।। ऐसे कर्ताबिन गोचरू। अव्यक्त में आकारू। उपजत जो व्यापारू। उसका नाम कर्म।।२९।।

अब अधिभूत जो कहत। वह कहूं संक्षिप्त। जो उत्पन्न और नाशत। अभ्र जैसे।।३०।। वैसे मिथ्या उसका अस्तित्व। स्वभावतः जो नाशवंत। रूप जिसका पंचतत्व। मिलकर होत।।३१।। पंच भूतों से सृष्ट। संयोग से उनके दृष्ट। वियोग काल में नष्ट। नाम रूपादिक।।३२।। अधिभूत उनको कहिजे। अब अधिदैव जीव जानिजे। जो उपार्जित भोग भोगिजे। प्रकृतिजन्य।।३३।। जो चेतन का चक्षु। इंद्रियग्राम का अध्यक्षु। देहास्तमानी वृक्षु। संकल्प विहंगमका।।३४।। जो परमात्मा दूसर। अहंकार निद्रा निदसूर। जो इस स्वप्न संसार–। से तोषत थकत।।३५।। जीव नाम से उसको। पुकारत जब जिसको। अधिदैवत जानिये उसको। पंचायतन का।।३६।। इस शरीर ग्राम में वसत। शरीर भाव को उपशमत। वह अधियज्ञ मैं साक्षात। पंडुकुमर।।३७।। वैसे अधिदैवाधिभूत। मैं ही जानो समस्त। क्या दागी सुवर्ण पार्थ। हीन न होत?।।३८।।न मलिन उसका सुवर्णत्व। न उसको प्राप्त हीनत्व। किंतु जब तक उसके साथ। कहलावत अशुद्ध।।३९।। वैसे अधिभूतादि समस्त। अविद्यावरण से आवृत। तब तक उसको पार्थ। मानिजे भिन्न।।४०।। जहां अविद्या जवनिका नष्ट। भेद भाव अवधि लुप्त। एक रूप कभी न होत। पृथक पार्थ।।४१।। केश लट नीचे काला। ऊपर रखी स्फटिक शिला। भासत भंगित निखिला। दृष्टिको जान।।४२।। केशगुच्छ जब हटत। अभंग शिला दिखत। वहां न कोई जोड़त। डांक देकर।।४३।। वह तो अखंड स्वभावतः। किंतु संग से भासत खंडित। जब उसे हटावे पूर्ववत। जैसी की तैसी।।४४।। तैसे जब अहंभाव नष्ट। ऐक्य मूल से ही प्राप्त। ऐसे जहां प्रतीत। यह अधियज्ञ

मैं।।४५।। सकल यज्ञ कर्मज। तुझको पहले ही बताया यह राज। मन में रख के काज। धनुर्धर।।४६।। यह सकल जीवों का विश्राम। नैष्कर्म्य सुख का धाम। प्रकट करके सुगम। दिखावत आज।।४७।। प्रथम वैराग्य इंधन परिपूर्त। इंद्रियानल में प्रदीप्त। विषय द्रव्य आहुति पार्थ। अर्पण करत।।४८।। वज्रासन उर्वी शुद्ध। वेदिका रचत मूलबंध। शरीर मंडप में शुद्ध। पंडुकुमर।।४९।। वहां संयमाग्निकुंड में पार्थ। इंद्रिय द्रव्य से समस्त। उदंड आहुति देत। युक्ति घोष से।।५०।। तन-मन-प्राण संयम। यही हवन संपदा पूर्ण। इससे निर्धूम संपूर्ण। ज्ञानानल।।५१।। जब यह साहित्य ज्ञान में अर्पित। ज्ञेय में ज्ञान लय पावत। पश्चात ज्ञेय ब्रह्म पार्थ। निखिल शेष।।५२।। इसका नाम अधियज्ञ। ऐसे कहत जब सर्वज्ञ। तब अर्जुन अति प्राज्ञ। जाने पूर्ण।।५३।। जानकर कहत कृष्ण। पार्थ करत उत्तम श्रवण। उस बोल से अर्जुन। सुखी होत।।५४।। देखो शिशुतृप्ति से तृप्त। अथवा शिष्य सिद्धि से कृतार्थ। यह जानत एक गुरु समर्थ। अथवा माता।।५५।। अतः सात्विक भाव सर्व। कृष्ण अंग में अर्जुन से पूर्व। न समावत अपूर्व। किंतु रोकत यत्न से।।५६।। पक्व सुख का परिमल। या निवांत अमृत का कल्लोल। वैसा कोमल और सरल। बोल बोले।।५७।। कहे श्रोताओं के राया,। सुनो हे धनंजया। ऐसी जलत जब माया। दग्धक स्वयं दग्ध।।५८।।

अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।५।।

जो सांप्रत कथित तुझको। अधियज्ञ कहत जिसको। आद्यंत में जानत मुझको। उसी रूप में।।५९।। वे देह को मिथ्या मानत। स्वतः ब्रह्मरूप होत। जैसे मठ गगन से व्याप्त।

गगन में स्थित।।६०।। प्रतीती रूप गृह में। वसत निश्चय कक्ष में। अतः ब्रह्मबिन मन में। न बाह्य स्मरण।।६१।। ऐसे अंतर्ब्राह्म ऐक्य। मद्रूप होत धनंजय। पंचकवच ब्राह्म। सहज नष्ट।।६२।। जीवित की भी न करे चिंता। पतन से क्या उसकी व्यथा?। प्रतीति पेट में पार्था। पानी न हिलत।।६३।। ऐक्य भाव से ढलत। अविनाशी हृदय में स्थित। समरस सिंधु में धूत। मलिन न होत।।६४।। गहरे जल में घट। उदक से ओतप्रोत। दैव से यदि भंगत। उदक न भंग।।६५।। अथवा सर्प कवच छोड़त। या ऊष्मा से वस्त्र त्यागत। क्या अवयव बिगड़त। पंडुकुमर।।६६।। वैसे बाह्याकार यदि नष्ट। मूलवस्तु व्याप्त सर्वत्र। बुद्धि स्वयं पार्थ। ब्रह्मरूप।।६७।। अतः जिसको अर्जुन। देहांत में मेरा स्मरण। मरण उपरान्त जान। मद्रुप होत।।६८।। वैसे भी सुनो पार्थ। जब मृत्यू आक्रमत। मन में जिसको स्मरत। पावत वही।।६९।। क्वचित कोई भयभीत। पवनगति धावत। दो पांव से अवचित। कुएँ में गिरत।।७०।। गिरने से पूर्व पार्थ। वेग न अपना सँभालत। इसलिये गिरना ही पड़त। वहां उसको। वैसे मृत्यु समय जो एक। रहत जीव के सन्मुख। वही गति पावे निःशेख। टाले न टलत।।७२।। जागत में जो विचार। मन में बसत धनुर्धर। निद्रा लगते ही शीघ्र। स्वप्न में दिखत।।७३।।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।६।।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।।७।।

जीवित अवस्था में। जिसकी रुचि मन में। वही मरण समय में। वृद्धिंगत।।७४।।

देहांतसमय जिसका स्मरण। वही गति पावे अर्जुन। इसलिये सदा रहे ध्यान। मेरा ही
तुझको।।७५।। नयन से जो देखिये। कर्ण से सुनिये। मन में ध्याइये। बोलिये वाणीसे।।७६।।
जो सबाह्य अभ्यंतर। मुझको ही जानो धनुर्धर। तब सर्वत्र सब अवसर। मैं ही स्वयं।।७७।।
ऐसी जब धारणा होवे। देहपतन से मरण न आवे। तब युद्धकाज से न पावे। भय कोई।।७८।। तुम मन बुद्धि सहित पार्थ। मुझको ही करो समर्पित। मुझको ही पावोगे निश्चित। यह मेरी आन।।७९।। यह कैसे साध्य। यदि मन में संशय। अभ्यास से अनुभव ग्राह्य। पंडुकुंवर।।८०।।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।। परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८।।

यही अभ्यास का योग। करोगे चित्त के संग। क्या न लंघत अपंग। गिरि पार्थ।।८१।।
वैसे सदभ्यास से निरंतर। परम पुरुष को मोहर। लगाओ फिर यह शरीर। रहे या जावे।।८२।। जो नानागति धावत। चित्त यदि आत्मा को पावत। तब कौन देह को स्मरत। जीवित या नष्ट।।८३।। किंतु सरिता ओघ सगर्जन। सिंधुजल में मीनत पूर्ण। देखने क्या पीछे परिवर्तन। लौटत पार्थ?।।८४।। नही वह समुद्र साक्षात। चित्त चैतन्य दशा पावत। जहां यातायात निमत। धनंजय।।८५।।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।९।।

जिसका निराकार अस्तित्व। जन्म मरण से विमुक्तत्व। जिसका व्यापकत्व। सबको

देखत।।८६।। जो गगन से पुरातन। परमाणुओं से भी सान। जिसके सान्निध्य से अर्जुन। विश्व व्यापार।।८७।। जिससे सबकी उत्पत्ति। जिस कारण विश्व स्थिति?। जिसका न अनुमान किरीटि। अचिन्त्य जो।।८८।। दीमक अग्नि को न भक्षत। तेज में तिमिर न प्रवेशत। वैसे देह अज्ञान न दिखत। चर्मचक्षु को।।८९।। सूर्यकिरणों की निर्मल रास। ज्ञानियों को दे नित्य प्रकाश। अस्तमानका न नामलेश। जिसके ठाँई।।९०।।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।१०।।

उस अव्यंग ब्रह्म को। प्रयाण काल में जिसको। स्थिर चित्त से उसको। करत स्मरण।।९१।। पद्मासन रच के। उत्तराभिमुख बैठके। मन से सुखानुभव करके। क्रमयोग–के।।९२।। अंतर्यामी एकाग्र मन से। स्वरूप प्राप्ति के प्रेम से। त्वरित सहजभाव से। धनुर्धर।।९३।। संपादित योग से पार्थ। मध्यमा मध्य मार्ग क्रमंत। अग्निस्थान से चलत। ब्रह्मरंध्र तक।।९४।। जहां प्राण चित्त की संगत। बाह्य दृष्टि से दिखत व्याप्त। जहां प्राण प्रवेशत। गगन मध्य।।९५।। मन की स्थिरता से बद्ध। भक्तिभावना से संरुद्ध। योगबल से अनुविद्ध। सज्ज होकर।।९६।। वह जड़ाजड़ को सांधत। भृकुटि मध्ये करत प्रविष्ट। जैसा घंटानाद लुप्त। घंटामेंही।।९७।। या आवृत घटतल दिया। न समझे कब कैसा गया। इस विध जो धनंजया। त्यागत देह।।९८।। वह केवल परब्रह्म। उसको परम पुरुष नाम। वह मेरा निजधाम। होकर रहत।।९९।।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्षे।।११।।

समस्त ज्ञेय का जो अंत। ज्ञान की खान मूर्त। ज्ञानवन्त निर्णय से कहत। अक्षर जिनको।।१००।। चंडवात से न नाशत। ऐसा एक गगन पार्थ। तत्सन्मुख अभ्र निश्चित। शेष न रहत।।१।। वैसे ज्ञानी जो जानत। वह क्षर ज्ञान नाप में प्रवष्टि। जो ज्ञान को अगम्य पार्थ। अक्षर वही।।२।। अतः वेदविद नर। कहत जिसको अक्षर। जो प्रकृति के पर। परमात्म रूप।।३।। और विषय विष लांघकर। सर्वेंद्रिय को प्रायश्चित्त देकर। देहतरुतल बैठकर। पंडुकुंवर।।४।। उन सम विरक्त। निरन्तर बाट निहारत। निष्कामी जन का इष्ट। सर्वदा जो।।५।। जिस प्रिय के प्राप्त्यर्थ। ब्रह्मचर्यादि व्रत पार्थ। कठोर इंद्रियदमन सार्थ। आचरत।।६।। ऐसा जो पद। दुर्लभ एवं अगाध। जिसके तीर पर वेद। परास्त खड़े।।७।। जो इस विध लय पावत। वे पुरुष पद प्राप्त करत। कहूँ वही स्थिति पार्थ। एक बार पुनः।।८।। वहाँ कहत अर्जुन। स्वामी यही मेरा मन। आप तो कृपानिधान। बोलिये शीघ्र।।९।। किन्तु कहिये अति सुगम। तब कहत श्रीगुरु धाम। कहेंगे वैसे ही तुझको हम। संक्षेप में।।११०।। मन का बाह्य भ्रमण। छोड़कर सहज भाव अर्जुन। करो उसको निमग्न। हृदय दह में।।११।।

सर्वद्वाराणि सयम्य मनो हृदि निरुध्य च। मूर्ध्न्याध्यायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारिणाम्।।१२।।

तब ही यह घटत। जब संयम से अखंडित। सर्वद्वार किवाड़ होत। बंद पार्थ।।१२।।

जब सहज मन अस्थिर। हृदय संपुट में होत स्थिर। जैसा करचरण खंडित नर। गृह न छोड़त।।१३।। ऐसे स्थिर चित्त करिये। प्राणायाम से ॐकार ध्याइये। अनु वृति से प्राण लाइये। ब्रह्मरंध्रपर्यंत।।१४।। आकाश में मिले न मिले ऐसे। वहां रखिये धारणा बल से। जब तक मात्रालय अपने से। मिले अर्ध मात्रा में।।१५।। तब तक वहाँ समीर। निरालंब में कीजे स्थिर। पश्चात ऐक्यभाव में ॐकार। बिंब में विलसत।।१६।।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरनमामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।१३।।

बंद जब ॐकार स्मरण। तब ही होवे प्राणहरण। प्रणवान्तमें शेष अर्जुन। पूर्ण धन जो।।१७।। अतः प्रणवैकनाम। यह एकाक्षर ब्रह्म। जो मेरे स्वरूप परम। स्मरण से रत।।१८।। इस विध जो त्यजत देह को। वह निश्चय ही पावे मुझको। पाकर उपरान्त जिसको। न और प्राप्य।।१९।। यदि अर्जुन कदाचित। मन में संशय क्वचित। कैसे मरण समय होत निश्चित। मत्स्मरण?।।१२०।। जीवित का सुख लुप्त। इंद्रियों को महासंकट। मृत्युचिन्ह दिखत स्पष्ट। पंडुकुंवर।।२१।। ऐसे में बैठे उठके कौन?। कौन करेगा इंद्रिय निरोधन?। वहां करे किसका अंतःकरण। प्रणवस्मरण?।।२२।। तब ऐसे संशय को अर्जुन। मन में न देना किंचित स्थान। नित्य सेवी जो, अन्त में मैं जान। सेवक उसका।।२३।।

अनन्य चेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।१४।।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।१५।।

विषय को तिलांजलि देकर। इंद्रियों को निगाढ़ बांधकर। जो मुझे हृदय में रखकर।

सुख भोगत।।२४।। उसे अनुभव समाधान। नहीं क्षुधा तृषा का स्मरण। वहां चक्षुरादि दीन। की क्या बात।।२५।। ऐसा निरंतर ऐक्य प्राप्त। अंतःकरण से मुझसे लिपटत। मद्रूप होकर रहत। उपासक जो।।२६।। प्राप्त देहावसान। वे करत मेरा स्मरण। यदि तब भी न पाउं मैं अर्जुन। तब उपास्ति किसलिये।।२७।। रंक एक संकटग्रस्त। व्याकुल दीन पुकारत। दुख निवारणार्थ पार्थ। मुझे जाना ही पड़त।।२८।। भक्त यदि मैं उपेक्षत। क्यों कोई मेरी भक्ति करत। इसलिये यह संशय अनुचित। कदापि न कार्य।।२९।। जब-जब वे करत स्मरण। मैं निश्चित पाउं उनको अर्जुन। उनका भक्तिभार सहन। न होवे मुझको।।१३०।। उनका मैं ऋणी। कहत स्वयं शारंगपाणी। परिचर्या करके देहावसानी। ऋणभार उतरत।।३१।। वायु देहवैकल्यको। न छुए इस सुकुमार को। अतः पिंजरे में रखत उसको। आत्मबोध के।।३२।। ऊपर मत्स्मरण की सुखकर। सौम्य शीतल छाया कर। जिनकी बुद्धि नित्य स्थिर। स्वरूप में मीनत।।३३।। अतः अंतकाल के कष्ट। कभी न सहे मेरा भक्त। मैं, मेरे पास उसको पार्थ। सुख से लावत।।३४।। बाह्य देह की खोली छोड़कर। मिथ्या अहंभाव की धूली झाड़कर। भगवतप्राप्ति की वासना लेकर। मिलावत मुझमें।।३५।। भक्त को भी देह के प्रति। न ऐक्यभाव न प्रीति। अतः त्याग में किरीटि। वियोग न भासत।।३६।। देहान्त समय मैं आऊं। जो निज सन्निध उनको ले आऊं। मन में न उनके यह भावू। जो पहले ही मद्रूप।।३७।। शरीर सलिल में रहत। किंतु एक प्रतिबिंबवत। जैसी चंद्रिका छाई दिखत। किंतु बसत चंद्र में।।३८।। ऐसे जो

योगयुक्त। उनको सुलभ मैं सतत। अतः देहान्त में निश्चित। मैं ही होत।।३९।। तब जो क्लेशतरू की बाडी। तापत्रय की सिगड़ी। मृत्युकाक को कुरोंडी। दी जात।।१४०।। जो दैन्य प्रसवत। महाभय वर्धवत। पूर्ण दुःख का समस्त। मुद्दल जो।।४१।। जो दुर्मति का मूल। जो कुकर्म का फल। व्यामोह का केवल। स्वरूप पार्थ।।४२।। जो संसार का स्थान। अहंकार का उद्यान। सब रोगों की थाल अर्जुन। परोसी हुई।।४३।। जो काल का उच्छिष्ट। आशा की अंगलट। जन्म-मरण को सींचत। स्वभावतः।।४४।। जो भ्रांति का भरण। कुकल्पना का कारण। किंबहुना समूह पूर्ण। वृश्चिकों का।।४५।। जो व्याघ्र का क्षेत्र। वारांगना का मित्र। जो विषय विज्ञान यंत्र। सुपूजित।।४६।। जो डाकिन का दयाभास। विषय भोजन का ग्रास। या विश्वस्त सहवास। सभ्य चोर का।।४७।। कोढ़ी का आलिंगन। कालसर्प का कोमलपन। सहज मधुर गायन। पारधिका।।४८।। जो वैरियों का सत्कार। दुर्जनों का आदर। जानिये जो सागर। अनर्थों का।।४९।। जो स्वप्न का स्वप्न। मृगजल से सिंचित बन। जो धूम्ररजों का गगन। पंडुकुंवर।।१५०।। ऐसा यह शरीर। न कभी पावत ये नर। जो मद्रूप साचार। होकर रहत।।५१।।

आब्रह्मभुवनाल्लोका पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।१६।।

वैसे ब्रह्मादिक को बहुत। पुनरावृत्ति के भंवर न टलत। किंतु जैसे मृत का न दुखत। पेट कभी।।५२।। या जागृत अवस्था में। न डूबत स्वप्न के महापूर में। मुझमें जो लीन वह संसार में–। न लिंपत कदा।।५३।। वैसे चौदह भुवन का शिखर। सप्त चिरंजीवों में

धुरंधर। त्रैलोक्याचल का शिर। ब्रह्मभुवन।।५४।। जिसमें एक प्रहर दिन पर्यंत। अमरेंद्र की न आयु पार्थ। एक दिन में नाश पावत। चौदह जन।।५५।।

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यदर्ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।।१७।।

जब युग चौकड़ी सहस्त्र जाये। तब ब्रह्मा का दिन होवे। अहो रात्रि एक आये। युगसहस्त्रों की।।५६।। ऐसे दिवस रात्रि जहां। भाग्यवंत न मरत वहां। देखत स्वर्गीय महा। चिरंजीव वे।।५७।। और सुरगुणों की नवलाई। विशेष बोलिजे काई। जहां देवेंद्र ने दुर्दशा पाई। जो दिन में चौदह।।५८।। किंतु ब्रह्मा के आठों प्रहर। स्वचक्षु से जो देखे नर। उनको कहत धनुर्धर। अहो-रात्र-विद।।५९।।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्महरागमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।।१८।।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते। रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।१९।।

ब्रह्मभुवन का दिन उदित। तब अव्यक्त का प्रकटत। व्यक्त विंश्व न कर सकत। गणना उसकी।।१६०।। आगे चौप्रहर दिन बीतत। यह आकार समुद्र सूखत। जब दिन प्रकटत होत। सृष्टिविस्तार पुनः।।६१।। शारदीय प्रारंभ में। अभ्र विरत आकाश में। ग्रीष्म ऋतु के अंत में। उपजत पुनः।।६२।। वैसे ब्रह्मदिन के आदि। यह भूतसृष्टि की मांदी (समुदाय)। विद्यमान सहस्त्रावधि। युगान्त तक।।६३।। पश्चात रात्रि के समय। विश्व अव्यक्त में पावत लय। युगसहस्त्रान्त में उदय। पावत पुनः।।६४।। यह कथन की उपपत्ति। जो जग का प्रलय एवं संभूति। ब्रह्मभुवन के अहोरात्रि। मध्ये घटत।।६५।।

कैसा श्रेष्ठत्व धनुर्धर। कैसा सृष्टिबीज का भंडार। पुनरावृत्तिका नाप साकार। पूर्ण भरत।।६६।। वैसे त्रैलोक्य यह साकार। उस ग्राम का विस्तार। दिनो-दय में एकसर। रचत जात।।६७।। पश्चात रात्रि के समय। सहज अव्यक्त में पावत लय। पंचभूतादिको प्राप्त साम्य। ब्रह्माज्ञा से।।६८।। वृक्ष बीज में समावेश। या अभ्र का आकाश में प्रवेश। वैसे अनेकत्व का जहां वास। वहीं ''साम्य''।

परस्तस्मास्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातः। यः स सर्वेषु भुतेषुनश्यत्सु न विनश्यति।।२०।।

वहां न समविषम कोई। इसलिये भूत यह नाम नाही। जैसे दूध जब होत दही। नामरूप नष्ट।।१७०।। वैसे आकार लोप के साथ। जंग का जगत्व भ्रंशत। किंतु मूल वस्तु पार्थ। अविकारी।।७१।। तब ही उसको संज्ञा ''अव्यक्त''। साकार जहां वह ''व्यक्त''। एक से एक सूचित। अन्यथा दोनो नाहीं।।७२।। जैसे सुवर्ण तप्त। पावत धनत्व। जब घनाकार नष्ट। होत अलंकार।।७३।। दोनों अवस्था को यथार्थ। एक सुवर्ण साक्षीभूत। वैसे व्यक्ताव्यक्त विचार, पार्थ। वस्तुमात्र से (ब्रह्मसे)।।७४।। वह व्यक्त न अव्यक्त। नित्य न नाशवंत। ये दोनों भावातीत। अनादि सिद्ध।।७५।। जो विश्व होकर रहत। किन्तु विश्वलय में न नाशत। अक्षर मिटाने से न मिटत। अर्थ जैसा।।७६।। उदक में तरंग होत जात। परंतु उदक अखंड पार्थ। वैसे भूताभावी न नाशत। अविनाशी जो।।७७।। पिघलाने से अलंकार। कनक न पिघलत साचार। वैसे मरणशील जीवाकार। किंतु अमर जो।।७८।।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गीतम्। यं प्राप्य न निवर्तन्ते सद्धाम परमं मम।।२१।।

कौतुक से कहने से अव्यक्त। स्तुति न होत जिसकी पार्थ। वह मन बुद्धि को अचिंत्य। इसलिये।।७९।। और आकार लेकर पार्थ। निराकारत्व जिसका न भंगत। आकार नाश से न नाशत। इसलिये।।८०।। अतः अक्षर जो होत। जो कहते ही बोध प्राप्त। और विस्तार न कोई पार्थ। परमगति वही।।८१।। किंतु इस देह-पुर में पूर्ण। वसत निद्रित सा अर्जुन। व्यापार करत न करवत जान। इसलिये।।८२।। वैसे जो शरीरचेष्टा। एकही न रुकत सुभटा। दशेंद्रिय की क्रिया सर्वथा। होत जात।।८३।। खोल के विषय बाजार। मन चौहट्टेपर शुरू व्यापार। सुख-दुःख राजहिस्सा सुवीर। अंतःकरण में प्राप्त।।८४।। राजा सोवत सुख से। देश व्यापार न रुकत जैसे। प्रजा स्वहित इच्छा से। करत कार्य।।८५।। वैसे बुद्धि का जानना। मन का लेना-देना। इंद्रियों का बरतना। स्फुरण वायु का।।८६।। यह देहक्रिया पूर्ण। न करावे किंतु होत संपूर्ण। जैसा न चलावे रवि अर्जुन। किंतु लोकत्रय चलत।।८७।। उसके समान पार्थ। इस शरीर में वह निद्रित। इसलिये जानो कहत। पुरुष इसको।।८८।। और मायारूप पतिव्रता के। एक पत्नीव्रत से रहके। इस कारण भी प्राप्त जाके। पुरुष नाम।।८९।।किंतु वेदों का व्यापकपन। न देखे जिसका आंगन। यह गगन भी अर्जुन। समाहित जिसमें। १९०।। जान के यह योगीश्वर। कहत जिसको परात्पर। जो अनन्यगति का घर। खोजत आवे।।९१।। जो तन वाचा चित्त से। सुनत न अन्य बात कर्ण से। उसको निष्ठाफलद जैसे। सुक्षेत्र जो।।९२।। यह त्रैलोक्य ही पुरुषोत्तम। ऐसा साच

जिसका मनोधर्म। वह उन आस्तिकों का आश्रम। पंडुकुंवर।।९३।। जो निगर्वी का गौरव। निर्गुण का ज्ञान, पांडव। जो सुख का राजवैभव। निस्पृहका।।९४।। जो संतुष्ट जन का भोजन। अनाथों का आधार स्थान। ऋजु मोक्ष का ग्राम, अर्जुन। भक्तों के लिये।।९५।। यह कितना कहूं एकेक। वर्णन करू विशेख। पहुंचकर जहां होत निःशेख। स्थान स्वयम्।।९६।। शीत लहर से उष्णोदक। शीत होत अशेख। अथवा तम ही सूर्य सन्मुख। प्रकाश होत।।९७।। वैसे संसार जिसके गांव। जब पहुंचते हे पांडव। होकर रहत स्वयं। मोक्षरूप।।९८।। जैसे अग्नि में प्रक्षिप्त। इंधन अग्निरूप होत। न पश्चात शेष रहत। काष्टत्व उसका।।९९।। वैसे ही शर्करा का पुनः। इक्षु दंड करना अर्जुन। कितना भी हो बुद्धि संपन्न। अशक्य सर्वथा।।२००।। लोह का कनक होत। पारस में यह सामर्थ्य। कौन दूजा उसको देत। लोहत्व पुनः?।।१।। अथवा जैसे पक्व घृत। दुग्ध न होत निश्चित। वैसे पाकर जिसको पार्थ। पुनरावृत्ति नाही।।२।। वह मेरा परम। साचोकार निजधाम। यह अंतस्थ तुझको मर्म। कहूँ स्पष्ट।।३।।

यत्रकाले त्वनावृत्तिमावृत्ति चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।२३।।

जैसे देहावसान उपरान्त। योगी निजस्वरूप को पावत। मर्म वह प्रकार से एक पार्थ। जानो सुगम।।४।। अथवा अकस्मात ऐसे घटत। जो अनवसर देह छूटत। होत पुनः उनको प्राप्त। देहधारणा।।५।। शुद्धकाल में देहावसान। ब्रह्मस्वरूप होवे तत्क्षण। यदि अकाल में प्राप्त मरण। पावत पुनर्जन्म।।६।। वैसे सायुज्य एवं पुनरावृत्ति। दोनों अवसराधीन स्थिति।

यही अवसर कहूं किरीटि। प्रसंगानुसार।।७।। तब सुनो हे सुभट। जब आये मरण संकट। पांचों अपनी बाट। पकड़त पार्थ।।८।। अंतकाल जब ऐशा प्राप्त। भ्रम बुद्धि को निगलत। स्मृति न अंध होत। मरत न मन।।९।। यह चेतनावर्ग समुचित। दिखत अति प्रफुल्लित। ब्रह्मभाव को अनुभूत। रक्षण करत।।२१०।। ऐसा सावध वह ऐक्यभाव। होत निर्वाण तक निर्वाह। यह तबही शक्य जब सहाय। जठराग्नि होत।।११।। देखो वायु या उदक से पार्थ। दीपक का प्रकाश लोपत। तब विद्यमान किंतु क्या देखत। दृष्टि अपनी?।।१२।। वैसे देहान्त में विषम वात। अंतर्बाह्य श्लेष्मा व्याप्त। तब वह बुझावत। अग्नितेज।।१३।। वहां प्राण को नहीं प्राण। बुद्धि क्या करेगी अर्जुन। अतः देह अग्नि, बिन। चेतना न धरत।।१४।। यदि देह का अग्नि नष्ट। वह देह न कर्दम पार्थ। अपना आयु समय व्यर्थ। गमावंत तम से।।१५।। ऐसे अवघट समय में। गतायुष्य रखके स्मरण में। त्यज के देह स्वरूप में। मिलना कैसे?।।१६।। तब श्लेष्म कर्दम में पार्थ। चेतना डूबत समस्त। वहां आगे पीछे का नष्ट। स्मरण सहज।।१७।। अतः जो पूर्व किया योगाभ्यास। मरणपूर्व होत उसका नाश। बूझत मिलने पूर्व वस्तु विशेष। हस्तगत दीप।।१८।। रहने दो यह सकल। जानो ज्ञान का अग्नि मूल। अग्नि का प्रयाण में बल। संपूर्ण रहत।।१९।।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।२४।।

भीतर जठराग्नि का ज्योति प्रकाश। बाहर दिवस एवं शुक्ल पक्ष। षणमास में मास। उत्तरायण का।।२२०।। ऐसी समयोग स्थिति प्राप्त। जो देह को त्यागत। वे ब्रह्म ही होत

साक्षात्। ब्रह्मविद्।।२१।। सुनो हे धनुर्धर। यह सामर्थ्य इस अवसर। ऐसा यह मार्ग सुकर। स्वपुरगमन का।।२२।। यहां अग्नि प्रथम सोपान। ज्योतिर्मय द्वितीय अर्जुन। तृतीय जानो दिन। शुक्ल पक्ष चतुर्थ।।२३।। और षण्मास उत्तरायण। यह सर्वोच्च सोपान। इससे सायुज्य सिद्धि सदन। पावत योगी।।२४।। यह उत्तम काल जानिये। इसको अर्चिरामार्ग कहिये। अब अकाल सहज सुनिये। कहूं तुमको।।२५।।

धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।२५।।

देहप्रयाण का अवसर। मध्ये वातश्लेष्माका सुभर। उससे अंतःकरण में अंधकार। व्याप्त पूर्ण।।२६।। सर्वेंद्रिय काष्टवत। स्मृति भ्रम में डूबत। मन होवे भ्रमित। व्याकुल प्राण।।२७।। अग्नि का अग्नित्व जाये। वह धूम्र ही पूर्ण होवे। चेतना लुप्त हो जाये। शरीर की।।२८।। जैसे चंद्रसम्मुख बादल। छाये सघन एवं सजल। ना तम ना प्रकाश उज्ज्वल। झांवर दिसत।।२९।। ना सचेत ना मृत। जीवित की ऐसी गत। आयुंष्यमरण की पार्थ। बाट तकत।।२३०।। ऐसी इंद्रियां बुद्धि मन। अति धूम्र से वेष्टित अर्जुन। जन्मार्जित लाभ पूर्ण। नष्ट सहज।।३१।। देखो पूर्वार्जित जब जाये। तब और क्या लाभ होवे?। अतः प्रयाण काल में पावे। ऐसी दशा।।३२।। ऐसी देहान्तर की स्थिति। बाहर कृष्णपक्ष की रात्रि। और षण्मास की प्राप्ति। दक्षिणायन के।।३३।। ये पुनरावृत्ति के साधन। एकवटत प्रयाणने पूर्ण। वह स्वरूपसिद्धि की वार्ता अर्जुन। कैसी सुनत?।।३४।। ऐसा जिनका देहावसान। वह योगी करे चंद्रलोकगमन। पश्चात पावे परिवर्तन। संसार में

इस।।३५।। हमने जो यह अकाल पार्थ। बताया यह जानो समस्त। यही धूम्रमार्ग गांव ले जात। पुनरावृत्ति के।।३६।। अन्य वह अर्चिरामार्ग। बहुबस्ती का राजमार्ग। सुलभ एवं सुसंग। जात निवृत्तिपर्यंत।।३७।।

शुक्ल कृष्णो गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।।२६।।

ऐसे अनादि मार्ग दो जान। ऋजु एवं वक्र अर्जुन। बुद्धिपूर्वक इनका वर्णन। किया तुझको।।३८।। अब मार्गामार्ग देखिये। सत्यासत्य पहिचानिये। हिताहित जानिये। हित के लिये।।३९।। उत्तम नाव देखने उपरान्त। कौन अथाह जल में कूदत। क्यों छोड़कर जाये सुपंथ। आड़मार्ग में।।२४०।। जो विष-अमृत जानत। क्या वह अमृत को त्यागत?। वैसी ऋजु बाट जो देखत। न जाये वक्र।।४१।। इसलिये पार्थ। परख क्या सच्चा क्या झूठ। जान के न पावे संकट–। के अनवसर के कभी।।४२।। अन्यथा देहान्त में घोर विषम। इस मार्ग में संभ्रम। जन्माभ्यास कर्म। होत व्यर्थ।।४३।। यदि अर्चिरादिमार्ग न प्राप्त। अवचित धूम्रपंथ में प्रविष्ट। संसार पंक्ति में जोतत। तब भ्रमण अटल।।४४।। देखके महान संकट। कैसे होत यह नष्ट। अतः दोनों योगमार्ग स्पष्ट। बताये तुझको।।४५।। एक से ब्रह्मत्व पाईये। दूजे से पुनरावृत्ति आये। दैवगत्या जो प्राप्त होवे। देहान्त में जिसको।।४६।।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन। तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।।२७।।

कौन दशा पावे अकस्मात। इसका न भरोसा पार्थ। देह त्यजके जाना ब्रह्म प्राप्त्यर्थ। मार्ग से शक्य।।४७।। देह रहे या जाय। हम तो केवल वस्तु कौंतेय। डोरका सर्पत्वभास

व्यर्थ होय। डोर से ही।।४८।। तरंग आए या जाए। उदक न ऐसा प्रतिभास पावे। वह तो अखंड रहे। उदक मात्र।।४९।। तरंगाकार से न उपजत। तरंगलोपसे न नाशत। वैसे जो देह में देहसहित। वस्तु होत।।२५०।। अब शरीर का उनके ठांई। नाममात्र शेष नाही। तब कौन समय वही। पावत लय?।।५१।। तब क्यों मार्ग खोजना?। किसने कहां से कैसे जाना। देशकालादि पूर्ण कल्पना। स्वयं वह।।५२।। वैसे जब घट फूटत। आकाश पावे मार्ग उचित। भेटत तब ही गगन को पार्थ। अन्यथा नाही।।५३।। देखो यह ऐसी बात। जो मात्र आकार लोपत। वैसे गगन-गगन में ही पार्थ। घटत्व के भी पूर्व।।५४।। ऐसा जिसको बोध। मार्गामार्ग से न उसको अवरोध। जो स्वयं सोहंसिद्ध। योगी वह।।५५।। इस कारण पंडुसुत। होना तुम योगयुक्त। जिससे सर्वकाल साम्यत्व। होवे सहज।।५६।। तब जब जहां चाहे। देह रहे या जाये। निष्प्रतिबंध ब्रह्मभाव पावे। निरन्तर।।५७।। कल्पादि न उसको जन्म। न कल्पान्त में उसको मरण। स्वर्ग संसारादि मोह से पूर्ण। भ्रमित न होत।।५८।। ऐसा जो योगी संपन्न। वही सत्यबोध पावे अर्जुन। उस बोध को लांघकर जान। लाहे निजरूप।।५९।। देखो इंद्रादिक सुरवर। भोगत जो सुख धनुर्धर। यह सब मानकर निछावर। त्यागत जो।।२६०।।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम।।२८।।

यदि करत वेदाध्ययन। सृजत पुण्य करके यजन। अथवा जोडे करके यजन। सर्वस्व

जो।।६१।। वह पुण्य उद्यान निखिल फलभार। से व्याप्त सकल। किंतु वह परब्रह्म की निर्मल। तुलना न पावे।।६२।। वह निजानंद की तुलना में। भासत लघु उपमा तराजू में। वेदयज्ञादि साधन जिस सुख में। अत्यावश्यक।।६३।। जो न विघटत न नाशत। भोगी की इच्छा तृप्त करत। महासुख का अनुज पार्थ। अलौकिक।।६४।। ऐसा दृष्टिसुख का भास। प्राप्त मरणउपरान्त खास। शतमख भी करके सायास। न पावे जिसको।।६५।। जिसको योगीजन पार्थ। दिव्य दृष्टि से यदि तौलत। कौतुक से अनुमानत। पावत हीन।।६६।। उस सुख की धनुर्धर। आगे पावरी बनाकर। परब्रह्म के पृष्ठ पर। आरूढ़त।।६७।। ऐसे चराचरैक्य भाग्य। जो ब्रह्मेश आराधना योग्य। योगीजन का भोग्य। भोगधन जो।।६८।। जो सकल कला की कला। परमानंद का पुतला। जो साक्षात जीवकला। विश्व जीवन की।।६९।। जो सर्वज्ञता का प्रतीक। यदुकुल का कुलदीपक। कहत श्रीकृष्ण सकौतुक। पांडवप्रति।।२७०।। ऐसा कुरुक्षेत्र का वृतांत। संजय नृप को कहत। वही आगे सुनो बात। कहे ज्ञानदेव।।२७१।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सू ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ब्रह्मानाक्षरनिर्देशो नाम अष्टमोध्यायः।।
(श्लोक २८; ओवियाँ २७१)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।
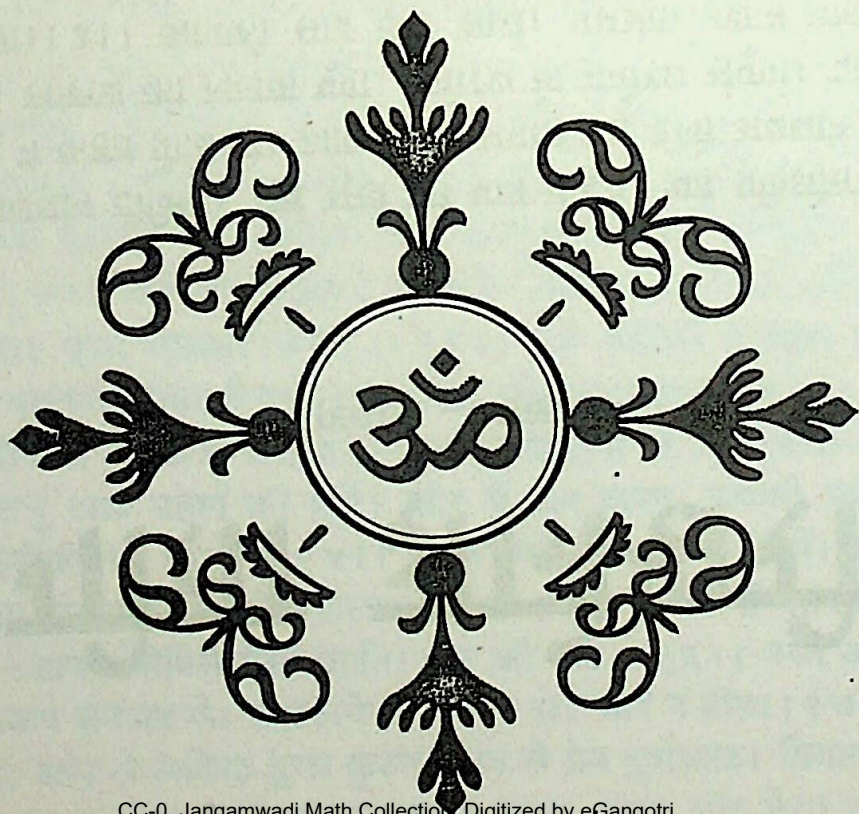
।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – नवाँ

यहां मात्र अवधान दीजिये। सर्व सुख को पात्र होईये। यह प्रतिज्ञोत्तर सुनिये। स्पष्ट मेरा।।१।। किंतु न कहत प्रौढि से। आप सर्वज्ञ समाज से। दीजे अवधान मन से। विनती दुलार की।।२।। लालच की ललक पूर्ण। मनोरथ के मनोरथ संपूर्ण। यदि नैहर श्रीमन्त संपन्न। आप जैसा।।३।। आपकी सार्द्र दृष्टि सार्थ। प्रसन्नता उद्यान पल्लवित। शीतल छाया में पहुड़त। श्रान्त जो मैं।।४।। प्रभु आप सुखामृत के डोह (दह)। वर्धत स्वेच्छा की

चाह। ऐसे में यदि संकोच होय। फिर तृप्ति कैसी?।।५।। बालक के तुतले बोल। वक्र विकृत चाल। कौतुक से माता हर्षिल। रीझत जैसी।।६।। वैसे आपका दुलार। मेरे प्रति अपार। अति स्नेह से संतवर। धृष्टता करत।।७।। क्या मेरे बोलका श्रेष्ठत्व?। सर्वज्ञ भवादृश श्रोता समस्त। क्या पढ़के सरस्वती पुत्र। विद्या पावत?।।८।। कितना ही बड़ा खद्योत। क्या महातेज सामने प्रकाशत?। अमृत की थाल में परोसत। ऐसी रससिद्धि कहां?।।९।। क्या हिमकर को बिंजन। नाद सन्मुख गायन। अलंकार को आभूषण। संभव कभी?।।१०।। परिमल ने किसे सूँघना?। सागर ने किसमें नहाना?। गगन ने जिसमें समा जाना। ऐसा विस्तार कहां?।।११।। वैसे जिससे आपका मन तृप्त। और कहोगे यह उत्तम वक्तृत्व। किसमें ऐसा कुशलत्व। जो रीझत आप।।१२।। विश्व प्रकाशक गभस्ती। क्या दीप से न कीजे आरती?। क्या चुल्लोदक से आपापति–। को अर्ध्य न देत?।।१३।। प्रभु आप महेश की मूर्ति। और में दीन करत आपकी भक्ति। मेरे बोल यदि गंगावती। स्वीकारोगे आप?।।१४।। पुत्र बैठकर बाप के थालि में। बाप को ही लगे खिलाने। तब वह संतोष से सामने। फैलावत मुख।।१५।। वैसे मैं आपके प्रति। विनोद करत बालमति। आप संतोषिजे ऐसी जाति। प्रेम की होत।।१६।। उसी अपनत्व के मोह से। स्वीकृत मैं आप संतजन से। इसलिये मेरे दुलार से। भार न होत।।१७।। देखो, वत्स मुख से झटकत। स्तन से अधिक दुग्ध फूटत। रोष से प्रेम दुणवतट। प्रियतम के।।१८।। अतः मुझ पुत्र का वक्तृत्व। आपका कृपालपन सुप्त। प्रकट होत ऐसा प्रतीत। इसलिये

कहत।।१९।। क्या चंद्रिका पाल में पकवत?। कौन वायु को गति देत?। गगन को गिलाफ पहिनावत। ऐसा समर्थ कोई?।।२०।। सुनो, पानी न अधिक तरल होत। नवनीत में मथानी न चलत। वैसे निवर्तत-व्याख्यान लज्जित। देखकर जिसे।।२१।। जिस ब्रह्म सन्मुख शय्या में। शब्द कुंठित निवान्त सोये। वह गीतार्थ प्राकृत में बोलिये। ऐसा अधिकार कहां?।।२२।। किन्तु ऐसे में भी मुझे भरोसा। आगे एक ही दिखत आशा। ढिठाई करके भवादृशा। प्रीतिपात्र होइजे।।२३।। तब चंद्र से भी शीतलकारक। जो अमृत से भी जीवनदायक। कीजे अवधान से वर्धित अधिक। मनोरथ को मेरे।।२४।। जब आप की कृपादृष्टि वर्षत। सकलार्थ सिद्धि पक्व होत। नहीं तो अंकुरित उन्मेष सुकत। यदि उदास आप।।२५।। आपका सहज अवधान। देत वक्तृत्व को चारा सज्जन। तब पुष्टि पावत अक्षरपूर्ण। प्रमेयों के।।२६।। अर्थ बोल की बाट तकत। अभिप्राय को अभिप्राय सृजत। भावपुष्प बहु विकसित। बुद्धि में सार्थ।।२७।। अतः संवाद सुवायु अनुकूल। हृदयाकाश में सारस्वत घन सजल। यदि श्रोता दुःश्चित्त शुष्क सकल। वक्तृत्व रस।।२८।। अहो चिंतामणि द्रवत। किंतु चंद्र में ही वह सामर्थ्य। अतः वक्ता का वक्तृत्व न व्यक्त। श्रोता बिन।।२९।। मानिये मुझे मधुर ऐसे। भोजक को तण्डुल न प्रार्थत जैसे। क्या कठपुतली विनवत मुख से। सूत्रधार को?।।३०।। क्या वह उनके काज नचावत?। या अपना कौशल दिखावत?। इसलिये न मुझे चिंता किंचित। जो आधीन आपके।।३१।। तब श्रीगुरू कहत ससमाधान। समस्त यह हमको विदित पूर्ण। अब कहो जो किया

निरूपण। नारायण ने।।३२।। इससे संतुष्ट निवृत्तिदास। पावत परम उल्लास। श्रीकृष्ण कहत जो सहर्ष। सुनिये अब।।३३।।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे। ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१।।

वैसे ही ज्ञानबीज यह। कहूं तुमको पुनः राज वह। जो स्थित अंतःकरण में गुह्य। जीव के इस।।३४।। इसविध करके प्रकट। क्यों तुझको कहत स्पष्ट। ऐसा यदि कदाचित। सोचत मन में।।३५।। तब सुनो यह प्राज्ञा। तुम ही आस्था की संज्ञा। कथित बात की अवज्ञा। कदापि न करत।।३६।। यदि उजागर करना गुह्य। कहना ही पड़त गोपनीय। पड़े वह धनंजय। हृदय में तेरे।।३७।। सुनो स्तन में दुग्ध गुप्त। स्तन को न वह प्रिय पार्थ। चाव से सेवत समस्त। अनन्य जो।।३८।। कोठि से बीज निकालिये। तैयार भूमि में बोइये। क्या उसको कहिये। गया व्यर्थ।।३९।। अतः सुमनु एवं शुद्धमति। जो अनिंदकु अनन्यगति। गौप्य उसके ही प्रति। कहिये सहज।।४०।। तब प्रस्तुत ऐसा गुण संपन्न। तेरे सिवा न दिखत अन्य। अतः यह गुह्य तुझसे अर्जुन। छिपाना न योग्य।।४१।। अब बारंबार गुह्य गुप्त। सुनके न होना दुश्चित्त। सब ज्ञान विज्ञानसहित। कहूंगा तुझको।।४२।। जैसा मिश्रित सच्चा झूठ। चलन पृथक करना यदि पार्थ। तब दो ढेर बनाकर सार्थ। परखिये उसको।।४३।। अथवा राजहंस चंचूसे जैसे। पय पानी पृथक करत वैसे। ज्ञान विज्ञान विभाग तैसे। कहूं स्पष्ट।।४४।। जब हवा में उड़ावत। तुस दाना विभक्त होत। नीचे सहज बचत। कणराशी।।४५।। वैसे जो जानने उपरांत। जन्म-मरण संसार नष्ट।

सहज पदपर बिठावत। मोक्षश्री के।।४६।।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्। प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।२।।

जो समस्त ज्ञान का रवि। पावे गुरुत्व की आचार्य पदवी। जो सकल गुह्यों का गोसावी। पवित्रों का राव।।४७।। और धर्म का निजधाम। उत्तमों का उत्तम। पाके जिसको न पुनर्जन्म। धनुर्धर।।४८।। अल्प गुरुमुख से उदित। हृदय में स्वयंभू वसत। प्रत्यक्ष प्राप्त होतं। अपने आप।।४९।। वैसे सुख के सोपान से। चढ़के मिलन होत जिससे। पश्चात सामावस्था सहज से। पावत निश्चित।।५०।। किंतु इस मिलन सीमा पूर्व। चित्त में उपजत सुख अपूर्व। ऐसे सरल सुलभ एव। परब्रह्म जो।।५१।। सुनो, और एक इसका गुण। आकर हाथ में न खोवत जान। अनुभव से न घटत अर्जुन। न बिगड़त कभी।।५२।। यहां यदि तुम तार्किक। अवचित शंका करोगे देख। जो वस्तु यह अमोलिक। उपेक्षित कैसी?।।५३।। जो एकोत्तर ब्याज के लिये पार्थ। जलती आग में भी कूदत। कैसे वे आत्मसुख त्यागत। विद्यमान जो?।।५४।। जो पवित्र एवं रम्य। वैसे ही सुखोपाय से गम्य। स्वसुख परम धर्म्य। स्वयं स्थित।।५५।। ऐसे अनुकूल सर्वतः। तदापि न पावे क्यों जनहाथ। मन में शंका यदि उठत। ऐसे न करना तुम।।५६।।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप। अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।

देखो दुग्ध मधुर एवं पवित्र। त्वचा के अति निकट। किंतु अव्हेर के अशुद्ध सेवत। कीलनी जैसी।।५७।। या कलमकंद एवं दर्दुर। वसति को एक ही घर। परि पराग सेवत

भ्रमर। अन्य को कर्दम।।५८।। जैसे निदैवी के घर में। धन गड़ा सहस्त्र हंडों में। किंतु रहत वह दारिद्र्य में। उपवास करत।।५९।। वैसे हृदय में मैं रामु। वसत सर्व सुख का आरामु। किंतु भ्रांतजन को कामु। विषय वस्तु में।।६०।। वह मृगजल देख के दृष्टि से। थूके मुख का अमृत घूंट जैसे। या तोड़िये पारस बद्ध गले से। शुक्ति लाभार्थ।।६१।। वैसे अहंममता वशीभूत। बेचारे न मुझको पावत। जन्म मृत्यु दो तीर बीच पार्थ। बहत रहत।।६२।। सुनो मैं हूं कैसा। मुख प्रति भानू जैसा। जहां देखे दिखत तैसा। सर्वत्र पार्थ।।६३।।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

मेरे स्वरूप का विस्तार। यह समस्त विश्वाकार। सहज जमत दूध साचार। होत दही।।६४।। या बीज ही होत तरू। अथवा सुवर्ण अलंकारू। वैसा मुझ एक का विस्तारू। विश्व सब यह।।६५।। यह अव्यक्त तब निराकार। व्यक्त होत विश्वाकार। मुझ अमूर्त का मूर्त विस्तार। त्रैलोक्य यह।।६६।। महदादि से देह पर्यंत। यह भूतमात्र समस्त। मेरी सत्ता से प्रतिबिंबित। जैसे जल में फेन।।६७।। किंतु वह फेन में पंडुसुत। जैसे जल न वसत। अथवा स्वप्न का न अनेकत्व। जागृत.को कभी।।६८।। वैसे से भूत मेरे ठांई। बिंबत उनमें मैं नाहीं। यह उपपत्ति तुम्हें पहले ही। कथित पार्थ (अ. ७ ओ. १२)।।६९।। बोल की पुनः अतिशयोक्ति। संयुक्त न यहां किरीटि। अब संचरित करो दृष्टि। स्वरूप में मेरे।।७०।।

न चमत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

मेरा प्रकृति परे भाव पार्थ। यदि कल्पना बिना देखना सार्थ। तब मुझमें भूत यह कथन व्यर्थ। जो मैं ही सब।।७१।। संध्या समय में संकल्प के। क्षणैक अंधुक नेत्र बुद्धि के। इसलिये अखंड परंतु देखे। भूत भिन्न।।७२।। वह संकल्प सांज जब लोपत। तब पावे स्वरूप अखंड़ित। जैसी शंका नष्ट शीघ्र लुप्त। सर्पत्व मालाका।।७३।। वैसे भी भूमि भीतर से स्वयंभ। क्या घट कलश के ऊगत कोंभ (अंकुर)?। वे तो कुलालमति के गर्भ। प्रकटत पार्थ।।७४।। अथवा सागर का पानी। क्या उसमें तरंग की खानी?। क्या वह स्वतंत्र करनी। वायु की न होत?।।७५।। कर्पास पेट में पार्थ। क्या गट्ठा कपड़ों का रहत?। वह तो बुनकर के बुद्धि से होत। वस्त्ररूप।।७६।। यदि अलंकार होत सुवर्ण। सुवर्णत्व न भंगत अर्जुन। स्थूलदृष्टि से वे आभूषण। धारक के भाव से।।७७।। कहो प्रतिध्वनिका प्रत्युत्तर। या दर्पण में आविष्कार। अपनी कल्पना से साचार। न बल से उसके।।७८।। वैसे मेरे यह निर्मल रूप–। पर करत भूतभाव का आरोप। उसमें उसका ही होत संकल्प। भूताभास कारण।।७९।। जहां कल्पक वृत्ति नष्ट। तब भूताभास पहले से ही लुप्त। स्वरूप एक शेष बचत। शुद्ध मेरा।।८०।। यदि चकरावत सिर। सभोवार दिखत गिरिकंदर। वैसा संकल्प से ब्रह्मपर। भूताभास।।८१।। कल्पना छोड़कर पार्थ। मैं भूत में या मुझमें भूत। स्वप्न में भी नहीं उचित। समझने योग्य।।८२।। मैं ही इन भूतों का धर्ता। भूतों में स्वयं वासकर्ता। यह संकल्प सन्निपात की वार्ता। भासत मुझे।।८३।।

इसलिये सुनो हे प्रियोत्तम। इसविध विश्व का मैं विश्वात्म। जो इस असत्य भूतग्राम--। को भाव्य सदा।।८४।। रश्मि के ही आधार से। झूठे मृगजल का आभास जैसे। मेरे ठांई भूतजात तैसे। और उनमें मैं।।८५।। इसविध मैं भूतभावनु। किंतु सर्वभूतों से अभिन्नु। जैसी प्रभा एवं भानु। एक ही दोनों।।८६।। यह मेरा ऐश्वर्य योग। तुमने देखा सुरंग। अब कहो उसमें कुछ लाग। भूतभेद का?।।८७।। अतः मुझसे यह भूतमात्र। भिन्न नाही यह सत्य। और मैं भी भूतों से विभक्त। न मानो तुम।।८८।।

यथा काशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्। तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

यह गगन जितना जैसा। पवन भी गगन मैं तैसा। सहज कंपित दिखत भिन्न सा। अन्यथा गगन ही वह।।८९।। भूतमात्र मेरे ठाँई। कल्पना यह आभास सब ही। निर्विकल्प से वहां कुछ भी नहीं। मैं ही मैं पूर्ण।।९०।। भूत का अस्तित्व जैसे। कल्पना के संबंध से। भ्रंशत कल्पना लोपसे। सृजत कल्पना से ही।।९१।। वह कल्पक मुद्दल नष्ट। तब सब भेद लुप्त। अतः देख आगे पार्थ। ऐश्वर्य योग यह।।९२।। ऐसे प्रतीति बोध के सागर में। अपने को एक कल्लोल रूप में। यदि देखें तब चराचर में। तू ही तू वसत।।९३।। इस ज्ञान का प्रत्यय। तुझको प्राप्त धनंजय। तब द्वैत स्वप्न वृथा होय। मन से तेरे।।९४।। फिर आगे कभी कदाचित। बुद्धि को कल्पना निद्रा प्राप्त। तब अभेद भेद लोपत। स्वप्न में तेरे।।९५।। अतः करो यह निद्रामार्ग नष्ट। शुद्ध उद्बोध रूप स्वयं पार्थ। यह मर्म जो पूर्ण सांप्रत। दिखाऊं तुझको।।९६।। तब है धैर्यधर। श्रवण करो हे धनुर्धर। सर्वभूत उत्पत्ति

कर। यही माया।।९७।।

सर्वभूतानि कौंतेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

जिसका नाम प्रकृति। जो द्विविधा कही तेरे प्रति। एक अष्टधा भेद व्यक्ति। दूजी जीवरूपा।।९८।। यह प्रकृति विषय पूर्ण। तुमने किया जो श्रवण। इसलिये कहत पुनः पुनः। अकारण वह।।९९।। तव यह मेरी प्रकृति। महाकल्प के अंती। सर्वभूत अव्यक्ति। एकत्रित।।१००।। ग्रीष्म के अतिउष्मा से। सबीज तृण जैसे। भूमिगर्भ में अपने से। सुलीन होत।।१०१।। जब वर्षाकाल अभ्र फूटत। शारदिया का अंकुर प्रकट। घनजात सब लोपत। गगन के गगन में।।२।। आकाश अवकाश में पार्थ। वायु निवांत लोपत। अथवा तरंग मीनत। जल में जैसे।।३।। या जागृत अवस्था में। स्वप्न लोपत मन के मन में। वैसे मीनत प्राकृत प्रकृति में। कल्पक्षय में।।४।। तब कल्पादि में किरीटि। मैं ही सृजत ऐसी वदंती। इस विषय की उपपत्ति। सुनो सत्य।।५।।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः। भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

यही स्वकीय प्रकृति पार्थ। जब मैं सहज अधिष्ठित। जैसे तंतुसमुदाय समस्त। वसत वस्त्र में।।६।। वह तानाबानाधार से। वस्त्र बनत लघु चौकट से। वैसे पंचात्मक आकार से। प्रकृति होत।।७।। जैसे दही के संगत से। दुग्ध घनरूप होत वैसे। साकारत प्रकृति संग से। सृष्टिरूप।।८।। बीज जल की निकटता पावे। तब वही शाखोपशाख होवे। वैसे मुझसे ही विस्तार रहे। भूतमात्र का।।९।। राजा नगरी वसावत। यह कथन सत्य पार्थ।

किंतु क्या सच में श्रमत। राजा के हाथ?।।११०।। मैं कैसे प्रकृति में अधिष्ठित। जैसे स्वप्न में जो भासत। आगे स्वयं ही प्रवेशत। जागृतावस्था में।।११।। जब स्वप्न से पावे जागृति। क्या पांव दुखत किरीटि?। अथवा क्या सही स्वप्नसृष्टि। में प्रवास होत?।।१२।। समस्त ग्रह अभिप्राय अर्जुन। भूत सृष्टि का कार्यकरण। मुझे न कोई यत्न प्रयत्न। ऐसा मथितार्थ।।१३।। राजा अधिष्ठित प्रजा जैसी। व्यवहारत अपने काज वैसी। प्रकृति संगत मेरी तैसी। सब करनी इसकी।।१४।। पूर्ण चंद्र की भेंट से अपार। समुद्र में उत्पन्न ज्वार। वहां चंद्र को क्या धनुर्धर। श्रम होत?।।१५।। जड़ परन्तु निकट। लोह चुंबक के पास जात। वहां भ्रामक को क्या कष्ट। सन्निध लाने का?।।१६।। किम्बहुना धनुर्धर। मैं प्रकृति का करूं अंगीकार। जो और भूतसृष्टि बहुसर। प्रसवत जात।।१७।। जो यह भूतग्राम पूर्ण। रहे प्रकृति के आधीन। जैसे बीज का पल्लवांकुरण। भूमिसंग से।।१८।। बाल्यादि अवस्था को जैसे। गोसावी देहसंग वैसे। उत्पत्ति नभ में वर्षाकाल से। घनावली को।।१९।। या स्वप्न को कारण निद्रा। वैसी प्रकृति हे नरेंद्रा। इस अशेष भूतसमुद्रा। गोसाविनी जानो।।१२०।। स्थावर एवं जंगम को। स्थूल अथवा सूक्ष्म को। जानो सर्व भूतग्राम को। प्रकृति ही मूल।।२१।। अथवा भिन्न भूतों का सृजन। अखिल सृष्टि का प्रतिपालन। सब यह कार्यकारण। भाव नहीं मुझको।।२२।। जल में चंद्रिका वल्ली सी प्रसारित। यह विस्तार क्या चंद्र करत?। वैसे यद्यपि कर्म मुझसे सृष्ट। रहत मुझसे दूर।।२३।।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय। उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

बहत सिंधुजल का ओघ। रोक न सकत सैंधव का बांध। अंत में सब कर्म मुझसे संबद्ध। उनका मुझे बंधन कैसा?।।२४।। धुम्ररज का पिंजड़ा पार्थ। बहते वायु को यदि रोकत। या सूर्यबिंब में प्रवेशत। घनतिमिर।।२५।। अथवा पर्वत का हृदय। पर्जन्यधारा से क्षत न होय। वैसे प्रकृति कर्म कोई समय। न बाधत मुझे।।२६।। यह प्रकृति विकार अर्जुन। एक मैं ही इसको कारण। किंतु रहत उदासीन पूर्ण। न करत ना करावत।।२७।। जैसा दीप गृह में स्थित। किसी को न नियमत ना निवारत। और कौन कैसा वर्तत। न जाने कुछ।।२८।। जैसा यह साक्षीभूत। गृहव्यापार प्रकृति हेत। भूतकर्म में मैं अनासक्त। भूत में वसत।।२९।। यह सत्य एक ही अभिप्राय। पुनः-पुनः-- कहूं कितने पर्याय। एक बार यहां धनंजय। इतना जानो।।१३०।।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।१०।।

जैसी लोकचेष्टा को समस्त। सविता ही एक निमित्त मात्र। वैसे जगत्प्रभव को पंडुसुत। मैं ही हेतु।।३१।। मेरे अधिष्ठित प्रकृति। होत चराचर की संभूति। अन्त में मैं हेतु यह उपपत्ति। भासत जगको।।३२।। इस ज्ञान प्रकाश से अर्जुन। देखो ऐश्वर्य योग विलक्षण। जो मेरे में भूतजात संपूर्ण। किंतु न उनमें मैं।।३३/३४।। यह सर्वस्व मेरा गूढ़। किंतु दिखाया तुझको उघाड़। अब इंद्रियों को देकर किवाड़। भोगिये हृदय में।।३५।। यह मर्म जब तक न ज्ञात। मेरा सत्य स्वरूप पार्थ। न सर्वथा तब तक अवगत। जैसे तुष में

कण।।३६।। वैसे अनुमान तर्क से। भासत सब ज्ञात जैसे। किंतु क्या मृगजल की आर्द्रता से। भीगत भूमि?।।३७।। जल में जाल बिछावत। जहां चंद्रबिंब दिखत स्पष्ट। तीर पर निकालकर झटकत। तब बिंब कहां?।।३८।। वैसे बोल से वाचाबल के। फसावत नयन प्रतीति के। किंतु समय सत्यबोध परीक्षा के। भासत व्यर्थ।।३९।।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

इस संसारभय से पार्थ। मत्प्राप्त्यर्थ यदि इच्छा करत। तब मर्म यह सार्थ। कीजे जतन।।१४०।। पीलिया से जब दृष्टि दूषित। चंद्रिका को पीली कहत। मेरे निर्मल स्वरूप में देखत। दोष वे।।४१।। ज्वर से स्वाद रहित मुख। दूध को कहत कटु बिख। वैसे अमानुख को मानुख। मानत मुझको।।४२।। अतः पुनः-पुनः हे कौंतेय। न भूलना यह अभिप्राय। स्थूल दृष्टि से यत्न सर्व। होगा व्यर्थ।।४३।। जो स्थूल दृष्टि से देखत। वे मुझे कतई न जानत। जैसे कोई अमर न होत। स्वप्न के अमृत से।।४४/४५।। जैसा नक्षत्र का आभास। राजहंस का करत विनाश। उसमें रत्नबुद्धिकी आस। रखी जिसने।।४६।। गंगा जानकर मृगजल। पास जाने से क्या फल?। क्या सुरतरु बुद्धि से बबूल। फलद पार्थ?।।४७।। नीलमणि का दोलड़ी हार। समझ के पकड़त विषधर। या रत्न समझकर पत्थर। चुनत जैसे।।४८।। जानकर निधान यह प्रकट। खदिरांगार वस्त्र में भरत। या बिंब जान के कूदत। कुए में सिंह।।४९।। वैसे मैं साकार प्रपंच में। ऐसा कृत निश्चय मन में। वे चंद्र भास से जल में। पकड़त प्रतिबिंब।।१५०।। वैसा कृतनिश्चय व्यर्थ होत। जो कोई

कांजी सेवत। और परिणाम अपेक्षत। अमृत का पार्थ!।।५१।। यह नाशवंत स्थूलाकार से। भरोसा करत चित्त से। मुझ अविनाश को देखत कैसे?। असंभव यह!।।५२।। क्या पश्चिम समुद्र का तट। पावत क्रम के पूर्व दिशा की बाट?। क्या कभी कूटके तुष को सुभट। कण प्राप्त?।।५३।। वैसा विस्तरित यह स्थूल। जान के समझत मुझको अखिल। क्या फेन सेवन से जल--। पान तृप्ति होत?।।५४।। अतः यह मोहित मनोधर्म। सत्य समझत संभ्रम। यहां के समस्त जन्मकर्म। मानत मुझको।।५५।। इसविध अनाम को नाम। मुझ अक्रिय को कर्म। विदेह को देहधर्म। आरोपत।।५६।। मुझ निराकार को आकार। निरुपाधिक को उपचार। विधि वर्जित को व्यवहार। आचारादिक।।५७।। मुझ वर्णविहीन को वर्ण। गुणातीत को गुण। मुझ अचरण को चरण। अपाणि को पाणि।।५८।। मुझ अमेय को मान। सर्वगत को स्थान। जैसे स्वप्न में बन। निद्रित देखे।।५९।। वैसे मुझ अश्रवण को श्रोत्र। अचक्षु को नेत्र। अगोत्र को गोत्र। अरूप को रूप।।१६०।। मुझ अव्यक्त को व्यक्ति। अनार्ति को आर्ति। स्वयंतृप्त को तृप्ति। कल्पत जात।।६१।। मुझ अनावरण को प्रावरण। भूषणातीत को भूषण। मुझ सबकारण को कारण। समझत वे।।६२।। मुझ सहज की मूर्तिकरत। स्वयंभू मुझको प्रतिष्ठत। निरंतर को आव्हानत। विसर्जत पार्थ।।६३।। मैं सर्वदा स्वतः सिद्ध। उसको बाल तरुण वृद्ध। मुझ एकरूप को संबंध। जानत ऐसे।।६४।। मुझ अद्वैत को द्वैत। अकर्ता को कर्तृत्व। अभोक्ता को भोक्तृत्व। कहत जात।।६५।। मुझ अकुल का कुल बरनत। मुझ नित्य के निधन से

दुःखित। मुझ सर्वान्तर को कल्पत। अरिमित्र।।६६।। मैं स्वानन्दाभिरामु। मुझ बहु सुखों का कामु। सर्वगत मैं समु। कहत एकदेशी।।६७।। चराचर में मैं आत्मा एक। कहत मैं करत कैपक्ष। एकको माया एकको रोष। पंडुकुंवर।।६८।। किंबहुना यह समस्त। मानुष धर्म प्राकृत। वह सब मुझमें पार्थ। विपरीत भाव ऐसा।।६९।। मूर्ति आकार देखत। देवभाव से भजत। खंडित यदि त्यजत समझत। देवत्व भंग।।१७०।। मुझको इसी प्रकार। जानत मनुजाकार। अतः यह ज्ञानही धनुर्धर। अज्ञानकारक।।७१।।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः। राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनी श्रिताः।।१२।।

उनका जीवन मोघ। जैसे वर्षा बिन मेघ। या मृगजल के तरंग। दूर से ही सत्य।।७२।। अथवा मिट्टी के असवार। किंवा जादूगर के अलंकार। या अभ्र का गंधर्व नगर। आकाश में पार्थ।।७३।। साबरी बढ़त अर्जुन। भीतर पोली ऊपर फलबिन। जैसे व्यर्थ होत स्तन। अजागल के।।७४।। वैसा धिग् उन मूर्खों का जीवन। धिग् उनके कर्म जान। जैसे साबरी का फल निर्माण। असंभव।।७५।। जो कुछ वे पढ़त। जैसे श्रीफल मर्कट फोड़त। या अंध के हाथ प्राप्त। मोती जैसा।।७६।। किंबहुना उनका शास्त्र। शिशुकर में जैसा अस्त्र। या अशुचिर्भूत को मंत्र। बीज कथन।।७७।। अतः अशेष ज्ञान जात। और आचरण समस्त। सब कुछ होत व्यर्थ। चित्तहीन का।।७८।। तमोगुण की राक्षसी पार्थ। सद्‌बुद्धि को करत नष्ट। विवेक का ठांव मिटावत। निशाचरी।।७९।। उस प्रकृति से ग्रस्त। अतः सर्वदा चिंताक्रांत। मुख गुफा में प्रवेशत। तामसी के।।१८०।। जहां आशा की लार में। हिंसा

जिव्हा स्नात उसमें। असंतोष मांसखंड मुख में। मुरावत अखंड।।८१।। जो अनर्थ कर्णपर्यंत। ओष्ठ चबाके बाहर निकलत। जो प्रमादपर्वत की खाई विस्तृत। सदोदित।।८२।। जहां द्वेषकराल दंष्ट्र। ज्ञान का रगड़ा करत पार्थ। जो अगस्ति आच्छादत। स्थूलबुद्धि मूढकी।।८३।। ऐसे आसुरी के मुख में। भूतबली जात उसमें। वे डूबत कुंड में। व्यामोह के।।८४।। तमोगर्त में गिरत। विवेक हस्त सहाय्य न पावत। बहकर वे कहां पहुंचत। पता न कुछ भी।।८५।। अतः रहने दो यह वर्णन। न करो मूर्ख का गुणगान। वृथा न करना क्षीण। वाणी को अपने।।८६।। ऐसे बोलत देव। जी हां कहत पांडव। सुनो वाणी को सुख अपूर्व। साधुकथा ऐसी।।८७।।

महातमानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्य मनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

जिनके शुद्ध मन में पार्थ। रहूं मैं क्षेत्र संन्यासी अखंडित। निद्रा में भी जिनको उपासत। वैराग्य पूर्ण।।८८।। जिनके आस्था के सद्भाव–। में धर्म करत राणीव (राज्य)। जिनका मन सार्द्र, पांडव। विवेक से।।८९।। जो ज्ञानगंगा में स्नात। पूर्णता सेवन से तृप्त। उनका शरीर पल्लवित। शांति पर्ण से नये।।१९०।। जो ब्रह्मपरिणाम का कोंभ। जो धैर्य मंडप का स्तंभ। जो आनंद समुद्र में कुंभ। ओतप्रोत।।९१।। जिनको ऐसी भक्ति की प्राप्ति। कैवल्य को दूर लोटत किरीटि। जिनकी सहज लीला में नीति। सजीव भासत।।९२।। जिनके अवयव पूर्ण। शांति आभूषण करत धारण। जिनके चित्त की खोल अर्जुन। मुझ सर्वव्यापक को।।९३।। ऐसे जो महानुभाव। दैवी प्रकृति का दैव। जो

जानकर सर्व। स्वरूप मेरा।।९४।। तब वृद्धिंगत प्रेम। मुझको भजत सप्रेम। किंतु द्वैत मनोधर्म। स्पर्शत न किंचित्।।९५।। ऐसे मद्रूप होकर अर्जुन। करत मेरी सेवा पूर्ण। वह नवल कथा जान। सुनो अब।।९६।।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः। नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

कीर्तनरंग के नटन से। नष्ट सब प्रायश्चित जैसे। जहां पाप नामशेषसे। हुए सहज।।९७।। यम दम को अवमानत। तीर्थ सब ही होत व्यर्थ। यमलोक का बंद होत। व्यवहार पूर्ण।।९८।। यमु कहे क्या यमिजे।दमु कहे किसको दमिजे। तीर्थ कहत क्या भक्षिजे। दोष औषध को नहीं।।९९।। ऐसा मेरा नामघोष। नाशत सब विश्वदुःख। अशेष विश्व में महासुख! घूमत पूर्ण।।२००।। वे बिन उषा प्रकाशवत। बिन अमृत जीवन देत। योग बिन दर्शवत। कैवल्य चक्षुको।।१।। रावरंक मानत समान। सान श्रेष्ठ सम अर्जुन। आनंदका धाम पूर्ण। जगत को होत।।२।। कोई क्वचित वैकुंठ पावत। वे वैकुंठ करत जग समस्त। ऐसे नाम गौरव से पार्थ। धवलत विश्व।।३।। तेज उनका सूर्य समान। किंतु अस्त उसका दूषण। एक कला में चंद्र पूर्ण। ये सदा पूर्ण।।४।। मेघ उदार किंतु रीतत। अतः उपमा न सार्थ। ये निःशंक पंखयुक्त। पंचानन।।५।। जिनके वाचा सन्मुख। मन्नाम नाचत सकौतुक। जन्म सहस्त्र सेवा से आगे एक–। बार मुख में।।६।। न मैं वैकुंठ में वसत। एक बार न भानुबिंब में दिखत। योगियों के भी उल्लंघत। मानस पार्थ।।७।। किंतु उनके पास। खोया मैं पाऊं खास। जहां चलत नामघोष। मन्नाम का।।८।। कैसे मेरे गुण से तृप्त। जो

देशकाल विस्मरत। कीर्तन से सुख पावत। अपने ही में।।९।। कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविंद। ये नामके प्रबंध शुद्ध। और आत्मचर्चा विशद। अखंड गावत।।२१०।। इसविध बहु प्रकार। करत गुणगान साचार। विचरत कित्येक चराचर–। मध्ये पार्थ।।११।। कई और अर्जुन। करत इंद्रियदमन। जीतकर पंच प्राण मन। जय पत्र लेत।।१२।। बाहर यम नियम का कुंपण (बाड़ी)। अंदर वज्रासन का कोट अर्जुन। ऊपर प्राणनियमन की संगीन। डागत तोप।।१३।। तब ऊर्ध्वमुख शक्ति। मन पवन की होत युति। सतरावियाका ताल किरीटि। स्वाधीन करत।।१४।। वहां प्रत्याहार बल देत। विकार परिवार नष्ट समस्त। इंद्रियों को बांधकर लावत। हृदयान्तर में।।१५।। तब धारणा अश्व आक्रमत। महाभूतों का ऐक्य करत। चतुरंग सेना नाशत। संकल्प की।।१६।। तब जैत रे जैत। ध्यान का डंका बाजत। तन्मयता का झलकत। एकछत्र।।१७।। पश्चात समाधिश्री का अशेख। आत्मानुभव राज्यसुख। पट्टाभिषेक देख। समरस से होत।।१८।। ऐसा यह गहन। करत मेरा भजन। अब सुनो अर्जुन! जो अन्य। भजत मुझको।।१९।। तब संपूर्ण विस्तार में। जैसा तंतु एक वस्त्र में। वैसा बिन मेरे चराचर में। दूजा न जानत।।२२०।। आदिब्रह्मा से देख। अंत में मशक तक। मेरा ही स्वरूप एक। जानत पार्थ।।२१।। तब सान (लघु) श्रेष्ठ ना कहत। सजीव निर्जीव न मानत। जो देखत उसको पूजत। मद्रूप भाव से।।२२।। न स्मरत अपना उत्तमत्व। न देखत योग्यायोग्यत्व। एकसर मानत व्यक्तिमात्र। वंदनीय।।२३।। पर्वत से उदक गिरत। सीधे तल में पहुंचत। वैसे समस्त भूतजात को नमत। ऐसा स्वभाव

उनका।।२४।। या फलभार से तरुशाखा। सहज भूमितक झुकत पार्था। वैसे जीवमात्र प्रति अशेखा। नम्र होत।।२५।। अखंड अगर्वता प्राप्ति। विनय ही उनकी संपत्ति। जयजय मंत्र से सब किरीटि। समर्पत मुझको।।२६।। नमन से मानापमान नष्ट। अवचित मद्रूप होत। ऐसे निरंतर मीनत। उपासत मुझको।।२७।। अर्जुन! यह गुरुवी भक्ति। कह दी मैंने तुझप्रती। अब ज्ञानयज्ञ से करत उपास्ति। वे सुनो भक्त।।२८।। उनके भजन की पद्धति। तुम जानत किरीटि। जो पहले ही वह गोष्टी। कही तुझको।।२९।। तब हां जी कहत अर्जुन। यह दैवीप्रसाद पूर्ण। किंतु क्या अमृत का सेवन। अधिक होत?।।२३०।। इस बोल से श्री अनंत। जानत अर्जुन की इच्छा उत्कट। सुख पावत उनका चित्त। डोलन लागत।।३१।। कहत अच्छा किया पार्था। वैसे यह अनवसर सर्वथा। किंतु कहलावत आस्था। तेरी मुझको।।३२।। तब अर्जुन बोलत। क्या चकोर कोही चंद्रिका उपयुक्त?। जगत को भी वह शमवत। यह स्वभाव उसका।।३३।। चकोर काज से अपने। चंचु करत चंद्र के सामने। वैसे प्रार्थत हम हेतु से अपने। कृपासिंधु आप।।३४।। मेघ कितना महान। जगकी आर्ति करे निवारण। तुलना में चातक की तृषा कृष्ण। अति अल्प।।३५।। अंजुलीभर जल के प्रीत्यर्थ। गंगा पास ही जाना पड़त। वैसे उत्कंठा कम या बहुत। कहिये कृष्ण।।३६।। तब देव कहत अर्जुन। मेरा मन अति प्रसन्न। अब कोई न और प्रयोजन। स्तुतिका यहां।।३७।। तुम सुनत होकर दक्ष। वही वक्तृत्व को उत्साहवर्धक। कहत यदुकुलतिलक। सम्मान से।।३८।।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ते यजन्तो मामुपासते। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

सुनो ज्ञानयज्ञका रूप। जहां आदिसंकल्प यूप। महाभूतों का मंडप। द्वैत पशू।।३९।। पांचों के विशेष गुण। अथवा इंद्रियां और प्राण। यही यज्ञोपचार भरण। अज्ञान घृत।।४०।। कुंड दो बुद्धि एवं मन। ज्ञानाग्नि प्रदीप्त पूर्ण। साम्य दृढ़ अर्जुन। वेदिका जानो।।४१।। सविवेकमति पाटव। वही मंत्रविद्यागौरव। शांति स्रुक स्रुव। जीव यज्वा।।४२।। वह प्रतीति पात्र से। विवेक महामंत्र से। ज्ञानाग्नि होत्र से। नाशत भेद।।४३।। वह अज्ञान पूर्ण नाशत। याज्ञिक यजन भेद समाप्त। आत्म समरस से नहात। अवभृथ में जब।।४४।। तबभूत, विषय, इंद्रियां जान। सब अभेद नाहीं भिन्न। अशेष एक रूप माने अर्जुन। आत्मबुद्धि।।४५।। जैसे जब होवे जागृत। कहत स्वप्न की सेना विचित्र। मैं ही हुआ सार्थ। निद्रावश।।४६।। अब न सेना कोई। सब कुछ एक मैं ही। ऐसा स्थिर एकत्व भावही। विश्वात्मक।।४७।। तब वह जीव यह भाषा नष्ट। आब्रह्म परमात्म बोध पार्थ। ऐसा ज्ञानाध्वर से भजत। ऐक्यभाव से।।४८।। अथवा अनादि यह अनेक। भिन्न किंतु एकसम एक। और नामरूपादिक। वह भी विषम।।४९।। अतः विश्व भिन्न। किंतु न भिन्न उनका ज्ञान। जैसे अवयव सब भिन्न-भिन्न। परन्तु एक देह के।।५०।। या शाखा सान थोर। परंतु एक तरुवर। बहु रश्मि किंतु दिनकर। एक ही जैसे।।५१।। वैसे नानाविध व्यक्ति। भिन्न नाम भिन्न वृत्ति। भिन्न भूतों में मुझे किरीटि। जानत अभिन्न।।५२/५३।। जब जहां वस्तु कोई। देखत जो-जो सबही। मेरे बिन अन्य नाहीं। ऐसा ही बोध।।५४।।

देखो तरंग जहां जात। वहां जल ही एक पार्थ। रहत या विरत। जल में ही।।५५।। या पवन परमाणु उठावत। पृथ्वी भाव न नष्ट होत। पुनः जब गिरत पहुंचत। पृथ्वीपर ही।।५६।। मनको जहां जैसा भाये। वैसे अनुकूल होवे ना होवे। परंतु सब कुछ मैं ऐसे वे। होकर रहत।।५७।। मेरी जितनी व्याप्ति। उतनी उनकी प्रतीति। बहुधाकार से वर्तत किरीटि। ऐक्य भाव से।।५८।। भानुबिंब हर एक को जैसे। सन्मुख भासत वैसे। आपने की व्यापकत्व से। विश्व को पार्थ।।५९।। उनका ऐसा ज्ञान। अंतर्बाह्य अभिन्न। वायु जैसा गगन में अर्जुन। सर्वांग में वसत।।६०।। मैं जितना संपूर्ण। उनके सद्भाव का वही प्रमाण। अतः न करते हुए भजन। प्राप्त मैं उनको।।६१।। वैसे मैं ही एक सर्वत्र। कौन न मुझे उपासत?। यहां एक अज्ञान मात्र। अप्राप्त को।।६२।। इसविध जो उचित। ज्ञानयज्ञ से यजत। मुझको उपासत। कथित तुझको।।६३।। सर्वकाल जो कर्म होत। मुझको ही सहज सब पावत। किंतु मूर्ख मर्म न जानत। अतः न पावत मुझको।।६४।।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्। मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।

यह ज्ञान जब उदित। मुद्दल वेद मैं ही पार्थ। और विधान जो प्रतिपादत। क्रतु भी मैं ही।।६५।। उन कर्म से उत्पन्न। यथासांग विधिविधान। प्रकट जो यज्ञ से अर्जुन। वह भी मैं ही।।६६।। स्वाहा मैं, स्वधा। सोमादि औषधि विविधा। आज्य मैं, समिधा। मंत्र और हवि मैं।।६७।। होता मैं जिसमें होत हवन। यह अग्नि मेरा स्वरूप अर्जुन। और हुतक वस्तु संपूर्ण। मैं ही सब।।६८।।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः। वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च।।१७।।

देखो जिसका अंगसंग। प्रसवत प्रकृति अष्टांग। यह समस्त जग। वह पिता मैं।।६९।। अर्धनारी नटेश्वरी। जो पुरुष वही नारी। वैसा मैं चराचरी। माता भी जानो।।७०।। ब्रह्मसृष्टि की किरीटि। उपपत्ति और स्थिति। मुझसे ही होत निश्चिति। अन्य से नाही।।७१।। ये प्रकृति पुरुष दोनों। उपजत अमनमन में जानो। वह पितामह त्रिभुवन में मानो। विश्व का मैं।।७२।। और ज्ञानमार्ग संपूर्ण। जहां एकवटत अर्जुन। वह चारों वेद सम्मिलित जान। वेद्य कहत।।७३।। जहां नाना मतैक्य होत। शास्त्र परस्पर सहमत। भ्रमित ज्ञान पावे रूप सत्य। ऐसा पवित्र जो।।७४।। ब्रह्मबीजका जो अंकुर। घोषध्वनि– नादाकार। जिसका भुवन जो ॐकार। मैं ही वह।।७५।। जिस ॐकार कोख से। अक्षर प्रकट अउम ऐसे। सृजत तीन वेद जैसे। त्वरित पार्थ।।७६।। अतः ऋग्यजुः सामु। ये तीनों मैं आत्मारामु। एवं मैं ही कुलक्रमु। शब्द ब्रह्म का।।७७।।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।१८।।

यह चराचर संपूर्ण पार्थ। जिस प्रकृति में समाहित। श्रान्त जब विश्रमत। वह परमगति मैं।।७८।। और जिससे यह प्रकृति स्थित। जिस संग से विश्व प्रसवत। जो प्रकृति आधीन भोगत। गुणत्रय।।७९।। वह विश्वश्री का भर्ता। मैं ही यहां पार्था। मैं गोसावी सर्वथा। त्रिभुवन का।।८०।। आकाश सर्वत्र व्याप्त। वायु क्षणैक स्तब्ध न रहत। पावक सदा दाहत। वर्षत जल।।८१।। पर्वत बैठक न छोडत। समुद्र सीमा न उल्लंघत। पृथ्वी भूतभार

वहत। यह आज्ञा मेरी।।८२।। मुझसे वेद बोलत। मुझसे सूर्य चलत। मुझसे प्राण हिलत। जीवमात्र का।।८३।। मुझसे ही यमित। काल भूतको ग्रासत। आज्ञा धारण करत। सकल जिसकी।।८४।। जो ऐसा समर्थ। वही मैं जग का नाथ। गगन जैसा साक्षी भूत। मैं ही वह।।८५।। नामरूप से सर्वत्र। जो सबमें संपृक्त। नाम रूप का आर्द्रत्व। स्वतः जो।।८६।। जैसा जल का कल्लोल। और कल्लोल में जल। वैसे मैं जग में सकल। जग का निवास मैं।।८७।। जो मुझे अनन्य शरण। उनका निवारूं मैं जन्ममरण। अतः शरणागत को शरण्य। मैं ही एक।।८८।। मैं ही एक अनेकत्व में। भिन्न-भिन्न प्रकृति गुण में। जगत के प्राणिमात्र में। वर्तत सदा।।८९।। जैसे समुद्र सरस न गणत। कहीं भी सविता बिंबत। वैसे ब्रह्मादि सर्व भूतों में पार्थ। सुहृद मैं।।२९०।। मैं ही सुनो अर्जुन। इस त्रिभुवन का जीवन। सृष्टि क्षय प्रभव कारण। मूल वह मैं।।९१।। बीज शाखा प्रसवत। वृक्ष बीज में समावत। वैसे संकल्प से सृष्टि होत। अंत में संकल्प में लय।।९२।। ऐसे जगद्बीज का संकल्प। अव्यक्त वासना रूप। उसका कल्पान्त में जहां निक्षेप। वह स्थान मैं।।९३।। जब नाम रूप लोपत। वर्ण व्यक्ति नष्ट होत। जाति भेद न शेष बचत। निराकार मैं।।९४।। तब संकल्प वासना संस्कार। पुनरपि रचत चराचर। जहां वसत अमर। वह निधान मैं।।९५।।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च। अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१९।।

मैं सूर्यरूप से तपत। तब यह शुष्क सर्वत्र। पश्चात इंद्ररूप से वर्षत। पुनरपि भरत।।९६।।

अग्नि काष्ठ भक्षत। वह काष्ठ ही अग्नि रूप होत। वैसे मरने मारने वाला पार्थ। स्वरूप मेरा।।९७।। जो-जो मरणशील। मेरा ही रूप निखिल। जो न कदा मरणशील। वह स्वयं मैं।।९८।। और क्या कहिये। एक बार सब सुनिये। सत् असत् दोनों जानिये। मैं ही एक।।९९।। अतः अर्जुन मैं नाहीं। ऐसा ठांव न कोई। किंतु कैसा प्राणियों का दैव ही। जो न देखत मुझको।।३००।। तरंग जल बिन सुखत!। या रश्मि बिन दीप न दिखत!। वैसे सब मैं न मुझे जानत। विस्मय देखो!।।१।। यह अंतर्बाह्य मुझसे व्याप्त। मद्रूप सब जगत पार्थ। किंतु कैसे कर्म बिकट। जो मैं नाही कहत।।२।। अमृत कूप में गिरत। निकास का यत्न करत। क्या कहना ऐसे व्यर्थ। अभागी को।।३।। एक ग्रास के प्रीत्यर्थ। अंध धावत पार्थ। प्राप्त चिंतामणि लोटत। पांव से अपने।।४।। वैसे ज्ञान का करत अव्हेर। उसकी यही दशा साचार। अतः विफल किया कर्म धनुर्धर। ज्ञान के बिन।।५।। अंधे गरुड़ के पंख। क्या उसका उपयोग पार्थ?। वैसे सत्कर्म सब व्यर्थ। ज्ञान बिन।।६।।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिविदेवभोगान्।।२०।।

देखो यह किरीटि। आश्रमधर्म की रीति। विविध मार्ग की कसौटी। जो स्वयं होत।।७।। सकौतुक यजन करत। तीनों वेदों का माथा डुलत। क्रिया प्रत्यक्ष फलीभूत। सन्मुख जिसके।।८।। ऐसे जो दीक्षित सोमप। जो स्वयं यज्ञरूप। पुण्य के नाम से पाप। अर्जित करत।।९।। जो श्रुतित्रय को जानत। शत यज्ञ करत। मत्प्राप्ति त्यागत। वांछत स्वर्ग।।३१०।।

बैठकर कल्पतरुतल में। लगावत गांठ झोली में। मांगत जैसे राह में। भिक्षा सब से।।११।। तैसे यजत शतमख। और कांक्षत स्वर्गसुख। कहो यह पुण्य अशेख। क्या पाप नाही?।।१२।। अतः बिन मुझे पाना स्वर्ग। वह तो अज्ञान का पुण्य मार्ग। ज्ञानी जन इसको उपसर्ग। हानि कहत।।१३।। देखे यदि नरक का दुःख। स्वर्ग प्राप्ति को कहिये सुख। किंतु नित्यानंद ही निर्दोख। स्वरूप मेरा।।१४।। मेरे प्राप्त्यर्थ हे सुभग!। ये द्विविध ही कुमार्ग। स्वर्ग नरक दोनों मार्ग। चोरों के लिये।।१५।। स्वर्ग पुण्यात्मक पापसे। नरक तो पापात्मक पापसे। मुझे पाईये जिससे। वह शुद्ध पुण्य।।१६।। मुझमें वे रहत। और मुझसे ही बिछुड़त। क्या उसको पुण्य कहत। जिव्हा न झड़त?।।१७।। किंतु रहने दो यह सांप्रत। जो ऐसे ज्ञानी दीक्षित। यजन करके याचत। स्वर्ग भोग।।१८।। मैं न प्राप्त ऐसे। उस पापात्मक पुण्य से। वे पावत हवस से। स्वर्गलोक।।१९।। जहां अमरत्व सिंहासन। ऐरावत सरिस वाहन। राजधानी भुवन। अमरावती।।३२०।। जहां महासिद्धि के भांडार। अमृत के कोठार। जिस गांव में खिल्लार। कामधेनु के।।२१।। जहां विचरत देव पाईक। सर्वत्र चिंतामणि मार्ग देख। विनोद वनवाटिका आकर्षक। सुरतरु की।।२२।। गंधर्व सुस्वर गान गावत। जहां रंभा नृत्य करत। विलासिनी उर्वशी सेवत। मुख्य पार्थ।।२३।। शेजगृह में सेवक मदन। चंद्र करत सम्मार्जन। पवन गति पाईक अर्जुन। सेवा करत।।२४।। जहां बृहस्पति समान। स्वस्ति श्रीपाठी ब्राह्मण। स्तुति पाठक सुरगण। बहुत जहां।।२५।। साथ जिनके लोकपाल। विजित सरदार सकल। उच्चैःश्रवा अश्व अनमोल। सवारी को।।२६।।

ऐसे भोग बहुत। इंद्र सुख सम प्राप्त। जब तक पुण्यलेश संचित। भोगत वे।।२७।।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

जब पुण्य की पूंजी नष्ट। त्वरित इंद्रत्व का ऐश्वर्य लुप्त। तब पुनरपि निवर्तत। मृत्यु लोक में।।२८।। वेश्याभोग में खर्चत सब धन। फिर उस द्वार से भी वंचित जान। वैसे अपमानित दीक्षित पूर्ण। क्या बतावें?।।२९।। एवं नित्य मुझे विस्मरत। जो पुण्य से स्वर्ग कांक्षत। अंत में अमरत्व व्यर्थ होत। पावत मृत्यु लोक।।३३०।। माता के उदर कुहर में। बीतत नवमास कष्ट में। फंसत जन्म मृत्यु भंवर में। बारंबार।।३१।। स्वप्न में निधान प्राप्त। जागृति में अशेख खोवत। वैसे स्वर्गसुख व्यर्थ। वेदज्ञों का।।३२।। यदि वेदविद हो अर्जुन। किंतु व्यर्थ जीवन मज्ज्ञानबिन। त्याग कर वे कण। तुष उड़ावत।।३३।। अतः मुझ एक बिन। त्रयीधर्म यह अकारण। जानकर मुझे संपूर्ण। सुख पावेगा तू।।३४।।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्यभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

जो सर्व भाव सहित पूर्ण। समर्पितचित्त अर्जुन। जैसा गर्भगोलक जान। उद्यम रहित।।३५।। वैसे बिन मेरे अन्य कोई। उसको कुछ प्रिय नाही। जीवन मेरे नाम सबही। रक्षित जिसने।।३६।। ऐसा अनन्यगतिक चित्त। जो करत मच्चिन्तन सतत। उपासत मुझको, मैं करत। सेवा उसकी।।३७।। ऐसा ऐक्यभाव संपन्न। अनुसरत मन्मार्ग अर्जुन। उसकी चिंता तत्क्षण। मुझे ही जानो।।३८।। तब उनको जो करना पार्थ। मैं ही करूं वह कार्य

समस्त। जैसे अजातपक्ष की चिंता सार्थ। पक्षिणी करत।।३९।। क्षुधा तृषा न जाने जैसे। शिशु का हित माता देखे वैसे। अनुसरत मुझको जो प्राण से। उनका सब मैं करत।।३४०।। मेरी सायुज्जता के इच्छुक। मैं पूर्ण करूं उनका कौतुक। सेवा यदि चाहत भक्ति युक्त। तब सृजत प्रेम।।४१।। मन में जो-जो धरत भाव। वह बारंबार देत सर्व। और जो दिया उसका निर्वाह। स्वयं करत।।४२।। यह योगक्षेम संपूर्ण। मुझको ही उनका अर्जुन। जिनके सर्वभाव को पूर्ण। आश्रय मैं।।४३।।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।२३।।

और भी अन्य संप्रदाय। न जानत मुझे समवाय। अग्नि इंद्र सोम को कौन्तेय। इसलिये भजत।।४४।। वह मेरा ही पूजन सार्थ। जो मैं सर्वगत पार्थ। किन्तु वह न संयुक्त। विषम जानो।।४५।। देखो शाखा पर्ण वृक्ष के। क्या होत न एक बीज के। किन्तु जल सिंचन उसके। मूल को ही कार्य।।४६।। ये दशेंद्रियां समस्त। किंतु एक देह की सार्थ। विषय जो सेवत जात। एक ही ठांव।।४७।। रससिद्धि उत्तम कीजे। कैसी फिर कर्ण में भरिजे?। पुष्प लाकर बांधिजे। नेत्र को कैसे?।।४८।। वहां रस तो मुख से ही सेविजे। परिमल घ्राण से ही लीजिये। वैसे मुझको यजिये। मद्भाव से ही।।४९।। अन्यथा जो करत भजन। वह सब व्यर्थ ही अर्जुन। अतः कर्म के चक्षु ज्ञान। वह निर्दोष चाहिये।।३५०।।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च। न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्चवन्ति ते।।२४।।

वैसे यदि पार्थ देखो। इन समस्त यज्ञोपहार को। बिन मेरे भोक्ता इनको। कौन

अन्य।।५१।। मैं ही सकल यज्ञों का आदि। इन यजनों को मैं ही अवधि। किंतु छोड़के मुझे भजत दुर्बुद्धि। अन्य देव।।५२।। गंगा का उदक गंगा को जैसे। अर्पिजे देव पितरोद्देश से। मेरा ही मुझको देत वैसे। किन्तु भिन्नभाव से।।५३।। इसलिये वे पार्था!। मुझको न पावत सर्वथा। मन में जिनकी आस्था। पहुंचत वहां।।५४।।

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः। भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम्।।२५।।

काया वाचा मन–। से करत जिन देवों का भजन। देहपतन ते तत्क्षण। देव ही होत।।५५।। अथवा पितरों का व्रत। करत जिनका चित्त। मरणोत्तर वे पावत। पितृलोक।।५६।। या क्षुद्र देवतादि भूत। जिनका परम दैवत। अभिचार से पार्थ। उपासत जो।।५७।। जब देह जवनिका फटत। भूतत्व ही उनको प्राप्त। एवं संकल्पवश फलत। कर्म उनको।।५८।। तब मुझको देखत चक्षु से। सुनत मुझको ही कर्ण से। चिन्तत मुझको ही मन से। वाणी से वर्णत।।५९।। सर्वांगी सर्वस्थान। मुझको ही करत नमन। दानपुण्यादि संपूर्ण। मेरे ही प्रीत्यर्थ।।३६०।। मेरा ही करत अध्ययन। अंतर्बाह्य तृप्त पूर्ण। व्यतीत जिनका जीवन संपूर्ण। मेरे ही कारण।।६१।। एक ही कामना मेरी प्राप्ति। सदा बखानत हरि की कीर्ति। ऐसा अहंकार किरीटि। रखत मन में।।६२।। मेरे ही काज से सकाम। मेरे ही प्रेम से सप्रेम। मत्प्रेम से उनको संभ्रम। विस्मरत सबको।।६३।। मद्ज्ञान जिनका शास्त्र। मत्प्राप्त्यर्थ जिनका मंत्र। संपूर्ण चेष्टा मात्र। मेरा ही भजन।।६४।। वे मरण से भी पूर्व। मद्रूप जानो सर्व। मरणोपरांत अन्य भाव। पावत कैसे?।।६५।। अतः मद्याजी जो

होत। मेरा ही सायुज्य पावत। उपचार मिष से अर्पत। स्वयं को ही मुझको।।६६।। पै अर्जुन, मेरे ठाँई। अपनत्व बिन सौरसु नाहीं। मैं अन्य उपचार से कोई। न कभी प्राप्त।।६७।। यहां ज्ञानभाव ही अज्ञान। कृतार्थ भाव ही न्यून। मुक्तभाव अर्जुन। व्यर्थ सब।।६८।। अथवा यज्ञदानादि रीति। तपधर्म सब उपास्ति। वह तृणसम किरीटि। हीन जानो।।६९।। ज्ञानबल से जैसे। श्रेष्ठ न कोई वेद से। या न सहस्रमुख से। वाचाल कोई।।३७०।। वह भी शय्यानीचे दबत। वेद नेति-नेति कहत। यहां सनकादिक भ्रमत। धनुर्धर।।७१।। तपस्वियों में सर्वाग्रणी। कौन बिन शूलपाणि?। माथा रखत वह निरभिमानि। चरणतीर्थ।।७२।। नातर संपन्नता में समान। लक्ष्मी सिवा अन्य कौन?। ऋद्धि-सिद्धियां दासी अर्जुन। घर में जिसके।।७३।। जो खेल में बनावत घर। उसका नाम अमरपुर। गुड्डे-गुडियां साचार। इंद्र-शची जिनके।७४।। अप्रीति से उनको तोड़त। तब महेंद्र रंक होत। जिन वृक्षों को निहारत। बनत कल्पवृक्ष वे।।७५।। ऐसा सामर्थ्य महान। जिसके पाईक का अर्जुन। मुख्य नायिका लक्ष्मी को जान। न श्रेष्ठत्व जहाँ।।७६।। वह करके सेवा अर्जुन। छोड़कर सर्वस्व अभिमान। दैव को प्रभुपादप्रक्षालन। पात्र होत।।७७।। अतः महत्त्व अपना छोड़िये। ज्ञानाभिमान त्यागिये। जग में नम्र होईये। तब ही सान्निध्य मेरा।।७८।। देखो सहस्रकिरण के दृष्टि–। सन्मुख चंद्र भी लोपत किरीटि। वहां खद्योत की क्या महती। पंडुकुंवर?।।७९।। जहां लक्ष्मी का श्रेष्ठत्वहीन। शंभु का तप भी न्यून। वहां मूढ अज्ञान। जानत कैसे?।।३८०।। अतः देहाभिमान छोड़िये। संपत्ति मद त्यागिये। सब गुण उतारिये। निछावर करके।।८१।।

तब निःसीम भावोल्लास से। मुझको समर्पण मिष से। कोई फल जो चाहत जैसे। किसी भी वृक्ष का।।८२।। भक्त मुझे दिखावत। मैं दोनों हाथ फैलावत। डंठल सहित सेवत। आदर से मैं।।८३।। पै भक्ति के नाम से। फूल एक देत जैसे। चाहिये तो सूँघना किन्तु उसे। मुख में ही डालूं मैं।।८४।। पुष्प भी यदि दुष्प्राप्य देख। पर्ण न हरित शुष्क। वह भी मुझको प्रिय एक। कैसा भी।।८५।। किन्तु यदि सर्वभावयुक्त। जैसा क्षुधित अमृत से तृप्त। वैसे पत्र ही आरोगत। सुख से मैं।।८६।। अथवा कभी ऐसा भी होवे। जो पर्ण भी न एक पावे। तब उदक तो न होवे। दुर्लभ पार्थ।।८७।। वह तो कहीं भी प्राप्त। बिन सायास लभत। वही सर्वस्वभाव से अर्पित। किया जिसने।।८८।। उसने वैकुंठ से विशाल। मुझको दिये मंदिर सकल। दिये कौस्तुभ से भी निर्मल। आभूषण मुझे।।८९।। दुग्ध का शेजघर। क्षीराब्धि जैसा मनोहर। मेरे लिये अपार। सृजित उसने।।३९०।। कर्पूर चन्दन अगरु। सम सुगंध का महा मेरू। हस्तबाती लगावत दिनकरू। दीपमाला में।।९१।। गरुड समान वाहन। सुरतरु के उद्यान। कामधेनू का गोधन। दिया मुझको।।९२।। अमृत से भी सुरस। पक्वान्न बहुवस। ऐसे भक्त के उदकलेश। से परितोषत मैं।।९३।। यह क्या कहूं पार्थ। दृष्टि से देखा तुमने स्वतः। जो मैं छोड़त सुदामा की गांठ। पोहा प्रीत्यर्थ।।९४।। पै भक्ति एक मैं जानत। वहां सान श्रेष्ठ न कहत। हम तो भाव के मेहमान पार्थ। अखंडित।।९५।। अन्न पत्र पुष्प फल। भक्ति के मिष केवल। मेरी प्रीति-

एक निश्चल। भक्तितत्त्व।।९६।। अतः सुनो हे अर्जुन! करो बुद्धि एक स्वाधीन। मनमंदिर में पूर्ण। न भूलो मुझको।।९७।।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददादि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

जो जो व्यापार करत। या विभिन्न भोग भोगत। अथवा यजन यजत। नाना विध।।९८।। नातर पात्र-विशेष दान। या सेवक को देत वेतन। तपादि विविध साधन। व्रत करत।।९९।। वह क्रियाजात संपूर्ण। स्वस्वभाव से होत अर्जुन। समस्त भाव से कीजे अर्पण। मत्प्रीत्यर्थ।।४००।। किंतु सर्वथा मन में किंचित। कृतस्मरण न रखना पार्थ। ऐसे धूतकर्म समस्त। दीजे मुझको।।१।।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः। संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

अग्निकुंड में बीज प्रक्षिप्त। अंकुरदशा से होत मुक्त। वैसे कर्म से तुम विमुक्त। शुभाशुभ से।।२।। यदि कर्म शेष रहत। सुख-दुःख फल पावत। करत सकल भोगार्थ। देहधारण।।३।। यदि अर्पण मुझको कर्म। तब ही चूकत मरण जन्म। आगे जन्मसहित के कर्म। नष्ट संपूर्ण।।४।। अतः इस विध धनंजय। व्यर्थ न करना कालापव्यय। संन्यास युक्ति सुलभ यह। दे दी तुझको।।५।। इस देह बंधन में न पड़िये। सुख-दुःख सागर में न डूबिये। सुख से सुख में मग्न होईये। स्वस्वरूप में मेरे।।६।।

समोहऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२९।।

वह मैं यदि पूछत कैसा। जो सर्वभूत में सदा सरिसा। जहां आपपर ऐसा। भाव

नाही।।७।। जो इसविध मुझे जानकर। अहंकार का बीज मोड़कर। जग में तन-मन से कर्म कर। उपासत मुझको।।८।। वे देह में वर्तमान दिखत। किंतु न देह में, वे मुझ में पार्थ। और मैं उनके हृदय वसत। समग्र जानो।।९।। सविस्तर वटत्व जैसा। बीजकणिका में सुप्त वैसा। और बीज़कण तैसा। वट में स्थित।।४१०।। वैसे हममें परस्पर। बाह्य नाम का अन्तर। अंतर्यामी वस्तुविचार। तब मैं ही वे।।११। जैसे उधार आभूषण। सब व्यर्थ ही अर्जुन। वैसे यह देहधारण। उदास उनका।।१२।। परिमल पवन संग जात। पुष्प निष्गंध पेड़ में रहत। वैसे आयुष्यक्रम पर्यत। केवल देह।।१३।। वैसे अवष्टंभ पूर्ण। मद्भावरूप संपूर्ण। मदन्तरतम में अर्जुन। मीनत सहज।।१४।।

अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः।।३०।।

एवं प्रेमभाव से भजत। पुनः शरीर न पावत। यदि वे होत पार्थ। किसी जाति के।।१५।। और यदि देखे आचरण। वे अव्वल दुष्कृती जान। किंतु किया अन्त में अनुसरण। भक्ति चतुष्पथ का।।१६।। देखो अंत में जो मति। वही आगे की गति। अतः कर ली जिसने भक्ति। देहान्त समय में।।१७।। यदि वह दुराचारी अधम। जानो वह सर्वोत्तम। न डूबा महापूर में वीरोत्तम। जीवित निकला जो।।१८।। उसका जीवन इस पार आया। इसलिये डूबना व्यर्थ गया। जैसा पूर्व पाप नष्ट हुआ। ज्ञानोत्तर भक्ति से।।१९।। अतः यदि दुष्कृती होत। अनुताप तीर्थ में स्नात। तदुपरान्त मुझमें समावत। सर्वभाव सहित।।४२०।। तब पवित्र उसका कुल। अभिजात्य निर्मल। जन्म सार्थकता का फल।

प्राप्त उसको।।२१।। उसने किया सब शास्त्र पठन। किया सर्व तप तपन। अष्टांग योग अभ्यसन। किया उसने।।२२।। और क्या कहूं पार्था। वह उबरत कर्म से सर्वथा। जिसकी अखंड आस्था। मेरे ही कारण।।२३।। अशेष मनबुद्धि की रीति–। से भरके एक निष्ठा की पेटी। मुझ में ही पूर्ण किरीटि। विक्षेपत जो।।२४।।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छन्ति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

अवकाश से होगा मुझ जैसा। यदि तेरे मन में भाव ऐसा। रहत अमृत में उसको कैसा। मरण पार्थ?।।२५।। जब तक सूर्य न उदित। तब तक कहिये रात। बिन भक्ति जो कर्म करत। क्या न महापाप वह?।।२६।। अतः उसका चित्त। मेरा सान्निध्य जब पावत। तब ही वह तत्वतः। स्वरूप मेरा।।२७।। जैसे दीप से दीप जलावत। तब कौन प्रथम न जानत। जो सर्वस्वभाव से मुझे भजत। वह साक्षात मैं।।२८।। मेरी नित्य शांति। उसकी सहज स्थिति। जीवन उसका निश्चिति। मेरे ही जीवन से।।२९।। यहां पार्थ बारंबार। वही बात कहूं साचार। यदि मेरी चाह तब भक्तिसार। न छोड़ो कभी।।४३०।। न चाहिये कुल शुद्ध। न होना अभिजात्य प्रसिद्ध। व्युत्पत्ति का व्यर्थ मद। न आवश्यक पार्थ।।३१।। या रूप यौवन का गर्व। अथवा संपत्ति मद सर्व। यदि नहीं मेरा भाव। व्यर्थ सब।।३२।। दाना बिन भुट्टा। बहुत उपजत सुभटा। बिना वस्ति न शोभत सर्वथा। नगर निर्जन।।३३।। अथवा सरोवर यदि सूखत। वन में दुखी को दुखिया भेटत। या बांझ पुष्प से बहरत। वृक्ष जैसा।।३४।। वैसे सब वह वैभव। अथवा कुलजाति गौरव। जैसे शरीर सावयव। किंतु

प्राणहीन।।३५।। वैसे मेंरी भक्ती बिन। जल जाय वह जीवन। क्या पृथ्वी पर पाषाण। बहुत नाहीं?।।३६।। हिवर की छाया घन। सज्जन मानत निषिद्ध पूर्ण। वैसे त्यागत सब पुण्य। अभक्तों को।।३७।। निंब शाखोपशाख फलत। कौवों को ही सुकाल होत। वैसे भक्तिहीन के बढ़त। दोष ही दोष।।३८।। या षड्रस खप्पर में परोसिये। परोस के चौहटे में रखिये। वह तो श्वान के ही लिये। रक्खा जैसे।।३९।। वैसे भक्तिहीन का जीवन। जो स्वप्न में भी सुकृत से अनजान। वह संसार दुख की थाल अर्जुन। परोसत स्वयं को।।४०।। अतः कुल उत्तम न होवे। जाति अत्यंज की होवे। और देह भी आवे। पशु का पार्थ।।४१।। देखो, नक्र गज को धरत। वह व्यथित मुझको स्मरत। उसका पशुत्व हुआ व्यर्थ। जो प्राप्त मुझको।।४२।।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापनोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

नामोच्चार न जिसका उचित। जैसे अधमाधम पार्थ। ऐसे पापयोनि में प्राप्त। जनम जिसको।।४३।। वे पापयोनि अर्जुन। मूढ जैसे पाषाण। किंतु मुझमे दृढ़ मन। सर्वभाव से।।४४।। जिनकी वाचा पर मेरे आलाप। दृष्टि देखत मेरा ही रूप। जिनके मन में संकल्प। मेरा ही पार्थ।।४५।। मेरी कीर्तिबिन। जिनके रीते नहीं कर्ण। जिनको सर्वांगभूषण। मेरी सेवा।।४६।। जिनके ज्ञान को न विषय स्मरण। मुझ एक का मात्र ध्यान। इस लाभ से ही उनका जीवन। अन्यथा मरण।।४७।। ऐसा समस्त कौन्तेय। जिन्होंने अपना

सर्वभाव। जीवन का आश्रय। किया मुझको।।४८।। वे पापयोनी क्यों न होत। वे श्रुताधीत भी नहीं पार्थ। किंतु मुझ से तुलना में तुलत। न कमत कभी।।४९।। देखो भक्ति का महत्त्व। दैत्य ने लाया देवत्व को हीनत्व। तब मेरा नृसिंहत्व। अवतार महान।।४५०।। वह प्रहलाद मत्प्रीत्यर्थ। सहत सदा संकट बहुत। चरित्र से उसके वही प्राप्त। जो प्रसन्नता से मेरी।।५१।। दैत्यकुल में जन्म वैसे। किंतु महत्व अधिक देवेंद्र से। मद्‌भक्ति एक साधन तैसे। जाति अप्रमाण।।५२।। राजाज्ञा के अक्षर। मुद्रित यदि चर्म पर। उस चर्म से प्राप्त समग्र। वस्तुजात।।५३।। बिन उस सर्वथा व्यर्थ। एक राजाज्ञा ही समर्थ। चर्म को प्राप्त जब पार्थ। मोल मिलत सब।।५४।। वैसे उत्तमत्व तब ही सार्थ। तब ही सर्वज्ञता उपयुक्त। जब मन बुद्धि संयुक्त। प्रेम से मेरे।।५५।। अतः जाति कुल वर्ण। यह सब ही अकारण। यहां भक्ति एक अर्जुन। सार्थ जानो।।५६।। कैसे भी भाव से पार्थ। मेरे में मन प्रवेशत। पूर्व भेद सब व्यर्थ। जाति वर्गादि।।५७।। ओह्‌रे ताल सब ताल। जब तक न पावत गंगाजल। पीछे होकर रहत केवल। गंगारूप।।५८।। खैर अथवा चंदन काष्ठ। तब तक विचार भिन्नत्व। जब तक न वे प्रक्षिप्त। अग्नि में पार्थ।।५९।। वैसे वैश्य स्त्रियां क्षत्रिय। शूद्र अंत्यजादि सर्व। तब तक ही भिन्न जातिभाव। जब तक न पावत मुझे।।४६०।। जाति व्यक्ति भेद शून्य। जब सर्वभाव से मीनत पूर्ण। जैसे पड़त लवण कण। सागर में।।६१।। तब तक नद-नदी के नाम भिन्न। तब तक ही पूर्व-पश्चिम गमन। जब तक वे न पहुंचत अर्जुन। समुद्र में।।६२।। यही किसी एक मिष से। चित्तको मुझमें प्रवेश जैसे।

उतने से ही वह अपने से। मद्रूप होत।।६३।। क्वचित फोड़ने हेतु अर्जुन। लोह से पारस का संगम जान। स्पर्शमात्र से तत्क्षण। सुवर्ण ही होत।।६४।। देखो वल्लभभाव से पार्थ। उन व्रजांगनाके चित्त। मुझमें मीनत क्या न होत। मत्स्वरूप।।६५।। नातर भय के मिष से। मुझको पावत कंस जैसे। अथवा अखंड वैरभाव से। चैद्यादिक।।६६।। स्वकीय भाव से पांडव को। मेरा सायुज्य यादव को। ममता से वसुदेव को। दिया मैंने।।६७।। नारद ध्रुव अक्रूर। 'शुक एवं सनत्कुमार। भक्ति से मैं धनुर्धर। प्राप्त जैसे।।६८।। वैसा ही गोपियों को काम से। कंस को भयसंभ्रम से। अन्य घातक मनोधर्म से। शिशुपालादि को।।६९।। अरे मैं निर्वाण का स्थान। करो किसी भी मार्ग का अवलंबन। भक्ति विरक्ति, विषय, पूर्ण। अथवा वैर से।।४७०।। अतः देखो पार्थ। मुझसे मिलन प्रीत्यर्थ। उपायों का समस्त। अभाव नाहीं।।७१।। किसी जाति में जन्म पाईजे। मुझे भजिये या विरोध कीजे। किंतु भक्त या वैरी होईजे। मेरा ही पार्थ।।७२।। कोई भी हो कारण। यदि आवे मुझे शरण। मद्रूप होवे अर्जुन। सहजभाव से।।७३।। अतः पापयोनी भी अर्जुन। क्या शूद्र वैश्य अंगना जान। मुझे भजत पावत सदन। मेरा ही निश्चित।।७४।।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः भक्ता राजर्षयस्तथा। अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

तब वर्ण में छत्रचामर। स्वर्ग जिनका अग्रहार। मंत्र विद्या का नैहर। ब्राह्मण जो।।७५।। जो पृथ्वीतल पर देव। तपोवतार सावयव। सकल तीर्थों का दैव। उदित जो।।७६।। जो यज्ञों का आधार। वेदों का कवच वज्र। जिनके दृष्टि के उत्संग पर। मांगल्य वर्धित।।७७।।

जिनकी आस्था से प्राप्त। सत्कर्म का प्रसाद पार्थ। जिनके संकल्प से सत्य। जीवित जगत।।७८।। जिनकी आज्ञा से अर्जुन। अग्नि की आयु वर्धमान। सप्रेम पानी देत जिस कारण। समुंद्र अपना।।७९।। मैंने लक्ष्मी को दूर किया। कौस्तुभ को गले लगाया। वक्षस्थल सामने बढ़ाया। चरणरज के लिये।।४८०।। अद्यापि वह चरणमुद्रा। हृदय में रखत सु-भद्रा। अपनी देवसमुद्रा। जतन प्रीत्यर्थ।।८१।। जिनका कोप अर्जुन। कालाग्नि रुद्र का स्थान। प्रसाद जिनका अंत में जान। सिद्धिदायक।।८२।। ऐसे परमपूज्य जो ब्राह्मण। और मेरे ठांई भक्ति पूर्ण। मुझको पावत क्या इसका समर्थन। अलग से युक्त?।।८३।। चंदन अंगानिल से पार्थ। यदि निकटस्थ निंब स्पर्शत। उसको भी स्थान प्राप्त। प्रभु मस्तक पर।।८४।। तब चंदन वहां न पहुंचत। ऐसे कैसे सोचना पार्थ। कोई बुलाकर कहत। क्या तबही सत्य?।।८५।। जहां दाहशमनार्थ। हर आधा चंद्रमा नित्य। सिर पर शीतल रखत। धनुर्धर।।८६।। वहां दाहशामक और पूर्ण। परिमल में चंद्र से न्यारा चंदन। सर्वांग में अपने धारण। क्यों न कीजे।।८७।। रथ्योदक जिसके संग से। समुद्र में मीनत जैसे। उस गंगा को क्या समुद्र से। गति अन्य?।।८८।। अतः राजर्षि अथवा ब्राह्मण। उनको मैं ही शरण्य। उनको त्रिशुद्धि मैं ही निर्वाण। स्थिति भी मैं ही।।८९।। शत जर्जर नाव में। बैठकर कैसे निश्चिन्त मन में?। कैसे रहिये शस्त्रवर्षा में। खुले अंग से?।।४९०।। अंग पर गिरत पाषाण। न रोके ढाल से अर्जुन। रोग से पीड़ित और उदासीन। औषधि को।।९१।। चहुं बाजु अग्नि प्रदीप्त: क्यों न वहां से हटिये

त्वरित। क्यों न इस दुःखद लोक में पार्थ। कीजे भजन मेरा?।।९२।। मेरे भजन बिन। कौन बल अंग में अर्जुन। भोग्य वस्तु समृद्धि जान। कैसे होत?।।९३।। नातर विद्या एवं यौवन। कैसा प्राणियों को इन। भरोसा मेरे बिन। सुख का कोई?।।९४।। अतः भोग्यजात पूर्ण। देह के सुखकारण। और वह देह तो अर्जुन। ग्रास काल का!।।९५।। यह मृत्युलोक का अंतिम हाट। यहां दुःख गठरी की छूटत गांठ। मरण रूप नाप से भेंट। मनुष्य जन्म में।।९६।। इसमें सुख से रहिये पार्थ। ऐसी कौन सी ग्राहकी सार्थ?। क्या दीप होत प्रज्वलित। फूंकने से राख?।।९७।। अरे विषकंद रगड़कर। लीजे रस निचोड़कर। कहिये अमृत उसे किंतु अमर। क्या होवे उससे?।।९८।। वैसे विषय का जो सुख। वह केवल परम दुःख। किंतु क्या कीजे मूर्ख। सेवत जात।।९९।। क्या तोड़के अपना सिर। पांव के व्रण को बांधत नर। वैसे ही मृत्युलोक को सुखकर। मानना पार्थ।।५००।। यह मृत्युलोक की वार्ता। कैसी श्रवण कीजे वृथा। कैसी सुख की निद्रा पार्था। वृश्चिक शय्या में?।।१।। चंद्र क्षयरोगी जिस लोक का। अस्त प्रीत्यर्थ उदय जहां का। दुःख पहिनकर वेष सुखका। पीडत जगको।।२।। जहां मंगल का अंकुर प्रस्फुटत। तत्क्षण अमंगल उसको आच्छादत। उदरकुहर में ही मृत्यु पार्थ। खोजत गर्भ को।।३।। अचिन्तनीय का करके चिन्तन। ले जात यमदूत उसी क्षण। किस गांव को पहुंचत अर्जुन। पता न पावत।।४।। यदि सब मार्ग खोजत। निवर्तने की न कोई बात। चर्चा मृतकों की समस्त। यही पुराण जहां के।।५।। जहां की अनित्यता की वार्ता। कर्ता ब्रह्मा की आयु तक तत्वता।

वर्णन न उसका शक्य पार्था। सर्वथैव।।६।। ऐसी जिस लोक की स्थिति। वहां उपजत जो सृष्टि। उनकी निश्चिंत मनोवृत्ति। आश्चर्यकारक अति।।७।। इह पर लाभ प्रीत्यर्थ। कौड़ी एक न खर्चत। जहां समस्त हानि, व्यय करत। कोट्यावधि।।८।। जो बहु विषयसुख में लिप्त। उसको मानत सुखी पार्थ। जो अति लोभग्रस्त। कहत ज्ञानी।।९।। जिसकी आयु अल्प शेष। बुद्धि प्रज्ञा नष्ट अशेष। उसके वंदन करत चरण शीश। जानकर श्रेष्ठ।।५१०।। शिशु ज्यों-ज्यों वृद्धि पावत। संतुष्ट कौतुक से नाचत। शेष आयु घटत जात। चिन्ता न उसकी।।११।। दिन-दिन जन्म से। कालका होत ग्रास जैसे। जन्म दिन मनावत उल्हास से। उभारत गुड़ी।।१२।। ''मर जा'' बोल न सहत। मरे जब तब रोवत। प्रति दिन आयुर्नाश न गिनत। मूर्खता से।।१३।। सर्प खड़ा दर्दुर निगलत। दर्दुर जीभ से मक्षिका भक्षत। कौन लाभ से प्राणी बढ़ावत। तृष्णा मन में?।।१४।। हाय रे कैसी दुर्गति! मृत्युलोक की यह उलटी रीति। दैववश से यहां किरीटि। जन्म तेरा।।१५।। तब झटाक से झटक अंग। पकड़ भक्तिमार्ग सुरंग। जिससे पावेगा तू अव्यंग। निजधाम मेरा।।१६।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैश्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

तू मद्रूप कर मन। मेरे भजन में रत संपूर्ण। सर्वत्र करो नमन। मुझ एकको।।१७।। मेरे अनुसंधान से देख। जलाओ संकल्प निःशेख। जिससे मद्याजी चोख। नाम सार्थ।।१८।। इसविध मद्योग से संपन्न। होवे तब मत्स्वरूप पूर्ण। यह अंतःकरण का गुह्य वचन। कहूं तुझको।।१९।। रखा जो सबसे गुप्त। सर्वस्व मेरी यह बात। होंगे वह करके प्राप्त।

सुखस्वरूप।।५२०।। ऐसे शामल परब्रह्म। भक्तकाम कल्पद्रुम। बोलत श्री आत्माराम। संजय कहे।।२१।। सुनो श्रोतागण समस्त। जैसे महापूर में भी भैंसा न उठत। वैसे, बोल सुनके भी संजय के, वृद्ध शांत। खड़ा स्तब्ध।।२२।। संजय प्रसन्न डोलत। अहा! कैसी अमृतवर्षा होत। यहां रहके भी यह भ्रमित जात। अन्य गांव।।२३।। परंतु दातार यह हमारा। अतः कहते लगे वाणीदोष सारा। क्या कीजे जो घटियारा। स्वभाव इसका।।२४।। किंतु धन्य मेरा भाग्य सत्य। जो कहने के मिष से वृत्तांत। मुनिराज से मैं रक्षित। श्री व्यासदेव से।।२५।। ऐसे अति सायास से। कहत जब दृढ़ मानस से। न रोक सकत अपने से। सात्विक भावको।।२६।। चित्त चकित स्तब्ध रहत। वाचा अचानक पंगु होत। शरीर में आपाद कंचुकित। रोमांच,उठत।।२७।। अर्धोन्मीलित नयन। वर्षत आनंद जल पूर्ण। अंतःसुखोर्मि से बाहिर जान। छूटत कंप।।२८।। दिखत सर्वांग रोममूल–। में स्वेदकणिका निर्मल। मोतियाँ का साज अनमोल। पहिनाया जैसे।।२९।। ऐसा महासुख का अतिरस। जहां जीवदशा का होत नाश। वहां निरूपित व्यास ने जो खास। विस्मरत पूर्ण।।५३०।। किंतु श्रीकृष्ण का संवाद पार्थ। सगर्जन श्रवण में पड़त। देहस्मृति पुनरपि पावत। संजय तब।।३१।। नेत्र से अश्रु पोंछत। सर्वांग का स्वेद काछत। सुनो महाराज कहत। धृतराष्ट्र को।।३२।। अब श्रीकृष्णवाक्य बीज को सुघड़। मिले संजय का सात्विक बियाड़। अतः श्रोताओं को होवे सुरवाड़। प्रमेय धान्य का।।३३।। यहां किंचित अवधान दीजिये। आनंद राशि पर बैठिये। जो श्रवणेंद्रिय परिपित देखिये। जैसे आज।।३४।। अतः विभूतियों

का ठांव। अर्जुन को दिखावेगा सिद्धों का राव। वह सुनो कहे ज्ञानदेव। निवृत्तिनाथ का।।५३५।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्या-राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः।।
(श्लोक ३४; ओवियाँ ५३५)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।

।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – दसवाँ

नमो विशदबोधविदग्धा। विद्यारविंदप्रबोधा। पराप्रमेयप्रमदा। विलासिया।।१।। नमो संसारतमसूर्या। अपरिमिता-परमवीर्या। तरुणतरतूर्या। लालनलीला।।२।। नमो जगत्‌अखिलपालना। मंगलमणिनिधाना। सज्जनवनचंदना। आराध्यलिंगा।।३।। नमो चतुरचित्तचकोरचंद्रा। आत्मानुभवनरेंद्रा। श्रुतिसार-समुद्रा। मन्मथमन्मथा।।४।। नमो सुभावभजनभाजना। भवेभकुंभभंजना। विश्वोद्भवभुवना। श्री गुरुराया।।५।। आपका

अनुग्रह गणेशु। जब देत अपना सौरसु। तब सारस्वत में प्रवेशु। बालक को भी प्राप्त।।६।। इस दैवि की उदार वाणी का। जब प्रसाद प्राप्त अभयकार का। तब नवरससुधाब्धि का। थांह लभत।।७।। आपकी स्नेह वागीश्वरी समर्थ। मूंक को यदि अंगिकारत। तब वाचस्पति से करत। प्रबंध होड।।८।। यह कृपादृष्टि जिस पर। पद्मकर मस्तक पर। वह जीव तुलत साचार। महेश के साथ।।९।। ऐसा गुरुकृपा का महत्व। कैसे वाचाबल से बरनत। क्या सूर्य के अंग को लगावत। उबटन कभी?।।१०।। कैसा बौर कल्पवृक्ष को?। कौन सी रससिद्धि क्षीर सागर को?। किसका सुवास कर्पुर को। देना शक्य?।।११।। चंदन को किससे चर्चना?। अमृत को कैसे पकाना?। गगन पर उभारना। मंडप कैसे?।।१२।। वैसे श्रीगुरुका महिमान। जानने का कौन सा साधन?। यह जानकर मैंने नमन। किया निवान्त।।१३।। यदि स्वप्रज्ञाबल से पूर्ण। श्रीगुरु सामर्थ्य का करे वर्णन। मोती को अभ्रक का मुलामा समान। होगा वैसे।।१४।। अथवा रजत की कलई सुवर्ण पर। वैसे वचन गुरुस्तुति पर। निवान्त चरण में नवाइये शिर। यही युक्त।।१५।। तब कहत जी आपने। भला देखा ममत्व ने। अतः कृष्णार्जुन संगम में। प्रयागवट हुआ मैं।।१६।। पूर्वी दूध दो कहने प्रीत्यंर्थ। पूर्ण क्षीराब्धि का करके पात्र। उपमन्यु सन्मुख समर्थ। रखा आपने।।१७।। नातर वैकुंठ पीठनायक। जब ध्रुव रूठत सकौतुक। समझावत देकर प्रसादक। अटल पद का।।१८।। वैसी जो ब्रह्मविद्याराव। सकल शास्त्रों का विश्राम ठांव। भगवद्गीता ओवी छंद में गेय। की ऐसी।।१९।। जो शब्द-वन में सर्वथा। कर्ण

में न अक्षर फल की वार्ता। यह वाचा ही करत कल्पलता। विवेक की।।२०।। थी देहबुद्धि पूर्ण मग्न। सहसा आनंद भंडार का किया स्थान। गीतार्थ सागर में जलशयन। करत मन।।२१।। ऐसी गुर्वी करनी एकेक। अपार कैसे वर्णन शक्य?। किया अनुवाद धृष्टतापूर्वक। उप साहियोजी।।२२।। अब आपका कृपा प्रसाद। भगवद्गीता ओवी प्रबंध। पूर्वखंड वर्णन विनोद–। से किया मैंने।।२३।। प्रथम में अर्जुन-विषाद। द्वितीय में योग विशद। किंतु सांख्य बुद्धि में भेद। दिखाकर स्पष्ट।।२४।। तृतीय में कर्म प्रतिष्ठित। चतुर्थ में ज्ञान प्रकट। पंचम में गौरवित। योगतत्व।।२५।। षष्ठम में वही प्रकट। आसनादि क्रिया स्पष्ट। जीवात्मभाव एकत्रित। होत जिससे।।२६।। वैसी जो योगस्थिति। योगभ्रष्ट को कौन सी गति। वह संपूर्ण उपपत्ति। षष्ठम में कथित।।२७।। उसके उपरान्त सप्तम। प्रकृति परिहार उपक्रम। जिससे भजन पुरुषोत्तम। प्रतिपादित चारों।।२८।। पश्चात सप्तप्रश्न विधि। कहकर प्रयाण समय सिद्धि। एवं सकल वाक्यावधि। अष्टामाध्याय में।।२९।। असंख्यक शब्दब्रह्म में। अभिप्राय जितना उसमें। एकलक्ष महाभारत में। वर्णित सब।।३०।। अभिप्राय जो महाभारत में। लभत कृष्णार्जुन वचनोक्ति में। सप्तशत श्लोकों में। वह एक़ नवम में।।३१।। अतः नवम का अभिप्राय। अति गहन अनाकलनीय। वर्णन को लागत भय। कैसा गर्व करूं मैं?।।३२।। गुडशर्करा अशेख। उत्पन्न रस से एक। किंतु माधुर्य स्वाद का देख। भिन्न-भिन्न।।३३।। वैसे कोई करत ब्रह्मप्रतिपादन। कोई दर्शवत ब्रह्म का स्थान। कोई मीनत ब्रह्म में संपूर्ण। ब्रह्मज्ञान सहित।।३४।। ऐसे ये गीता के अध्याय।

किंतु नवम उसमें अनिर्वाच्य। अनुवाद किया हे सदय। सामर्थ्य आपका।।३५।। अहो! एक की शाटी तपत। एक प्रतिसृष्टि रचत। एक कटक को पार करत। पाषाण सेतु पर से।।३६।। एक आकाश में सूर्य को पकड़त। एक चुल्लु में अपने सागर भरत। वैसे मुझसम मूक से कहलावत। अनिर्वाच्य जो।।३७।। रहने दो यह वर्णन ऐसे। राम-रावण जूझत कैसे। राम-रावण ही जैसे। मीनत समर में।।३८।। नवम में श्रीकृष्ण के बोल वैसे। नवम के ही समान जैसे।जानत तत्त्वज्ञ तैसे। गीतार्थ मर्म।।३९।। प्रथम नौ अध्याय सज्जन जन!। यथामति मैंने किया वर्णन। अब उत्तरखंड उपक्रमण। सुनो सब।।४०।। जहां विभूति प्रतिविभूति। अर्जुन को निरूपत श्रीपति। वह विदग्धा रस वृत्ती। कहूं कथा अब।।४१।। देशिया का नागरपन। शांतश्रृंगार को जीतत अर्जुन। वे ओवियां होत आभूषण। साहित्य को।।४२।। मूलग्रंथ संस्कृत। उस पर भाष्य प्राकृत। अभिप्राय उचित ज्ञात। न जाने कौन मूल।।४३।। ऐसा अंग का सुंदरपन। अलंकार को हो, अंग आभूषण। किस को भूषवत कौन। कहा न जाये।।४४।। देशी और संस्कृत वाणी इसमें। शोभत भावार्थ के एकासन में। समान सुंदर रूप में। सुबुद्धि सुनो।।४५।। सृजत भाव सृष्टि। रस वृत्ति की होत वृष्टि। चातुर्य को होवे प्राप्ति। प्रतिष्ठा की।।४६।। वैसे देशिया का लावण्य। लूटकर लाया तारुण्य। तब रचित अगण्य। गीता तत्त्व।।४७।। वह चराचर परमगुरु। चतुर चित्त चमत्कारू। सुनो अब ग्रंथ यादवेश्वरू। निरूपत स्वयं।।४८।। निवृत्ति का ज्ञानदेव कहत। श्रीहरी अर्जुन को निरूपत। अंतःकरण तेरा श्रवणार्थ। करो सुसज्ज

अब।।४९।।

श्री भगवान उवाच–

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः। यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।।

हमने जो किया निरूपण। उससे आजमाया तेरा अवधान। वह अल्प नाही पूर्ण। समुचित पार्थ।।५०।। घट में थोड़ा जल डालिये। न झिरत यदि तब पूर्ण भरिये। तुम परीक्षित पूर्ण मन में भाये। कहना अधिक पुनः।।५१।। अपरिचित पर सर्वस्व छोड़िये। यदि सच्चा तब भांडारी कीजिये। वैसे अब किरीटि तुम देखिये। निजधाम मेरे।।५२।। ऐसे अर्जुन को सर्वेश्वर। कहत करके अत्यादर। गिरि देखकर सुभर। मेघ जैसा।।५३।। वैसा कृपालुओं का राव। कहे सुनो हे पांडव!। पूर्व कथित अभिप्राव। कहूं पुनः।।५४।। प्रतिवर्ष बीज बोइये। उपजवृद्धि जो-जो देखिये। इसलिये न उबग कीजे। लगाने में पार्थ।।५५।। ताव दीजे पुनः-पुनः। कांति निखरत अर्जुन। अतः सुवर्ण का शोधन। भाये मन को।।५६।। वैसे यहां यथार्थ। नहीं तुझपर उपकार पार्थ। बोलत स्वार्थ प्रीत्यर्थ। कथा शेष।।५७।। बालक को चढ़ाइये आभूषण। क्या वह श्रृंगार जाने अर्जुन?। उसका सब सुख समाधान। मातृदृष्टि को।।५८।। वैसा मेरा समस्त हित। ज्यो-ज्यो तुझको होवे प्राप्त। त्यों-त्यों मेरा सुख दुगनत। धनुर्धर।।५९।। रहने दो यह अलंकारोक्ति। मुझ को स्पष्ट तेरी प्रीति। अतः न होवे तृप्ति। सुसंवाद से कभी।।६०।। यही एक कारण। पुनः पुनः वही कथन। अब सावधान अंतःकरण। करके दीजे चित्त।।६१।। तब सुनों-सुनो सुवर्म!।

वाक्य मेरा परम। अक्षर रूपसे तुझको परब्रह्म। आलिंगन देत।।६२।। किंतु हे किरीटि!। साथ जानो मेरी व्याप्ति। मुझको जो देखत दृष्टी। संपूर्ण विश्व वह।।६३।।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः। अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।।२।।

यहां वेद मौन होत। मन पवन पंगु पार्थ। रात्रिबिन पावत अस्त। रवि-शशि।।६४।। अरे! उदर का गर्भ जैसा। न जाने माता की आयु वैसा। मैं सब देवताओं को तैसा। अनाकलनीय।।६५।। जैसे जलचर को उदधि का मान। या मशक न उल्लंघत गगन। वैसे महर्षियों का ज्ञान। न जानत मुझको।।६६।। पर्वत पर चढ़त उलटा जल। बढ़ता वृक्ष पहुंचल मूल। तब ही मुझसे सृष्ट जग सकल। जाने मुझको।।६७।। मैं कितना और कौन। किसका और कहां उत्पन्न। इस निश्चय में निष्फल अर्जुन। बीते कल्प।।६८।। क्योंकि मैं आदि पांडव। अतः ये महर्षि एवं देव। अन्य भूत जात सर्व। अनभिज्ञ पूर्णतः।।६९।। या अंकुर में समावत वट पूर्ण। या तरंग मे डूबत सागर संपूर्ण। अथवा परमाणु में समावत अर्जुन। भूगोल यह।।७०।। तब ही मुझसे सृष्ट सर्व।। महर्षि तथा अन्य देव। मेरा ज्ञान सर्वथैव। पावत पार्थ।।७१।। यदि कोई क्वचित। प्रवृत्ति को छांडत। सर्वेन्द्रियों को करत। पीठ पीछे जो।।७२।। त्वरित वहां से निवर्तत। निवृत्ति पर देहभाव रहित। महाभूतों के चढ़त। माथा पर पार्थ।।७३।।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्। असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।।३।।

वहां रहकर स्थिर। शुद्ध स्वप्रकाश में सुवीर। देखे मेरा अजत्व साचार। स्वदृष्टि

से।।७४।। मैं आदि के पार। सकल लोक महेश्वर। ऐसे मुझको जो नर। इसविध जाने।।७५।। वह पाषाण में पारस। जैसा रसमध्ये सिद्धरस। वैसा वह मनुष्य में अंश। मेरा ही जानो।।७६।। वह चलते ज्ञान का बिंब। उसके अवयव सुख के कोंभ (अंकुर)। उसका मनुष्यत्व भ्रम सब। लौकिक दृष्टि से।।७७।। अरे! कर्पूर में अवचित। होवे यदि हीरा प्राप्त। उसपर नीर गिरत। न विरत जैसा।।७८।। वैसा मनुष्य मध्ये पार्थ। यदि विचरत प्राकृत। प्रकृति दोष समस्त। न बांधत उसे।।७९।। उसको स्वयं त्यजत पाप। जैसा जलते चंदन को सर्प। मुझको जाने, उसको संकल्प। त्यजत त्वरित।।८०।। अब मुझको कैसे जानिये। कल्पना यदि मन में आये। तब मेरे सब सुनिये। भाव पार्थ।।८१।। यह भाव अन्यान्य। उनके प्रकृतिसमान। त्रिजगत में संपूर्ण। विकीर्ण जो।।८२।।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः। सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।।४।।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः। भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।।५।।

उनमें प्रथम समझो बुद्धि। तदनंतर ज्ञान निरवधि। असंमोह सहन सिद्धि। क्षमा सत्य।।८३।। और शम दम दोनों। जो सुख-दुःख जग में जानो। भाव अभाव को मानो। भाव रूप ही।।८४।। भय एवं निर्भयता। तृष्टि, अहिंसा, समता। और तप पंडुसुता। तथा दान।।८५।। सुनो कीर्ति एवं अपकीर्ति। इन भावों की सर्वत्र व्याप्ति। मुझमें ही इनकी सृष्टि। भूतों के ठाँई।।८६।। जैसे ये भूत भिन्न। उनके विचार भी पृथक अर्जुन। किसी को मेरा ज्ञान। किसी को अज्ञान।।८७।। प्रकाश एवं अंधःकार। सूर्य से ही जैसे धनुर्धर।

प्रकाश उदय में गोचर। अस्त में तम।।८८।। मद् विषय में ज्ञान अज्ञान। प्राणियों के दैव से पूर्ण। अतः यह विषम भाव अर्जुन। उनके ठाँई।।८९।। मेरे ही भावों में पार्थ। यह जीव सृष्टि समस्त। जानिये पूर्ण समाहित। निरंतर।।९०।। अब इस सृष्टि के पालक। जिनके आधीन वर्तत लोक। वे एकादश भाव विशेख। कहूँ तुझको।।९१।।

महर्षयः सप्त पूर्वे च चत्वारो मनवस्तथा। मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।६।।

तब सब गुण वृद्ध। जो महर्षियों में प्रबुद्ध। कश्यपादि प्रसिद्ध। सप्तऋषि।।९२।। और जो चौदह मन्वादि मुद्दल। उनमें जो चार मुख्य मूल। कहूं स्वायंभू आदि केवल। मनु चार।।९३।। ऐसे ये एकादश। मन्मानस से सृष्ट गुड़ाकेश। सृष्टि के व्यापार अशेष। प्रीत्यर्थ देखो।।९४।। जब नहीं थी लोकव्यवस्था। न थी त्रिभुवन रचना पार्था। तब महाभूतों का समुदाय सर्वथा। था निष्क्रिय पूर्ण।।९५।। जब ये एकादश उत्पन्न। इन्हीं से हुये सब लोक अर्जुन। अध्यक्ष किये आगे जन। लोकपाल ये।।९६।। अतः ये एकादश प्रजापति। अन्य सर्व प्रजा किरीटि। एवं यह विश्व विस्तार मत्कृति। जानिये पार्थ।।९७।। प्रारंभ में बीज एक। अंकुरित जब तब स्तंभ देख। स्तंभ से अंकुर अनेक। शाखाओं के।।९८।। शाखाओं से बहुत। उपशाखा प्रस्फुटत। उपशाखाओं से समस्त। पल्लव पर्ण।।९९।। पश्चात् पुष्प-फल। एवं वृक्षत्व सकल। निर्धारित तब केवल। बीज एक।।१००।। वैसे मैं ही एक प्रथम। इच्छा मन में बहुस्याम। वहां सप्त ऋषियों को जन्म। और चारों मनु।।१०१।। इनसे लोकपाल सृष्ट। जो विविध लोक सृजत। लोकों से

उपजत। प्रजाजात।।२।। इसविध यह विश्व पार्थ। यहां विस्तारित मैं ही समस्त। भाव यह वही जानत। श्रद्धावान जो।।३।।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः। सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।७।।

इसलिये सुभद्रापति। यह भाव मेरी विभूति। और इन्हीं की सब व्याप्ति-। से व्याप्त जग।।४।। अतः इसविध पार्थ। ब्रह्मादि पिप्पिलिका पर्यंत। मेरे सिवा न अन्य सत्य। वस्तु जग में।।५।। ऐसे जो जानत व्यक्ति। उसी को ज्ञान की जागृति। अतः उत्तम अधम किरीटि। दुःस्वप्न न देखे।।६।। एवं मेरी विभूति। और विभूति से व्यक्त सृष्टि। यह सब योग प्रतीति। एक ही मानो।।७।। अतः इस महायोग से। मद्रूप मीनत मनयोग से। निःसंशय पावत समरस से। त्रिशुद्धि पार्थ।।८।। अथवा जो ऐसा किरीटि। मुझको भजत अभेद दृष्टि। उसकी भजन भक्ति। वश करत मुझे।।९।। अतः अभेद भक्तियोग यह। वहां न मृत्यु से भी व्यत्यय। षष्ठम में कथित कौंतेय। बात स्पष्ट।।११०।। वह अभेद कैसा। यदि मन में यह कांक्षा। निरूपण उसका सर्वशा। सुनो अब।।११।।

अहं सर्वस्व प्रभवो मत्तः सर्व प्रवर्तते। इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।८।।

सब जग का उत्पन्न कर्ता। मैं ही एक पंडुसुता। मुझसे ही इनका सर्वथा। निर्वाह जानो।।१२।। कल्लोलमाला बहुत। जन्म उनका जल से ही पार्थ। जल ही उनका आश्रय समस्त। जीवन भी जल।।१३।। जैसा वहां एकमात्र जल। वैसा विश्व में मैं ही केवल। मेरे सिवा जग में सकल। अन्य नाहीं।।१४।। ऐसा मेरा व्यापकत्व। जानकर जो भजत नित्य।

उदित प्रेमभाव से सत्य। धनुर्धर।।१५।। देशकाल वर्तमान। सब मुझसे मानकर अभिन्न। जैसा वायु होकर गगन। विचरत गगन में।।१६।। ऐसे जो निजज्ञानी। खेलत इस त्रिभुवनी। जगद्रूप को मनोमनी। धारण करके।।१७।। जो-जो भेंटत भूत। उसको मानत भगवंत। यह भक्तियोग निश्चित। जानो मेरा।।१८।।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।९।।

जिनके चित्त मद्रूप पार्थ। मुझसे ही जिनके प्राण तृप्त। जीवन-मरण विस्मरत। बोध छंद से।।१९।। उस बोध के बल से। नाचत संवादसुख कौतुक से। परस्पर देत-लेत सुख से। बोध ही बोध।।१२०।। जैसे निकटस्थ दो सरोवर। उछलत मीनत परस्पर। तब तरंग को धवलार। तरंग ही होत।।२१।। वैसे एक दूजे से मिलन। आनंद कल्लोल का पूर्ण। वहां बोध ही बोध के आभूषण। लहत बोध से।।२२।। जैसे सूर्य, सूर्य की आरती करत। या चंद्र, चंद्र को आलिंगत। वैसे समभाव से मीनत। प्रवाह दोनों।।२३।। वैसे प्रयाग होत सामरस्य का। वहां फेन तरंगत सात्विक का। वे संवाद चतुष्पथ का। अधिपति (गणेश) होत।।२४।। तब वह महासुख का भर। दौड़त देह के बाहिर। मत्प्राप्ति के उद्गार। गर्जन लागत।।२५।। गुरू शिष्य एकान्त में पार्थ। कहना जो अक्षर मंत्र। वह त्रिभुवन में गर्जत। मेघगर्जना सम।।२६।। जैसी कमल कलिका विकसित। हृदयस्थ मकरंद को न रोकत। राव रंक को प्रसादि देत। आमोद की।।२७।। वैसे करत मद्गुणगान। गावत विस्मरत देहभान। मग्न जीव अंग से अर्जुन। मीनत मुझमें।।२८।। ऐसा प्रेमभाव पूर्ण। नाही रात्रि-

दिन का स्मरण। भोगत मत्सुख परिपूर्ण। स्वतः जो।।२९।।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०।।

अब कुछ मैं देऊं उनको। मेरे उपासक-भक्त को। वह सब प्राप्त जिनको। बैठे स्थान में।।१३०।। कि वें जिस पथ पर। अग्रसर हे धनुर्धर!। दो उत्तम मार्ग साचार। स्वर्गापवर्ग।।३१।। अतः जो-जो वांछत अर्जुन। हमने दिया करके उत्पन्न। नहीं किया वह स्वाधीन। उन्होंने स्वयम्।।३२।। अब मुझे इतना ही कर्तव्य। जिससे वही सुखवृद्धि होय। और काल की दृष्टि न जाय। मद्भक्तों पर।।३३।। प्रिय बालक क्रीड़ारत। स्नेह दृष्टि से रक्षत पार्थ। छाया सम पीछा करत। माता जैसी।।३४।। जो-जो खेल दिखावत। वह प्रिय शिशु को देत। वैसी उपासना की रीत। मैं देऊ उनको।।३५।। जो-जो संप्रदाय से। पावत मुझको सुख से। करूं वह विशेष प्रेम से। पंडुकुँवर।।३६।। भक्तों को मेरी प्रीति। मुझको प्रिय उनकी अनन्य गति। जो इन प्रेमियों की कमी किरीटि। घर में मेरे।।३७।। स्वर्ग-मोक्ष दो मार्ग अर्जुन। उनके लिये किये उत्पन्न। अन्त में किया स्वतः को स्वाधीन। लक्ष्मी सहित।।३८।। परंतु अपने बिन जो एक। आत्मसुख अतिनाजुक। वह प्रेम जिनके लिये देख। किया जतन।।३९।। इतने तक किरीटि। प्रिय भक्तों को रखत निकट अति। यह कहने की न गोष्टी। धनुर्धर।।१४०।।

तेषामेवानुकम्पार्थ महमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।११।।

अतः मेरा आत्मभाव। किया जिन्होंने जीवन का ठांव। एक मेरे सिवा सर्व। वृथा

मानत जो।।४१।। उन तत्त्वज्ञों के लिये सुभट। कर्पूर की मशाल पार्थ। स्वयं बनके चलत। आगे आगे।।४२।। अज्ञान निबिड रात्र। घनदाट तम व्याप्त। दूर करके समस्त। नित्योदय करत।।४३।। ऐसे प्रिय भक्तों के प्रियोत्तम। बोले जब पुरुषोत्तम। तब अर्जुन का पूर्ण मनोधर्म। कहत निवान्त मैं।।४४।। जी हां कहत पार्थ। अच्छा किया मनोमल नष्ट। जननी जठरवास से मुक्त। हुआ प्रभु।।४५।। अपने सब जन्म यथार्थ। देखे मैंने स्वदृष्टि से अच्युत। हुआ आज जीवित कृतार्थ। इच्छा तृप्ति से।।४६।। आज मेरा सफल आयुष्य। मेरी भाग्य दिशा उदित अशेष। जो वाक्य कृपा विशेष। दैविक के मुख से।।४७।। अब इस वचन तेज से। नष्ट तम बाह्यान्तर से। इसीलिये देखूं साचोकार (सच) से। स्वरूप आपका।।४८।।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्। पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।१२।।

तब होंगे आप परब्रह्म। जो इन भूतों का धाम। पवित्र एवं परम। जगन्नाथ!।।४९।। आप ही तीनों को दैवत। पुरुष जो पच्चीसवां तत्त्व। प्रकृति भाव परे दिव्यत्व। आप ही सार्थ।।१५०।। अनादि सिद्ध आप स्वामी। आप न कोई जन्मधर्मी। यह बात हमने जानी। सुनिश्चित।।५१।। यह कालत्रय के सूत्री। आप जीवन कला की अधिष्ठात्री। इस ब्रह्मकटाह की धात्रीं। विदित स्पष्ट।।५२।।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा। असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।१३।।

और एक विचार से अर्जुन। इसकी पावे प्रतीति पूर्ण। जो पूर्वी किया कथन। ऋषिश्वरों

ने।।५३।। किन्तु उसका साचपन। अब जाने मेरा अंतःकरण। जब की, हे कृपानिधान!। कृपा आपने।।५४।। वैसे नारद सतत भजत। ऐसे ही वचन गावत। किन्तु बिना अर्थज्ञान हम सुनत। गीतसुख केवल।।५५।। अजि अंधों के गांव में प्रत्यक्ष। सूर्य यदि आवे सम्मुख। उनको तो प्राप्त मात्र उष्मासुख। न प्रकाश कभी।।५६।। वैसे देवर्षि गात आध्यात्म। रागांग का मधुर धर्म। वही मम चित्त को गम्य। न अन्य कुछ।।५७।। असित देवल के मुख से। एवं विध आपको सुनत उनसे। किंतु तब बुद्धि विषय विष से। भ्रमित पूर्ण।।५८। विषय विश्व का असर। कटु भासत परमार्थ मधुर। और कटु विषय अति मधुर। भाये जीव को।।५९।। क्या कहूं अन्यों की बात। व्यासमुनि सर्वश्रेष्ठ। प्रासाद में पधारकर बरनत। त्वत्स्वरूप सदा।।१६०।। रात्रि में चिंतामणि देखत। अज्ञान से उसे उपेक्षत। पश्चात् दिनोदय में उसका यथार्थ। पावत ज्ञान।।६१।। वैसे व्यासादिकों के वचन। जैसे चिद्रत्नों की खान। बिन आपके उपदेश कृष्ण। उपेक्षित मैंने।।६२।।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव। न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।१४।।

प्रकाशित आपके वाक्यसूर्य किरण। और ऋषिकथित जो मार्ग पूर्ण। उसका अशेष अज्ञान कृष्ण। नष्ट सकल।।६३।। ज्ञानबीज उनके बोल। मम हृदय में पड़त सखोल। आपकी कृपार्द्रता से धरत फल। सुसंवाद के।।६४।। सुनो नारदादिक सन्त। उनकी वाक्सरिता से समस्त। हुआ मैं महोदधि अनन्त। संवाद सुख का।।६५।। प्रभो! जन्म जन्मान्तर के कर्म। किये मैंने जो उत्तम। सब सफल आज पुरुषोत्तम!। सद्गुरु मेरे!।।६६।।

वैसे श्रेष्ठों के मुख से। गुणानुवाद सुने सब से। किन्तु बिन कृपा आपकी जैसे। न जानु कुछ।।६७।। अतः भाग्य ज़ब अनुकूल। तब ही कृतउद्यम सफल। तैसा श्रुताधीत सार्थ सकल। गुरु कृपा से।।६८।। बनकर तरुवर सींचत। अतियत्न से अविश्रान्त। किन्तु जब तक न प्राप्त वसंत। न पावे फल।।६९।। विषम को जब उतार। तब ही मधुर भाये मधुर। औषध तब ही गुणकर। जब निरोग देह।।१७०।। या इंद्रियां वाचा प्राण। तब ही इनका सार्थक पन। जब संचरत चैतन्य। अन्यथा व्यर्थ।।७१।। वैसे वेदादि अध्ययन। अथवा योगादि अभ्यसन। तब ही सफल संपूर्ण। जब सानुकूल सद्गुरु।।७२।। इसविध प्राप्त प्रतीति से। नाचत अर्जुन कौतुक से। कहत श्री अच्युत से। पाया अनुभव आज।।७३।। तब सच हे कैवल्यपति। बोले तब किरीटि। अगम्य आप अति। देवदानव को।।७४।। बिन प्रतीति कृष्ण। स्वप्रज्ञाबल से आपका कथन। अनुभव असंभव यह पूर्ण। जानूं मैं।।७५।।

स्वमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम। भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।।१५।।

जैसे अपना विशालत्व। आकाश स्वयं अनुभवत। अथवा कितना अपना घनत्व। यह जाने पृथ्वी।।७६।। वैसी अपनी सर्वशक्ति। स्वयं आप जानत लक्ष्मीपति। अन्य वेदादिकों की मति। भासत व्यर्थ।७७।। मनोगति कैसे लांघना। पवन को कैसे नापना?। आदिशून्य को पार करना। बाहु से कैसे?।।७८।। वैसे आपका ज्ञान। कोई न जाने अन्य। आपका स्वरूप ज्ञान। आप ही को प्रभु।।७९।। आप ही जानत अच्युत। सब को कहने में समर्थ।

अब आर्तजनों की इच्छा तृप्त। करना युक्त।।१८०।। सुनो हे भूतभावन!। त्रिभुवन गज पंचानन। सकल देव देवतार्चन। जगन्नायक।।८१।। यदि देखत आपका श्रेष्ठत्व। पास खडे होने का भी नही योग्यत्व। किंतु भीतिवश यदि न विनवत। न उपाय अन्य।।८२।। समुद्र सरिता परिपूर्ण। किन्तु चातक को न कुछ समाधान। बूंद एक मेघ से कृष्ण। शमवत तृष्णा।।८३।। वैसे श्रीगुरु सर्वत्र विद्यमान। किंतु हमें आप ही गति अनन्य। तब सांप्रत कहो कृष्ण। विभूति आपकी।।८४।।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः। याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।१६।।

आपकी विभूतियां कृष्ण। व्यापक दिव्य शक्तिमान। दिखलावो मुझे संपूर्ण। आप स्वयम्।।८५।। जो आपकी विभूतियां अशेख। व्यापत पूर्ण त्रिलोक। उनमें से नामांकित प्रमुख। करो प्रकट।।८६।।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्। केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।।१७।।

तब कैसे मैं आपको जानूं?। किस भाव से चिन्तन करूं। यदि आपको सर्वव्यापक मानूं। तब चिन्तन अशक्य।।८७।। अतः पूर्वी आपने जैसे। भाव बताये संक्षेप से। अब विस्तार पूर्वक वैसे। कहो पुनः।।८८।। जिन जिन भावों में गोसाईं। चिंतन से मुझे सायास नाहीं। स्पष्ट करके कहो सबही। योग अपना।।८९।।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन। भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।१८।।

मैंने पूछा जो विभूति। वही कहो हे भूमिपति। यदि कहत पुनरावृत्ति। किसलिये

यहां?।।१९०।। तब ऐसा न सोचो जनार्दन!। मन में यह भाव कृष्ण। क्या कभी अमृतपान-। को ना कहत कोई।।९१।। जो कालकूट का सहोदर। मृत्युभय से सेवत अमर। तब भी दिन में पुरंदर। नाशत चौदह।।९२।। ऐसा एक क्षीराब्धि रस। जिसको व्यर्थ ही अमृत का आभास। उसका भी मधुर अंश। कहत न अलम्।।९३।। उस क्षुद्र की हे श्रीकृष्ण। मिठास इतनी महान। तब आपके यह बोल पूर्ण। परमामृत तत्त्व।।९४।। जो मंदराचल को न हिलाकरत। क्षीरसागर को न मथकर। अनादि सहज धनुर्धर। स्वयंभू होत।।९५।। जो न द्रव न बद्ध। जिसको ना रस ना गंध। किसी को भी होत सिद्ध। स्मरण मात्र से।।९६।। सुनके तत्क्षण जिसकी बात। अशेष संसार भासत व्यर्थ। दृढ़ अनित्यत्व प्रवेशत। अपने से।।९७।। जन्म मृत्यु की भाष। लुप्त होत निःशेष। अंतर्बाह्य महासुख अशेष। बढ़त जात।।९८।। दैवगति से जिसका सेवन। आत्मरूपी करत कृष्ण। वह अमृतमय वचन। मोहत मेरा चित्त।।९९।। तेरा नाम ही हमको प्रिय अच्युत। भेंटत आप, सहवास होत। इस पर प्राप्त आनन्द युक्त। संवाद सुख।।२००।। उस सुख का वर्णन। करना अशक्य हे कृष्ण। किंतु चाह श्रवण की पुनः पुनः। मुख से आपके।।१।। क्या कभी बासीपन सूर्य को?। क्या अशुद्धत्व शक्य अग्नि को?। क्या नित्य बहते गंगातोय को। बासी कहत?।।२।। जो स्वमुख से दिया ज्ञान। नाद ब्रह्म दिखाया पूर्ण। पाया चंदन तरुपुष्प का कृष्ण। सुगंध आज।।३।। यह पार्थ की सुनके बात। सर्वांग से प्रभु डोलत। कहत भक्ति-ज्ञानार्थ यथार्थ। आगार यह।।४।। प्रतीति से अर्जुन संतुष्ट। प्रेम

की धारा उमड़त। सायास से अनंत रोकत। क्या कहत।।५।।

श्री भगवान उवाच–

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः। प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।१९।।

मैं पितामह का पिता। यह स्मरण नहीं सर्वथा। कहत बात पंडुसुता। किया युक्त।।६।। अर्जुन को कहत तात। न कुछ इसमें विस्मय की बात। नंदगृह में लीला दिखावत। पुत्ररूप से जो।।७।। रहने दो यह साम्प्रत। प्रीति विशेष से यह घटत। अब कहूं जो अच्युत। कहत पार्थ को।।८।। जो तुमने पूछी विभूति। वह तो अपार सुभद्रापति। जो मेरी किन्तु मन्मति-। को अगणनीय सार्थ।।९।। अंग में रोमाग्र समस्त। गिनति न शक्य स्वयं को पार्थ। वैसे मम विभूतियां अनगिनत। अशक्य वर्णन को।।२१०।। मैं कैसा कितना। स्वयं मुझको न स्पष्ट कल्पना। इसलिये जो रूढ़ प्रधाना। सुनो उनको।।११।। जिनको यदि जानो किरीटि। समस्त ज्ञात विभूति। जैसे बीज की यदि होवे प्राप्ति। प्राप्त तरु पूर्ण।।१२।। या जब उद्यान हस्तगत। पुष्प फल सहज लभत। जिनको देखकर दिखत। विश्व सकल।।१३।। वैसे सचही यह धनुर्धर!। असमि मेरा विस्तार। जो यह गगन अपार। समाहित मुझमें।।१४।।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयास्थितः। अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।२०।।

सुनो, कुटिलालक मस्तक। धनुर्वेद त्र्यंबक। मैं आत्मा हूं एकेक। प्राणिमात्र के ठाँई।।१५।। मैं शरीर अंतर में अर्जुन। मैं ही भूतों का बाह्याच्छादन। आदि अंत मध्य में पूर्ण। व्याप्त मैं ही।।१६।। जैसे मेघ के नीचे ऊपर। अंतर्बाह्य आकाश सर्वत्र। उद्गम

आकाश में साचार। वास भी आकाश में।।१७।। पश्चात् जब पावत लय। पुनरपि आकाश ही होय। वैसी आदि स्थिति गति कौन्तेय। भूतों को मैं।।१८।। ऐसा अनन्तत्व और व्यापकपन। मेरे विभूति योगका अर्जुन। अतः जीव को करके कर्ण। सुनो ध्यानसे।।१९।। अब इसके आगे जो विभूति। कहना तुमको सुभद्रापति। वे कहूं प्रधान तुझ प्रति। सावधान सुनो।।२२०।।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्। मरिचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।२१।।

ऐसे कहकर वह कृपावन्त। कहे विष्णु मैं आदित्यों में पार्थ। रवि मैं रश्मिवन्त। सुप्रभो में।।२१।। संपूर्ण मरुद्गण में। शारंगी कहे मरीचि मैं। चन्द्र मैं गगन रंग में। तारागणों में।।२२।।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः। इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामास्मि चेतना।।२२।।

वेदों में जो सामवेदु। वह मैं कहे गोविन्दु। देवताओं में मरुद्बंधु। महेंद्रु मैं।।२३।। इंद्रियों मे एकादश मन। मुझको ही जानो अर्जुन। भूतों में जो मूल चैतन्य। स्वभावतः वह मैं।।२४।।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्। वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।।२३।।

अशेष रूपों में सुवीर। मैं मदनारी शंकर। वह मैं ही साचार। निभ्रांत जानो।।२५।। यक्ष-राक्षस गण में सार्थ। जो शंभु का सखा धनवन्त। वह कुबेर मैं ही पार्थ। कहत अनन्त।।२६।। अष्ट वसुओं में जो पावक। वह जानो मैं ही एक। शिखरिणों में सर्वोच्च

देख। मेरू वह मैं।।२७।।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ वृहस्पतिम्। सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।।२४।।

महर्षीणां भृगरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्। यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।२५।।

जो स्वर्गसिंहासन का सचिव। सर्वज्ञता का आदि ठांव। वह पुरोहितों का राव। बृहस्पति मैं।।२८।। त्रिभुवनों के जो सेनापति। उनमें जो स्कंद महामति। हरवीर्य से अग्निसंग से व्युत्पत्ति। कृत्तिका उदर से।।२९।। सकल सरोवरों मे प्रियदर्शी!। जो समुद्र वह मैं जलराशि। महर्षियों में तपोराशि। भृगु जो वह मैं।।२३०।। अशेष वाचा से धनुर्धर। जो सत्य व्यवहार। कहे मैं वह अक्षर ॐकार। वैकुंठ विलासी।।३१। समस्त यज्ञों में श्रेष्ठ। मैं जप यज्ञ इहलोक में पार्थ। जो कर्म त्याग से सृष्ट। प्रणवादिक से।।३२।। नाम जप यज्ञ परम। बाध्य न उसे स्नानादि कर्म। नाम से पावन धर्माधर्म। परब्रह्म जो।।३३।। स्थावर गिरियों में पार्थ। पुण्यपुंज जो हिमवन्त। वह मैं ही कहे कान्त। श्रीलक्ष्मीजी के।।३४।।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः। गन्धर्वाणां चित्ररथः कपिलो मुनिः।।२६।।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्। ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।।२७।।

कल्पद्रुम और पारिजात। गुण में चंदन ही विख्यात। तथापि सब वृक्षों में अश्वत्थ। वृक्ष जो वह मैं।।३५।। देवऋषियों में पार्थ। नारद जो वह मैं पार्थ। सकल गंधर्वों में चित्ररथ। गंधर्व मैं।।३६।। अशेष सिद्धों में सिद्ध। कपिलाचार्य जो महाप्रबुद्ध। तुरंग जात में

सर्वप्रसिद्ध। उच्चैःश्रवा मैं।।३७।। गजमध्ये गजभूषण। ऐरावत मैं अर्जुन। पयोराशी सुरमंथन से उत्पन्न। अमृतांश मैं।।३८।। नर-मध्ये जो नरेश। मेरी वह विभूति विशेष। जिसकी मानत आज्ञा अशेष। प्रजाजन।।३९।।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्। प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।।२८।।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्। पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहत्।।२९।।

समस्त हथियारों में। श्रेष्ठ जो वज्र वह मैं। जो शखमखोत्तीर्ण के कर में। विराजमान।।२४०।। धेनु में मैं कामधेनु। वह मैं कहत विश्वकसेनु। उत्पत्तिकर्ताओं में मदनु। मैं ही जानो।।४१।। सर्पकुल में अधिष्ठाता। वासुकि मैं कुंतीसुता। नागों में समस्ता। अनंत मैं।।४२।। यादस में पार्थु। पश्चिम प्रमदा का कान्त। वह वरुण मैं यह अनन्त। निरूपत।।४३।। और पितृगण में समस्त। अर्यमा जो पितृदैवत। वही मैं तत्वतः। कहूं मैं।।४४।। जग के शुभाशुभ कर्म लिखत। प्राणियों का मन परखत। कर्मानुसार फलदेत। भोग नियम जो।।४५।। उन नियामकों में यम। जो कर्मसाक्षी धर्म। वह मैं कहे आत्माराम। रमापति।।४६।।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्। मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतयश्च पक्षिणाम्।।३०।।

दैत्यकुल में अर्जुन। प्रहलाद मुझको जान। अतः दैत्य भाव से पूर्ण। अलिप्त वह।।४७।। हर्ताओं में महाकाल। वह मैं कहे गोपाल। श्वापदों में शार्दुल। मुझको जानो।।४८।। पक्षि जाति में धनुर्धर। गरुड़ मैं पक्षिवर। अतः अपने पीठ पर। मुझको वहन शक्य।।४९।।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्। झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।।३१।।

पृथ्वी का समस्त विस्तार। घड़ी न लगत पंडुकुंवर। एक ही उड्डाण में सप्तसागर–। की प्रदक्षिणा करत।।२५०।। ऐसा वेगवन्त में गतिवन्त। पवन जो वह मैं निश्चित। शस्त्रधरों में समस्त। श्रीराम मैं।।५१।। संकटग्रस्त धर्म अनुकम्पायुक्त। स्वयं निर्मित दूसर धनुष पार्थ। विजयलक्ष्मी को एकमेव मार्ग प्रशस्त। किया त्रेता में।।५२।। पश्चात् सुवेलाचल पर किरीटि। प्रताप लंकेश्वर की मस्तक पंक्ति। उदोकार गर्जत भूतों प्रति। दे दी बलि।।५३।। देवों को पुनः सम्मान दिया। धर्म का जीर्णोद्धार किया। सूर्यवंश में उदित हुआ। प्रतिसूर्य जो।।५४।। शस्त्रधर परविजितियो में पार्थ। रामचंद्र मैं जानकी कान्त। मकर मैं पुच्छवन्त। जलचरों में।।५५।। सरिता प्रवाह निखिल। मध्ये भगीरथ लाया गंगाजल। वह जन्हु निगलत देत सकल। जंघा फाड़कर।।५६।। वह त्रिभुवनैकसरिता। जान्हवी मैं पंडुसुता। सब जल प्रवाहों में सर्वथा। सुनो तुम।।५७।। इस विध सृष्टि में भिन्नभिन्न। ये विभूति करूं एकेक वर्णन। जन्म सहस्र में न शक्य अर्जुन। गिनति अर्ध।।५८।।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन। अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।।३२।।

अक्षराणामकारोऽस्मिद्वन्द्वः सामासिकस्य च। अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।।३३।।

यदि समस्त नक्षत्र की गणना। इच्छा उपजत स्वमना। तब गगन की मोट (पोटली) बांधना। तभी शक्य।।५९।। करना यदि पृथ्वी परमाणु गिनती। पूरा भूगोल हथियान किरीटि। वैसे देखना यदि मेरी विस्तार व्याप्ति। जानिजे मुझको ही।।२६०।। जैसे शाखा

के पत्र फूल फल। एकसाथ करना प्राप्त सकल। तब तो उखाड़कर पूर्ण मूल। लेना हस्त में।।६१।। वैसी मेरी विभूति विशेष। यदि जानना अशेष। तब स्वरूप एक निर्दोष। जानिये मेरा।।६२।। अन्यथा भिन्न-भिन्न विभूति। कितनी सुनोगें किरीटि। अतः जानो एक महामति। सर्वगत को मुझे।।६३।। मैं समस्त सृष्टि में। व्याप्त आदि मध्यान्त में। ओतप्रोत पट में। तंतू जैसा।।६४।। ऐसे मुझ विश्वव्यापक को जानिये। तब यह विभूति भेद किसलिये। किंतु यह योग्यता न तेरी देखिये। इसलिये सुनो!।।६५।। जो तुमने पूछी विभूति। अतः सुनो हे सुभद्रापति। तब सर्व विद्या में जिसकी ख्याति। अध्यात्मविद्या मैं।।६६।। वक्ताओं में अर्जुन। शास्त्र संमत से न कभी पूर्ण। ऐसा जो वाद संपूर्ण। मैं ही जानो।।६७।। विचार से और वर्धमान। श्रोताओं को तर्क बलवान। अति मधुर संभाषण। निष्पन्न जिससे।।६८।। ऐसे प्रतिपादन में वाद। वह मैं कहे गोविंद। अक्षरों में विषद। अकार जो मैं।।६९।। और समासों में समस्त। द्वन्द्व मैं सुनो पार्थ। मशक से ब्रह्मपर्यन्त। ग्रासिता वह मैं।।२७०।। मेरु मंदार सहित। सकल पृथ्वी को नाशत। एकार्णव को भी शुष्क करत। जहां के तहां।।७१।। जो प्रलय तेज को आलिंगत। सकल पवन को निगलत। आकाश पूर्ण समाहित। उदर में जिसके।।७२।। ऐसा अपार काल। वह मैं कहे गोपाल। पुनरपि सृष्टि खेल। का सृजिता मैं।।७३।।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्। कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।३४।।

और सृष्ट भूतों का मैं धर्ता। सब का मैं ही जीवनदाता। अंत में सबका जो संहारकर्ता।

वह मृत्यु मैं ही।।७४।। अब स्त्रीगणों में श्रेष्ठ। मेरी विभूतियां सप्त। सुनो सकौतुक पार्थ। कहूं तुझको।।७५।। तब नित्यनूतन जो कीर्ति। अर्जुन वह मेरी मूर्ति। और औदार्ययुक्त जो संपत्ति। वही मैं जानो।।७६।। मैं ही वह वाणी। आरूढ़ जो नीति सुखासनी। विवेक मार्ग अनुगामिनि। निरंतर।।७७।। दृष्ट पदार्थों का स्मरण। जिससे होवे अर्जुन। वह स्मृति साक्षात् संपूर्ण। त्रिशुद्धि मैं।।७८।। जो स्वहित अनुयायिनी। मेधा बुद्धि स्वरूपिणी। धृति मैं त्रिभुवनी। क्षमा भी मैं।।७९।। एवं इस जग में पूर्ण नारी। जाति में सप्त शक्तियां सारी। ऐसे संसारगज केसरी। निरूपत स्वयम्।।८०।।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्। मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।।३५।।

वेदराशि में जो साम। उनमें बृहत्साम जो प्रियोत्तम। वह मैं ही अति उत्तम। रमापति कहे।।८१।। गायत्री छंद जो कहिये। सकल छंदों मे श्रेष्ठ जानिये। वह स्वरूप मेरा मानिये। सुनिश्चित।।८२।। मासों में मार्गशीर्ष। मुझको ही जानो गुड़ाकेश। कुसुमाकर ऋतुविशेष। वसन्त वह मैं।।८३।।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्ते जस्विनामहम्। जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।।३६।।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः। मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।।३७।।

छल के प्रकार पूर्ण। उन में द्यूत मैं विचक्षण। चौहट्टे पर इस चौर्य का निवारण। असंभव जानो।।८४।। तेजस्वियों में अशेष। तेज मैं गुड़ाकेश। विजय मैं कार्योद्देश। मध्य में सकल।।८५।। जिससे निर्मल दिखत न्याय। वह व्यवसायों में व्यवसाय। मेरा स्वरूप

कौन्तेय। जानो तुम।।८६।। सकल सात्विकों में पार्थ। सत्व मैं कहे अनन्त। यादवों में लक्ष्मीवन्त। मैं ही जानो।।८७।। जो वसुदेव देवकी से उत्पन्न। कुमारी स्तव गोकुल गमन। किया दुग्ध मिष से प्राणशोषण। पूतना का मैंने।।८८।। बाल्यावस्था में अविकसित। मैं अदानवी पृथ्वी करत। गिरीधारण करके नापत। महेंद्र महिमा।।८९।। किया कालिंदीह्रदय शल्य नष्ट। जलते गोकुल को बचाया पार्थ। गोपबछड़ों के लिये किया भ्रमित। विरिंची को मैंने।।२९०।। प्रारंभ में प्रथम दशा का। कंस चाणुरादिकों का। किया नाश बलिराक्षसों का। लीलया जिसने।।९१। यह कितना कहूं एकेक वीरेश। तुमने देखा सुना जो अशेष। यादवों में जिसका कार्य विशेष। वही स्वरूप मेरा।।९२।। और सब सोमवंशियों में। अर्जुन मैं, पांडवों में। इसलिए परस्पर प्रेमभाव में। रहूं निरन्तर।।९३।। संन्यासी होकर पार्थ। मम भगिनी हरण करत। तथापि मन में न विकल्प उठत। जो मैं और तुम एक।।९४।। मुनियों में व्यासदेव। मैं ही कहे यदुराव। कवीश्वरों में जो श्रेष्ठ ठांव। वह उशनाचार्य मैं।।९५।।

दण्डो दमयतामस्मि जितिरस्मि जीगीषताम्। मौनं चैवास्मि गुह्यांना ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।।३८।।

सकल दमयितों में पार्थ। अनिवार्य दण्ड मैं यथार्थ। जो पिप्पिलिका से ब्रह्मपर्यन्त। सुनियमत।।९६।। सारासार विचार से अर्जुन। धर्मज्ञान का जिसमें अनुसरण। ऐसा सकलशास्त्रों में संपूर्ण। नीतिशास्त्र मैं।।९७।। अशेष गुह्यों में पार्थ। मौन मैं हूं बलवंत। धारक सन्मुख अज्ञान साक्षात्। सृष्टा भी स्वयम्।।९८।। ज्ञानियों के हृदयान्तर में। जो

ज्ञान संपूर्ण वही मैं। जो ज्ञान संपूर्ण वही मैं। अतः मेरे विभूतियों में। पार न पावेगा
तू।।९९।।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन। न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।३९।।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप। एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।।४०।।

पर्जन्यधाराओं की जैसी। गणना न संभव वैसी। क्या पृथ्वीतृणांकुर की तैसी। गिनती शक्य?।।३००।। अथवा महोदधि के तरंग। असंभव उनकी संख्या सुभग। वैसे मेरे विशेष लिंग। उनकी मिति नाही।।१।। ऐसे में भी सात पांच प्रधान। विभूतियां कही तुझको अर्जुन। किन्तु मेरा यह प्रयत्न। परिचय मात्र।।२।। वैसा मेरा विभूति विस्तार। असंख्य साच धनुर्धर। सुनोगे कितना तुम सुवीर। कितना बताऊं मैं।।३।। इसलिये एकबार गुह्य। दिखाऊं तुझको मर्म निज। सब भूतांकुर का जो बीज। मैं ही पार्थ।।४।। अतः सान श्रेष्ठ न कंहिये। उच्च नीच भाव छांडिये। एक मैं ही जानिये। वस्तुमात्र को।।५।। इस पर भी एक साधारण। सुनो और लक्षण। जिससे जानेगा तू अर्जुन। विभूतियां मेरी।।६।।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्।।४१।।

जहां-जहां दया एवं संपत। दोनों एक स्थान सें वसत। वहां वहां जानो पार्थ। विभूतियां मेरी।।७।।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितोजगत्।।४२।।

अथवा एक ही बिंब गगन में। किन्तु प्रभा प्रसरत त्रिभुवन में। वैसे जिस एक की पूर्ण जग में। आज्ञा चलत।।८।। न कहो उसको एकल। वह निर्धन यह भाव विफल। क्या कामधेनू को सामग्री सकल। आवश्यक।।९।। उसको जो जब मांगत। तत्क्षण वह वो प्रसवत। विश्व विभव पूर्ण पार्थ। विभूति में मेरी।।३१०।। उसको जानने की यही संज्ञा। जो जग को शिरोधार्य उसकी आज्ञा। ऐसे जो जो देखा प्राज्ञा। वह अवतार मेरे।।११।। और यह सामान्य यह विशेष। जाना यहां महादोष। क्योंकि मैं ही अशेष। विश्वरूप।।१२।। तब तुम ही कहो पार्थ। यदि सामान्य-विशेष भेद कल्पत। अपने बुद्धि को कलंक व्यर्थ। लगत जात।।१३।। वैसे भी घृत को क्यों मथना?। अमृत को क्यों ओंटना। कैसे सव्यापसव्य जानना। वायु के अंग को?।।१४।। सूर्य बिंब का अग्रपृष्ट किरीटि। देखे यदि नाशत अपनी दृष्टि। वैसे मत्स्वरूप में न गोष्टी। सामान्य विशेष की।।१५।। मेरी विभूतियां अपार भिन्न। कैसी गणना करोगे अर्जुन। अतः उसकी इच्छा पूर्ण। रोको अब।।१६।। मेरे एक अंश से पार्थ। संपूर्ण जगत व्याप्त। अतः अभेद सम बुद्धि से संतत। सर्वत्र भजो मुझको।।१७।। इसविध विबुधजनवसंत। विरक्त जन एकान्त। कहत सकलैश्वर्यमंडित। श्रीकृष्णदेव।।१८।। तब अर्जुन कहत स्वामी। यह राभस्य कहा नामी। क्या यह भेद अकेले अंतर्यामी। छोड़ना हमने।।१९।। क्या उदय पूर्व गभस्त। कहत तम को भगाओ अन्यत्र?। यदि आपको कहूं यह गलत। होगी बड़ी बात।।३२०।। कभी क्वचित त्वन्नाम अच्युत। मुख कर्ण को होवे प्राप्त। उसके हृदय को छांडत। तत्क्षण भेद।।२१।। आप ही

परब्रह्म संपूर्ण। दैव से हस्तोदक से पाया कृष्ण। अब भेद कैसा कौन। देखना किसने?।।२२।। यदि चंद्रबिंब के गर्भ में। प्रविष्ट होकर यदि तप्त धूप में। आप श्रेष्ठ जो आया मन में। बोलिये प्रभु।।२३।। वहां तत्क्षण संतोषत। मन से अर्जुन को आलिंगत। कहत न होना तुम रुष्ट। बोल से मेरे।।२४।। भेदकथन के ओघ में। जो विभूति कथा कही उसमें। देखा अभेद तेरे मन में। हुआ दृढ़।।२५।। यही परखने प्रीत्यर्थ। क्षणैक आजमाया तेरा चित्त। अब माना विभूति बोध सत्य। हुआ तुझको।।२६।। तब कहत अर्जुन हे ईश। यह अपना आप जानो सर्वेश। देखूं सच मैं विश्व अशेष। व्याप्त आपमें।।२७।। इसविध वह पंडुसुत। ऐसी प्रतीति पावत। रहे संजय के बोल पर निवान्त। धृतराष्ट्र मौन।।२८।। संजय का मन दुःखित। कैसे नवल दैव दूर लोटत। समझू इसको बाह्य चक्षु नष्ट। यह तो अन्तर से भी अंध।।२९।। रहने दो यह देखो अर्जुन। स्वहित का बढ़ावत जो मान। इसलिये उपजत विषय में अन्य। उत्कंठा उसको।।३३०।।

कहे यही हृदय की प्रतीति। होवे प्रकट बाह्य चक्षुप्रति। इस आर्ति से उसकी मति। आतुर होत।।३१।। इन्हीं दो नयनों से अखिल। देखूं मैं विश्वरूप सकल। मन में इच्छा प्रबल। उस दैववान के।।३२।। आज वह कल्पतरु की शाखा साक्षात्। बांझ पुष्प न कभी प्रसवत। जो-जो मुख से कहत जात। करे सच कृष्ण।।३३।। जो प्रहलाद के भावार्थ। स्वयं विषरूप में प्रकटत। ऐसा सद्गुरु प्राप्त। किरीटि को।।३४।। अतः विश्वरूपदर्शन प्रीत्यर्थ। कौन रीति से पूछत पार्थ। कहूंगा आगे प्रसंग मैं निश्चित। कहे ज्ञानदेव निवृत्ति

का।।३३५।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः।।
(श्लोक ४२; ओवियाँ ३३५)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।

।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – ग्यारहवाँ

एकादश अध्याय में इस। कथारूप में दोनों रस। यहां विश्वरूप दर्शन विशेष। लाभ पार्थ को।।१।। जहां शांति के सदन। आवत अद्भुत मेहमान। और भी अतिथि रस अन्य। पावत मान।।२।। अहो वधु-वर मिलन–। समय में बारातियों को भी वस्त्राभूषण। प्राप्त वैसे देशिया के सुखा-सन। में विराजत रस।।३।। किंतु इनमें शांताद्भुत विशेष। लीजे चक्षु अंजुली से खास। जहां हरिहर प्रेमभाव सुरस। मिलन होत।।४।। नातर अमावस के

दिन। दोनों बिंबोंका होत मिलन। वैसे उभय रस का ऐक्य पूर्ण। होत यहां।।५।। मीनत गंगा जमुना के जलौध। वैसे रसों का होत प्रयाग। अतः सुस्नात होत जग। संपूर्ण यहां।।६।। मध्य में गीता सरस्वती गुप्त। और दोनों रस रूप ओघ मूर्त। इसलिये त्रिवेणी संगम यथार्थ। हुआ सत्य।।७।। मात्र श्रवण के द्वारा। प्रवेश तीर्थ में सुलभ सुधीरा। ज्ञानदेव कहे दातार मेरा। कृपासिंधु।।८।। नीर संस्कृत का गहन। तोड़कर प्राकृत शब्द सोपान। विरचित धर्म निधान। श्री निवृत्ति देवने।।९।। अतः सद्भाव से यहां नहाइये। प्रयाग माधव विश्वरूप देखिये। इसविध संसार को दीजिये। तिलोदक।।१०।। देखिये यहां सावयव। बहरत पूर्ण रसभाव। जहां श्रवणसुख की राणीव (राज्य)। प्राप्त जग को।।११।। यहां शांताद्भुत रस प्रत्यक्ष। अन्य रसोंको भी रूप विशेष। किंबहुना मूर्त स्वरूप से मोक्ष। प्रकट होत।।१२।। सो यह अध्याय एकादश। जो स्वयं देव का निवास। अर्जुन भाग्यवंत विशेष। जो उपस्थित यहां।।१३।। अकेला ही क्यों पार्थ। सबको सुयोग प्राप्त। जो प्रत्यक्ष प्रकट यह गीतार्थ। प्राकृत में आज।।१४।। इसलिये जी सुनिये। मेरी विनती मानिये। अवधान पूर्ण दीजिये। सज्जनवर।।१५।। संत सभा सन्मुख। ढिठाई न मेरी युक्त विशेख। मानिये अपत्य समकक्ष। दुलार से मुझको।।१६।। तोते को स्वयं पढ़ाईये। पढ़त तव माथा डुलाइये। क्या न रीझत माता देखिये। लीला से बालक के?।।१७।। वैसे जो-जो मैं कहत। प्रभु आपसे ही मुझको प्राप्त। इसलिये करो श्रवण बात। अपनी ही देव।।१८।। यह सारस्वत रस का अंकुर। आपने लगाया मधुर।

अवधानामृत से सींचकर। बढ़ाइये स्वयम्।।१९।। तब बहरेगा यह रसभाव से। झुकेगा नानार्थ फलभार से। पावेगा सुख आपकी कृपा से। जगत समस्त।।२०।। इस बोल से रीझत संत। कहत वाह! कथन से हम संतुष्ट। अब कहो जो बोलत अनंत। अर्जुन को वहां।।२१।। तब कहत निवृत्तिदास। यह कृष्णार्जुन संवाद विशेष। मैं अनभिज्ञ असमर्थ खास। किंतु कहलाइये आप।।२२।। देखिये पर्णभक्षक बन-मर्कट। उनसे कराया लंकेश्वर परास्त। अकेला अर्जुन जीतत। अक्षौहिणी ग्यारह।।२३।। अतः जो-जो वांछत समर्थ। चराचर में घटत समस्त। वैसे आप सब संत। दो शक्ति मुझको।।२४।। अब कहूं मैं करो श्रवण। यह गीता भाव नीका पूर्ण। जो वैकुंठ नायक श्रीकृष्ण-। के मुखसे स्रवत।।२५।। धन्य-धन्य ग्रंथ गीता। जो वेद में प्रतिपाद्य देवता। वह श्रीकृष्ण स्वयं वक्ता। जिस ग्रंथ का।।२६।। उसका गौरव कैसा बखानिये?। जहां शंभुमति कुंठित होवे। वह अब जीवभाव से वंदिये। यही युक्त।।२७।। अब सुनो किस विध पार्थ। विश्वरूप दर्शन प्रीत्यर्थ। कैसी करत चतुर बात। चतुरता से।।२८।। यह समस्त जग सर्वेश्वर। ऐसा प्रतीति गत जो प्रकार। कैसे होवे दृष्टिगोचर। बाह्यचक्षु से।।२९।। ऐसी जो मन में आस। कैसे कहूं प्रभुको प्रत्यक्ष। जो यह विश्वरूप गुह्य विशेष। मुझको दिखाइये।।३०।। पहले किसी ने कोई। प्रिय जन ने कभी पूछा नहीं। कैसे कहूं सहसा सब ही। बताओ मुझको।।३१।। मानूं मैं मित्र खास। क्या माता से भी प्रिय विशेष?। वह भी प्रसंग में इस। भयभीत मन में।।३२।। मैंने की सेवा बनी जितनी। किंतु क्या वह गरुड के इतनी?। वह भी इस

विषय में मौनी। बना साच।।३३।। क्या मैं सनकादिकों से निकट?। वे भी न पूछत यह बात। क्या मैं प्रिय विशिष्ट। गोकुलवासियों से?।।३४।। उनको बाल भाव से ठगावत। अंबरीष प्रीत्यर्थ गर्भवास सहत। किंतु यह विश्वरूप रक्षित। न दिखाया किसीको।।३५।। अंतरंग की यह गुप्त बात। कैसे पूछूं मैं अकस्मात। और यदि विश्वरूप दर्शन से वंचित। जीना दुश्वार मेरा।।३६/३७।। अतः पूछूं मैं क्रम-क्रम से। भगवान को भाये जैसे। सभय प्रवर्तत इस विचार से। पार्थ तब।।३८।। कहत अति कुशलता से। जो एक-दो प्रश्नोत्तर से। प्रभू दिखावत विश्वरूप प्रेम से। संपूर्ण उसको।।३९।। अहो, वत्स दृष्टि से निहारत। त्वरित प्रेम से धेनु उठत। स्तनमुख की जब होवे भेंट। क्या रोकत दुग्ध?।।४०।। जिन पांडव प्रीत्यर्थ। वन में भी रक्षत अच्युत। जब वह अर्जुन स्वयं पूछत। मौन रहेगा कैसे?।।४१।। स्नेहमूर्ति साक्षात कृष्ण। और प्राप्त स्नेहखाद्य। ऐसे ऐक्यभाव में पृथकपन। शेष यही विशेष?।।४२।। अतः पार्थ के प्रश्न से। प्रभु विश्वरूप होत अपने से। वह प्रसंग प्रारंभ से। सुनिये अब।।४३।।

अर्जुन उवाच–

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्। यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।।१।।

तब पार्थ कहत हे कृष्ण!। जी, आपने मेरे कारण। प्रकट किया जो गुह्य कथन। कृपानिधे।।४४।। जब ब्रह्म में महाभूत मीनत। जीव महदादि लुप्त होत। तब जो देव बनकर रहत। अंतिम स्वरूप वह।।४५।। जो हृदय मंदिर में सुप्त। कृपण के समान गुप्त।

शब्द ब्रह्म को भी अज्ञात। अति गूढ़।।४६।। वह आज आपने सदय। मुझप्रत खोला हृदय। जिस अध्यात्म पर किया ऐश्वर्य। निछावर हरने।।४७।। वह वस्तु विशेष। मुझको तुरन्त दी सर्वेश। यदि कहूं तो आवत दोष। ऐक्य को अपने।।४८।। किंतु साथ महापुर में अच्युत। डूबा मैं मस्तक पर्यंत। आपने डुबकी लगाकर स्वतः। निकाला मुझको।।४९।। एक आप बिन कोई। दूजी भाषा विश्व में नाहीं। किंतु देखो हमारा कर्म ही। जो है कहत।।५०।। मैं जग में एक अर्जुन। मानत ऐसा अभिमान। इन कौरवों को स्वजन। कहत अपना।।५१।। इनकी हत्या करूंगा मैं। और बनूंगा भागी पाप मैं। ऐसा देखूं स्वप्न में। तब जगाया प्रभु!।।५२।। देव गंधर्व नगरी की वस्ती। छोड़कर निकाला हे लक्ष्मीपति। जो अब तक उदक के आर्ती-। से रोहिणी पिबत।।५३।। सांप साच कपड़े का अच्युत। किंतु विषोर्मिकी लहर आवत। मरणासन्न को बचाने का श्रेय सार्थ। लिया आपने।।५४।। अपना प्रतिबिंब न जानत। कुएं में कूदेगा सिंह सांप्रत। उसको बचाना वैसे अनंत। बचाया मुझको।।५५।। मेरा तो दृढ़ निश्चय अच्युत। जो यदि सप्तसमुद्र हो एकत्रित। डूबत जग या आकाश टूटत। न लढूँ गोत्रजोंसे मैं।।५६/५७।। ऐसा अहंकार वर्धमान। दुराग्रह जल में डूबत पूर्ण। अच्छा हुआ जो निकट आप कृष्ण। अन्यथा उबारे कौन?।।५८।। क्या मन में कल्पना। जो न थे उनको गोत्रज माना। और घोर भ्रांति ग्रस्त होना। किंतु रक्षित आपने।।५९।। पूर्वी जलते लाक्षागृह में। तब देहभय ही था उसमें। अब तो इस अग्निपीड़ा में। चैतन्य सहित सब ही।।६०।। हिरण्याक्ष दुराग्रह का अच्युत। मेरी बुद्धि वसुंधरा को

ग्रासत। अथाह मोहार्णव में सांप्रत। ले जात मुझको।।६१।। वहां आपके बोध शक्ति से। बुद्धि प्राप्त हुई भाग्य से। यह दूसरे वराहावतार से। बचाया आपने।।६२।। ऐसे अपार उपकार कृष्ण। वाचा से करूं कैसा वर्णन। जो अर्पित अपने। पंचप्राण मत्प्रीत्यर्थ।।६३।। इसविध हे देवराया। भला सुयश आपने पाया। जो साद्यंत यह माया। निरसित मेरी।।६४।। जी, आनंद सरोवर के कमल। जैसे आपके ये नेत्र कृपाल। सृजत निज प्रसाद राउर विशाल। जिनके लिये।।६५।। उनकी और मोह की भेंट। कैसी अनहोनी बात। जैसी मृगजल की वृष्टि अच्युत। वड़वानल को।।६६।। और मैं तो हे दातार!। प्रविष्ट तव कृपा मंदिर के अंदर। अनुभवत रस मधुर। ब्रह्मरस का।।६७।। उससे मेरा मोह नष्ट। इसमें क्या विस्मय की बात?। आपके चरणों की शपथ। हुआ उद्धार मेरा।।६८।।

भवाप्य यौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया। त्वत्त: कमलपत्राक्ष माहात्म्यपि चाव्ययम्।।२।।

हे कमलायत चक्षुसा!। सूर्यकोटि तेसजा!। आपसे आज महेशा!। सुना मैंने।।६९।। जिससे भूतमात्र उत्पन्न। और जिसमें पावत लयपूर्ण। किया यह प्रकृति का विवेचन। विस्तृत रूप से।।७०।। उस मायाका कर्तृत्व। दिखाया परमात्म मूलपीठ। जिसकी महिमा से वस्त्रयुक्त। वेदकृष्ण।।७१।। शब्दराशि वर्धत जीयत। धर्म समान रत्न को सृजत। उसको आपका पदाश्रय प्राप्त। सेवक भाव से।।७२।। ऐसे अगाध महात्म्य। जो सकल मार्गैक गम्य। जो स्वात्मानुभव रम्य। दिखाया इसविध।।७३।। जैसे आकाश में अभ्र फटत। सूर्यमण्डल दृष्टि को दिखत। अथवा जब शैवाल हटावत। जल दिखत स्पष्ट।।७४।।

सर्प जब छोड़त वेष्टन। तब कि चन्दन को शक्य आलिंगन। अथवा जब पिशाच्च भागते पूर्ण। प्राप्त निधान।।७५।। वैसी प्रकृति जवनिका से आवृत। मन्मति को हटाकर अच्युत। परमतत्त्व शैय्या पर स्थित। किया बुद्धी को मेरे।।७६।। अतः इस विषय में कृष्ण। मेरे जीव को भरोसा संपूर्ण। किंतु और एक उत्पन्न। इच्छा अन्य।।७७।। यदि संकोचवश रहूं मौन। किस और को पूछूं प्रश्न। क्या आप बिन ठाँव अन्य। दूजा हमको?।।७८।। यदि जल से जलचर उपकृत। अथवा बालक स्तनपान को सकुचत। तब उनकी जीवनरक्षा का अच्युत। कौन उपाय अन्य?।।७९।। इसलिये संकोच न युक्त। मन को जो भाये कहना स्पष्ट। तब रोककर पार्थ को कहत। क्या इच्छा तेरी?।।८०।।

एवमेतद्यथात्थ त्वामात्मानं परमेश्वर। द्रष्टुमिच्छमि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ।।३।।

तब बोलत किरीटि। जो आपने कही गोष्टी। उसकी प्रतीति से मेरी दृष्टि। तृप्त पूर्ण।।८१।। अब जिस संकल्प से अच्युत। यह लोकपरंपरा नाशत सृजत। जिस स्थान को आप कहत। स्वयं मैं।।८२।। वह मुद्दल जिससे। चतुर्भुज होकर जहां से। सुर कार्य के मिष से। प्रकटत आप।।८३।। जलशयन से प्रारंभ कर। मत्स्य कूर्मादि अवतार। हे गुनिया, लीला दिखाकर। समावत जिसमें।।८४।। उपनिषद् जिसको गावत। योगीजन हृदय में स्मरत। सनकादिक ठाकत। आलिंगन में जिसके।।८५।। इस विध जो अगाध। लौकिक जिसका प्रसिद्ध। वह विश्वरूप दर्शन को सिद्ध। उत्कंठित चित्त मेरा।।८६।। छोड़कर संकोच निखिल। पूछी प्रीति से इच्छा केवल। देव यहीं एक सबल। आर्ति

मुझको।।८७।। आपका विश्वरूप संपूर्ण। होवे दृष्टि को गोचर पूर्ण। ऐसी प्रबल आस कृष्ण। बांधत जीव मेरा।।८८।।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो। योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।।४।।

किंतु हे शारंगधर!। क्या मैं विश्वरूप के दर्शन के पात्र। क्या मुझमें यह अधिकार। है या नहीं?।।८९।। यह कुछ न जानूं कृष्ण। पूछोगे यदि उसका कारण। क्या रोगी जानत निदान। रोग का अपने?।।९०।। जी प्रबल आर्ति से उत्कंठित। योग्यता स्वयं की विस्मरत आर्त। जैसे तृषार्त की तृष्णा को अच्युत। समुद्र भी कम।।९१।। मैं बालक, भ्रमित मेरा मन। रोक न पाउं इच्छा कृष्ण। किंतु माता को ही साच अनुमान। उसकी योग्यता का।।९२।। वैसा हे जनार्दन!। जानिये मेरा अधिकार पूर्ण। तब ही विश्वरूप दर्शन का। कीजे उपक्रम।।९३।। यदि योग्यता, कृपा करिये।। नहीं तो स्पष्ट नाहीं कहिये। वृथा पंचमालाप से कैसा देखिये। सुख बधिर को।।९४।। वैसे क्या चातक की ही तृषा शमवत?। क्या न मेघ वर्षत जग प्रीत्यर्थ?। किंतु यदि वह पत्थर पर जात। व्यर्थ सब।।९५।। चकोर को तो चंद्रामृत प्राप्त?। क्या अन्य को शपथ से निवारत?। किंतु बिन दृष्टि वृथा होत। जैसे प्रकाश सब।।९६।। अतः विश्वरूप आप सहसा। दिखावोगे, है पूर्ण भरोसा। ज्ञानी-अज्ञानी को सरिसा। भाव आपका।।९७।। आपका औदार्य स्वतंत्र। न कहत आप पात्र-अपात्र। जो कैवल्य देत पवित्र। बैरी को भी अपने।।९८।। मोक्ष दुरासाध्य सत्य। वह भी तेरी पादसेवा में व्यस्त। जहां भेजत वहां जात। पाईक जैसा।।९९।।

दिया सनकादिकों के समान। पूतना को सायुज्य सौरस का सम्मान। आई जो मिष से विषस्तन पान। घातिनी बनकर।।१००।। जी, राजसूय यज्ञ में कृष्ण। देखत त्रिभुवन के सभाजन। कैसे शतधा दुर्वाक्य अपमान। सहत आप।।१।। ऐसा अपराधी शिशुपाल। दी स्वरूपता गोपाल। और क्या उत्तानपाद के बाल-। को इच्छा ध्रुवपद की।।२।। वह तो बन आया लक्ष्मीवर। बैठने पिता के उत्संग पर। किया उसको जगमें स्तुतिपात्र। चंद्रसूर्य से भी आपने।।३।। ऐसा आर्तों को सकल। उदार दाता आप केवल। पुत्र मिष से बाहें अजामिल। दिया आत्मपद उसको।।४।। करे वक्षपर लत्ता प्रहार। भूषण सम रखत हृदय पर! धारण करत कलेवर। वैरी का हस्त में।।५।। ऐसा अपकारियों को उपकार। अपात्री को भी उदार। बने द्वारपाल याचक हो कर। बलिराज के आप।।६।। न किया आपका आराधन। कौतुक से शुक को संबोधन। उस गणिका को वैकुंठ में स्थान। दिया आपने।।७।। ऐसे क्षुद्रमिष से देत। स्वस्वरूप अकस्मात। सो क्या मुझको अन्य गति अच्युत। दोगे आप?।।८।। देखो गोरस के अधिकता से। जग का संकट निवारत जैसे। उस कामधेनु के वत्स कैसे?। क्षुधित होत?।।९।। अतः जो मैं बिनती करत। न दिखावेंगे न ऐसी बात। किंतु दीजिये पात्रता यथार्थ। दर्शन की कृष्ण।।११०।। तब विश्वरूप का आकलन। होत यदि मम चक्षुसे जान। तब मेरी आर्ति पूर्ण। करो आप।।११।। एसी उचित विनति। करत जब सुभद्रापति। तब वह षड्गुण चक्रवर्ती। सह न पावे।।१२।। कृपापीयूष सजल। और निकट वर्षाकाल। अथवा श्रीकृष्ण कोकिल। वसंत अर्जुन।।१३।। देखकर चंद्रबिंब पूर्ण।

आवे क्षीरसागर को उफान। वैसे द्विगुन से भी अधिक श्रीकृष्ण। उल्लसित होत।।१४।। उस प्रसन्नता का आवेश। कहत, सगर्जन विश्वेश। पार्थ देख-देख बहुवस। स्वरूप मेरे!।।१५।। एक विश्वरूप दर्शन का। मनोरथ हुआ पाण्डव का। कराया विश्वरूप मय जग का। बोध उसको।।१६।। धन्य प्रभु का औदार्य अपरिमित। याचक इच्छा के सदोदित। सहस्त्रगुन से देत। सर्वस्व अपना।।१७।। शेष चक्षु को अदृष्ट। वेद जिसके लिये भ्रमित। लक्ष्मी से ही रक्षित। अति गुह्य जो।।१८।। वह सांप्रत प्रकट विविध। विषय करत विशद। अहोभाग्य अगाध!। पार्थ का देखो।।१९।। जागृत स्वप्न में प्रवेशत। तब स्वप्नसृष्टि स्वयं होत। वैसे ब्रह्मकटाह अनंत। हुआ स्वयम।।१२०।। ऐसी की मुद्रा सहसा प्रकट। स्थूल दृष्टि की जवनिका हुई नष्ट। किंबहुना दिखाई स्पष्ट। योगऋद्धि।।२१।। किंतु देख या न देख सके अर्जुन। न दिया किंचित भी ध्यान। देख-देख मेरा रूप पूर्ण। कहत स्नेहातुर।।२२।।

श्री भगवान उवाच–

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनिच।।५।।

अर्जुन तुमने चाहा एक। वही दिखाऊं तो क्या दिखाया देख। अतः देख अब व्याप्त विश्व अशेख। मत्स्वरूप में पूर्ण।।२३।। एक कृश एक स्थूल। एक ह्रस्व एक विशाल। पृथुतर सरल। अप्रांत एक।।२४।। एक अनावर प्रांजल। सव्यापार एक निश्चल। उदासीन एक स्नेहल। तीव्र एक।।२५।। एक धुर्मित एक सावध। असलग एक अगाध। एक

उदार अतिबद्ध। कृद्ध एक।।२६।। एक शांत मन्मद। स्तब्ध एक सानंद। गर्जित एक निःशब्द। सौम्य एक।।२७।। एक साभिलाष विरक्त। जागृत एक निद्रित। परितुष्ट एक आर्त। प्रसन्न एक।।२८।। एक अशस्त्र सशस्त्र। रौद्र एक अतिमित्र। भयानक एक विचित्र। लयस्थ एक।।२९।। एक जननलीला विलासी। एक पालनशील लालसी। एक संहारक तामसी। साक्षीभूत एक।।१३०।। एवं नानाविध बहुवस। और दिव्य तेज प्रकाश। वैसे एक सरिस। वर्ण भी नाहीं।।३१।। एक तप्त सुवर्णसमान। एक अपार कपिलवर्ण। एक नभसम अस्तमान। सिंदूर लिप्त।।३२।। एक सहज सुंदर। ब्रह्मांड रत्नमंडित मनोहर। एक अरुणोदय सम सुघर। कुंकुम वर्ण।।३३।। एक शुद्ध स्फटिक सोज्वल। एक इंद्रनील सुनील। एक अंजनवर्ण कज्जल। रक्तवर्ण एक।।३४।। एक लसत्कांचन सम पीत। जलद शामवर्ण युक्त। एक चंपागौरी सदृश पार्थ। हरित एक।।३५।। एक तप्त ताम्र लाल। एक श्वेतचंद्र निर्मल। ऐसे नाना वर्ण निखिल। देख मेरे।।३६।। ये जैसे भिन्नवर्ण। आकृति भी भिन्न-भिन्न। लज्जित मदन आवे शरण। सौंदर्य ऐसा।।३७।। एक अति लावण्य साकार। एक स्निग्ध वपु मनोहर। श्रृंगार श्री का भांडार। प्रकट जैसा।।३८।। एक पीनावयव मांसल। एक शुष्क अति विक्राल। एक दीर्घ कंठ शिर विशाल। विकट एक।।३९।। एवं नानाविध आकृति। जिनका न पार सुभद्रापति। इन एकेक के अंगप्रांति-। में देखो जग।।१४०।।

जहां उन्मिलित दृष्टि। होत आदित्यों की सृष्टि। निर्मिलन से किरीटी। पावत लय।।४१।। वदन श्वासोच्छवास सहित। होत ज्वालामय समस्त। जिस ज्वाला से समूह उपजत। .अष्टवसुओं का।।४२।। और भ्रूलताओं के छोर भारत। कोप से जहां सम्मिलित। वहां रुद्रगण संघाट। उपजत देख।।४३।। मेरी सौम्य मुद्रा से पार्थ। असंख्य अश्विनी देव सृजत। श्रोत्र से उत्पन्न अगणित। वायु अनेक।।४४।। इस विध एकेक से अखिल। जन्मत सुरसिद्धों के कुल। देखो अपार एवं विशाल। रूप में इस।।४५।। वर्णन को वेद भी कुंठित। दर्शन को काल-आयु अल्प पार्थ। धाता को भी न प्राप्त। ठांव जिनका।।४६।। वेदत्रयी को भी अपरिचित। ऐसे प्रत्यक्ष रूप समस्त। देखकर भोगो आश्चर्य। महासिद्धि का।।४७।।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि।।७।।

इस मूर्ति के किरीटी। रोममूल में देख सब सृष्टि। सुरतरुतल में निर्मिति। तृणांकुर को जैसे।।४८।। वातायन रवि प्रकाश से। उड़त परमाणु दिखत जैसे। भ्रमत ब्रह्मकटाह वैसे। अवयव संधि में।।४९।। यहां एकेक प्रदेश में। देखो विश्व विस्तृत रूप में। और विश्व के पार भी मन में। यदि देखना चाहो।।१५०।। तब उसमें भी सर्वथा। नहीं न्यून तुझको पार्था। देखो सुख से जिसकी आस्था। मेरे स्वरूप में सब।।५१।। ऐसे विश्वमूर्ति कृष्ण। बोलत जब कारुण्य पूर्ण। देखत तब वहां अर्जुन। खड़ा निवान्त।।५२।। क्यों यह स्तब्ध पार्थ। सोचत जब भगवन्त। देखा तब आर्ति में व्यस्त। पहिले ही जैसा।।५३।।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

न इसकी उत्कंठा तृप्त। न दर्शनसुख प्राप्त। दिखाया विश्वरूप किंतु हुआ व्यर्थ। न जाने यह।।५४।। कहकर देव हंसत। प्रेक्षक अर्जुन को कहत। मैं विश्वरूप तुमको दिखावत। किंतु न देखत तुम।।५५।। इसपर वह विचक्षण। कहे यह तो आपको ही न्यून। आप बक से चंद्रिका पान। करावत प्रभु।।५६।। साफ करके दर्पण। दिखावत अंध को कृष्ण। या बधिर सम्मुख गायन। वैसा यत्न यह।।५७।। मकरंद कण का चारा। देकर स्वयं दर्दुर को शारंगधरा। और वृथा हुआ वह सारा। ऐसा करत कोप।।५८।। जिसको अतिंद्रिय कहत शास्त्र। केवल ज्ञानदृष्टि से वह प्राप्त। किया चर्मचक्षु समक्ष प्रस्तुत। देखूं मैं कैसे?।।५९।। किंतु कैसे कहूं आपका न्यूनत्व। निवान्त सहूं यही युक्त। तब कहत श्री अच्युत। मानूं यह मैं।।१६०।। विश्वरूप साच यदि दिखाना। प्रथम दृष्टिसामर्थ्य था देना। किंतु हुआ विस्मरण हमने माना। प्रेमभाव से मुझको।।६१।। देखो बिन जोते बोवत। समय तब होवे नष्ट। अब निजरूपदर्शन को देत। दिव्यदृष्टि तुझको।।६२।। फिर उस दृष्टि से पाण्डव। मेरा ऐश्वर्य-योग सर्व। देखकर स्वानुभव। लीजे पूर्ण।।६३।। इसविध वह वेदान्त वेद्य। सकल लोक आद्य। बोलत जग आराध्य। जगन्नाथ!।।६४।।

संजय उवाच–

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः। दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।९।।

कहे हे कौरवकुल चक्रवर्ती। मुझे विस्मय होवे अति। जो सिवा लक्ष्मी से भाग्यवती।

त्रिजगत में कौन?।।६५।। अंगुली निर्देश से वर्णन-। में समर्थ कौन श्रुतिबिन?। किंवा दास्य भाव पूर्ण। अकेले शेष को ही।।६६।। जिसकी प्राप्ति की इच्छा से। आठों प्रहर यत्नशील जैसे। योगी गरुड़ जैसे। कौन होत?।।६७।। वे सब हुये व्यर्थ। जब से पाण्डव अवतरित। कृष्णासुख एकत्रित। उन्हीं में पूर्ण।।६८।। किन्तु उन पांचों में अर्जुन। श्रीकृष्ण सहज जिसके अधीन। जैसे कामुक अंगना के पूर्ण। वश में होत।।६९।। पढ़ता पंछी न ऐसा बोलत। क्रीड़ा मृग भी न वैसा चलत। कैसा देव अनुकूल होत। अर्जुन को देखो।।१७०।। आज पूर्ण ब्रह्म का ऐश्वर्य। नेत्र सदैवी के योग्य। कैसे वचन इसका नंदतनय। झेलत सहज।।७१।। अर्जुन का रोष सहत निवान्त। रूठे तब स्वयं मनावत। देव बावला बनत। नवल देखो।।७२।। जो जितेंद्रिय जन्म से। समर्थ साक्षात शुक जैसे। हुए विषयवर्णन में ऐसे। भाट जिसके।।७३।। ऐसा योगियों का समाधिधन। हुआ पार्थ के आधीन। इसलिये मेरा मन राजन। विस्मित अति।।७४।। किंतु संजय कहत इसमें कैसा। विस्मय यहां कौरवेशा। श्रीकृष्ण स्वीकारत उसे ऐसा। भाग्योदय होत।।७५।। अतः वह देवों का ईश। कहे पार्थु तुझे दूं दृष्टिखास। जिसमें विश्वरूप विशेष। देखेगा तूं।।७६।। ऐसे श्रीमुख से अक्षर। निकलत तत्त्क्षण शीघ्र। अविद्या अंधःकार। नाशत सहज।।७७।। वे न अक्षर मातृका। ब्रह्म साम्राज्य दीपिका। अर्जुन प्रीत्यर्थ चित्कलिका। प्रकाशित श्रीकृष्ण ने।।७८।। तब दिव्य चक्षुप्रकाश प्रकट। प्रसरत ज्ञान दृष्टि सर्वत्र। इसविध दिखावत स्पष्ट। ऐश्वर्य अपना।।७९।। और जो-जो अवतार सकल। जैसे विश्वसमुद्र के कल्लोल। विश्व यह

भासत मृगजल। रश्मि कारण जिसके।।१८०।। जिस अनादि भूमि पर स्पष्ट। चराचर चित्र सृष्ट। वह मूलरूप श्री वैकुंठ-। पति दिखावत उसको।।८१।। पूर्वी शैशव में श्रीपति। भक्षत एक समय मिट्टी। तब यशोदा कुपित अति। पकड़त हस्त से।।८२।। तब भयभीत कृष्णा। सफाई देत खोलकर वदन। दिखावत सहज चौदह भुवन। सुविधा से उसको ।।८३।। नातर मधुबन में ध्रुवबाल। शंख से स्पर्शत कपोल। और लगा बोलने बोल। जटिल वेदोंकोभी जो।।८४।। ऐसा अनुग्रह हे नरेश!। पार्थ पर करत हृषिकेश। तब कैसी माया यह भाष। विस्मरत पूर्ण।।८५।। अचानक़ देखत तब नेत्र ऐश्वर्य। एकार्णव होत चमत्कारमय। चित्त मग्न विस्मय-। सागर में सब।।८६।। जैसे आब्रह्मपूर्णोदक में। तैरत मार्कण्डेय उसमें। वैसे विश्वरूप चमत्कार में। लोटत पार्थ।।८७।। कहत कितना विशाल गगन। वह कहां ले गया कौन?। वैसे महाभूत चराचर संपूर्ण। गये कहां।।८८।। दशदिशा सकल लुप्त। अधोर्ध्व न जाने कहां गुप्त। जागृत को जैसे नष्ट। लोकाकार सकल।।८९।। अथवा सूर्य तेज प्रताप से। सचंद्र तारांगण लोपत जैसे। ग्रासत विश्वरूप तैसे। प्रपंचरचना सब।।१९०।। वहां मन का मन को विस्मरण। बुद्धि स्वैर संपूर्ण। निवर्तत इंद्रियां रश्मिपूर्ण। हृदयान्तर में।।९१।। तटस्थता को तटस्थता प्राप्त। टक एकटकी देखत। विचार जात जैसे ग्रस्त। मोहनास्त्र से।।९२।। वैसा सप्रेम देखे विस्मित। तब सम्मुख जो चतुर्भुज मूर्त। वही नानारूप से प्रसरत। सर्वत्र स्वयम्।।९३।। जैसे वर्षाकाल में जलज। या महाप्रलय में वर्धत तेज। वैसे बिन अपने निज। शेष न अन्य।।९४।।

प्रथम स्वरूप समाधान। संतुष्ट खड़ा अर्जुन। तत्त्क्षण खोलत नयन। देखे विश्वरूप।।९५।।
इन्हीं दो चक्षु से संपूर्ण। होवे विश्वरूप दर्शन। यह अभिलाषा करत पूर्ण। श्रीकृष्णदेव।।९६।।

अनेकवक्त्रनयंनमनोकाद्भुतदर्शनम्। अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।१०।।

तब वहां दिखत वदन। जैसे रमानायक के राजभुवन। या नाना प्रकटत निधान। लावण्यश्री के।।९७।। या आनंदवन बहरत। सौंदर्य को राज्यपद लभत। वैसे मनोहर दिखत। हरि के वक्त्र।।९८।। उनमें भी कई एकेक। सहज अति भयानक। कालरात्रि के कटक। सिद्ध जैसे।।९९।। अथवा मृत्यु को ही मुख उपजत। या भयदुर्ग व्याप्त सर्वत्र। किंवा महाकुण्ड प्रज्वलित। प्रलयानल का।।२००।। वैसे भयंकर अद्भुत। वहां वदन देखे अगणित। और भी असाधारण बहुत। सौम्य सालंकार।।१।। किंतु ज्ञानदृष्टि से भी पार्थ। देख न पावे वदनों का अन्त। तब वह सकौतुक नेत्र। देखन लागा।।२।। तब वहां नानावर्ण कमलबन। विकसित जैसे पूर्ण। देखे नेत्र पंक्तियां अर्जुन। आदित्यसमप्रभ।।३।। वहीं सघन कृष्णमेघ पंक्ति। कल्पान्त विद्युत्सम ज्योति। वैसी अग्निपिंगला दृष्टि। भ्रू-भंगतल में।।४।। यह एकेक आश्चर्य। एक रूप में देखे कौंतेय। विविध दर्शन का ऐक्य। अनुभवत सहज।।५।। कहत कहां इनके चरण कमल। कहां मुकट कहां बाहु सबल। ऐसी वर्धत चाह सकल। दर्शन सुख की।।६।। वहां भाग्य-निधि जो पार्थ। क्या विफल होगा उसका मनोरथ?। कभी तूणीर बाण होय व्यर्थ। पिनाकपाणि के।।७।। नातर चतुरानन की वाचा। क्या उसमें छूटे अक्षरों का सांचा?। अतः साद्यंतभाव अपार का

सच्चा। देखा उसने।।८।। वेद न पावत जिसका अन्त। उसके सकल अवयव यथार्थ। देखत एक समय में पार्थ। दो नयनों से अपने।।९।। चरणों से मुकुटपर्यंत। देखे विश्वरूप श्रेष्ठत्व। नाना अलंकार युक्त। विराजत।।२१०।। परब्रह्म अपने अंगपर। धारणा करने लेत रूप बहुतर। किसविध शोभत वे अलंकार। कहूं मैं।।११।। जिस प्रभा के तेज से पूर्ण। चंद्रादित्य मण्डल प्रकाशमान। जो महातेज का जीवन। विश्व प्रकाशक।।१२।। वह दिव्य तेज शृंगार। किस की मति को होत गोचर। देव पहनत स्वरूप अलंकार। देखत वीर।।१३।। फिर वहां ज्ञानचक्षु से पार्थ। करपल्लव सरल निहारत। कल्पान्त ज्वालाध्वंसक शस्त्र। चमकत उनमें।।१४।। स्वयं अंग स्वयं अलंकार। स्वयं हस्त स्वयं हथियार। देखत स्वयं जीव स्वयं शरीर। चराचर व्यापक देव।।१५।। जिसके इतने प्रखर किरण। फूटत सकल नक्षत्रगण। तेज से त्रसित वन्हि पूर्ण। कहत जाऊं समुद्र में मैं।।१६।। तब कालकूट कल्लोल में लिप्त। या नानामहाविज्जु का बन उद्दीप्त। वैसे अपार उदितायुध हस्त। देखत पार्थ।।१७।।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्। सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।।११।।

भयभीत वहां से निवर्तित दृष्टि। तब कंठमुकुट देखे किरीटि। जहां से सुरतरु की सृष्टि। उनसे ही होत।।१८।। जो महासिद्धि का मूलधाम। श्रान्त कमला जहां लेत विश्राम। वैसे कुसुम अति मनोरम। अवघ्राणत देव।।१९।। मुकुट ऊपर स्तंबक। स्थान-स्थान पर पूजाबंध अनेक। कंठ में शोभत अलौकिक। पुष्पमाला।।२२०।। स्वर्ग सूर्य तेज वेष्टित।

या मेरु सुवर्णमंडित। वैसा नितम्ब ऊपर शोभत। पितांबर।।२१।। श्री महादेव को कर्पूर लेपन। अथवा कैलास को पारज उबटन। नाना क्षीरोदक परिधान। क्षीरार्णव को जैसे।।२२।। जैसी चंद्रिका की तह खुली। गगन को पहनाई खोली। वैसी सर्वांग पर डाली। चंदन उटि।।२३।। स्वप्रकाश पर कांति चढ़त। ब्रह्मानन्द का दाह शमत। जिसके सौरभ से सुगंधित। वेदवती स्वयम्।।२४।। निर्लेप जिसका करे अनुलेपन। जिसको अनंग सर्वांग में धरत। उस सुगंध का बरनत। महत्व कौन?।।२५।। ऐसी अनेक शृंगार शोभा। देख अर्जुन पावे अचम्भा। न जाने खड़ा या बैठा सुरगाभा। अथवा निद्रित।।२६।। बाहर देखे खोलकर दृष्टि। तब सब ही विश्वमूर्ति। बंद आंख से जब देखे किरीटि। भीतर वैसे ही।।२७।। अगणित वक्त्र सम्मुख। भय से फेरत जब मुख। तब वहां भी श्रीमुख। करचरणादि वैसे।।२८।। अहो! भासत खुली दृष्टि से। नवल इसमें कैसे। दिखत बंद नयन से। वह नवल सुनो!।।२९।। कैसा अनुग्रह प्रभू का। जो देखना न देखना पार्थ का। व्याप्त पूर्ण भाव उसका। नारायण में।।२३०।। अतः आश्चर्य के पूर में। जो क्षण एक पहुंचा तीर में। तत्क्षण गिरत महार्णव में। चमत्कार के अन्य।।३१।। ऐसा दर्शनवेधी अर्जुन। कुशलता से उसको देत दर्शन। व्यापत उसको संपूर्ण। अनन्तरूप से।।३२।। वह स्वतः विश्वतोमुख। अर्जुन मांगें दर्शन सुख। धारण करके रूप अशेख। नटत स्वयम्।।३३।। दीप से या सूर्य से प्रकट। यदि नि-मीलित सब होवे अदृष्ट। न दी ऐसी दृष्टि वैकुंठ-। पति ने उसको।।३४।। इसलिये अर्जुन दोनों रीति से। देखत तम में भी दिव्य दृष्टि से। कहत

हस्तिनापूर में संजय उसे। धृतराष्ट्र को।।३५।। सुनो हे नृपनाथ!। विश्वरूप देखत पार्थ। नाना आभरणों से भूषित। विश्वतो मुख।।३६।।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशीसा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।।१२।।

उस अंगप्रभा का राजन। नवल किसविध करूं वर्णन। कल्पान्त में जैसा मिलन। द्वादशादित्यों का।।३७।। वैसे वे दिव्यसूर्य सहस्त्र। यदि उदित एक अवसर। तथापि उस तेज की नृपवर। उपमा न पावे।।३८।। सकल विज्जु कीजे एकत्र। और प्रलयाग्नि सामग्री साहित्य। उसमें मिलाइये दशकड़ी समस्त। महातेज की।।३९।। तब भी अंगप्रभा की। होवे अल्पतुलना उस तेज की। किंतु सही कल्पना उसकी। कदापि न होत।।२४०।। ऐसा महात्म्य श्रीहरि का सहज। प्रसरत सर्वांग का तेज। वह महामुनि कृपा से आज। हुआ दृष्य मुझको।।४१।।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा। अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।१३।।

और उस विश्वरूप में एक ओर। जग का दिखत विस्तार। जैसे महोदधि में बुद्बुद अपार। दिखे विविध।।४२।। या आकाश में गंधर्वनगर। भूतल में पिप्पिलिका बांधत घर। जैसे नाना मेरू ऊपर। परमाणु सुस्थित।।४३।। वैसे विश्व ही संपूर्ण। उस देव चक्रवर्ति के राजन। शरीरपर उस अवसर अर्जुन। देखत स्पष्ट।।४४।।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः। प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।।१४।।

वहां एक विश्व स्वयं अन्य। ऐसा था कुछ दूजापन। उस भाव से अंतःकरण। निरसत

सहज।।४५।। अन्तर में आनंद उत्पन्न। बहिरगात्र बलहीन। नखशिखान्त पूर्ण। पुलकित शरीर।।४६।। वर्षा की प्रथम दशा में। जैसे सजल शैलांग में। विरूढ़त कोमलांकुर उसमें। रोमांचित वैसे।।४७।। चंद्रकिरण जहां स्पर्शत। सोमकान्त मणि द्रवत। वैसे स्वेदकणिका आच्छादत। शरीरपूर्ण।।४८।। अंदर अलिकुल बंदिस्त। जल में कमल कलिका आंदोलत। अंतः सुखोर्मिसे कंपित। बाहर जैसे।।४९।। कर्पूर कदली के गर्भपुट से। कर्पुरकण निकसत जैसे। आनंदाश्रु स्त्रवत तैसे। नेत्र संपुट से।।२५०।। उदित जहां सुधाकर। सुभर समुद्र को आवत भर। वैसे बारंबार आनंद लहर। उछलत मन में।।५१।। ऐसे सात्विक भाव अष्ट। परस्पर में ईर्षा से वर्तत। वहां ब्रह्मानंद का प्राप्त। राज्य जीव को।।५२।। ऐसी सुखानुभव की प्राप्ति। साथ कायम द्वैतवृत्ति। तब आश्वासित किरीटि। निहारन लागत।।५३।। तब जिस ओर देव स्थित। वहां मस्तक नवांवत। बद्ध कर संपुट। बोले अर्जुन।।५४।।

अर्जुन उवाच–

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसङ्घान्।

ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।।१५।।

कहे जयजयाजी स्वामीराया। कैसा नवल कृपाशीर्वाद दिया। जो यह विश्वरूप हमें दिखाया। प्राकृत जन को।।५५।। पर भला किया हृषिकेश। मुझे हुआ सहज परितोष। जो देखा सृष्टी को अशेष। आश्रय आप।।५६।। देव मंदराचल के अंग में। स्वापद के बन

ठाँव ठाँव में। दिखत वैसे आपके देह में। भुवन अनेक।।५७।। अहो, आकाश में बहुल। दिखत ग्रहगण के कुल। अथवा महावृक्ष में कोटर पोल। पक्षिजाति के।।५८।। हे देव! उसके समान मैं। आपके विश्वात्मक शरीर में। देखूं संपूर्ण स्वर्ग उसमें। सुरगणसहित।।५९।। प्रभु! महाभूतों का पंचक। यहां निरखू अनेक। और भूतग्राम एकेक। भूतसृष्टि का।।२६०।। जी सत्यलोक आप में स्थित। वहां का चुतरानन नाथ। दूसरी ओर जब निहारत। तब कैलाश भी वहां।।६१।। श्री महादेव भवानी सहित। एक अंश में आपके वसत। और आपको भी देखत। आपमें ही।।६२।। कश्यपादि ऋषि कुल। आपके इस स्वरूप में सकल। देखूं मैं पाताल निखिल। पन्नगसहित।।६३।। किंबहुना हे त्रैलोक्यपति!। आपकी अवयव रूप भित्ति। उस पर चतुर्दशभुवन चित्राकृति। चित्रित जैसी।।६४।। और जो जो वहां के लोक। वही चित्ररचना अनेक। ऐसे देखूं मैं अलौकिक। गांभीर्य आपका।।६५।।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामित्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

उस दिव्य चक्षु बल से। निहारूं जब चहूं ओर से। तब फूटत बाहु दंड से। अंकुर आकाश का।।६६।। वैसे एक ही निरन्तर। देखूं देव आपके कर। करत संपूर्ण व्यापार। एक ही समय।।६७।। और महाशून्यसम पैसार। खुलत ब्रह्म-कटाह के भांडार। वैसे देखत अपार। उदर आपके।।६८।। आपके शीर्ष हजार। उनपर कोटी वक्त्र। जैसे परब्रह्म स्वयं झुकत। वदन फलों से।।६९।। जहां-तहां वक्त्रपंक्ति। आपकी देखूं मैं

विश्वमूर्ति। और वैसे ही नेत्रपंक्ति। अनेक सैंध।।२७०।। रहने दो स्वर्ग पाताल। और भूमि दिशा अन्तराल। भेद नष्ट सकल। मूर्तिमय देखूं मैं।।७१।। बिन आपके कछु नाहीं। कुतुहल से भी यदि देखूं कहीं। अवकाश न परमाणु सम ही। आपसे व्याप्त सर्व।।७२।। जो नानाविध अपरिमित। महाभूतों से जो-जो व्याप्त। वह सकल विस्तार अनन्त। व्यापत आप।।७३।। आये आप ठाँव से कौन?। यहां बैठे या खड़े कृष्ण?। किस माता के गर्भ में स्थान। आकृति कितनी?।।७४।। आपका रूप वय कैसा?। आपके परे क्या परेशा?। आपका अधिष्ठान कौनसा। सब देखा मैंने।।७५।। जो मैं देखूं सर्वत्र। आपका ठाँव आप ही अनंत। आप न किसके, जन्मरहित। अनादि स्वयम्।।७६।। आप खड़े ना बैठे। ना ऊंचे ना नाटे। अध ऊर्ध्व एक से डटे। आप ही स्वतः।।७७।। आपका रूप आपके जैसा। आपका वय आपके सरिसा। पीठ पेट परेशा। अपने ही आप।।७८।। किंबहुना सांप्रत। आप अपना सर्वस्व अनंत। जैसे-जैसे आपको निहारत। जानु यह मैं।।७९।। किंतु आपके रूप में। न्यून एक देखूं मैं। जो आदि अन्त मध्य। इसमें तीनों नाहीं।।२८०।। मैंने खोजा सर्वत्र। किन्तु न पाया अनन्त। अतः त्रिशुद्धि तीनों निश्चित। नाहीं यहां।।८१।। एवं आदिमध्यान्त रहित। आप विश्वेश्वर अपरिमित। देखा मैंने तत्त्वतः। विश्वरूप आप।।८२।। आपके महामूर्ति के अंग में। वसत अनेक पृथक मूर्तियां इसमें। सजे विविध रंगीन वस्त्र में। शोभत ऐसे।।८३।। नाना भिन्न मूर्तिद्रुमवल्ली से। स्वस्वरूप महाचल में जैसे। दिव्यालंकार फूल फल से। बहरत आप।।८४।। जी आप महोदधि अच्युत!। मूर्ति तरंगों से हेलावत।

अथवा आप ही मूर्ति फल से फलित। वृक्ष साक्षात।।८५।। भूतल भूतों से व्याप्त। या नक्षत्रों से गगन आच्छादित। वैसे मूर्तियों से पूरित। रूप आपका।।८६।। जिस एकेक के अंग से। सृजत नाशत त्रिलोक जैसे। ऐसी एकेक मूर्तियां रोम से। अंकुरित विशाल।।८७।। ऐसे विस्तारक विश्व के। आप कौन यहां किसके। देखूं तब मेरे रथ के। सारथि ही आप।।८८।। मुझे भासत हे कृष्ण!। आप सर्वत्र व्यापक समान। किंतु भक्तानुग्रहार्थ सगुण। धरत रूप।।८९।। कैसी चतुर्भुज श्यामल मूर्ति। देखत हरखत नेत्र, वृत्ति। आलिंगनार्थ समावत अति प्रीति। भुजाओं में दो।।२९०।। ऐसी मनोहर मूर्ति सद्रूप। धारण करत यह विश्वरूप। दृष्टि हमारी सलेप। जो माने सामान्य।।९१।। वह दृष्टि दोष अब नष्ट। जो आपसे दिव्य चक्षु प्राप्त। इसलिये देखी स्पष्ट। महिमा आपकी।।९२।। रथ मकर तुंड के पीछे अच्युत। जो आप ही थे स्थित। वही हुये विश्वरूप निश्चित। जानू मैं।।९३।।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।।१७।।

वही तो न यह मुकुट। नित्य आप जो धारण करत। तेज और महति सांप्रत। आश्चर्यकारक अति!।।९४।। क्या वही न यह फिरता चक्र। जो उपरिहस्त में विश्वाधार। चिन्ह उसका साकार। कायम अब भी।।९५।। दूजे हस्त में वही गदा। तलभूजा निरायुधा। बाग संवारने गोविंदा। फैलाई दोनों।।९६।। और सर्वेग अकस्मात। मेरे मनोरथपूर्ति

प्रीत्यर्थ। हुए विश्वरूप वही विश्वनाथ। जानूं मैं।।९७।। किंतु कैसा यह नवल। विस्मय भी न कर पावूं मैं निर्बल। चित्त होत भ्रमित सकल। आश्चर्य से इस।।९८।। यह यहां है यहां नाहीं। विचार को अवकाश न कुछ ही। अंगप्रभा की नवलताई। व्याप्त सर्वत्र।।९९।। यहां अग्नि की भी दृष्टि झपकत। सूर्य खद्योत जैसे भासत। ऐसी तीव्रता अद्भुत। तेज की इस।।३००।। या महातेज के महार्णव में। सृष्टि संपूर्ण डूबी उसमें। अथवा युगान्त विज्जु के वस्त्र में। आच्छादित गगन।।१।। नातर संहार तेज की ज्वाला को। तोड़कर बांधी मचान अंतराल को। अतः मेरी दिव्य दृष्टि से भी मुझको। न देखना शक्य।।२।। वह तेज प्रखर अधिकाधिक। भड़कत अति दाहक। होवे दिव्यचक्षु को भी त्रासक। निहारूं जब।।३।। जी, यह महाप्रलय का वन्हि। रुद्र में जो गुप्त कालाग्नि। वह खुली कलिका कलियानी। तृतीय नयन को जैसी।।४।। उस तेज के विस्तार से। पंचाग्नि ज्वाला वलय से। वेष्टित होवे कोयला जैसे। ब्रह्मकटाह पूर्ण।।५।। ऐसी अद्भुत तेजो राशि को। इसी जन्म में देखा ऐसे नवल को। आपकी कांति एवं व्याप्ति को। पार नाहीं।।६।।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषों मतो मे।।१८।।

देव आप अक्षर। औट मात्रा के पार। श्रुति जिसका घर। खोजतत स्वयम्।।७।। जो आकार का आयतन। विश्व निक्षेपैक निधान। आप अव्यक्त गहन। अविनाशी।।८।। आप धर्म की आर्द्रता पूर्ण। अनादि सिद्ध नित्य नूतन। जानू सैंतीसवें हे कृष्ण!। पुरुष विशेष

आप।।९।।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।१९।।

आप आदि मध्यान्त रहित। स्वसामर्थ्य से अनंत। विश्वबाहू अपरिमित। विश्वचरण आप।।३१०।। चंद्र चंडाशु नयन। कोपप्रसाद लीला दर्शवत। एक को तमोरूप से शासन। पालन कृपादृष्टि से अन्य को।।११।। जी आपको एवं विध से। स्पष्ट मैं देखूं जैसे। प्रदीप्त प्रलयाग्नि दीप्ति वैसे। वक्त्र आपके।।१२।। वडवाग्नि से पर्वत दहत। क्षणक्षण ज्वाला उभड़त। वैसी चाटत दंष्ट्रादंत। हिलत जिव्हा।।१३।। इस वदन की उष्मा से। और सर्वांग कांति प्रभा से। विश्व तप्त अति प्रखर जैसे। क्षोभित पूर्ण।।१४।।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाभुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।२०।।

या जो द्योर्लोक एवं पाताल। पृथिवी तथा अन्तराल। अथवा दशदिशा निखिल। दिशाचक्र सब।।१५।। यह संपूर्ण आपमें। व्याप्त देखूं कुतुहल में। गगन सहित भयानक जल में। आप्लावित जैसे।।१६।। नातर अद्भुत रस कल्लोल में। वेष्टित चौदह भुवन उसमें। वह आश्चर्य अकेला देखूं मैं। विश्वव्यापक।।१७।। आपकी व्याप्ति असाधारण। असहनीय रूप का उग्रपन। सुख तो रहा दूर प्राण-। धारण भी दुष्कर।।१८।। इस विध देखकर आपको। कैसे भय अपार उपजत मुझको। देखूं डूबत त्रिलोक को। दुःख

कल्लोल में उस।।१९।। वैसे आप सम महात्मा के दर्शन-। से क्यों होवे भयदुःख उत्पन्न?। किंतु यह रूप न सुखद कृष्ण। जानूं यह मैं।।३२०।। जब तक न था दृष्टिगोचर। तब तक संसार था सुखकर। अब नष्ट होना विषय विकार। किंतु उत्पन्न त्रास ही।।२१।। इस दर्शन उपरान्त। कैसे संभव आलिंगन अच्युत। कैसे बिन उसके रहना सांप्रत। शोक संकट में इस।।२२।। अतः पीछे हटूं तब संसार। जन्ममरण रूप अनिवार। आगे यह आपका प्रचण्ड आकार। कैसा आलिंगन शक्य?।।२३।। ऐसे संकटबीच दोनों। त्रैलोक्य बेचारा दग्ध मानों। मथितार्थ इस विध जानो। प्रतीत मुझको।।२४।। जैसा कोई अग्नि से दग्ध। जात शमनार्थ समुद्र सन्निध। तब जल कल्लोल से भयविद्ध। अधिक अति।।२५।। वैसे इस जग को घटित। आपके दर्शन से दुःखित। किंतु ध्याये पैलपार स्थित। ज्ञानशूर सब।।२६।।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गुणन्ति।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

आपके अंग का तेज। दग्ध इनके सब कर्मबीज। मीनत आपमें सहज। सद्भाव युक्त।।२७।। और कुछ भयभीत। सर्वथा क्रमत आपका ध्येय पथ। कर जोड़कर प्रार्थत। आपको प्रभु।।२८।। देव! गिरा मैं, अविद्यार्णव में। फंसा विषय जाल में। जखड़ा स्वर्ग संसार में। दो बाजू से।।२९।। इसविध संकट गहन। मुक्तता देगा कौन?। आपको सर्व प्राण से शरण। देवाधिदेव।।३३०।। और महर्षि एवं सिद्ध। विद्याधर समूह विविध।

वे करत स्वस्तिवाद। स्तवन आपका।।३१।।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।।२२।।

ये रुद्रादित्यों के समुदाय। वसु और साध्य सर्व। अश्विनी विश्वेदेव सविभव। वायु ही सब।।३२।। सुनो पितर, एवं गंधर्व। यक्षरक्षोगण सर्व। महेंन्द्रादि प्रमुख देव। सिद्धादिक।।३३।। ये सब अपने लोक में। अति उत्कंठा लिये मन में। आपको इस दैविकी मूर्ति में। निरखत देखो।।३४।। तब देख-देख प्रतिक्षण। विस्मित निज अंतःकरण। स्वमस्तक से उतारत हे कृष्ण!। आरती आपकी।।३५।। करके जयजयघोष कलरव। गर्जवत स्वर्गलोक सर्व। ललाटपर रखत हस्तद्वय। वंदना करत।।३६।।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।

बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।।२३।।

उस विनय द्रुम की आंख में। बहरत अष्ट-सात्विक वसंत में। अतः लभत कर संपुट पल्लव में। प्राप्ति फल आपका।।३७।। जी लोचन का भाग्य उदित। मन को सुख-संपत प्राप्त। जो अगाध आपका देखत। विश्वरूप यह।।३८।। यह रूप लोकत्रय व्यापक। देवताओं को भी इसका धाक। दिखत सबको सदा सम्मुख। दशदिशाओं में।।३९।। ऐसे एक ही किंतु विचित्र। और अनेक भयानक वक्त्र। बहुलोचन यह सशस्त्र। अनंत भुजा।।३४०।। बाहु बहुचरण। बहु उदर नाना वर्ण। वैसे प्रतिवदन सज्जपूर्ण। आवेश

युक्त।।४१।। किंवा कल्पान्त में महा। क्रोधित यम जहां तहां। प्रलयाग्नि ज्वाला दुःसहा। प्रसरत जैसे।।४२।। नातर संहार त्रिपुरारि के यंत्र। या प्रलय भैरव का क्षेत्र। रखा नाना युगान्त शक्ति का पात्र। सम्मुख भूतों के।।४३।। वैसे जहां तहां सर्वत्र। आपके प्रचंड वक्त्र। दर में सिंह न समावत। क्रोधित दर्शन ऐसे।।४४।। जैसे कालरात्रि के अंधःकार में। विचरत पिशाच्च उल्हास में। वैसे लिप्त प्रलयरूधिर में। मुख में दंष्ट्रा आपकी।।४५।। काल स्वयं आव्हानत रण। सर्व संहार से मत्त मरण। वैसे अति भयंकर वदन। आपका प्रभु।।४६।। यह बेचारी लोकसृष्टि। यदि देखत किंचित अपनी दृष्टि। भासत दुःखकालिंदी तट में रमापति। खड़ी वृक्षसमान।।४७।। आपके महा मृत्युसागर में वैसी। अब यह त्रैलोक्य जीवनतरी जैसी। शोक दुर्वात लहरी से तैसी। आंदोलत।।४८।। यहां यदि कृष्ण आप रोष से। कदाचित कहोगे मुझसे। क्या मतलब लोकभय से। भोगो ध्यानसुख तुम।।४९।। तब सुनो हे अच्युत!। लोकभय का तो केवल निमित्त। सच मानों मेरे ही थरारत। पंचप्राण भय से।।३५०।। जो मुझसे संहाररुद्र आतंकित। भय से मेरे मृत्यु स्वयं डरत। वही मैं अंतर्बाह्य भयाग्नि तप्त कंपित। किया ऐसा आपने।।५१।। जी, नवल आपका यह रूप। उसको नाम यदि विश्वरूप। यह भयासुर महामारी बाप!। हरावत भय को ही।।५२।।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।२४।।

कित्येक मुख क्षोभित। होड़ में महाकाल को जीतत। अपने विस्तार से लघु भासवत। आकाश प्रत्यक्ष।।५३।। न आकलत महाकाश से। न वेष्टत त्रिभुवन वायु से। भभकत मुख की भांप से। दाहत अग्नि को ही।।५४।। नहीं एक एक समान। यहां अनेक भेद वर्णावर्ण। जब प्रलयाग्नि उत्पन्न। सहायक इसको।।५५।। जिसकी अंगदीप्ति अशेख। करत त्रिलोक की समस्त राख। उनमें अनेक मुख। दंतदंष्ट्रायुक्त।।५६।। जैसे पवन को होवत महाधनुर्वात?। या समुद्र को महापूर प्राप्त?। अथवा विषाग्नि मारने प्रवर्तन। वड़वानल को?।।५७।। अग्नि से हलाहल भक्षण। या मारने उद्युक्त मरण। वैसे संहारतेज को वदन। प्रस्फुटित देखो।।५८।। वे कितने विशाल। जैसे कटकर अंतराल। आकाश में उत्पन्न बिल। हुआ महान।।५९।। लेकर वसुंधरा बगल में। प्रवेशत हिरण्याक्ष पाताल में। खोला तब उसमें। हाटकेश्वर जैसा।।३६०।। वैसा वक्त्रों का विकास। उसमें जिव्हाओं का अलग आवेश। विश्व न पूरा होत ग्रास। अतः न भक्षत उसको।।६१।। और पाताल व्याल का फूत्कार। गरलज्वाला स्पर्शत अम्बर। वैसे विस्फारित वदन दर। मध्ये भासत जिव्हा।।६२।। प्रलयविजु के समुदाव। शृंगारत गगन दुर्ग सर्व। वैसे ओष्टद्वय के बाहर यह। दिखत दृढ़ दंष्ट्र।।६३।। और ललाट पट के विवर-। मध्ये भय को भयकारक नेत्र। या महामृत्यु के प्रवाह अनिवार। तम में गुप्त।।६४।। इसविध लेकर भय का वेष। किस प्राप्ति की आपको आस। न जानू किंतु प्राप्त अशेष। मरण भय मुझको।।६५।। देव! विश्वरूप दर्शन का दोहद। वह तो हुआ फलद। नेत्र तृप्त मनोरथ सिद्ध। पूर्णरूप से

मेरा।।६६।। पार्थिव यह शरीर अच्युत। न इसकी चिंता किंचित। किंतु अब तो चैतन्य भी कदाचित। रहे या न रहे।।६७।। इस विश्वरूप दर्शन से विराट। संपूर्ण शरीर कंपत। मन तप्त बुद्धि भय ग्रसित। लुप्त अभिमान सब।।६८।। इतना ही नहीं कृष्ण। जो इंद्रियों से भी भिन्न। आनंदरूप निश्चल आत्मा पूर्ण। कंपित आज।।६९।। इस साक्षात्कार का प्रताप पूर्ण। नष्ट हुआ समस्त ज्ञान। अब गुरुशिष्य भाव को भी उत्पन्न। बाधा इससे।।३७०।। यह विश्वरूप से विकल। चित्त मेरा सकल। अतियत्न से कृपाल। बांधू साहस।।७१।। मेरे नाम से लुप्त धैर्य। उसपर अद्भुत विश्वरूप दर्शन यह। भला दिया उपदेश देव। किया भ्रमित मुझे।।७२।। जीव विश्राम प्रीत्यर्थ। यहां वहां बेचारा धावत। न कहीं वह पावत। आसरा प्रभु।।७३।। ऐसी यह विश्वरूप महामारी। चराचर जीवित्व नाशकारी। यदि न पावूं आपका आश्रय हरि। तब जीऊं कैसे?।।७४।।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्टैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास।।२५।।

वैसे अखण्ड सम्मुख नेत्र। फूटत महाभय का पात्र। वैसे आपके प्रचंड वक्त्र। विस्तरित देखो।।७५।। कैसे दंतदंष्ट्रा समूह अच्युत। दोनों ओष्ठ में न समावत। प्रलयशस्त्रों की कटीली मेढ़ समस्त। लगाई जैसे।।७६।। तक्षक मुख में विष का सिंचन। या कालरात्रि में भूतों का संचरण। करना वज्राग्नि से आग्नेयास्त्र को प्रखर पूर्ण। घटित वैसे।।७७।। वैसे आपके विशाल तुंड। उससे उमड़त आवेश प्रचण्ड। मरणरसका ओघ

चंड। वर्षत हमपर।।७८।। संहार समय का अनिल। और महाकल्पान्त का प्रलयानल। दोनों का जब होत मेल। क्या न दहत तब?।।७९।। वैसे आपके संहारक मुख। नष्ट मेरा धीर देख। भ्रमित न देखूं दिशा विशेख। न जानूं स्वयं को।।३८०।। अल्प विश्वरूप दर्शन। और हुआ सुख का अवर्षण। अब करो निरस्त कृष्ण। अस्तव्यस्त रूप यह।।८१।। ऐसा यदि मैं जानता अच्युत!। कदापि न पूछता ऐसी बात। अब बचाओं एक बार मेरा जीवित। स्वरूप प्रलय से इस।।८२।। यदि आप स्वामी मेरे अनन्त। करो रक्षण मेरा जीवित। नष्ट करो विस्तार समस्त। महामारी का यह।।८३।। सुनो सकल देवों के परमदेव। सकल विश्व चैतन्य का ठाँव। कैसे विस्मरत यह स्वभाव। हुए संहारक आप।।८४।।अतः होना देवराय प्रसन्न। करो यह माया का संहरण। छुड़ाओ मुझको कृष्ण। महाभय से इस।।८५।। अब तक पुनः-पुनः अच्युत। विकलित आपको प्रार्थत। कारण मैं अति भयभीत। विश्वरूप से आपके।।८६।। जब हुआ अमरावती पर आक्रमण। किया अकेले मैंने ही रक्षण। काल के भी मुखसे श्रीकृष्ण। न डरा मैं।।८७।। किंतु नहीं वैसा विश्वरूप यह। यहां मृत्यु का भी करके पराजय। आप सकल विश्वसह। ग्रासत हमको।।८८।। देखो जी नहीं यह प्रलय काल। किंतु रक्षक आप प्रस्तुत हुए काल। बेचारा यह त्रिभुवन गोल। हुआ अल्पायु।।८९।। कैसा भाग्य यह विपरीत। की आस शांति की किंतु विघ्न प्राप्त। हाय विश्व तो नष्ट समस्त। ग्रासत आप।।३९०।। यह देखूं प्रत्यक्ष। खोलकर आप अनेक मुख। कवलत चहुं ओर से आप। सैन्य सर्व।।९१।।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।।२६।।

क्या न ये कौरव कुल के वीर। अंध धृतराष्ट्र के कुमर। देखो ये गये सपरिवार। वदन में आप के।।९२।। और जो-जो इनके सहायतार्थ। आये देश-देश के नृपनाथ। कोई न संदेशदेवा अवशिष्ट। निगलित सब।।९३।। मदमुख के समुदाव। भक्षत आप सर्व। महावत सहित यह। सेना ग्रसित सब।।९४।। महायंत्र तोप अशेष। पदाति प्रमुख के अस्त्र विशेष। मुख में सब अदृष्य। होत सहज।।९५।। कृतांत का बंधु भीषण। अकेला करे विश्व-भक्षण। ऐसे कोटि-कोटि शस्त्र पूर्ण। ग्रासत सब।।९६।। चतुरंग परिवार। अश्वसहित रहंवर। दंत स्पर्श बिना भक्षत परमेश्वर। कैसे संतोषत आप?।।९७।। अहो भीष्म समान कौन?। सत्य, शौर्य और निपुण। वे भी और ब्राह्मण द्रोण। इनको ग्रासत आप।।९८।। हाय यह सहस्र कर का कुमर। गया-गया यह कर्ण वीर। अशेष हमारे वीर सुवीर। गये कचरा जैसे।।९९।। हाय रे विधाता!। कैसा अनुग्रह आपका वृथा?। प्रार्थना से लाया मरण सर्वथा। बेचारे जग को।।४००।। पहले कुछ प्रकार से श्रीपति। बताई थी आपने विभूति। न हुई संतुष्ट मेरी मति। पूछा अधिक आपसे।।१।। अतः भोग्य वह त्रिशुद्धि न टलत। बुद्धि भी होवे भ्रमित। यह ललाट लेख सर्वतः। टलेगा कैसा?'।।२।। पूर्व में समुद्र से अमृत भी प्राप्त। किंतु देव न उससे संतुष्ट। हुआ कालकूट प्रकट। अंत में जैसे।।३।। किंतु वह एक हुआ किंचित। अनुभव से यदि देखत। जो शंभु ने किया संकट निरस्त।

अवसर में उस।।४।। यह प्रदीप्त अनिल निवारेगा कौन?। ग्रासेगा कौन यह विषाक्त गगन?। महाकाल से लेगा टक्कर कौन?। साहस किसमें इतना?।।५।। इसविध अर्जुन दुःख से व्याप्त। मन ही मन शोक करत। किंतु न जाने प्रस्तुत। अभिप्राय प्रभु का।।६।।जो मैं मारक ये कौरव मृत। ऐसे अति मोह से भ्रमित। वह नष्ट करने अनंत। दर्शवत निजरूप।।७।। अरे कौन मारे किस को?। यहां मैं ही संहारक सबको। विश्वरूप दर्शन मिष से जग को। प्रकट करत।।८।। किंतु विकलता यह व्यर्थ। पंडुसुत को यहां ग्रासत। अज्ञानवश भयभीत। होत जात।।९।।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।।२७।।

कहत देखो एक ही काल। सासिकवच सह दोनों दल। वदन में प्रवेशत सकल। जैसे गगन में अभ्र।।४१०।। जब महाकल्पान्त का अन्त। जैसा कुपित होकर कृतान्त। इक्कीस स्वर्ग पाताल सहित। निगलत सहज।।११।। नातर उदासीन जहां दैव। संचकों का पूर्ण विभव। जहां का तहां सर्व। पावत विलय।।१२।। वैसे युद्ध में सैन्य एकत्रित। इन मुखों में होत प्रविष्ट। एक ही न बाहिर छूटत। कैसा कर्म देखो!।।१३।। अशोक की टहनियां जैसी। उष्ट्र मुरावत मुख में तैसी। सेना वक्त्र मध्ये वैसी। वृथा पावत लय।।१४।। परन्तु शिर मुकुट सहित। दंष्ट्र संडसी के बीच ग्रसित। चूर्ण होते दिखत। प्रत्यक्ष जैसे।।१५।। मुकुट रत्न दो दंत में। रत्नचूर जिव्हा तल में। कोई-कोई दंष्टाग्र देखू मैं। लिप्त उस

से।।१६।। जैसा यह विश्वरूप काल। ग्रासत लोक शरीर, बल। किंतु नष्ट जीवित कर सकल। मस्तक रक्षत।।१७।। वैसे शरीर मध्य सर्व सुन्दर। उत्तमांग जो शिर। अतः महाकालमुख ग्रस्त पर। बचत शेष।।१८।। देखो कहत किरीटि नवलाई। क्या जन्मजात को मार्ग अन्य नाहीं। जग अपने से वदन-दह में सबही। डूबत जात।।१९।। यह सृष्टि यथाक्रम अच्युत। इस मुख में ही होत प्रविष्ट। और यह एक जगह खड़ा स्वस्थ। ग्रासत सब को।।४२०।। ब्रह्मादिक देव समस्त। उत्तुंग मुख में धावत। अन्य सामान्य भरत। निचले ही मुख में।।२१।। और भी भूत जात। जन्मस्थल में ही ग्रसित। किंतु इस मुख से निभ्रांत। न छूटे कुछ भी।।२२।।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।।२८।।

महानदियों के ओघ जैसे। मीनत सहज समुद्र में वैसे। यह समस्त जग चहूं ओर से। प्रवेशत तैसे।।२३।। आयु पथ में प्राणिगण। करके दिन-रात्रि का सोपान। त्वरित मुख मिलन। साधत आपका।।२४।।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।।२९।।

यथा गिरि गुहर में प्रदीप्त। पतंग सवेग कूदत। वैसे इस मुख में प्रवेशत। लोक समस्त।।२५।। किन्तु जहां वे प्रविष्ट। प्राशत पानी लोह तप्त। नाम-रूप व्यवहारी सब

होत। नष्ट उनके।।२६।।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

और इतना सब आरोगण। करके भी न होत क्षुधा-शमन। कैसा दीपन यह असाधारण। आपका प्रभु!।।२७।। जैसे रोगी ज्वर से मुक्त। या भिखारी अकालग्रस्त। ओष्ठ को चाटते दिखा लपलपाहट। जिव्हाओं का प्रभु।।२८।। वैसे आहार नाम से ही। इस मुख से कुछ बचा नहीं। कैसी अघोर नवाईं। क्षुधित पन की।।२९।। क्या समुद्र का घूंट एक भरना। या पर्वत एक ग्रास में निगलना। ब्रह्मकटाह पूर्ण चूर्ण करना। दंष्ट्रातल में।।४३०।। दिशा सकल भक्षना। चमकीली चांदनी चाटना। ऐसे भासत सांप्रत कृष्णा। लोलुप्य आपका।।३१।। जैसे कामवर्धत भोग से। भड़कत अग्नि इंधन से। भक्षत समस्त जग को वैसे। अतृप्त फिर भी।।३२।। कैसे एक ही इतना विस्तारित। सब त्रिभुवन टिका जिह्वाग्र पर। जैसे कैथा दिया झोंक कर। बड़वानल में।।३३।। ऐसे अपारवदन। लाये कहां से इतने त्रिभुवन। या किये आहार कमी के कारण। निर्माण स्वयं ने।।३४।। अरे, यह बेचारा लोक समस्त। वदन ज्वाला में ग्रस्त। जैसे दावानल में फंसत। मृगझुंड।।३५।। अब वैसे ही इस विश्व को घटित। देव, नहीं कर्म अघटित। ये जग जलचर वेष्टित। काल जल में।।३६।। इस अंगप्रभा की बागुर से। चराचर निकसत कहां से कैसे। ये वक्त्र नहीं लाक्षागृह जैसे। जलाने जग को।।३७।। अपना प्रखर दाहक पन। अग्नि न जाने स्वयं

आपुन। किंतु जिसको स्पर्शत उसका प्राण। नाशत निश्चित।।३८।। नातर अपनी तीक्ष्ण धार से। मरत लोक न जाने शस्त्र कैसे। अथवा नाशत अपने सेवन से कैसे। न जाने विष।।३९।। वैसे आप को कृष्ण। आपके उग्रपन का न स्मरण। आप के मुख खाई में प्राप्त मरण। जग को इस पार ही।।४४०।। अहो! आत्मा एक आप। सकल विश्व व्यापक। हे बाप! हमको आज अन्तक। रूप बने प्रभु।।४१।। मैंने तो छोड़ दी जीवित की आस। अब आप भी निःसंकोच परेश। मन में जो आशय विशेष। कह दो सुख से।।४२।। बढ़ाओगे कितना यह उग्ररूप। स्मरो अपना जगपालकत्व हे बाप!। मुझ दीन पर तो हे सकृप!। बरसो कृपा।।४३।।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

अतः एक बार हे वेदवेद्य!। जी त्रिभुवनैक आद्य। बिनति हे विश्ववंद्य। सुनो मेरी।।४४।। ऐसे कहकर अर्जुन। शिरसा नवांवत चरण। कहत हे सर्वेश्वर कृष्ण। अवधारो प्रभु।।४५।। होवे मेरा समाधान। इसलिये पूछा विश्वरूप ध्यान। हुए एक ही क्षण में त्रिभुवन। ग्रासने सिद्ध।।४६।। तब कहो आप ही सच कौन?। क्यों प्रकटित उग्र मुख कृष्ण?। सब हस्तों में पैने शस्त्र धारण। किये किसलिये?।।४७।। बारम्बार क्रुद्ध होकर। गगन से ऊंचे बनकर। चक्षु लाल भयंकर। दिखावत भय।।४८।। यहां कृतांत के साथ। क्यों स्पर्धा करत लक्ष्मीकांत। वह कहिये अब सार्थ। अभिप्राय मुझको।।४९।। सुनकर कहत

अनन्त। मैं कौन हूं पूछत। क्यों यह प्रचण्ड विस्तृत। उग्ररूप?।।४५०।।

श्री भगवान उवाच--

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

तब सुनो, मैं काल कौंतेय। लोक संहार मेरा कार्य। अगणित मुख खोलकर यह। ग्रासूं अशेष।।५१।। हाय! अर्जुन कहत भयभीत। पूर्व संकट से त्रस्त प्रार्थत। आपको, तब प्रकट आप अच्युत। भयंकर रूप से यहां।।५२।। अपने कठोर बोल से निराश। होगा खिन्न सुभद्रेश। अतः सत्त्वर कहत सर्वेश। प्रकार से अन्य।।५३।। इस संहार संकट से। तुम पांडव रहोगे मुक्त से। वहां जाते-जाते पार्थ ने जैसे। संवारे प्राण अपने।।५४।। या मरण महामारी से ग्रसित। पुनः वह सावधान होत। फिर लक्षपूर्वक सुनत। प्रभु के बोल।।५५।। देव इसविध कहत। जो तुम मेरे प्रिय आप्त। इतर सब जग को समस्त। ग्रासूं अब मैं।।५६।। वड़वानल से प्रचंड। पिघलत मक्खन का पिंड। वैसे जग हे मेरे तुण्ड-। में देखा तुमने।।५७।। तब यह विश्व का अशेष। होगा निश्चित नाश। यह सैन्य व्यर्थ सुभद्रेश। यत्न रत यहां।।५८।। ऐसी चतुरंग संपदा। करत महाकाल से स्पर्धा। पराक्रम मद के सर्वदा। वशीभूत जो।।५९।। ये जो यहां उपस्थित। वीर वृत्ति बल से पार्थ। यम को भी तुच्छ लेखत। गजदल अभिमान से।।४६०।। कहत प्रतिसृष्टि रचेंगे। मृत्यु को आन से मारेंगे। और जग का करेंगे। ग्रास एक।।६१।। करें सब पृथ्वी

गिलंकृत। आकाश ऊपर ही दग्ध करत। अथवा बाणों से जखड़त। वायु को पूर्ण।।६२।। बोल शस्त्र से भी तीक्ष्ण। दिखत अग्नि सम दाहक उष्ण। मारकत्व में कालकूट को अर्जुन। कहलावत मधुर।।६३।। जैसे गंधर्व नगरी के विशाल। जानों पोपला पोल। या चित्र के निर्जीव फल। देखो वीर ये।।६४।। यह मृगजल का पूर। या कपड़े का किया विषधर। शृंगारित गुड़िया अपार। स्थापित यहां।।६५।।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रुन् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सुव्यसाचिन्।।३३।।

वैसे चेष्टवत जो बल। पहिले ही मैंने ग्रसित सकल। अब ये तो कुलाल के पुतले केवल। निर्जीव पार्थ।।६६।। दारुयंत्र की डोर अर्जुन। जब टूटे नष्ट नियंत्रण। लुढ़कत कठपुतली जान। स्पर्श मात्र से।।६७।। वैसा इस सैन्य का आकार। तोड़ते न लगेगा अवसर। इसलिये उठो सत्वर। बनो ज्ञानी।।६८।। गोग्रहण के समय सुवीर। छोड़ा तुमने मोहनास्त्र। भीरु विराट सुत उत्तर से वस्त्र। छिनवाये तुमने।।६९।। अब ये उससे भी हीन। संहारो अनायास प्राप्त रण। पावो यश करके रिपु संहरण। अकेले अर्जुन ने ऐसा।।४७०।। और न केवल यश सुवीर। पावो यह राज्य समग्र। होवो तुम निमित्त मात्र। सव्यसाची।।७१।।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्धस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

द्रोण की पर्वा न कर। भीष्म का भय न धर। कैसे शस्त्र उठाऊं कर्ण पर। न कह

ऐसे।।७२।। कौन उपाय जयद्रथ के लिये। चित्त में न चिंता करिये। और भी अन्य वीर ये। नामांकित जो।।७३।। वे भी एकेक सर्व। चित्र के सिंह निर्जीव। गीले पोंछना से यों ही सब वह। मिटावो पार्थ।।७४।। तब सुनो हे अर्जुन!। क्या बात युद्धकारों की इन। यह तो आभास पूर्ण। सब ग्रसित मुझसे।।७५।। जब तुमने देखा पार्थ। ये मेरे मुख में प्रविष्ट। तब ही आयुष्य इनका नष्ट। अब पोले तूष ये।।७६।। अतः उठो सत्वर। मारे मैंने इनको मार। न डूबो संकट में अपार। व्यर्थ शोक के।।७७।। अध कील से निशान बनाना। फिर स्वयं ही बेधकर गिराना। वैसे ही तेरा यहां अर्जुना। निमित्त केवल।।७८।। अरे जो करत बैर तुझसे। वे नष्ट विश्वरूप व्याघ्र से। अब राज्य यश सुख से। भोगो तुम।।७९।। उन्मत्त वृत्ति के दायाद। बल से जग में दुर्गद। वे सब हत विशद। अनायास से।।४८०।। ऐसा यह वृत्तांत। विश्व के वाक्‌पट पर पार्थ। लिख कर रखो यथार्थ। होवो विजयी तुम।।८१।।

संजय उवाच–

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।

नमस्कृत्वा भूय प्रवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।।३५।।

ऐसी संपूर्ण इस कथा को। उस अपूर्ण मनोरथ को। कहत संजय कुरुनाथ को। कहे ज्ञानदेव।।८२।। तब सत्यलोक से गंगाजल। छूटकर करत कलकल। वैसी वाचा विशाल। गंभीर जिनकी।।८३।। [illegible] महामेघ के समूह पार्थ। धड़धड़त एक समय समस्त। या मंदराचल से घुमघुमत। क्षीराब्धि जैसा।।८४।। जिसका गंभीर महानाद। वह वाक्य

विश्वकंद। बोले वहां अगाध। अनन्त रूप।।८५।। वह अर्जुन सुनत किंचित। और सुख या भय दुगनत। न जाने किंतु हुआ कंपित। सर्वांग उसका।।८६।। हुआ पोटली झुककर पार्थ। जोड़त कर संपुट। और चरण पर ललाट। रखे बारम्बार।।८७।। कहने को कुछ हुआ सिद्ध। तब कंठ होत अवरुद्ध। सुख से या भय से आप प्रबुद्ध। सोचो स्वयं ही।।८८।। किंतु कृष्ण के कथन से। अर्जुन को प्राप्त भाव ऐसे। इस श्लोक पद पर-। से जानू मैं।।८९।। फिर भयभीत अंतःकरण। पुनः वंदित चरण। कहत, कहा आपने कृष्ण। ऐसा ही न कुछ?।।४९०।।

अर्जुन उवाच–

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः।।३६।।

देखो, अर्जुन मैं काल। सबको ग्रासना मेरा खेल। यह आपका बोल। मानु सत्य मैं।।९१।। किंतु यह स्थिति का अवसर। आप कालरूप भयंकर। लेकर ग्रासत चराचर। उचित न यह।।९२।। छीनकर किसी का तरुणपन। क्यों देना उसको वृद्धपन। अतः असामयिक यह कार्य कृष्ण। भासत अयोग्य हमको।।९३।। जी! चार प्रहर न व्यतीत। अकाल में ही अनन्त। क्या मध्यान्ह में ही अस्त। पावत रवि?।।९४।। माना, आप काल अखंडित। किंतु जो तीन स्थिति निश्चित। प्रत्येक सबल स्वतः। स्वकाल में प्रभु।।९५।। जब उत्पत्ति होत। तब स्थिति प्रलय लोपत। और स्थिति काल में न रहत। उत्पत्ति

प्रलय।।९६।। पश्चात प्रलय के समय। उत्पत्ति स्थिति पावत लय। ये अनादि अवस्था त्रय। अटल सर्वदा।।९७।। अतः आज यह जग पूर्ण। स्थिति भोग में मग्न। ऐसे में ग्रासत आप कृष्ण। न भाये हमको।।९८।। तब संकेत से करत कथन। उभय सैन्य का समाप्त पोषण। दिखाया तुझको प्रत्यक्ष प्रमाण। अन्य भी यथाकाल।।९९।। जब वह संकेत। करत तत्क्षण अनंत। तब अर्जुन पूर्ववत। अवलोकत सैन्य।।५००।। तब कहत देवाधिदेव। आप सूत्री विश्वलाघव सर्वस्व। प्राप्त इस जग को माधव। पूर्वस्थिति पुनः।।१।। परन्तु दुःख सागर में निमग्न। उबारत आप उनको कृष्ण। कीर्ति यह आपकी पूर्ण। जानत हम।।२।। स्मरत यह कीर्ति सर्वकाल। भोगत महासुख ऐश्वर्य सकल। वहां हर्षामृत कल्लोल-। पर झूलत मैं।।३।। जीवदान प्राप्त यह जग। धरत आपका अनुराग। दुष्टों को आप करत भंग। अधिकाधिक।।४।। किन्तु त्रिभुवन के राक्षस। भयभीत आपसे हृषीकेश। अतः आप से दूर दशदिश-। के पार धावत वे।।५।। परन्तु सुरनर किन्नर। किंबहुना अन्य सब चराचर। देखकर आपको हर्ष-निर्भर। करत नमन।।६।।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।३७।।

यहां ऐसा कौनसा कारण। जो ये राक्षस नारायण। न नवांवत मस्तक चरण-। पर भागत दूर।।७।। इसमें क्या आपसे पूछना। यह तो हमने स्वयं जाना। जो सूर्योदय समय रहना। तम ने कैसे?।।८।। जो, आप प्रकाश के आगर। और हमको हुए गोचर। अतः

सब ये निशाचर। हुए अदृश्य।।९।। यह इतने दिन हम। कभी न जाने श्रीराम। अब देखत महात्म्य। गंभीर आपका।।५१०।। जहां से सृष्टि पंक्तियां बहुत। भूतग्राम वल्लियां प्रसरत। उस परब्रह्म को प्रसवत। इच्छा दैविकी।।११।। आप निःसीम सत्त्व सदोदित। आप निःसीम गुण अनन्त। आप निःसीम साम्य सतत। देवेंद्र आप।।१२।। जी आपका आर्दत्व। अक्षर आप सदाशिव। आपही सदसत् देव। परतत्त्व आप।।१३।।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।३८।।

आप आदि पुरुष का आदि। महत्तत्व की आप ही अवधि। स्वयं आप अनादि। पुरातन।।१४।। आप सकल विश्व जीवन। जीवों का आप ही निधान। भूत, भविष्य का ज्ञान। अधीन आपके ही।।१५।। जी, श्रुति के लोचन। सुख स्वरूप आप अभिन्न। त्रिभुवन के आयतन-। के आयतन आप।।१६।। अतः आप परम। आपको ही कहत महाधाम। कल्पान्त में महद्ब्रह्म। लीन आपमें।।१७।। किंबहुना आपने देव। विस्तरित सकल यह विश्व। आप अनन्त रूप माधव। अवर्णनीय।।१८।।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।३९।।
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।४०।।

ऐसी कौनसी वस्तु जग में। प्रभु! आप नाहीं जिसमें। करूं जैसे जहां हो मैं। नमन आपको।।१९।। वायु आप अनन्ता। यम आप नियमिता। प्राणिमात्र में वसत तत्त्वता। जठराग्नि आप।।५२०।। वरुण आप सोम। सृष्टा आप ब्रह्म। पितामह के भी परम। पितामह आप।।२१।। और जो जो कोई। सरूप अथवा अरूप ही। नमो आपको वैसे ही। जगन्नाथ।।२२।। ऐसे सानुराग चित्त। नमन करत पंडु-सुत। पुनः नमस्ते कहत। नमस्ते प्रभो।।२३।। पश्चात पार्थ साद्यंत। श्रीमूर्तिको निहारत। पुनः नमस्ते कहत। नमस्ते प्रभो।।२४।। देखत एकेक अवयव। पावे समाधान चित्त तन्मय। पुनः कहत नमस्ते कौंतेय। नमस्ते प्रभो!।।२५।। इस चराचर में जो-जो भूत। एकत्र सब उसमें देखत। और पुनः नमस्ते कहत। नमस्ते प्रभो।।२६।। ऐसे अनेक रूप अद्भुत। साश्चर्य एक अनंत में देखत। तब-तब नमस्ते कहत। नमस्ते प्रभो।।२७।। कुछ और स्तुति न स्मरत। और न रह सके निवान्त। कैसा अद्भुत प्रेमभाव उमड़त। गर्जन लागत।।२८।। किंबहुना इसविध बहुसार। किया नमन सहस्त्रबार। आगे कहत विश्वाधार। आप सम्मुख को नमो!।।२९।। पीठ पेट देव को है या नहीं। हमको विचार न करना कोई। पीछे स्थित आप को ही। नमो स्वामी।।५३०।। पीछे स्थित आप कृष्ण। अतः पीठ रक्षक इति कथन। जग सम्मुख विमुख यह वचन। न सार्थ आपको।।३१।। अवयवों का वर्णन पृथक। असंभव मुझको जगन्नायक। अतः नमो आपको, सर्वात्मक। सर्वांग को।।३२।। हे अनन्त बलसंभ्रम!। नमो आपको अमित विक्रम!। सकल काल में सम। सर्वरूप।।३३।। संपूर्ण आकाश में

जैसे। अवकाश रूप में आकाश ही जैसे। आप सर्वस्व भाव से। सर्व व्याप्त।।३४।। किंबहुना केवल। सर्वत्र आप ही निखिल। किन्तु क्षीरार्णव में कल्लोल। पय के ही जैसे।।३५।। अतः हे कृष्ण!। न आप सब विश्व से भिन्न। हुआ प्रत्यय मुझे पूर्ण। अब आप ही सब।।३६।।

सखेति मत्वा प्रसभं युदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।४१।।

किन्तु ऐसे आप को स्वामी। कभी न जाना अंतर्यामी। किया मानकर बंधु संबंध धर्मी। व्यवहार आपसे।।३७।। महा अपराध हुआ हमसे। जो किया सम्मार्जन अमृत से। घोड़ा लेकर दिया जैसे। कामधेनु को।।३८।। पहाड़ पारस का पाया। फोड़कर नींव में डाल दिया। कल्पतरू काटकर बनाया। घेरा खेत को।।३९।। चिंतामणि की मिली खान। गोफन ढ़ेलों से भगाये ढ़ोर कृष्ण। निकटत्व आपका उपेक्षित पूर्ण। सख्य भाव से।।५४०।। आज ही देखों अच्युत। युद्ध यह क्या विशेष बात। किन्तु परब्रह्म को किया साक्षात्। सारथी हमने।।४१।। कौरव सभा में कृपासागर। प्रेषित दूत रूप में दातार। स्व-काज के लिये जगदीश्वर। किया कुव्यवहार हमने।।४२।। आप योगियों के समाधि-सुख। जानु न कभी मैं अति मूर्ख। विनोद आपके सम्मुख। किया व्यर्थ।।४३।।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।४२।।

आप विश्व के आदि पुरुष। जिस सभा में उपस्थित सर्वेश। किया बंधु-सबंध से विशेष। नर्म विनोद आप से।।४४।। कभी आकर आप के गृह में। आप से सम्मान पावूं मैं। यदि क्वचित् उपेक्षित स्नेह में। आपसे रूठूं मैं।।४५।। पाँव पकड़कर अच्युत। मुझको आप मनावत। ऐसी करनी बहु विपरित। की हमने।।४६।। ज्ञान मद से पूरित पूर्ण। करूँ पीठ आपके सम्मुख कृष्ण। क्या हममें ऐसी योग्यता विद्यमान?। हुआ प्रमाद हमसे।।४७।। गदगाफरी खेले आप से। कुस्ती अखाड़े में आप से। द्यूत में द्यूतकेमिष से। किया कलह हमने।।४८।। उत्तम वस्तु आप से मांगू। आपको ही ज्ञान सिखाऊँ। क्या संबंध आप से कहूँ। कहा ऐसे।।४९।। ऐसे अपराध बहुत। त्रिभुवन में न समावत। शपथ आपके चरणों की अच्युत। हुआ अज्ञानवश यह।।५५०।। भोजन के अवसर पर। स्नेह से स्मरत हम को सत्वर। व्यर्थ गर्व से विश्वाधार। रूठे हम।।५१।। आपके अंतःपुर में। खेल खेलते न शंका मन में। करूं शयन शय्या में। साथ आपके ।।५२।। कृष्ण कह कर पुकारत। अन्य यादवों जैसे लेखत। डालूँ अपनी मैं शपथ। जाते समय आपके।।५३।। साथ एकासन में बैठना। न मानना आप का कहना। अति परिचय से बरतना। किया बहुत।।५४।। क्या-क्या ऐसा सांप्रत। कहूँ आपको अनन्त। मैं हूं राशि समस्त। अपराधों की प्रभु।।५५।। समक्ष अथवा परोक्ष। हुआ आचरण सदोष। माता समान सब सर्वेश। क्षमस्व प्रभो।।५६।। जी, कोई एक समय। जल नदी का मिट्टीमय। सिंधु को न अन्य उपाय। समावत उसको।।५७।। वैसे प्रीति या प्रमाद से। किया विरुद्ध भाषण आपसे। सहिये उनको स्नेह

से। मुकंद आप।।५८।। आपके क्षमत्व से क्षमा समर्थ। इस भूतग्राम को आधारभूत। इसलिये हे जगन्नाथ। बिनति करत।।५९।। अतः अब हे अप्रमेय!। मुझे शरणागत को सदय। क्षमा कीजिये सब यह। अपराध मेरे।।५६०।।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।।४३।।

जी, जाना मैने सत्य। देव अब आपका माहात्म्य। जन्मस्थान चराचर का यह प्रत्यय। आया मुझको।।६१।। हरि-हरादि समस्त। देव आप परम दैवत। पढ़ाया ब्रह्मा को वेदांत। आदि गुरू आप।।६२।। गंभीर आप श्रीराम। सर्व भूतों में सम। सकल गुणों में अप्रतिम। अद्वितीय आप।।६३।। कोई न आपके समान। न चाहिये इसका प्रतिपादन। जो आकाश किया उत्पन्न। समाहित जिसमें विश्व।।६४।। कोई आप के सरिस। कथन यह लज्जास्पद अशेष। तब आपसे अधिक सर्वेश। वस्तु कौन सी?।।६५।। अतः त्रिभुवन में आप एक। कोई न आप सम या अधिक। आप का महिमा अलौकिक। अवर्णनीय कृष्ण।।६६।।

तस्मातप्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।४४।।

इस विध अर्जुन कहत। दंडवत प्रणाम करत। वहां सात्विकता मूर्त। उभरत सहज।।६७।। बोलत ''प्रसीद प्रसीद''!। वाचा होत सद्‌गद। उबारो मुझे अपराध-। समुद्र से अब।।६८।। आप विश्व सुहृद को कृष्ण। संबंधी जानकर न दिया मान। आप विश्वेश्वर को पूर्ण। उपेक्षित

मैंने।।६९।। स्वयं आप अवर्णनीय। सभा में जब मुझे बखानत सदय। मूर्खता से अधिकाधिक उस समय। की वल्गना मैंने।।५७०।। ऐसे मेरे अपराध। अमर्याद हे मुकुंद। हुआ हमसे प्रमाद। रक्ष-रक्ष प्रभो।।७१।। जी, यह बिनती प्रीत्यर्थ। न कुछ योग्यता मुझमें अच्युत। किंतु दुलार से जैसे अपत्य। बोलत पिता से।।७२।। पुत्र के अपराध। होत यदि अगाध। पिता सहत निर्द्वंद्व। वैसे सहिये आप।।७३।। सखा का उद्धतत्व। सखा सहत निवान्त। वैसे आप समस्त। सहियो जी।।७४।। प्रिया के पास सम्मान। प्रिय न अपेक्षत सर्वथा जान। वैसे उठावत उच्छिष्ठ कृष्ण। अतः क्षमस्व प्रभु।।७५।। वैसे भी जब प्राणप्रिय भेटत। जितने अनुभूत संकट। कहते न संकोच करत। कभी कोई।।७६।। तन मन जीव से कृष्ण। स्वयं को जिसने किया अर्पण। कान्त मिलन में हृद्गत संपूर्ण। रोक न पावत।।७७।। वैसे मैं गोस्वामी!। प्रार्थू आपको अंतर्यामी!। एक और मन में भावोर्मि। पूछना आपसे।।७८।।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय दैव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

जी, अपनत्व से लिया छंद। विश्वरूप दर्शन का गोविंद। माता पिता आप स्नेहबद्ध। किया पूर्ण वह।।७९।। सुरतरू के वृक्ष। आंगन में लगाये सकौतुक। दिया कामधेनु का वत्स एक। क्रीडार्थ मुझे।।५८०।। मांगु खेलने द्यूत नक्षत्र। कंदुक के बदले चंद्र अच्युत। छंद यह किये पूर्ण समस्त। माता आपने।।८१।। जिसे अमृतलेश के लिये सायास।

उसकी वर्षा की चार मास। पृथ्वी पर क्यारियां करके विशेष। बोवत चिंतामणि उसमें।।८२।। किया ऐसे मुझे कृताकृत्य। पूर्ण किये सब मनोरथ। जो परब्रह्म कर्ण से भी न सुनत। वह दिखाया प्रत्यक्ष।।८३।। देखने की तो दूर बात। उपनिषदों को जिसकी नहीं भेंट। वह हृदयग्रंथी गुह्य साक्षात। खोली मत्प्रीत्यर्थ।।८४।। कल्पादि से अच्युत। आज घड़ीतक बीतत। जितने मेरे जन्म समस्त। लक्ष्मीवर।।८५।। उन सब के अंतर्गत। एकेक को यदि परखत। देखी न सुनी बात। ऐसी प्रभु।।८६।। इस विश्वरूप आंगन में। न प्रवेश बुद्धि को उसमें। कल्पना भी अंतःकरण में। न कर सकूं मैं।।८७।। वहां चक्षु से देखना प्रत्यक्ष। कल्पना भी यह व्यर्थ अशेष। किंबहुना पहले कभी सर्वेश। न सुना न देखा।।८८।। यह अपना विश्वरूप समर्थ। किया मम नयनों को प्रतीत। मेरा मन अति आनंदित। हुआ देव।।८९।। किंतु अब मन में आस। करूं आपसे कुछ बात खास। आलिंगनार्थ आप के पास। आऊं प्रभु।।५९०।। वह चाहें यदि इस रूप से। करूं बात-किस एक मुख से?। आलिंगन करूं किस मूर्ति से। अति अपार आप।।९१।। अतः समीर साथ गमन। अशक्य गगन को आलिंगन। कैसा संभव जलक्रीड़न। समुद्र में प्रभु।।९२।। इसलिये हे देव!। भयभीत मेरा जीव। अतः उपसंहारों रूप यह। मानिये बात मेरी।।९३।। कुतुहल से देखना। फिर शांति से स्वगृह में रहना। आपका चतुर्भुज रूप माना। विश्राम हमने।।९४।। योगजात अभ्यासित। किंतु अनुभव यह सत्य। सर्व शास्त्र पारंगत। किंतु सिद्धांत यह एक।।९५।। हमने यज्ञ किये सकल। उनकी फलश्रुति यही केवल। तीर्थाटन सब सफल।

प्राप्त्यर्थ इसके।।९६।। और भी जो-जो कोई। दान-पुण्य कीजे सबही। उसकी फलप्राप्ति एक ही। चतुर्भुज रूप आपका।।९७।। ऐसी उसकी चाह कृष्ण। होवे इसी क्षण उसका दर्शन। यह संकट करो हरण। त्वरित प्रभु।।९८।। हे अंतर्तम मर्मज्ञा। सकल विश्व प्रसवन आद्या। होना प्रसन्न परम वंद्या। देवाधिदेव।।९९।।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

नीलवर्ण नीलोत्पल को। नीलिमा देत आकाश को। प्रभा इंद्रनील मणि को। दातार! आपसे ही।।६००।। जैसा मरकत को परिमल सुंदर। निकले आनंद को कर। जानु से मकरध्वज को शृंगार। शोभा प्राप्त।।१।। मस्तक पर मुकुट विराजित। शोभा मस्तक से मुकुट को प्राप्त। शृंगार को आभूषण होत। अंग से जिसके।।२।। इंद्रधनुष के मध्ये में। मेघ गगनांगन में। वैसे शोभत वैजयंति के वेष्टन में। शारंगपाणि आप।।३।। उदार गदा से हस्त। कैवल्य असुर को देत। चक्रधारी गोविंद। शोभा सौम्यतेज से।।४।। किंबहुना स्वामी अनंत। देखने को वह मैं उत्कंठित। इसलिये आप सांप्रत। होइये वैसे।।५।। देखकर विश्वरूप शृंगार। तृप्त नयन विश्वाधार। भये अब अत्यंत आतुर। कृष्ण-मूर्ति दर्शन को।।६।। वह साकार कृष्ण मूर्त। उसके सिवा न अन्य आर्त। न देखूं यदि जानत। सब व्यर्थ यह।।७।। भोग मोक्षदाता कोई। श्रीमूर्ति बिन अन्य नाही। अतः होवो साकार वैसे ही। करो उपसंहरण इसका।।८।।

श्री भगवान उवाच–

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

सुन अर्जुन का बोल ऐसा। विश्वरूप विस्मय पावे सहसा। कहत अर्जुन अविवेकी तुझ जैसा। देखा न अन्य।।९।। कौन वस्तु तुझ को प्राप्त। न उसके लाभ से तुष्ट। क्या यह कहत होकर भयभीत। कायर जैसा।।६१०।। सहज हम हुए प्रसन्न। दिया तुझको स्वान्तःकरण। न दिखाया गुह्य ध्यान। किसी अन्य को।।११।। यह तेरी कामना प्रीत्यर्थ। मैं मन से प्रसन्न हुआ पार्थ। अंतर्गुह्य का यत्न से पार्थ। रचित ध्यान।।१२।। कैसी अद्भुत तेरी चाह। प्रसन्नता मेरी पागल होय। अतः गौप्य की अति गुह्य। उभारी ध्वजा।।१३।। जो यह अपरंपार। स्वरूप मेरा परात्पर। यहां से सब अवतार। श्रीकृष्णादिक।।१४।। यह ज्ञानतेज का निखिल। विश्वात्मक केवल। अनन्त यह अटल। आद्य सबका।।१५।। यह तुझ बिना अर्जुन। देखा न सुना किसीने अन्य। शक्य न साधन से जान। इसीलिये।।१६।।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।

एवंरूप शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

पाकर इसका स्थान। वेद भी हुए मौन। मुड़त याज्ञिक जन। जाकर स्वर्गतक।।१७।। साधक जन देख सायास। अतः त्यजत योगाभ्यास। अध्ययन से भी सौरस। अप्राप्य

इसका।।१८।। पूर्णत्व को प्राप्त सत्कर्म। देखने दौड़त स्वसंभ्रम। बहुत करके श्रम। पहुंचे सत्यलोक वे।।१९।। तपस्वी ऐश्वर्य देखत। खड़े-खड़े उग्रत्व छांडत। तप साधक भी रहत। कोसों दूर।।६२०।। यह तुमने देखा अनायास से। देखा विश्वरूप जैसे। मनुष्य लोक में वैसे। प्राप्त न किसी को।।२१।। इस ध्यान संपदा को योग्य। तू ही एक जग में न अन्य। प्राप्त न यह परम भाग्य। विरंचि को भी।।२२।।

मा ते व्यता मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४९।।

तुम विश्वरूप दर्शन से धन्य। मानो न इसका भय। सिवा इसके कुछ रम्य अन्य। मन से न जानो।।२३।। यह अमृत समुद्र पूर्ण। अकस्मात प्राप्त अर्जुन। डूबने के भय से कौन। त्यागत इसे?।।२४।। अथवा सुवर्ण पर्वत। हुआ यदि हस्तगत। अचल जान कर क्या करत। कोई अव्हेर उसका?।।२५।। चिंतामणि दैव से प्राप्त। क्या छांडत कहकर भार बहुत?। पोषण कठिन अतः लौटावत। कामधेनु को कोई?।।२६।। आवे चंद्रमा गृह में शीतकर। बोलत होत उष्मा निकल बाहिर। क्या छाया करत दिनकर। अतः भगावत उसको?।।२७।। वैसा ऐश्वर्य यह महातेज। आज हस्तगत सहज। क्या यहां भय का काज। किरीटि तुझको।।२८।। किंतु तुम अज्ञानी बुद्धिहीन। कैसा क्रोध करूं तुझपर अर्जुन। अंग छोड़कर छाया पूर्ण। आलिंगत तुम।।२९।। जो मैं नाही उसकी। उपेक्षा करके विश्वरूप की। चाह करत चतुर्भुज की। अपक्व मनसे।।६३०।। तो अब भी हे

पार्था। छोड़ो-छोड़ो यह व्यवस्था। इस विषय में अनास्था। न रखो तुम।।३१।। यह रूप यदि घोर। विकृत विकराल भयंकर। फिर भी कृत-निश्चय का घर। करो इसको।।३२।। कृपण चित्तवृत्ति जैसे। गड़त निधान में वैसे। संचरत मात्र शरीर से। जग में स्वतः।।३३।। या अजातपक्ष के निकट। निलय में रखकर मन को पार्थ। अंतराल में पक्षिणी करत। भ्रमण जैसे।।३४।। अथवा धेनु चरत बन में। किंतु चित्त घर के वत्स में। वैसे प्रेम को विश्वरूप विषय में। बनाओ स्थानपति तुम।।३५।। वैसे मन के संतोषार्थ। बाह्य सुख प्रीत्यर्थ। करो श्रीमूर्ति का भोग पार्थ। चतुर्भुज का तुम।।३६।। किंतु पुनः-पुनः पांडव। न विसरो बोल यह। जो इस रूप से सद्भाव। जाने न पावे।।३७।। यह कभी नहीं दृष्ट। अतः भयभीत तेरा चित्त। छोड़ो भय प्रेम करो स्थापित। निरन्तर उसमें।।३८।। अब करूं जो तुम को वांछित। विश्वतोमुख इसविध कहत। जो पूर्वरूप सुख से सांप्रत। निहारो तुम।।३९।।

संजय उवाच–

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।

आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

ऐसे वाक्य बोलत तत्क्षण। पुनः मनुष्य रूप धरत कृष्ण। नवल न यहां किंतु विलक्षण। भक्त प्रेम यह।।६४०।। श्रीकृष्ण कैवल्य केवल। ऊपर विश्वरूप सकल। दिया किंतु हुआ विकल। अर्जुन मन में।।४१।। वस्तु लेकर त्यागना। अथवा दूषण रत्न

को देना। कन्या देखकर कहना। न भाये हमको।।४२।। किया उत्तम उपदेश। कैसा भर प्रीति को विशेष। दिखाया विश्वरूप प्रत्यक्ष। किरीटि को प्रभुने।।४३।। तोड़कर सुवर्ण ठोस। बनावत स्वेच्छा से आभूषण खास। बनाये फिर भी न संतोष। पिघलावत पुनः।।४४।। वैसे शिष्य प्रीति से। किया विश्वरूप कृष्णात्व का जैसे। किंतु न पार्थ संतुष्ट उससे। हुए कृष्णरूप पुनः।।४५।। ऐसा शिष्य का हठ नरेश। कौन देश का गुरु सहत अशेष। किंतु न जानु कैसी प्रीति विशेष। संजय कहे।।४६।। तब विश्वव्याप्त संपूर्ण। दिव्य तेज प्रकट पूर्ण। समावत एकबार पुनः। कृष्ण रूप में उस।।४७।। त्वंपद यह अशेष। त्वत्पद में विलीन निःशेष। द्रुमाकार का समावेश। बीज कणिका में जैसा।।४८।। नातर स्वप्न संभव जैसा। ग्रासत जागृत जीवदशा। श्रीकृष्ण योग यह तैसा। संहरत वहां।।४९।। जैसी प्रभा निमग्न बिंब में। या जल-संपदा नभ में। नाना ज्वार सिंधु गर्भ में। मीनत जैसे।।६५०।। जो कृष्णाकृति का वस्त्र। तह विश्वरूप पटकी समग्र। अर्जुन इच्छा के लिये विश्वाधार। विस्तारित।।५१।। तब परिमाण रंग। दिखावत स्वयं श्रीरंग। किंतु ग्राहक को न उसका लाग। अतः चूणीकृत (तह की) पुनः।।५२।। वैसे रूप वृद्धि का विस्तार। विश्व जीतत जो समग्र। वह सौम्य सुंदर। हुआ साकार।।५३।। किंबहुना अनन्त। पुनः लघु रूप धरत। जो पार्थ था भयाभीत। आश्वासत उसको।।५४।। स्वप्न में स्वर्ग में प्रवेशत। अकस्मात वह चेतत। वैसा विस्मय होत। किरीटि को।।५५।। नातर गुरुकृपा से पूर्ण। लुप्त अशेष प्रपंच ज्ञान। पावत तब तत्त्वज्ञान। श्रीमूर्ति दर्शन से।।५६।। अर्जुन मन में सोचत। विश्वरूप

जवनिका बीच में स्थित। भला हुआ जो हुई लुप्त। सांप्रत वह।।५७।। काल को किया पराजित। महावात से हुआ मुक्त। स्वबाहुबल से तरत। सप्त सिंधु वह।।५८।। ऐसा संतोष बहुत चित्त को। हुआ उस पंडुसुत को। विश्वरूप पश्चात श्रीकृष्ण को। देखा जब।।५९।। तब सूर्य के अस्तमान में। तारागण उदित गगन में। वैसा अवलोकत पृथ्वी में। लोक समुदाय सब।।६६०।। देखें तब वही कुरुक्षेत्र। वैसे ही दोनों ओर गोत्र। वीर वर्षत शस्त्रास्त्र। सैन्य पर।।६१।। उस बाण मंडपतल स्थित। रथ देखत खड़ा निवान्त। धुरीपर बैठे लक्ष्मीकान्त। स्वयं नीचे।।६२।।

अर्जुन उवाच–

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन। इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

एवं जैसे मांगा वैसे। वीर विलास ने देखा तैसे। तब कहत वह प्रभु से। सांच बचा मैं।।६३।। बुद्धि को छोड़कर ज्ञान। प्रवेशत सभय बन में धन। अहंकार सहित मन। बहकत सीमापार।।६४।। इंद्रिय व्यापार हुआ बंद। वाचा हुई निस्तब्ध। ऐसी अव्यवस्था सन्निबद्ध। शरीर ग्राम में।।६५।। वह पुनः हुई जीवित। प्रकृति हुई व्यवस्थित। पुनर्जीवन हुआ प्राप्त। श्रीमूर्ति दर्शन से।।६६।। ऐसा सुख प्राप्त जीव को। तब कहत श्रीकृष्ण को। जब देखा मैंने रूप को। मानुषी यह।।६७।। यह रूप दर्शन देवराय। मूढ़ अपत्य को सदय। समझाकर स्तनपान कराया यह। माता सम आपने।।६८।। जी, विश्वरूप सागर में। काटत तरंग कष्ट में। जब निजमूर्ति तीर पर मैं। पहुंचा सांप्रत।।६९।। हे द्वारकाभूषण

यदुनाथ। मैं शुष्क वृक्ष साक्षात्। दर्शन न यह की अच्युत। मेघ वर्षा आपने।।६७०।। अजि, मैं तृषार्त। मुझे यह अमृत सिंधु प्राप्त। अब जीवन के प्रति विश्वस्त। हुआ मैं।।७१।। मेरे हृदयरूप आंगन में। की हर्षलता की रोपनी उसमें। अब सानंद प्रसन्न मैं। हुआ ऐक्य सुख से।।७२।।

श्री भगवान उवाच–

सुर्दुर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम। देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः।।५२।।

पार्थ के इस बोल पर। क्या कहत श्री लक्ष्मीवर। तुम सांच सप्रेम सुवीर। मिलो विश्वरूप में।।७३।। पश्चात इस श्रीमूर्ति को। मिलना मात्र शरीर से इसको। ज्ञान यह जो सिखाया तुझको। क्या भूले वह?।।७४।। अरे अंध अर्जुन!। हाथ यदि आया मेरू पूर्ण। उसको भी कहत लघु जान। यह प्रमाद मन का।।७५।। यह विश्वात्मक रूप। जो तुझको दिखाया स्वरूप। न पाये करके अपार तप। शंभू स्वयम्।।७६।। और अष्टांग साधन यह। योगी थकत करके कष्ट दुःसह। अलभ्य उनको किसी भी समय। मिलन जिसका।।७७।। वह विश्वरूप कोई समय एक। कैसे पावे उसकी अल्प झलक। व्यतीत करत देव चिन्तक। सोच में काल पूर्ण।।७८।। आशा की अंजुल कर। रखत हृदय लल्लाट पर। चातक निरालंब में सुवीर। देखत जैसे।।७९।। वैसे उत्कंठित निर्भर। होकर सब सुरवर। कांक्षत आठों प्रहर। दर्शन जिसका।।६८०।। किंतु विश्वरूप सरिख। स्वप्न में भी न पावे देख। वह तुमने प्रत्यक्ष। देखा यह।।८१।।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।५३।।

हे वीर यह विश्वदर्शन। न कोई उपाय से अन्य। अतः षट्शास्त्र सहित मौन। हुए वेद।।८२।। मुझ विश्वरूप के सम्मुख। चलने को धनुर्धर देख। अपार तप भी अशेख। असमर्थ सब।।८३।। और दानादि साधन। तप यज्ञ से भी दुर्लभ जान। वह अनायास अर्जुन। देखा तुमने।।८४।। ऐसा जो मैं पार्थ। एक ही उपाय से वशीभूत। जब भक्ति आकर वरत। चित्त को जिसके।।८५।।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।५४।।

किंतु वह भक्ति ऐसी। पर्जन्य धारा जैसी। धरा बिना अन्य कौन सी। गति न जाने।।८६।। या सकल जल संपत्ति। लेकर खोजत आपापति। गंगा जैसी अनन्य गति। मिलत पुनः-पुनः।।८७।। वैसे सकल भाव संभार। रोक न सकत प्रेमभर। मुझमें करत संचार। मद्रुप बनकर।।८८।। वह मैं हूं ऐसा। तीर प्रवाह में सरिसा। क्षीराब्धि सर्वत्र जैसा। क्षीर का ही।।८९।। वैसे मुझसे पिप्पिलिका पर्यंत। किंबहुना चराचर में पार्थ। भजन को विषय अवशिष्ट। नाहीं अन्य।।६९०।। ऐसी अनन्य जब चित्तवृत्ति। वहां मेरे ज्ञान की प्राप्ति। ज्ञान से दर्शन किरीटि। निश्चित जानो।।९१।। इंधन से अग्नि उत्पन्न। उद्दीप्त जब नष्ट भाव ईंधन। अग्नि रूप होवे पूर्ण। प्रत्यक्ष जैसे।।९२।। जब तक उदित न प्रभाकर। गगन में केवल अंधःकार। उदित तब तत्क्षण सर्वत्र। प्रकाश होय।।९३।। वैसे जब मेरा साक्षात्कार। नष्ट अहंकार का फेर। अहंकार लोप से द्वैत समग्र। लोपत

सहज।।९४।। तब मैं और वह अशेष। मत्स्वरूप सब निःशेष। किंबहुना मीनत सुभद्रेश। समरस में सब।।९५।।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।५५।।

जो मुझ एक को अर्जुन। करत स्वकर्म अर्पण। जिसको सिवा मेरे प्रिय अन्य। नाहीं जग में।।९६।। दृष्टा-दृष्ट सकल। जिसका मैं ही केवल। माना जिसने जीवन फल। प्राप्ति में, मेरे।।९७।। तब भूत यह भाष विस्मरत। जो दृश्य वस्तु सबमें व्याप्त। अतः निर्वैर संपूर्णतः। भजत सबको।।९८।। ऐसा जो भक्त पार्थ। त्रिधातुक उसका यह जब नष्ट। तब मद्रूप होकर रहत। निरन्तर वह।।९९।। ऐसे जगदुदर तुंदिल। वह करुणा रस स्नेहल। वाणी से कहत कृपाल। श्रीकृष्ण देव।।७००।। इस विध वह पंडुकुमर। आनंद संपदा निर्भर। और कृष्णचरण सेवा चतुर। एकमेव जग में।।१।। देव की दोनों मूर्तियां जैसे। नीके निहारे चित्त से। पाया लाभ विशेष विश्वरूप से। कृष्ण मूर्ति में तब।।२।। अर्जुन का यह अनुभव। कदापि न मानत देव। जो नहीं व्यापक से महत्त्व। एक देशी को कभी।।३।। करने इसका समर्थन। एक दो समर्पक उदाहरण। प्रस्तुत करत श्रीकृष्ण। अवसर में उस।।४।। सुनकर उसे सुभद्राकांत। मन ही मन सोचत। दोनों में कौनसा रूप श्रेष्ठ। पूछूंगा मैं।।५।। इस विचार से किरीटि। कैसी उसकी प्रश्न पद्धति। सुनो आगे सुंदर अति। कथा वह।।६।। प्रांजल ओवी प्रबंध से। कथा कथन विनोद से। वह करो श्रवण सानंद से। कहे ज्ञानदेव।।७।। भरकर सद्भावकी अंजुल। ओवी सुमन से सुकोमल।

अर्पित अंघ्रि युगल में अखिल। विश्वरूप के मैंने।।७०८।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नाम एकादशोऽध्यायः।।
(श्लोक ५५; ओवियाँ ७०८)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।

।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – बारहवाँ

जय जय हे शुद्धे। उदारे प्रसिद्धे। अनवरत आनंदे। वर्षतिये।।१।। विषय व्याल की मिठी। जब लावे मूर्छा किरीटि। तब आपकी कृपा दृष्टि। निर्विष करत।।२।। कौन संसारतापसे तप्त? कैसे शोक से पीडित? जब पूर बहत समस्त। त्वत्प्रसाद का।।३।। योग सुख का ऐश्वर्य। सेवक को तव स्नेह से सदय। सोहं सिद्धि कौन्तेय। कौतुक से देत।।४।। आधारशक्ति के अंक पर। संवर्धन प्रीतिकर। हृदयाकाश झूले पर। झुलावत

स्वयम्।।५।। प्रत्यग्ज्योतिकी करके आरति। मन पवन के खिलौने कृपामूर्ति। आत्मसुख के अलंकार अति प्रीति। पहनावत उसको।।६।। सतराविया का स्तन्य देत। अनुहत की लोरी गावत। समाधि बोध से सुलावत। समझाकर उन्हें।।७।। साधकों की आप माता। सारस्वत स्रवत सर्वथा। आपसे, अतः आपकी छाया समर्था। कदापि न छांडत।।८।। अहा! सद्गुरु की कृपादृष्टि। त्वत्कारूण्यकी जिसको प्राप्ति। वह सकल विद्यासृष्टि-। को धात्रा होत।।९।। अतः अंबे श्रीमंते। निजजन कल्पलते। आज्ञा दीजिये माते। ग्रंथनिरूपण में।।१०।। नवरस से भर दो सागर। उत्तम रत्नों का आगार। भावार्थों के गिरिवर। कीजे निर्माण।।११।। साहित्यसुवर्ण की खानि। प्रकटिये देशियों के क्षोणि। विवेकवल्ली की रोपनी। करो विपुल।।१२।। संवाद फल निधान। प्रमेयो के उद्यान। लगाइये गहन। निरंतर।।१३।। पाखंड के कुहर समस्त। मोड़ो वाग्वाद के कुमार्ग व्यर्थ। कुतर्क के वन्य दुष्ट। सावज मारो।।१४।। श्रीकृष्ण गुणरति। अखंड उसमें रहे मन्मति। श्रोताओं को दो स्थिति। श्रवण राज्यपद पर।।१५।। इस देशी भाषा नगरी में निःशेख। भर दो ब्रह्मविद्या अशेख। लेना देना सुख ही सुख। होवे जग में।।१६।। आपका स्नेह पल्लव। मिले यदि मुझे सदैव। तब सद्य यह सर्व। करूंगा माँ मैं।।१७।। इस बिनती सहित। गुरुकृपा दृष्टि निरखत। कहत सुनाओ गीतार्थ। न करो विलंब।।१८।। तब जी जी कहत महाप्रसाद-।। प्राप्त तत्क्षण अति आनंद। सुनो अब मैं कहूं प्रबंध। अवधान दीजिये।।१९।।

अर्जुन उवाच -

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते। ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।१।।

तब सकल वीराधिराजु। जो सोमवंशी विजयध्वजु। कहने लगे आत्मजु। पंडुनृप के।।२०।। सुनो, कहत हे श्रीकृष्ण!। दिया आपने विश्वरूप दर्शन। अति अद्भुत इसलिये मन्मन। हुआ भयभीत मैं।।२१।। आपकी यह सगुण मूर्ति। मन में उसकी ही पूर्ण प्रीति। किंतु किया उसका लक्ष्मीपति। निषेध आपने।।२२।। तब व्यक्त एवं अव्यक्त। आपही एक निभ्रांत। भक्ति से पावत व्यक्त। अव्यक्त योग से।।२३।। हे वैकुंठनायक श्रीअच्युत। यह दो मार्ग आपके प्राप्त्यर्थ। व्यक्त अव्यक्त सार्थ। देहरी दोनों।।२४।। सौभार अथवा रत्ती को एक। कसोटि एक ही दोनों को देख। अतः एक देशिय अथवा व्यापक। तुलत समान।।२५।। लीजे पूर्ण अमृत लहर। या एक अंजुलीभर। अमृतसागर के सुधीर। शक्ति एक।।२६।। यह माने मेरा चित्त। अनुभव यह सत्य। किंतु पूछूं कुछ बात। योगपति आपसे।।२७।। जो देव आपने क्षणैक। अंगीकृत रूप व्यापक। क्या वह सच या कौतुक? उत्सुकता मन में।।२८।। तब आपके लिये कर्म। आपही जिनको परम। भक्ति के प्रीत्यर्थ मनोधर्म। समर्पित निखिल।।२९।। इत्यादि सर्वतोपरि। जो भक्त आपको श्रीहरी। रखकर हृदयान्तरी। उपासना करत।।३०।। और जो प्रणव के पार। वैखरी को भी दूर अपार। जिसके समान साचार। वस्तु न जग में।।३१।। वह अक्षर जो अव्यक्त। निराकार देशरहित। सोऽहंभाव से उपासित। ज्ञानियों से जो।।३२।। वे ज्ञानी और भक्त।

इनमें कौन अनंत। योग सत्य जानत। कहो मुझको।।३३।। यह किरीटी का कथन। जगद्‌बंधु संतुष्ट पूर्ण। कहत अति उत्तम प्रश्न-। पद्धति तेरी।।३४।।

श्री भगवान उवाच--

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।२।।

देखो अस्तगिरी समय। सूर्यबिंब होत अदृष्य। पश्चात रश्मि कौन्तेय। संचरत उसमें।।३५।। वर्षाकाल में सरिता। भरत जैसी पंडुसुता। वैसी नित्य नई सर्वथा। वर्धत श्रद्धा।।३६।। किंतु समुद्र मिलन उपरान्त। पूर्व प्रवाह अनिवार बहुत। उस गंगा सम उमड़त। प्रेमभाव जिनका।।३७।। वैसे सर्वेन्द्रिय सहित। चित्त मुझमें समाहित। जो रात्रि-दिवस न गणत। उपासत अखंड।।३८।। इसविध जो भक्त। मुझको पूर्ण समर्पित। वही परम योगयुक्त। मानूं मैं।।३९।।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।३।।

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।४।।

और अन्य पांडवं। आरूढ़कर सोहंभाव। अक्षर को निरवयव। भजत नित्य।।४०।। मन का नख न स्पर्शत। जहां बुद्धि की दृष्टि न पहुंचत। वह इंद्रियों को अवगंत। कैसा पार्थ?।।४१।। ध्यान को भी जो अगम्य। न किसी एक स्थान में प्राप्य। निराकार न कभी दृश्य। व्यक्ति में किसी।।४२।। जो सर्वत्र समान। सर्वकाल विद्यमान। यदि प्राप्त तब चिंतन। अनावश्यक आगे।।४३।। जो न हुआ न होगा। जो न नाही न रहेगा। कभी न

उत्पत्ति पावेगा। किसी उपाय से।।४४।। जो चलत न हिलत। न कभी रीतत न होवे दूषित। जो स्वाधीन स्वतः। स्वअंगबल से।।।४५।। वैराग्य महापावक से। विषय कटक भस्म करत जैसे। धारण करत धैर्य से। इंद्रिया तप्त।।४६।। संयम के पाश से। निवर्तत उलट दिशा से। इंद्रियां बंद करत अपने से। हृदय कुहर में।।४७।। अपान वायु द्वार को। लगाकर आसन मुद्रा को। मूलबंध के बुर्जको। करत सिद्ध।।४८।। आशा के बंध तोड़त। अधैर्य दुर्ग पार करत। निद्रा का नष्ट करत। अंधकार सब।।४९।। वज्राग्नि ज्वाला पार्थ। सप्त धातु की होली करत समस्त। व्याधियों की शीशमाल समर्पत। षट्चक्रों को।।५०।। तब कुंडलिनी दीप प्रज्वलित। आधार चक्र पर उभारत। सानंद तेज में पहुंचत। मस्तक पर्यंत।।५१।। नवद्वार किवाड में निखिल। डालकर संयम की कील। खोलत गवाक्ष सूक्ष्म बिल। ककारान्त का।।५२।। प्राणशक्ति चामुंडा प्रीत्यर्थ। संकल्प मेंढा मारकर पार्थ। मनोमहिष का मुंड देत। बलि उसको।।५३।। सूर्य चंद्रमा का ऐक्य कर। अनुहत का करके गजर। सतराबिया का सरस सुंदर। जीतत शीघ्र।।५४।। तब मध्यमा मध्य विवर से। उस कोरीव दुर्घट दर से। पहुंचत चंवर जैसे। ब्रह्मरंध्र का।।५५।। ऊपर मकारान्त सोपान। चढ़के अति गहन। समेट के पूर्ण गगन। भरत ब्रह्म में।।५६।। ऐसे जो समबुद्धि। प्राप्ति को सोहं सिद्धि। स्वाधीन करत निरवधि। योग दुर्ग।।५७।। इसविध वे पार्थ। शून्य से करत साँठगाँठ। वे भी मुझको ही निश्चित। पावत सब।।५८।। उनको योग बल से। अधिक कुछ प्राप्त ऐसे। न किंचित विशेष रूप से। कछ ही उनको।।५९।।

जो सकल भूतों का हित। निरालंब अव्यक्त। उसकी प्राप्ति कांक्षत। भक्ति बिन।।६०।। उनको महेंद्रादि पद। करत सदा बाटवध। ऋिद्धि-सिद्धि का द्वंद्व। करत विघ्न।।६१।। काम-क्रोधादि उत्पात। उठत अनेक पार्थ। संग्राम शून्य के साथ। करना अटल।।६२।। तृषार्त ने तृष्णा प्राशन। बुभुक्षित ने क्षुधा भक्षण। अहोरात्र नापना पवन। धनुर्धर।।६३।। दिन धूप में सोना। स्वैर इंद्रियां निरोधना। वृक्षवल्ली से खेलना। मित्रभाव से।।६४।। शीत पहिनना। उष्ण ओढना। गृह में रहना। वृष्टि के पार्थ।।६५।। किंबहुना यह अर्जुन!। अग्नि प्रवेश नित्य नूतन। करना भ्रतारबिन। सो यह योग।।६६।। यहां न स्वामी का कारण। हव्यकव्य अनावश्यक अर्जुन। किंतु नित्य नूतन। समर मरण से।।६७।। ऐसे मृत्यू से तीक्ष्ण। विषघूंट अति उष्ण। क्या पर्वत निगलते अर्जुन। फटत न मुख?।।६८।। अतः यह योग मार्ग। चलत जो हे सुभग!। वे सब दुःखभाग। पावत निश्चित।।६९।। देखो लोहके चने अर्जुन। यदि भक्षण करत तीक्ष्ण। क्षुधा शमत या आवे मरण। कहो तुम ही?।।७०।। अतः समुद्र बाहुबल से। तरना शक्य कैसे?। या गगन में पांव से। भ्रमण कैसे?।।७१।। अथवा रण में प्रवेशत। अंग में न लगे शस्त्र। और क्या सूर्यलोक की होत। प्राप्ति पार्थ?।।७२।। इसलिये पंगु को पैज देख। न कभी पवन से शक्य। वैसे देहवंत जीव को अशक्य। अव्यक्त में गति।।७३।। इस पर भी जो साहस। करके कुछ आकाश। निश्चित वे पावत क्लेश। निरवधि।।७४।। अतः अन्य वे पार्थ। न जानत कदा

दुःख। जो यह भक्ति पंथ। अनुसरत।।७५।।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्त मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।६।।

कर्मेन्द्रियां सुख से। कर्म सब करत जैसे। यो वर्ण विशेष से। भाग्य से प्राप्त।।७६।। विधि-विधान मानत। निषिद्ध को तजत। मदर्पित दग्ध करत। कर्मफल सब।।७७।। इसलिये अर्जुन। सर्वस्व करना समर्पण। जिससे कर्म नष्ट पूर्ण। निःशेषतः।।७८।। और भी जो-जो सर्व। कायिक, वाचिक, मानसिक भाव। उनको सिवा मेरे ठांव। अन्य नाहीं।।७९।। ऐसे जो मत्पर। उपासत निरंतर। ध्यान मिष से घर। मेरा होत।।८०।। जिनकी रुचि धनुर्धर। करत मुझसे व्यवहार। भोग मोक्ष दोनो क्षुद्र। ग्राहक त्यजत।।८१।। इसविध अनन्य योग से अर्जुन। समर्पत जीव अंग मन। उनकी न एक, सब इच्छा पूर्ण। स्वयं मैं करत।।८२।।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।७।।

किंबहुना आवत धनुर्धरा। जो मातृउदर से सुवीरा। वह माता का दुलारा। कितना देखो!।।८३।। वैसा मैं उनको। वे भी प्रिय मुझको। परास्त करके कलिकाल को। रक्षण करत मैं।।८४।। वैसे भी मद्भक्तों को पार्था। लेशमात्र न संसार की चिन्ता। क्या कभी समर्थ की कान्ता। माधुकरी मांगत?।।८५।। वैसे ये सब मेरे। कलत्र ज़ानिये सारे। यदि ये विपदा से हारे। लांछन ही मुझको।।८६।। जन्म-मृत्यु तरंग पार्थ। यदि इनको डुबावत। मेरा मन होत। विकल अति।।८७।। भवसिंधु के कल्लोल। भयभीत जन निखिल।

अवतार लेकर सकल। तत्क्षण दौड़त।।८९।। मेरे सहस्त्र नाम। रूपी बनाकर नाव। संसार सागर में अथाह। तारक होत।।९०।। एकल को देख। ध्यान मार्ग अशेख। सपरिग्रह को देत विशेष। नाम नौका।।९१।। प्रेम के बेड़े पर। किसी एक को चढ़ाकर। लाया उसे तीर पर। सायुज्यता के।।९२।। जिनको भक्त यह नाम। वे चतुष्पाद भी सर्व। किये वैकुंठ के राणीव (राज्य)। योग्य पार्थ।।९३।। अतः भक्तों को सर्वथा। नहीं किंचिदपि चिन्ता। उनका समुद्धर्ता। सर्वदा मैं।।९४।। जहां भक्त को मद्भक्ति। अर्पित मुझको चित्तवृत्ति। तत्क्षण मेरी युति। उनसे होत।।९५।। इस कारण भक्तराय!। यह मंत्र तुझको धनंजय। दिया उत्तम पंथराय। अपनाओ इसको।।९६।।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

देखो, मानस यह एक। एवं बुद्धि को निःशंक। मत्स्वरूप में वृत्तिक। कीजे पार्थ।।९७।। यदि दोनों का अर्जुन। होत मद्रूप में समर्पण। प्रीति पूर्वक मिलन। पावेगा मुझको तू।।९८।। मन बुद्धि से जब ही। गृह करत मेरे ठांई। तब कहो मुझको कोई। मैं तू शेष?।।९९।। अतः दीप जब बुझावत। तेज भी साथ लोपत। जब सूर्यबिंब पावत अस्त। प्रकाश नष्ट।।१००।। प्राणोत्सर्ग समय पार्थ। इंद्रियां भी निकसत समस्त। अहंकार भी आवत। मनबुद्धि साथ।।१।। अतः मत्स्वरूप में अर्जुन। मन बुद्धि का करो निक्षेपण। इससे सर्वव्यापी संपूर्ण। होगे तुम।।२।। इसके अतिरिक्त अर्जुन। न कुछ सत्य अन्य। इसपर तेरी आन। लेऊं मैं।।३।।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्। अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।।९।।

अथवा यह चित्त। मन बुद्धि सहित। मेरे हाथ में अचुंबित। न देना शक्य।।४।। तब सुनो धनुर्धर!। इन आठों प्रहर-। में अल्प निमिषभर। देना मुझको।।५।। तब जो-जो निमिख। देखेगा मेरा सुख। होगा उतना ही अरोचक। विषयों प्रति।।६।। शरद काल होवे प्राप्त। सरिता नीर घटत। वैसे त्वरित निकसत चित्त। प्रपंच में से।।७।। तब शशि बिंब पूर्णिमा से। दिन दिन घटत जैसे। अमावस तक होत तैसे। नष्ट संपूर्ण।।८।। वैसे भोग से निकसत। चित्त मुझ में प्रवेशत। शनैः शनैः पंडुसुत। मैं ही होत।।९।। अभ्यास योग जो कहिये। वह इसको ही जानिये। इससे जो न पाइये। ऐसा कुछ भी नहीं।।११०।। अभ्यास बल से पार्थ। एक को अन्तराल में गति प्राप्त। व्याघ्रसर्प निर्वैर करत। कोई एक।।११।। विष का होवे पांचन। समुद्र पर पदक्रमण। किसी को वाग्ब्रह्मज्ञान। अभ्यास से पार्थ।।१२।। अतः अभ्यास से कोई। सर्वथा दुष्कर नाहीं। इसलिये मेरे ठांई। मिलना अभ्यास से।।१३।।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव। मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।१०।।

अथवा अभ्यास प्रीत्यर्थ। शक्ति न तुझमें पार्थ। तब जैसा तेरा क्रम प्राप्त। वैसा ही विचर।।१४।। इंद्रियों को न दंडना। भोग को न तोड़ना। अभिमान न छोड़ना। स्वजाति का।।१५।। कुलधर्म पालन। विधि निषेध आचरण। सुख से करो अर्जुन। सहजभाव से।।१६।। किंतु मन, वाचा, देह से। जो व्यापार होत तुझसे। मैं कर्ता इस भाव से। न

करना तुम।।१७।। कर्म कार्य या अकार्य। वो ही जाने समवाय। विश्व व्यापार धनंजय। वही परमात्मा से।।१८।। न्यून-अधिक कोई। भेद न रखो अपने ठांई। स्वजाति करो सबही। जिवित्व अपना।।१९।। माली जहां ले जात। पानी निवान्त बहत। उस पानीसम पार्थ। रहना तुम।।१२०।। अतः प्रवृत्ति एवं निवृत्ति। भार न वाहे त्वन्मति। रखो अखंड चित्तवृत्ति। मेरे ठांई।।२१।। वैसे भी हे सुभट। ऋजु या वक्र बाट। रथ क्या खटपट। करत कभी?।।२२।। जो जो कर्म कीजे। कम या बहुत न कहिजे। निवान्त सब समर्पिजे। मुझको सदा।।२३।। ऐसे यदि भावनायुक्त। देहान्त समय में पार्थ। तब सायुज्यसदन प्राप्त। मेरा ही तुझको।।२४।।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः। सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।।११।।

यदि यह भी तुझको। असंभव देना मुझको। तब समझ इसको। पंडुकुंवर।।२५।। बुद्धि के आगे पीछे, किरीटि। कर्म के आदि अथवा अंती। यदि तुझको मेरी स्मृति। दुःसाध्य अति।।२६।। तब रहने दो मत्स्मरण। छोड़ो मेरा महत्व अर्जुन। करे इंद्रिय संयमन। बुद्धि तेरी।।२७।। और जो जो काल। करत जो जो कर्म सकल। उनके समस्त फल। त्यजते जाना।।२८।। जैसे वेली वृक्ष। त्यजत अपने फल अशेख। वैसे कर्मसिद्धि फल देख। छोड़ो सब।।२९।। मेरा मन में चिन्तन। मत्प्रीत्यर्थ कार्याकारण। सब कुछ न करो अर्जुन। जाने दो शून्य में।।१३०।। पत्थर पर वर्षा होत। या अग्नि में बीज बोवत। कर्म को समझो पार्थ। स्वप्न जैसे।।३१।। अरे, आत्मजा से अकल्मष। पिता जैसे

निरभिलाष। वैसे कर्म में अशेष। निष्काम होईजे।।३२।। वन्हीं की ज्वाला जैसी। वृथा गगन में जात वैसी। क्रिया निष्फल मीनत तैसी। शून्य मध्ये।।३३।। यह फल त्याग अर्जुन। यदि दिखत मार्ग सामान्य। किंतु योग में योग महान। धुरंधर यह।।३४।। इस फलत्याग से अर्जुन। वह कर्म न विरुढत पुनः। जैसे एक ही बार प्रसवन। बंसी वृक्ष को।।३५।। इस शरीर से पार्थ। शरीर धारण पुनः नष्ट। पुनरावृत्तिका बंद होत। द्वार सर्वदा।।३६।। महती अभ्यास सोपान की। प्राप्ति होत सम्यग् ज्ञान की। ज्ञान से भेट ध्यान की। धनुर्धर।।३७।। तब ध्यान को आलिंगन। देत सब भाव अर्जुन। उससे कर्मजात संपूर्ण। रहत दूर।।३८।। कर्म जहां दूरीकृत। वहां फलत्याग संभवत। त्याग से स्वाधीन होत। शांति अशेष।।३९।। यदि वांच्छत शांति। यही अनुक्रम सुभद्रापति। अतः अभ्यास संप्रति। करना युक्त।।१४०।।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते। ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।१२।।

अभ्यास से गहन। होत यह ज्ञान। ज्ञान से भी ध्यान। गहन विशेष।।४१।। पश्चात कर्मत्याग। ध्यान से भी सुरंग। त्याग से उत्तम भोग। शांति सुख का।।४२।। ऐसे ये मार्ग समस्त। इन्हीं टप्पों से पार्थ। गंतव्य तक पहुंचत। शांति धाम के।।४३।।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।।१३।।

भूत मात्र के ठांई। द्वेष का लेश नाही। न आप पर भाव दोनों ही। चैतन्यसम।।४४।। उत्तम को चाहत। अधम को अव्हेरत। यह कुछ न जानत। वसुधा जैसी।।४५।। राज देह

में रहिये। रंक शरीर त्यागिये। न कहत कदापि देखिये। कृपावंत प्राण।।४६।। धेनु की तृषाहरत। व्याघ्र को विषरूप से नाशत। ऐसे न कभी करत। तोय जैसे।।४७।। वैसी समस्त भूतमात्री। समान जिसकी मैत्री। कृपा की धात्री। स्वयं जो।।४८।। मैं यह भाषा न जानत। मेरा न कुछ समझत। सुखदुखः भाव पार्थ। नाहीं जिसको।।४९।। क्षमा जिसकी अर्जुन। पृथ्वीसम महान। संतोष को उत्संगपर स्थान। दिया जिसने।।१५०।।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तःस मे प्रियः।।१४।।

वर्षा ऋतुबिन सागरू। जैसा जल से नित्य निर्भरू। वैसा निरुपचारू। संतुष्ट जो।।५१।। लेकर अपनी आन। संयमित स्वांतःकरण। निश्चय को साँचपन। लाया जिसने।।५२।। जीव परमात्मा जिसमें। बिठा कर ऐक्यासन में। जिनके हृदय भुवन में। विराजत।।५३।। ऐसा योग समृद्धि। होकर जो निरवधि। अर्पण करत मनोबुद्धि। मेरे ठाँई।।५४।। अंतर्बाह्य योग। सिद्ध करत सुरंग। तब प्राप्त मेरा अनुराग। सप्रेम जिसको।।५५।। अर्जुन वही भक्त। वही योगी वही मुक्त। वह वल्लभा मैं कान्त। ऐसा प्रिय।।५६।। इतनी ही नहीं बात। वह प्राणों से भी प्यारा पार्थ। किंतु यह भी दृष्टान्त। न्यून यहां।।५७।। वह प्रियकर की बात। भुलाकर भ्रमित करे चित्त। वाणि से अवर्णनीय किंतु कहत। श्रद्धा तेरी।।५८।। इसलिये हम इनको। सहज देत यह उपमा को। वैसे क्या कभी प्रेमको। अनुवाद दूजा?।।५९।। रहने दो यह किरीटि। यह प्रियजनों की गोष्टी। दुगुनबल से सृष्टि। प्रेम की करत।।१६०।। उस पर तुझ जैसा पार्थ। प्रेमी संवादिया प्राप्त। उस मधुरता को यथार्थ। उपमा कैसी?।।६१।।

अतः हे पंडुसुता। तू ही प्रिय तू ही श्रोता। और प्रियकर की यह वार्ता। संयोगवश।।६२।। वहां कहत श्रीरंग। आप्लावत यह सुखतरंग। बोलते ही तत्क्षण सुरंग। डोलन लागत।।६३।। सुनो हे अर्जुन। जानो वह भक्त का लक्षण। जिसके लिये मैं स्वांतःकरण। बिछावत।।६४।।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

जैसा सिंधु क्षोभित। जलचर को न भय उपजवत। और जलचर से न उद्वेलित।। समुद्र जैसा।।६५।। कैसे जग से यह उन्मत्त। न कभी दुखी होत। और जिसके संग से पार्थ। त्रस्त न लोक।।६६।। किंबहुना पांडव वैसे। शरीर इन अवयवों से। वैसे न उद्वेजित जीवों से। जीव भाव से।।६७।। जग ही देह पार्थ। अतः प्रियाप्रिय नष्ट। हर्षामर्ष लोपत। दूजे बिन।।६८।। ऐसा द्वंद्व से निर्मुक्त। भय उद्वेग रहित। जो पूर्ण रूप से भक्त। मेरे ठांई।।६९।। उसकी मुझे प्रीति। मुझको वह प्रिय अति। मत्प्राण का प्राण किरीटि। भक्त मेरा।।१७०।। जो निजानंद से तुष्ट। रूपान्तर से जनम पावत। पूर्णता का साक्षात। वल्लभ वह।।७१।।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः। सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्त स मे प्रियः।।१६।।

जिसके मन में गुडाकेश। अपेक्षा को नहीं प्रवेश। सुख को भर विशेष। निरंतर।।७२।। मोक्षदायक उदार। काशी क्षेत्र धनुर्धर। किंतु त्यागना पड़त शरीर। गांव में उस।।७३।। दोषनाशक हिमवंत। किंतु जीवन को हानि होत। वैसे शुचित्व न पार्थ। सज्जनों का।।७४।। शुचित्व में शुचि गांग तोय। और पाप ताप ही जाय। परंतु वहां सदा भय। डूबने का

पार्थ।।७५।। भक्ति सखोल अपार। भक्त को न डूबने का डर। अविछिन्न बिन हानि साचार। पावत मोक्ष।।७६।। संतअंगसंग अर्जुन। करत गंगा को भी पावन। उस संग से शुचित्व पूर्ण। निःसंदेह।।७७।। ऐसा जो धनंजय। पावित्र्य में तीर्थों का आश्रय। दशदिशा में त्वरित जाय। मनोमल।।७८।। वह अंतर्बाह्य अखंडित। सूर्य जैसा निर्मल पार्थ। और तत्त्वार्थ का द्रष्टा सार्थ। पदजातसम।।७९।। व्यापक एवं उदास। जैसे वह आकाश। वैसे जिसका मानस। सर्वत्र देखो।।१८०।। संसार व्यथा नष्ट। नैराश्य से आभूषित। व्याधहस्त से मुक्त। विहंग जैसा।।८१।। वैसा वह सुखी संतप्त। न कोई उसको कष्ट। जैसा गतायुषको न होत। लज्जा कभी।।८२।। कर्मारंभ प्रीत्यर्थ। जिसको नहीं अहंकृति पार्थ। जैसे अग्नि समस्त शमत। निरिंधन।।८३।। वैसे उपशम पूर्ण। जिसको प्राप्त अर्जुन। मोक्ष का मार्ग संपन्न। किया उसने।।८४।। इस विध जो नर। सोहंभाव से सराबोर। किया द्वैतका पैलतीर। पार उसने।।८५।। भक्ति सुख प्राप्त्यर्थ। स्वयं दो भाग में विभक्त। एक को सेवक, पार्थ। रखत नाम।।८६।। दूजे को देव कहत। यथाविधि भजत जात। नास्तिक को भी देत। भक्तियोग।।८७।। उसका मुझे व्यसन। वह मेरा निजध्यान। किंबहुना तब समाधान। जब प्राप्त वह।।८८।। उसके लिये मेरा अवतार। मेरा यह वास्तव्य साचार। उस पर मत्प्राण निछावर। इतना प्रिय।।८९।।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति। शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।१७।।

जो आत्मलाभ सम। न मानत अन्य उत्तम। भोगविशेष से जिसका मन। पावत न

हर्ष।।१९०।। स्वयं विश्वाकार होत। भेदभाव सहज लुप्त। अतः द्वेष संपूर्ण नष्ट। जिसका पार्थ।।९१।। अपनी वस्तु विशेष। कल्पांत में भी न नामशेष। यह सत्य जाने निःशेष। गतशोक न करत।।९२।। जिस स्वरूप से पार्थ। उत्तम वस्तु न जग में समस्त। वह अपने में अनुभवत। कांक्षारहित जो।।९३।। उत्तम अधम किरीटि। न मानत जिसकी मति। समान दिवस रात्री। सूर्य को तैसी।।९४।। ऐसा बोध ही केवल। रहे होकर निर्मल। उस पर भजनशील। मद्भाव से।।९५।। उस भक्त के समान। प्रिय न मेरा कोई अन्य। सत्य सत्य तेरी आन। धनंजय।।९६।।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।।१८।।

जिसके ठांई पार्था। नहीं वैषम्य की वार्ता। रिपुमित्र को सर्वथा। मानत सम।।९७।। स्वगृहवासी को प्रकाश देत। परकीय को अंधेरा करत। यह कदापि न जानत। दीप जैसा।।९८।। जो घाव से करे छेदन। या स्वहस्त से रोपण। करत छाया समान। वृक्ष जैसा।।९९।। नातर इक्षुदंड खास। पोषक को देत मिठास। और औटक को कटुत्व विशेष। न कभी देत।।२००।। अरि-मित्र में तैसा। अर्जुन, जिसका भाव सरिसा। मानापमान में एकसा। भाव जिसका।।१।। तीनों ऋतु में समान। जैसा होत गगन। वैसा एक ही मान। शीतोष्ण में जिसको।।२।। दक्षिणोत्तर मारुत। मेरु को सम पंडुसुत। वैसा सुखदुःख प्राप्त। समबुद्धि को।।३।। माधुर्य चंद्रिका को। समान राजा रंक को। वैसा जो सकल भूतमात्र को। सदा सम।।४।। समस्त जगत को एक। सेव्य जैसे उदक। वैसे

जिसको तीनों लोक। आकांक्षत।।५।। अंतर्बाह्य संबंध। छोड़कर सब बंध। करत मनका अनुबंध। मन में ही स्थिर।।६।।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्। अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।१९।।

जो न निंदासे त्रस्त। स्तुति से न तुष्ट। आकाश को न बाधत। संसर्ग जैसा।।७।। वैसे निंदा एवं स्तुति। मानत एक पांति। विचरत जिसकी प्राणवृत्ति। जनवन में।।८।। सत्य-असत्य दोनों अर्जुन। नष्ट संकल्प बोलकर भी मौन। जो भोगत उन्मनी पूर्ण। निरंतर।।९।। जो यथा लाभ से न तोषत। अलाभ से न हो क्रोधित। जैसे पर्जन्यबिन न सूखत। समुद्र जैसा।।२१०।। जैसे वायु को अर्जुन। नहीं एक वसतिस्थान। तैसा न उसका जान। आश्रय कहीं।।११।। संपूर्ण आकाश स्थिति। वायु की जैसी नित्य वस्ति। वैसे जगही विश्रांति-। स्थान जिसको।।१२।। यह विश्व ही मेरा घर। ऐसी मति जिसकी स्थिर। किंबहुना चराचर। हुआ स्वयम्।।१३।। इस पर और पार्था। मेरे भजन में आस्था। उसको मैं माथा-। का मुकुट करत।।१४।। उसको सदा मस्तक। नवाइजे न कुछ कौतुक। किंतु मान देत तीनों लोक। पदतीर्थ को जिसके।।१५।। ऐसे श्रद्धावान का आदरु। जानिये उसका प्रकारू। यदि होत श्रीगुरू। सदाशिव।।१६।। रहने दो यह साम्प्रत। महेश को यदि बखानत। आत्मस्तुति पार्थ। होगी निश्चित।।१७।। युक्त न यह दृष्टान्त। कहत स्वयं रमानाथ। अर्जुन, मैं धारण करत। मस्तक पर उसको।।१८।। चतुर्थ सिद्धी पुरुषार्थ। लेकर अपने हाथ। अनुसरत भक्ति पंथ। जग को भी देत।।१९।।

अधिकारी कैवल्य का। व्यवहार करे मोक्ष का। नम्रता स्वभाव जल का। अपनावत।।२२०।। इसलिये उसका करत वंदन। वह स्वमाथा का मुकुट अर्जुन। करूं उसका पवित्र पदचिन्ह। धारण हृदय पर।।२१।। उसके गुण आभूषण। अपने वाणी पर धारण। उसकी कीर्ति करण-। को पहिनाऊं मैं।।२२।। उसके दर्शन की आस। अतः मुझ अचक्षुको चक्षु खास। स्वहस्तलीला कमल से गुडाकेश। पूजत उसको।।२३।। और दो भुजा दो हस्त पर। आऊं मैं धारण कर। आलिंगनार्थ हे सुवीर। अंग उसका।।२४।। उसके अंगसुख प्रीत्यर्थ। मुझ विदेह को देह धारण पार्थ। वह मेरा जीव प्राण सार्थ। निरूपम।।२५।। वह मेरा परम मित्र। इसमें कौनसी बात विचित्र। किंतु उसका सुचरित्र। श्रवण करत जो,।।२६।। वे भी प्राण से प्रिय। प्रियजन सत्य सत्य। जो भक्त चरित्र धनंजय। प्रशंसत।।२७।। जो यह साद्यंत। कहा तुझको प्रस्तुत। भक्ति योग श्रेष्ठ। योग रूप।।२८।। जो मुझे प्रिय अत्यंत। मन मस्तक पर धारण करत। इतना महत्व श्रेष्ठ। जिस स्थिति का।।२९।।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते। श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।२०।।

ऐसी यह वस्तु रम्य। अमृत धारा धर्म्य। करत प्रतीति गम्य। सुनकर जो।।२३०।। वैसे अर्जुन, आदर से। जिनके ठांई दृढ़ श्रद्धा से। मन में पूर्ण विचार से। अनुसरत जो।।३१।। जिनको निरूपित ऐसी। स्थिति सहज मानसी। तब सुक्षेत्र में जैसी। रोपनी होत।।३२।। मुझको मानत परम। मेरे ठांई उनका प्रेम। सर्व भावसे सप्रेम। भजत मुझको।।३३।।पार्थां इस जगी (जग में)। वे ही भक्त वे ही योगी। अखंड उत्कंठित

अनुरागी। उनके लिये मैं।।३४।। वे ही तीर्थ वे ही क्षेत्र। जग में वे ही पवित्र। भक्तिकथा मित्र। निरंतर जो।।३५।। मैं उनका करूं ध्यान। वे ही मेरा देवतार्चन। उनके बिना न अन्य। भाये मुझको।।३६।। उनका मुझे व्यसन। वे मेरे निधिनिधान। किंबहुना समाधान। जब प्राप्त वे।।३७।। प्रिय भक्तों की वार्ता। अनुवादत जो पंडुसुता। उसको मानूं परमदेवता। मेरी सार्थ।।३८।। ऐसा निजजनानंद। वह जगदादिकंद। बोलत श्री मुकुंद। संजय कहे।।३९।। हे नृपनाथ, जो निर्मल। निष्कलंक लोककृपाल। शरणागत प्रतिपाल। शरण्य जो।।२४०।। जो सुरसहाय शीलु। लोकलालन लीलू। प्रणत प्रतिपालु। यह खेल जिसका।।४१।। जो धर्मकीर्ति उज्ज्वल। अगाध दातृत्व में सरल। अतुल बल से प्रबल। बलिबंधनु जो।।४२।। जो भक्तजन वत्सलु। स्नेहीजन प्रांजलु। सत्यसेतु सकलु। कलानिधि।।४३।। वह श्रीकृष्ण वैकुंठ का। चक्रवर्ती निज जनों का। बोलत वह सुनत पंडु का। सुभग सुत।।४४।। अब इसके उपरान्त। सुनो हे नृपनाथ। वह प्रसंग संजय कहत। धृतराष्ट्र को।।४५।। वही सुरस कथा। प्राकृत प्रतिपंथ में पार्था। निरूपण उसका तत्त्वता। सुनो सांप्रत।।४६।। ज्ञानदेव कहत आप सर्व। संत हमको शरण्य सेव्य। यह आदेश दिया स्वामी ने योग्य। निवृत्तिदेव ने।।२४७।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः।।

(श्लोक २०; ओवियां २४७)

ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।

।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – तेरहवाँ

करके आत्मरूप गणेश का स्मरण। जो सकल विद्याओं के अधिकरण। वे ही वंदन करूं श्रीचरण। श्रीगुरुके अब।।१।। स्मरण मात्र से जिसके सर्व। कवित्वशक्ति अभिनव। स्वाधीन सारस्वत अपूर्व। जिव्हा के सब।।२।। वक्तृत्व को ऐसा माधुर्य। जो अमृत भी फीका होय। रस होत आश्रित कौन्तेय। अक्षर को यहां।।३।। भाव का अवतरण। प्रकट अनुभव पूर्ण। हस्तगत संपूर्ण। तत्त्वभेद।।४।। श्रीगुरुके चरण। हिय में यदि नित्य स्मरण।

लभत भाग्य महान। ज्ञानोदय का।।८।। करके उनको वंदन। कहूं अब जो कहत कृष्ण। पितामह का पिता लक्ष्मीनारायण। सुनो वह।।६।।

श्री भगवान उवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।१।।

तब सुनो यह पार्थ!। देह यही क्षेत्र। जानत जो यह सत्य। क्षेत्रज्ञ यहां।।७।।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।२।।

यहां क्षेत्रज्ञ जो विद्यमान। वह मैं ही जानो अर्जुन। करूं सब क्षेत्र का पोषण। सुनिश्चित।।८।। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको। जानना यथार्थ जिसको। ज्ञान संज्ञा उसको। माने हम।।९।।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्। स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन में श्रृणु।।३।।

क्षेत्र इस नाम से। यह शरीर जिस भाव से। वह अभिप्राय पूर्ण रूप से। कहूं अब।।१०।। क्यों कहना इसको क्षेत्र?। कैसे कहां से सृजत?। विकारों से पोषत। कौन-कौन से यहां?।।११।। यह लघु औट हस्त। कितना भार कितना विस्तृत। सुपज या निरूपज पार्थ। किसका यह?।।१२।। इत्यादि सर्व। जो-जो इसके भाव। कहूं सांप्रत वह। दो अवधान अब।।१३।। इसी क्षेत्र संबंध में अर्जुन। श्रुति सदा करे विवरण। तर्क करे निर्णय पूर्ण। वाद विवाद से।।१४।। करते इसका वर्णन। परास्त हुए षड्दर्शन। इसलिये अब भी अर्जुन। छंद शेष।।१५।। शास्त्रसंमत वाद शुद्ध। इस जग में प्रसिद्ध। वह

भी असफल करने सिद्ध। एकमत इसका।।१६।। मुख मुख को न मानत। बोल बोलसे न सहमत। युक्ति हुई शिकस्त। यत्न में इस।।१७।। न जाने किसका यह स्थल। किंतु कैसा अभिलाषा का बल। जो घरघर माथापच्ची केवल। इसी के लिये।।१८।। नास्तिक मुख को करने बंद। वेद महाप्रसिद्ध। देखकर करत पाखंड। विवाद अन्य।।१९।। कहत वेद निर्मूल। झूठे ये सब वाग्जाल। इस पर पोफल (सुपारी)। रखें हम (बीड़ा उठायें हम)।।२०।। पाखंडि के झुंड। नग्न लुंचत मुंड। तब भी उनके वाद वितंड। निष्फल होत।।२१।। मृत्युबल प्रभाव से। नष्ट होगा बिन काज से। देखकर इसी निमित्त से। सिद्ध योगीजन।।२२।। मृत्यु से भयभीत। सेवत निरंजन एकान्त। यम नियम के जुटावत। समुदाय पूर्ण।।२३।। इस क्षेत्राभिमान सहित। महेश राज्य त्यजत। उपाधि टालने करत। श्मशान वास।।२४।। इस प्रतिज्ञा से महेश। ओढ़कर दिशा दश। रिश्वतखोर मदन को अशेष। भस्म करत।।२५।। इसी क्षेत्र का करने ज्ञान। सत्यलोकनाथ को चार वदन। फिर भी वह असफल अर्जुन। न जाने इसको।।२६।।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।४।।

एक कहत यह स्थल। जीवाधीन समूल। और इसकी व्यवस्था कुल। देखत प्राण।।२७।। इस प्राण का घर। जिसमें बंधु श्रमिक चार। और मन पहरेदार। नियंत्रक।।२८।। दर्शेंद्रिय बैल जोड़ा पास। न जानत रात्रि-दिवस। विषय क्षेत्र में विशेष। श्रमत नित्य।।२९।। विहित कर्म टालत। अन्यायबीज बोवत। कुकर्म का डालत। खाद उसमें।।३०।। उस

बीज के समान। प्रचुर पाप उत्पन्न। जन्म कोटि दुःख दारुण। भोगत जीव।।३१।। अथवा विधि सुसमय साधकर। सत्क्रिया बीज डालकर। जन्मशत अपार। भोगत सुख ही सुख।।३२।। तब विरोध करत अन्य। कहत न यह जीवाधीन। यह संपूर्ण क्षेत्रज्ञान। पूछो हमसे।।३३।। अहो जीव यहां आगुंतक। बाट चलत करे वस्ति तनिक। प्राण बलुतेदार (रक्षक) एक। अतः जागत।।३४।। अनादि यह प्रकृति। सांख्य गात जिसकी स्तुति। क्षेत्र यह वृत्ति। जानो उसकी।।३५।। और इसका ही समग्र। संपूर्ण यह परिवार। अतः क्षेत्र का सब कारोबार। देखत घर में।।३६।। इसके मूल कृषक अर्जुन। इस सृष्टि में तीन। वे इससे ही उत्पन्न। गुणत्रय।।३७।। रजोगुण बोवत। सत्य पोषण करत। तम कटाई करत। समेटत सब।।३८।। रचकर महतत्त्व का खल। मलनी करत कालबैल। वहां अव्यक्त का सांजकाल। सहज होत।।३९।। तब एक मतिमान। करत इस बात का खंडन। कहत यह समस्त ज्ञान। अर्वाचीन।।४०।। अहो परतत्त्व सम्मुख सार्थ। क्या इस प्रकृति की बात। यह सब क्षेत्र वृत्तांत। सुनो निवान्त।।४१।। शून्य सेज शाला में साचार। सुलीनता की शय्या पर। निद्रा करत बलवत्तर। संकल्प वहां।।४२।। अकस्मात वह चेतत। उद्यम में सदैव रत। अतः निधान पावत। इच्छावश।।४३।। निरालंब का उद्यान। जो यह त्रिभुवन। इसके उद्यम में पूर्ण। पावे रंग रूप।।४४।। महाभूतों की समग्र। स्वैर व्यापत भूमि ऊसर। भूतग्राम के चारों प्रकार। सृजत पूर्ण।।४५।। पश्चात प्रथम पार्थ। पंचभूतों की क्यारी यथार्थ। प्रभेद से तैयार करत। धनुर्धर।।४६।। कर्माकर्म की बांधकर

मेढ़। दोनों ओर दृढ़। नपुंसक बंजर में निबिड़। निर्मित बन।।४७।। वहां यातायात को
सुवीर। जन्म-मृत्यु का निरन्तर। सृजत भूमि गव्हर। संकल्प से इस।।४८।। आगे
अहंकार से संधि पार्थ। करके जीवनावधिपर्यंत। बुद्धिबल से श्रमवत। चराचर को।।४९।।
ऐसे चिदाकाश में अर्जुन। सृजत संकल्प शाखा पूर्ण। प्रपंच को मूलकारण। हुआ वह।।५०।।
ऐसा उनका मुक्त कथन। सुनकर स्वभाववादी अन्य। कहत हो बहुत विद्वान। आप
सब!।।५१।। यदि माना परब्रह्म के गाव में। संकल्प किरायेदार उसमें। क्यों न सांख्यों
की माने। प्रकृति हम?।।५२।। रहने दो यह समस्त। होना न आप भ्रमित। बतलाऊं मैं
सांप्रत। आपको सब।।५३।। तब आकाश में कौन। भरत मेघों में जीवन?। अंतरिक्ष में
तारांगण-। को आधार किसका?।।५४।। आकाश का यह छत। ताना किसने कब
यथार्थ। पवन सदा गतिमंत। यह आज्ञा किसकी?।।५५।। रोम कौन बोवत?। कौन
सिंधुको भरत। पर्जन्य की सृजत। धारा कौन?।।५६।। वैसे स्वभावसिद्ध यह क्षेत्र। नहीं
किसका वतन पार्थ। जोतत उसको फलत। न अन्य किसी को।।५७।। तब एक और।
कहत क्रुद्ध होकर। फिर सत्ता काल की इस पर। किस कारण?।।५८।। तब इसका
मार। देखकर भी अनिवार। करत स्वमत का प्रचार। अभिमानवश।।५९।। यदि मानकर
मृत्यु भयंकर। जैसे सिंह का कंदर। कीजे बकबक असार। क्या सार्थ वह?।।६०।।
महाकल्पान्तपर्यंत। आलिंगत अवचित। सत्य लोक को भी ग्रासत। भद्रजाति को।।६१।।
लोकपाल नित्य नूतन। दिग्गज अष्ट पूर्ण। प्रवेशत स्वर्ग बन। संहरत सबको।।६२।। अन्य

अंगवात सं पार्थ। जन्ममृत्युगर्त में समस्त। निर्जीव होकर भ्रमत। जीवमृग सब।।६३। पंजा का विस्तार देखो। कितना विशाल जाको। समस्त आकार गज को। एकड़त मध्य में।।६४।। अतः काल की सत्ता अपार। बोल यह सत्य त्रिवार। ऐसे भेद नाना सुवीर। क्षेत्र संबंध में।।६५।। इसविध चर्चा बहुत। ऋषि नैमिष में करत। प्रमाण पुराण समस्त। आधार इसका।।६६।। अनुष्टुपादि छंद। प्रबंधों में विविध। ग्रंथ रचना प्रसिद्ध। अद्याप करत।।६७।। बृहत वेद का सामसूत्र। जो ज्ञानदृष्टि से पवित्र। किंतु उसको भी यह क्षेत्र। अनाकलनीय।।६८।। और, और भी बहुत। महाकवि हेतुमंत। इस विवाद में परास्त। हुए सब।।६९।। परंतु इतना यह बिकट। खास किसको न यह स्पष्ट। न किसके वशीभूत। धनंजय।।७०।। अब सुनो जैसे। यह क्षेत्र क्या कैसे। कहूं तुमको विस्तार से। साद्यंत अब।।७१।।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इंद्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।५।।

इच्छा द्वेषं सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।६।।

यह महाभूतपंचक। और अहंकार एक। बुद्धि प्रकृति दशक। इंद्रियों का।।७२।। मन और भी एक। विषयों का दशक। द्वेष सुख दुःख। संघात इच्छा।।७३।। और चेतना धृति। एवं सब क्षेत्र व्यक्ति। कही तुझको किरीटि। सविस्तार।।७४।। महाभूत कौन-कौन। कौन विषय, करण कौन। करूं वर्णन भिन्न-भिन्न। एकेक का अब।।७५।। तब पृथ्वी आप तेज। वायु व्योम ये समझ। कह दिये सहज। महाभूत पाँचों।।७६।। जैसे

जागृत दशा में। स्वप्न छिपा रहत उसमें। अथवा गुप्त अमावस में। चंद्रबिंब।।७७।। या अप्रौढ़ बालक में पार्थ!। तारुण्यभाव निहित। अविकसित कलिका में सुप्त। आमोद जैसा।।७८।। किंबहुना काष्ट में यथार्थ। वन्हि जैसा अप्रकट। प्रकृति पेट में समाहित। गौप्य जो।।७९।। जैसा ज्वर धातुगत। कुपथ्य का मिष खोजत। जब होवे शरीर को ग्रासत। अंतर्बाह्य।।८०।। वैसे पांचों जब एकत्र। तब देहाकार प्रकट। चौबाजू नचावत। अहंकार वह।।८१।। नवल अहंकार का अशेख। अज्ञानी को न स्पर्शत देख। ग्रासत ज्ञानी का कंठ विशेख। नचावे नाना संकट में।।८२।। अब बुद्धि संज्ञा यथार्थ। वह इस विध जानो सार्थ। जो कहत यदुनाथ। सुनो अब।।८३।। कंदर्प के बल से। इंद्रियवृत्ति के मेल से। विजित समुदाय जैसे। विषयों के सब।।८४।। वह सुख दुःखों का अनुभव। झाड़ा देत जब जीव। दोनों का यथार्थ भाव। जानत जिससे।।८५।। यह सुख यह दुख। यह पुण्य यह सदोख। मिलावट यह चोख। निर्धारत जो।।८६।। उच्च नीच जानत। लघु श्रेष्ठ पहिचानत। विषय बोध अवगत। दृष्टि से जिसको।।८७।। जो तेज तत्त्वों का आदि। जो सत्यगुण की वृद्धि। जो आत्मा जीव की संधि-। में व्यवस्थित।।८८।। अर्जुन उसको जान। बुद्धि वही संपूर्ण। अब सुनो लक्षण। अव्यक्त का तुम।।८९।। सांख्यमत का सिद्धांत। प्रकृति जो हे प्रज्ञावंत। वही यहां प्रस्तुत। अव्यक्त वह।।९०।। और जो सांख्ययोग मत से। प्रकृति कही तुझसे। पूर्वी द्विविध रूपसे। विवेचन जिसका।।९१।। वहां द्वितीय जो जीवदशा। उसका नाम वीरेश। यहां अव्यक्त ऐसा। अभिप्राय जिसको।।९२।।

जहां दिन उदित। गगन में तारागण लोपत। अथवा अस्तमान में स्थगित। लोकक्रिया।।९३।। अथवा देहपतन पश्चात। देहादिक विकार जात। उपाधि पेट में लोपत। कृतकर्मों के।।९४।। जैसे बीजमुद्रा में पार्थ। स्थित तरु समस्त। तंतुदशा में वस्त्र। रहत गुप्त।।९५।। छांडके स्थूल धर्म। महाभूत भूतग्राम। रहत होकर सूक्ष्म। विलीन जिसमें।।९६।। वही हे अर्जुन। अव्यक्त रूप जान। अब सुनो पूर्ण। इंद्रिय भेद।।९७।। तब श्रवण, नयन। त्वचा, रसना, घ्राण। इनको ही कहत ज्ञान-। इंद्रिय पांचों।।९८।। इन तत्त्व मेल से समग्र। सुख दुःखों का विचार। बुद्धि करत साचार। पांचों से इन।।९९।। फिर वाचा और कर। चरण और अधोद्वार। उपस्थ यह प्रकार। और पांच।।१००।। कर्मेंद्रियां जो कहलावत। वही इनको जानो पार्थ। सुनो कैवल्यपति स्वतः। निरूपत स्वयम।।१।। इस प्राण की पत्नी अर्जुन। जो क्रिया शक्ति शरीर में जान। उसकी यातायात पूर्ण। पंचद्वार से इन।।२।। एवं इंद्रिया दश। निरूपित तुझको गुडाकेश। अब सुनो निश्चित विशेष। कैसा मन यह।।३।। जो इंद्रिय बुद्धि से पार्थ। संधिमध्ये वास करत। शाखापर विहरत। रजोगुण के।।४।। नीलिमा अंबर में। या लहरे मृगजल में। वायु का व्यर्थ स्फुरण उसमें। वैसा ही मन।।५।। और शुक्र शोणित का मिलन। पंचभूताकार अर्जुन। होत स्थानभेद से दशप्राण। वायुतत्त्व एक।।६।। वे दश भाग में। देहधर्म बल से अपने। अपने स्वस्थान में। अधिष्ठित सब।।७।। वहां चांचल्य निखिल। एक ही शेष केवल। अतः रजोगुण से बल। प्राप्त उनको।।८।। वह बुद्धि के बाहिर। अहंकार के अंतपर। ऐसे मध्य में साचार। हुआ

दृढ़।।९।। उसको मन संज्ञा व्यर्थ। अन्यथा वह कल्पना मूर्तिमंत। जिसके संग से वस्तु को प्राप्त। जीवदशा जग में।।११०।। जो प्रवृत्ति का मूल। वासना को जिससे बल। अखंड करत छल। अहंकार का जो।।११।। इच्छा को वर्धवत। आशा को बल देत। जो सहाय करत। भय को नित्य।।१२।। द्वैत जिसमें उत्पन्न। अविद्या होत बलवान। इंद्रियों को लोटत पूर्ण। विषयों में सब।।१३।। संकल्प से सृष्टि सृजत। तत्क्षण विकल्प से ध्वंसत। मनोरथ के मीनार मोडत-। रचत महान।।१४।। जो भ्रम का कोठार। वायुतत्त्व का सार। बुद्धि का द्वार। आवृत जिसमें।।१५।। वह हे किरीटि मन। बोल यह सत्य मान। अब विषयाभिधान-। भेद सुनो।।१६।। तब स्पर्श एवं शब्द। रूप, रस, गंध। यह विषय पंचविध। ज्ञानेंद्रियों के।।१७।। पांचों द्वारों से इन। बाहिर दौड़त ज्ञान। जैसे हरे घांस में अर्जुन। भ्रमत पशु।।१८।। आगे स्वर वर्ण विसर्ग। अथवा स्वीकार त्याग। संक्रमण उत्सर्ग। विण्मूत्र का।।१९।। ये कर्मेंद्रियों के पांच। विषय विशेष साच। जिसका बांधकर माँच (मचान)। धावत क्रिया।।१२०।। ऐसे ये दश। विषय देह में वीरेश। अब इच्छा का विशेष। कहूं अर्थ।।२१।। पूर्व अनुभव का स्मरण। या कर्ण में शब्द उच्चारण-। से जो चेतत तत्क्षण। वह जो वृत्ति।।२२।। इंद्रिय विषयों की भेंट। सहित तत्काल प्रकट। काम की बाह पार्थ। पकड़कर जो।।२३।। जिसका जहाँ उद्भव। मन की स्वैर वहां धाव। न जाना वहां सावयव। मारत मुख।।२४।। जिस वृत्ति की संगत। करे बुद्धि को भ्रमित। विषयों में पूर्ण रत। वही यह इच्छा।।२५।। जैसी यह इच्छा उत्पन्न। और न यदि वह

संपन्न। उस लाभ की वृत्ति अर्जुन। जानो द्वेष वही।।२६।। अब आगे सुनो सुख। वह एवंविध देख। जिस एकसे अशेख। विस्मरत जीव।।२७।। कायावाचा मन। लेकर अपनी आन। देह भाव का स्मरण। नाशत जो।।२८।। जब होवे प्राप्त। प्राण पंगु होवत। सात्विक वृत्ति दुगनत। होत लाभ।।२९।। अशेष इंद्रियवृत्तियां पार्थ। हृदयान्तर में समेटत। सहलाकर सुलावत। एकान्त में जो।।१३०।। किंबहुना जहां आश्रय। आत्मा से जीवका होय। वहां जो अनुभव। नाम सुख उसको।।३१।। और ऐसी यह व्यवस्था। यदि न पावे पार्था। वह जीव की अवस्था। दुःख जानो।।३२।। मनोरथ संग से न प्राप्त। अन्यथा सिद्ध स्वतः। ये दोनों उपाय पार्थ। सुख दुःख के।।३३।। अब असंग को साक्षीभूता। देह में चैतन्य की जो सत्ता। उसको नाम पंडुसुता। चेतना यहां।।३४।। जो नखशिखान्त। खड़ी शरीर में जागृत। जो तीनों अवस्थान्तर्गत। अपरिवर्तित।।३५।। मनबुद्ध्यादि समस्त। जिससे सदा प्रफुल्लित। प्रकृति वन माधव सी पार्थ। सदोदित जो।।३६।। जड़ चेतन में समग्र। समरूप में संचार। चेतना वह साचार। निस्संशय।।३७।। राजा परिवार न जानत। आज्ञा मात्र से करे परचक्र परास्त। पूर्णचंद्र से समुद्र को प्राप्त। ज्वार जैसा।।३८।। अथवा भ्रामक का सन्निधान। लोहको करे सचेतन। सूर्यसंग से जन-। व्यवहार सब।।३९।। अरे, मुखमेल बिन। प्रिय शिशुका पोषण-। करत दृष्टि निरीक्षण। से कुर्मी जैसे।।१४०।। उसके समान पार्थ। शरीर में आत्म संगत। जड़ वस्तुको सचेत। करत जो।।४१।। तब उसको चेतना। कहत हे अर्जुना। अब धृति विवेचना। भेद सुनो।।४२।। वैसे भूतों में

परस्पर। स्पष्ट जाति स्वभाव बैर। क्या न पृथ्वी को नीर। नाशत सहज।।४३।। नीरको शोषत तेज। तेज की वायु से झूंझ। और गगन तो सहज। भक्षत वायुको।।४४।। वैसे किसी भी काल। न होवे किसी से भी मेल। ओतप्रोत किन्तु पृथक सकल। से आकाश यह।।४५।। ऐसे ये पांचों भूत। एकदूजे को न सहत। किन्तु जब ऐक्य पावत। होत देह।।४६।। द्वंद का विवाद पार्थ। छोड़कर रहत एकत्र। परस्पर को पोषत। निज अंगगुण से।।४७।। इसविध जो असंभव। हो जिससे संभव। ऐसा जो भाव। धृति वह।।४८।। और जीवसहित पांडव। इन छत्तीसों का समुदाय। जानिये यहां वह। संघात नाम।।४९।। एवं छत्तीस भेद। तुझको किये विशद। सब मिलकर प्रसिद्ध। सो क्षेत्र यह।।१५०।। विभिन्न रथांग पार्थ। मिलकर संज्ञा रथ। अधोर्ध्व अवयव को समस्त। नाम देह।।५१।। करि, तुरंग-समाज। उसको सेना संज्ञा सहज। अथवा वाक्य माने पुंज। अक्षरों का।।५२।। या जलधरों का मेल। कहत उसे अभ्र निखिल। नानालोक समुदाय सकल-। को संज्ञा जग।।५३।। अथवा वन्ही स्नेह सूत्र। मेल जब एकत्र। कहत लोक समस्त। दीप उसको।।५४।। वैसे छत्तीस ये तत्त्व। पावत जिससे एकत्व। वह समूहपरत्व–। को कहिये क्षेत्र।।५५।। भौतिक यहां श्रमत। पाप पुण्य उपजत। अतः कौतुक से इसे कहत। क्षेत्र हम।।५६।। और अन्यों का मत। इसको देह कहत। ऐसे कई अनंत। नाम इसको।।५७।। परतत्त्वपूर्ण पार्थ। स्थावर जंगम समस्त। जो जो सृजत नाशत। क्षेत्र ही वह।।५८।। किन्तु सुर नर उरग। जो उपजत योनी विभाग। उसका गुण कर्म संग। कारण जानो।।५९।।

यही गुण विवेचन। आगे कहूं अर्जुन। सांप्रत तुझको ज्ञान-। रूप दिखाऊं।।१६०।। क्षेत्र यह सविस्तर। कथित साविकार। इसीलिये अब उदार (उत्तम)। सुनो ज्ञान।।६१।। जिस ज्ञान प्राप्त्यर्थ। योगी गगन निगलत। स्वर्ग का आडा पँथ। लांघकर।।६२।। सिद्धि की न करत चाड (आस)। ऋद्धिकी न धरत भीड़। योगमार्ग कठोर दृढ़। मानत तुच्छ।।६३।। तपोदुर्ग लांघत। ऋतुकोटि निछावर करत। समूल उखाड़त। कर्मवल्ली।।६४।। नाना भजन मार्ग से। धावत उघारे अंग से। एक रीगत सुरंग में जैसे। सुषुम्नाके।।६५।। ऐसा जो ज्ञान। उत्कंठित मुनिमन। वेदतरू पर करत भ्रमण। पर्ण-पर्ण में।।६६।। गुरू-सेवा से अर्जुन। लभत बुद्धिज्ञान। जन्मशत का फेरा पूर्ण। नाशत जो।।६७।। जिस ज्ञान का प्रवेश। नाशत अविद्या निःशेष। जीवात्म ऐक्य अशेष। करावे जो।।६८।। इंद्रियद्वार बंद करत। प्रवृत्ति के पाँव तोड़त। जो दैन्य चिन्ता नाशत। मनकी पूर्ण।।६९।। द्वैत का दुष्काल देखत। साम्य का सुकाल होत। जिस ज्ञान प्राप्ति से लभत। सुविधा ऐसी।।१७०।। मद का ठाँव नाशत। महामोह को ग्रासत। आप पर भाषा की बात। रहत न शेष।।७१।। संसार का उन्मूलन। संकल्प पंक नष्ट पूर्ण। देत ज्ञेय को आलिंगन। अनावर को जो।।७२।। जिसके ज्ञान से पार्थ। प्राण पंगु होत। जिसकी सत्ता से यह समस्त। जग व्यापार।।७३।। प्रकाश से जिसके। खुलत नेत्र बुद्धि के। सागर में आनंद के। निमग्नजीव।।७४।। ऐसा जो ज्ञान। पवित्रैक निधान। जहां विषयमलिन मन। होत शुद्ध।।७५।। आत्मा को जीवबुद्धि। ग्रासत क्षयव्याधि। वह जिसके सन्निध त्रिशुद्धि। निरामय होत।।७६।। उस अरूप का

निरूपण। बुद्धि से जानो संपूर्ण। दृष्टि को इसका दर्शन। असंभव।।७७।।जब वही शरीर में इस। दिखावें अपना प्रभाव विशेष। तब इंद्रियव्यापार में अशेष। गोचर दृष्टि को।।७८।। बसंत का आगमन। सूचित करे तरुका ताजापन। वैसे इंद्रिय व्यापार से ज्ञात पूर्ण। ज्ञानप्राप्ति।।७९।। देखो वृक्ष के तल में। जल पहुँचत मूल में। शाखाविस्तार के रूप में। बाहिर दिखत।।१८०।। अथवा भूमी का मार्दव। कोपल की कोमलता से पांडव। नाना आचार गौरव। सुकुलीन का।।८१।। अथवा स्नेह आदरातिथ्य से। होवे व्यक्त जैसे। जानिये दर्शनप्रशस्ति से। पुण्य पुरुष।।८२।। कदली से कर्पुर उत्पन्न। परिमल से प्रतीत पूर्ण। कांचगृह में स्थित दीप अर्जुन। प्रकाशत बाहिर।।८३।। वैसे जब प्रकट हिय में ज्ञान। देह में जो दिखत चिन्ह। वे सब कहूँ संपूर्ण। सुनो सावधान।।८४।।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। आचार्योपासनं शौच स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।७।।

किसी भी विषयों की प्राप्ति। न वांछत जिसकी मति। प्रतिष्ठा और कीर्ती। माने बोझ जो।।८५।। स्वगुण कीर्ति का वर्णन। लोगों से मान सम्मान। अपनी योग्यता की चर्चा अर्जुन। होवे जब।।८६।। तब वह घबराये कैसा। व्याध से रोधित मृग जैसा। अथवा भंवर में फंसा। तैराक कोई।।८७।। पार्थ। उसके समान। सम्मान माने संकट महान। गरिमा को पास जान। आने न दे जो।।८८।। न देखे पूज्यता स्वचक्षुसे। न सुने स्वकीर्ति कर्ण से। अपने व्यक्तित्व की स्मृति लोगों से। न चाहत जो।।८९।। वहां सत्कार की क्या बात?। कैसा आदर सहेगा पार्थ। मरणसम अन्यों का मानत। प्रणाम जो।।१९०।।

बृहस्पति समान। सर्वज्ञता अंग में विद्यमान। किंतु बावला बनत अर्जुन। महिमा भय से।।९१।। चातुर्य छिपावत। महत्व खोवत। उन्माद सेवत। सप्रेम जो।।९२।। लौकिक का उद्वेग धरत। शास्त्रार्थ को टालत। मौन पर जोर देत। धनुर्धार।।९३।। जग अवज्ञा करे। संबंधी संगत न धरे। ऐसे रखत मन में सारे। विकल्प बहु।।९४।। हीनता करत धारण। माने वही भूषण। ऐसी क्रिया बहुधा अर्जुन। करत जो।।९५।। स्वतः जीवित ना मृत। धारणा ऐसी जन करत। ऐसा रहे वर्तन सतत। यही आशा उसकी।।९६।। यह चलत अपने पांव से। या लुढकत वायुवेग से। लोग माने ऐसे। चाहत जो।।९७।। मेरे अस्तित्व का होवे नाश। होवे नाम रूप निःशेष। मुझसे भय न पावे अशेष। प्राणिजात।।९८।। मन्नत मांगे ऐसी मति। नित्य एकांत की प्रीति। विजन स्थल ही किरीटि। जीवन जिसका।।९९।। चलत वायु अनुरोध से। करे संभाषण गगन से। जीवप्राण सम प्रिय जैसे। मानत वृक्ष जो।।२००।। किंबहुना ऐसे चिन्ह। जिसके अंग में अर्जुन। ज्ञानशय्या में शयन। करे वह।।१।। पुरुष का अमानित्व। जानो इसी मिष से पार्थ। अब अदांभिकत्व का गूढार्थ। कहूं तुझको।।२।। तब अदांभिकत्व वह ऐसा। लोभी का मन जैसा। जी जावे किंतु न कहे सहसा। द्रव्य भूमिगत।।३।। उस सम अर्जुन। चाहे संकट में पड़े प्राण। न करत अपना सुकृत वर्णन। अंग मुख से।।४।। लतखोर गैया अर्जुना। चुरावत दुग्ध अपना। या चुरावे पण्यांगना। प्रौढ़त्व उसका।।५।। धनी बन में विपदाग्रस्त। करत न अपना धन प्रकट। अथवा कुलवधु आच्छावत। अवयव अपने।।६।। नाना बीज बोवत कृषीवल। मिट्टि से

ढाकत सकल। वैसे छिपावत कृत निखिल। दानपुण्य अपना।।७।। पुनः-पुनः देह न भूषवत। लोकार्जव कभी न करत। स्वकर्म का न बजावत। डंका स्वतः।।८।। पर उपकार न कहत। विद्या अपनी न दर्शवत। कभी न उसको बेचत। स्फीति के लिये।।९।। शरीर भोगार्थ। कृपण सम पार्थ। परंतु धर्मकायार्थ। लुटावे सब।।२१०।। घरमें सदा दैन्य। शरीर कृश संपूर्ण। किंतु दान में करे होड़ अर्जुन। सुरतरु से वह।।११।। स्वधर्म में तत्पर। अवसर में उदार। आत्मचर्चा में चतुर। बावला अन्यथा।।१२।। कदली का पेड़ अर्जुन। दिखत पोला पूर्ण। किंतु फल ठोस धन। रसभरित जैसा।।१३।। मेघांग अतिविरल। भासत वायु से गतिशील। किंतु जब वर्षत नवल। ओले घन।।१४।। वैसा उसका पूर्णत्व। देख बुद्धि के नयन तृप्त। वाणी को एकमेव पार्थ। विषय जो।।१५।। इन लक्षणों का अर्जुन। नटनाच जिसमें पूर्ण। जानो संपूर्ण ज्ञान। हस्तगत उसको।।१६।। अदांभिकत्व जिसे कहत। कथित वह यथार्थ। अब सुनो लक्षण पार्थ। अहिंसा का तुम।।१७।। भिन्न-भिन्न मतांतर। अपने ढंग से प्रकार। अनेकानेक साचार। बरनत सब।।१८।। किंतु वह विचित्र ऐसी। तोड़कर समस्त शाखा जैसी। बनाना मेढ़ सार्थ उसी। वृक्ष को जैसे।।१९।। या बाहु काट के पकाना। तब क्षुधा शमवाना। नाना मंदिर तोड़कर बनाना। प्रांगण देवको।।२२०।। वैसे हिंसा ही करके अहिंसा। करिये यह भाव ऐसा। निर्णय पूर्व मीमांसा। इसविध करत।।२१।। होवे अवृष्टिका उपद्रव। त्रसित जब संपूर्ण विश्व। करना पर्जन्येष्टि सर्व। यज्ञयाग।।२२।। तब उस इष्टि का जड़। पशुहिंसा रोकड। तब अहिंसा का

तीरदृढ़। पावे कैसे?।।२३।। बोइये केवल हिंसा। वहां क्या ऊगत अहिंसा?। किंतु सुनो नवल धैर्य कैसा। इन याज्ञिकों का?।।२४।। और आयुर्वेद में पूर्ण। ऐसा ही क्रम अर्जुन। जो जीवके कारण। करत जीवघात।।२५।। नाना रोग से ग्रस्त। देखकर भूतमात्र पीड़ित। हिंसा निवारणार्थ करत। चिकित्सा उनकी।।२६।। औषधि योजना प्रीत्यर्थ। एकका कंद खोदत। एक को उखाड़त। समूल सपत्र।।२७।। एकको मध्य में मोड़त। अजंगम की खाल निकालत। एक गर्भिणी को उबालत। संपुट मध्ये।।२८।। अजात शत्रु तरुवर को। चिरा देत सर्वांग को। सत्व निचोड़कर उसको। करत शुष्क।।२९।। और जंगम को हस्त। लगाकर निकालत पित्त। इसविध बचावत पीड़ित-। जीव अन्य।।२३०।। अहो रहने का यदि घरबार। तोड़कर बनाया मंदिर। न निभाया व्यवहार। डाला अन्नसत्र।।३१।। मस्तक पूर्ण ढाकत। नीचे सारा अंग उघारत। घर तोड़कर बांधत। मंडप आंगन में।।३२।। नाना वस्त्र प्रावरण। जलाकर तपत अर्जुन। अथवा करावत स्नान। कुंजरो को।।३३।।बेचकर ढोर बांधे सार। पिंजरा बनाये शुक को भगाकर। क्या यह काम या चेष्टा असार। नही हास्यास्पद?।।३४।। कोई संप्रदाय अनुसरत। छना पानी पीबत। छानन को जब निचोड़त। मरत असंख्य जीव।।३५।। कोई न भक्षत कण। हिंसा के भय से अर्जुन। उनके व्याकुल होत प्राण। वह भी हिंसा।।३६।। एवं हिंसा ही अहिंसा। कर्मकांडी वह ऐसा। सिद्धांत सुमनसा। जानो तुम।।३७।। जब अहिंसा के नाम। निरूपण सोचा प्रथम। तब बुद्धिको भाया अर्जुन। इस विध सब।।३८।। किंतु इसे त्यागिये कैसे?। अतः वर्णन किया ऐसे।

होगा बोध तुमको जिससे। भाव यही।।३९।। बहुत करके किरीटि। करे यही विषय चर्चा मन्मति। अन्यथा आडमार्ग से कोई व्यक्ति। जावेगा क्यों?।।२४०।। और स्वमत का निर्धार। स्थापित करने धनुर्धर। अन्य मतमतान्तर-! का खंडन युक्त।।४१।। इसविध निरूपण की सत्य। कहने की यही स्पष्ट रीत। अब इस विषय में मुख्य मत। सुनो तुम।।४२।। स्वमत जो कहूं पार्थ। अहिंसा का रूप यथार्थ। जब अंतःकरण में प्रकटत। ज्ञान मूर्त।।४३।। जब अंग में अधिष्ठित पूर्ण। होत वैसा ही आचरण। जैसे कसौटि से करे निर्धारण। मूल्य स्वर्णकार।।४४।। वैसी ज्ञान, मन की जब भेंट। बिंब अहिंसा का पड़त। वही किरीटि! स्पष्ट। सुनो अब।।४५।। जल तरंग न उल्लंघत। लहरें पावसे न फोड़त। स्थिरता न मोड़त। पानी की पार्थ।।४६।। वेग से किंतु हलके से। दृष्टि अमिषार्थ मृदुता से। जल में बक जैसे। डालत पांव।।४७।। अथवा कमल में भ्रमर। रखे चरण मृदुतर। जो कचरत कोमल केसर। शंका से इस।।४८।। वैसे परमाणुओं में सुकुमार। स्थिर जीव सूक्ष्म अपार। अतः करुणा भाव से चरण अधर। रखकर चलत।।४९।। मार्ग से कृपा बरसत। दिशाओं में स्नेह भरत। जीवों के नीचे बिछावत। जीव अपना।।२५०।। इसविध दक्षता से अर्जुन। करे जो आचरण। अनिर्वाच्य परिमाण। अनुपम जो।।५१।। देखो अति स्नेह से। शिशु को बिल्ली पकड़े मुखसे। न लागत दंतव्रण जैसे। धनुर्धर।।५२।। या माता स्नेहल पार्थ। शिशु की बाट निहारत। तब प्रेम दृष्टि में प्रकटत। अति मृदु जो।।५३।। अथवा कमल पत्र से अर्जुन। डुलावत जब वीजन। प्राप्त नेत्र पुतली को

समाधान। वायु से तब।।५४।। वैसे मार्दव से पाँव। भूमिपर रखत जाय। जिन जीवों को स्पर्शत होय। सुख उनको।।५५।। ऐसे कोमलतासे चलत। कृमि कीटक यदि देखत। पीछे परिवर्तत त्वरित। मृदुता से जो।।५६।। सोचे जोर से यदि पड़त पांव। निद्राभंग स्वामि का होय। स्वास्थ्य को पहुंचेगा घाव। निर्घात से उस।।५७।। ऐसी करुणा सहित। मार्ग से निवर्तत। कृमि कीट पर न चलत। कदापि कभी।।५८।। जीव के नाम से पार्थ। तृणको भी न उल्लंघत। करेगा किसी का घात। यह तो असंभव।।५९।। चीटी न लांघे मेरुको। मशक न तैरे सिंधुको। वैसे न करे किसी प्राणि को। अतिक्रमण कभी।।२६०।। ऐसी जिसकी चाल। कृपाफल से बहरत निखिल। वाणी में अधिष्ठित केवल। दया मूर्त।।६१।। स्वयं का श्वसन सुकुमार। मुख मोह का नैहर। माधुर्य को ऊगत अंकुर। दशन वैसे।।६२।। सम्मुख स्नेह स्त्रवत। पीछे अक्षर चलत। शब्द पश्चात आवत। कृपा प्रथम।।६३।। बहुधा न वह बोलत। यदि कभी बोले क्वचित। सोचत बोल न पहुंचावत। पीड़ा किसी को।।६४।। कुछ न्यून अधिक। न होवे मर्मघातक। कोई न होवे साशंक। बोल से उस।।६५।। बिगड़े न आयोजित कार्य। भयभीत कोई न जागे कौंतेय। किसी को न आए संशय। मन में कभी।।६६।। न होवे किसी को क्लेश। कोई भृकुटि न ताने वीरेश। ऐसा भाव मन में अशेष। इसलिये मौन।।६७।। यदि प्रार्थित कदाचित। स्नेह से उनसे बोलत। तब श्रोताओं को होत। मातापिता वह।।६८।। वह नादब्रह्म मूर्तिमंत। अथवा गंगोदक उछलत। या पतिव्रता को प्राप्त। वृद्धत्व जैसे।।६९।। वैसे साच और मृदुल। परिमित एवं रसील। शब्द

जैसे कल्लोल। अमृत के।।२७०।। विरोध वादवर्धक। प्राणिताप दायक। उपहास छलकारक। मर्मस्पर्शी।।७१।। व्यंग वेग हकलाना। आशा शंका प्रतारणा। संन्यासित अवगुण नाना। वाचा ने जिसकी।।७२।। और वैसे ही किरीटि। स्थिर जिसकी दृष्टि। सरल सीधी भृकुटि। धनंजय।।७३।। जो सब भूतों में ब्रह्मस्थित। होगा उसको अपाय क्वचित। इस कल्पना से न देखत। किसी को कदा।।७४।। इस पर भी किसी काल। अंतःकृपा बल से केवल। खोलकर नेत्र स्नेहल। निहारत जब।।७५।। तब चंद्रबिंब से धार। स्रवत किंतु न गोचर। निरंतर चकोर को सुवीर। आल्हाद देत।।७६।। वैसे प्राणियों को होवे। यदि वह दृष्टि से देखत जाये। उस अवलोकन की न उपमा सोहे। कूर्मी कभी।।७७।। किंबहुना भूतमात्र को। ऐसी दृष्टि से देखे उनको। हस्तगुण भी जाको। कृपालु वैसे।।७८।। जैसे होकर कृतार्थ। रहत सिद्धों के मनोरथ। वैसे जिसके हाथ। निर्व्यापार।।७९।। अक्षम संन्यास लेत। निरींधन और बूझत। मूक और धरत। मौन जैसे।।२८०।। इसविध कोई। जिसके करों को कार्य नाहीं। जो अकर्ता भाव में ही। आरुढ़ पार्थ।।८१।। धक्का लगे वायु को। गड़ेगा नख अंबर को। इस बुद्धि से स्वकर को। न हिलावत कभी।।८२।। वहां मक्खी को उड़ाना। या नेत्रप्रवेशक कीट को निवारना। अथवा पशु पक्षियों को दिखाना। डर कैसा?।।८३।। कैसी संभव यह बात। हस्त में न दंड लाठी चाहत। वहां शस्त्र धारण की पार्थ। कल्पना कैसी?।।८४।। लीला कमलदल से खेलना। या पुष्पमाला उठाना। न करे होगा गोफना। डर से इस।।८५।। दुख होगा रोमावलीको। इस भय से

न सहलावे अंग को। बढ़ावत अंगलीपर नख को। हिंसा भय से।।८६।। कार्य का संपूर्ण अभाव। किंतु कभी क्वचित प्रस्ताव। हस्तको यही भाव। जुड़त वंदन में।।८७।। अथवा अभयकार देना। या गिरते को उठाना। आर्त को सहलाना। मृदु स्पर्श से।।८८।। यह भी कष्ट से करत। किंतु आर्तभय हरत। चंद्रकिरण न जानत। आर्दत्व जो।।८९।। उसका वह सुखद स्पर्श। उससे मलयानिल भी परुष। पावत प्राणि हर्ष। मृदुतर ऐसा।।२९०।। हस्त जिसके सदा मुक्त। जैसे सब चंदनांग पार्थ। शीतल स्पर्श सफल सतत। यद्यपि निष्फल।।९१।। अब रहने दो यह वाग्जाल। जानो उसके करतल। जैसा स्वभाव शील। सज्जनों का।।९२।। अब उनका मन। यदि करना सांच निरुपण। तब कहो किसको सब वर्णन-। विलास यह।।९३।। क्या शाखा नहीं तरु। जलबिन कभी सागरू?। क्या तेज और तेजाकारू। भिन्न दोनों?।।९४।। अवयव एवं शरीर। क्या पृथक होत्त सुवीर। अथवा रस और नीर। भिन्न कभी?।।९५।। अतः ये जो सर्व। कथित बाह्यभाव। वह मन ही सावयव। जानो ऐसे।।९६।। बीज जो भूमि में बोवत। वही ऊपर वृक्ष होत। इंद्रिय द्वारों से प्रकटत। मन ही मूर्त।।९७।। यदि मन में ही पार्थ। अहिंसा न होवे उदित। कैसी वह स्त्रवत। बाहिर कभी?।।९८।। कोई भी वृत्ति सार्थ। प्रथम मन में स्फुरत। वाचा दृष्टि से पश्चात। पहुंचत हस्ततक।।९९।। जो मन में न कौंतेय। वाचा से कैसे प्रकट होय?। जैसे बीजबिन भूमि से शक्य। अंकुर कभी।।३००।। मन का मनपन जब लुप्त। इंद्रियां पहले ही परास्त। सूत्रधार बिन दारु यंत्र। व्यर्थ जैसा।।१।। उद्गम मेंही जो सूखत। कैसे वह ओघ से बहत?

क्या गतप्राण को कभी पार्थ। चेष्टा देह में?।।२।। वैसे मन ही मूल पांडव। उसमे ही सब इंद्रियभाव। बाह्य व्यापार सर्व। इनसे ही जानो।।३।। जिस समय जैसे। अंतर में भाव वैसे। बाहिर समरूप से। व्यापार इसके।।४।। इसलिये साचोकार से पार्थ। मन में अहिंसा स्थिर होत। जैसे पक्व फल का सौरभ सार्थ। प्रसरत सहज।।५।। अतः इंद्रियां वही संपदा। मानत वे पुरुष सदा। अहिंसा का धंधा। करत जात।।६।। ज्यार आवे समुद्र को। समुद्र ही भरत खाड़ियों को। वैसे स्वसंपत्ति से इंद्रियों को। भरत चित्त।।७।। बहुत क्या कहना पंडित–। पकड़कर बालक का हस्त। अक्षर पंक्ति लिखत स्पष्ट। स्वयं ही पार्थ।।८।। वैसे अपना दयालुत्व। हस्तपादादि इंद्रियों में समस्त। लाकर वहां उपजवत। अहिंसा को।।९।। किरीटि इसकारण। इंद्रिय क्रिया पूर्ण। वह मन का ही व्यापार जान। सुनिश्चित।।३१०।। इसविध काया वाचा मन से। हिंसा का संन्यास जैसे। हुआ उसमें ऐसे। देखोगे तुम।।११।। वह जानो विलासशील। ज्ञान का राउर (मंदिर) केवल। साक्षात सकल। ज्ञान ही वह।।१२।। जो अहिंसा सुनिये कर्ण से। निरूपण कीजिये ग्रंथाधार से। यदि देखना प्रत्यक्ष से। लेना दर्शन उसका।।१३।। ऐसे जो बरनत देव। एक शब्दों में जो कहना भाव। किंतु हुआ विस्तार मुझसे यह। क्षमा कीजिये आप।।१४।। जैसे हरे घांस में पशु पार्थ। विसरत मार्ग अशेष क्रमित। वायुभर के पखेरू उड़त। गगन में जैसे।।१५।। वैसी यह प्रेमस्फूर्ति। प्रसरत जो रसवृत्ति। वश में जो न मेरी मति। बह गया मैं।।१६।। कहोगे ऐसा आप संतजन। किंतु इस विकार का भी है कारण। अन्यथा

पद यह मात्र तीन। अक्षरों का।।१७।। वर्णन लघु अहिंसा का सत्य। किंतु वही होगा स्पष्ट। जब कोटि अन्य खंडित। मतमतांतर।।१८।। अन्यथा विविध मतांतर। रखकर वैसे ही सज्जनवर। यदि कहूं आपको साचार। न भायेगा कभी।।१९।। रत्नपारखियों के गांव में पार्थ। कदाचित खोलना शालिग्राम संयुक्त। किंतु काश्मीरी की न करना युक्त। स्तुती कभी।।३२०।। कर्पुर का सुगंध जहां। मानत मंद जहां। अन्य चूर्ण को बिक्री वहां। संभव कैसी?।।२१।। अतः यदि इस सभा में। वक्तृत्व अभिमान से कुछ कहूं मैं। क्या स्वीकारोगे उसे मन में। कहो प्रभू?।।२२।। विशेष और सामान्य। करूं यदि उनका मिश्रण। कभी न लावोगे आप सर्वज्ञ। कर्णद्वारतक उसे।।२३।। शुद्ध प्रमेय निर्मल। शंकामल से यदि धूमिल। पीछे पग से निवर्तत सकल। अवधान आपका।।२४।। ओढ़कर शैवाल का आवरण। जिस ताल में रहत जीवन। क्या करेगा उस ओर गमन। हंस कभी?।।२५।। अभ्र के पीछे चंद्रिका। मलिन जब अशेखा। तब चकोर चंचुको देखा। खोले न कदा।।२६।। आप न प्रतीक्षा करोगे। न स्वीकारोगे किंतु रूठोगे। यदि निर्विवाद न होंगे। निरूपण मेरे।।२७।। यदि न करूं अन्यमत का खंडन। आक्षेप का न होगा निरसन। तब आपको वह व्याख्यान। न होगा प्रिय।।२८।। और मेरा तो निवेदन। यही मेरा प्रतिपादन। जो होवे आप संतजन। प्रसन्न सदा।।२९।। वैसे आप समस्त। गीतार्थ के आप्त। यही जानकर कर ली हृदयस्थ। गीता मैंने।।३३०।। जब करोगे सर्वस्व दान। तब ही छुड़ावोगे यह ऋण। ग्रंथ नहीं यह है जामीन (रहन)। सत्य मानो।।३१।। रखोगे लोभ

यदि धन का। करोगे अव्हेर जामीन का। होगा तब मेरा और गीता का। हाल एक।।३२।। किंबहुना मुझको निश्चित। आपकी कृपा की चाहत। इसलिये किया निमित्त। ग्रंथ का इस।।३३।। तब आप रसिक जोग। व्याख्यान शोधना सुरंग। अतः कहने भिन्न मतांग। प्रवृत्त हुआ मैं।।३४।। इससे हुआ कथाविस्तार। रह गया श्लोकार्थ दूर। कीजे क्षमा संतवर। अपत्य अपने को।।३५।। देखो कंकड ग्रास में। समय लगे निकालने में। क्या वह व्यर्थ? सोचो मन में। या योग्य प्रभु।।३६।। या साहू चोर को छुड़ाने। दिन बीते कितने। क्या करना कोप माताने। या जाना बलिहारी?।।३७।। यह मेरा दीर्घ व्याख्यान। अच्छा किया जो आपने श्रवण। अब सुनो श्रीकृष्ण। बोलत जो।।३८।। कहत उन्मेष सुलोचन!। सावधान होना अर्जुन!। कराउं तुझे ज्ञान का पूर्ण। परिचय अब।।३९।। तब ज्ञान जो यहां। पहिचानो तुम वहां। आक्रोशबिन जहां। वसत क्षमा।।३४०।। अगाध सरोवर में। कुमुदिनी प्रफुल्लित उसमें। या सुदैवी के घर में। संपत्ति जैसी।।४१।। इसविध पार्थ। क्षमा जिससे वर्धत। होय वह जिस लक्षण से स्पष्ट। कहूं लक्षण वे।।४२।। देखो प्रिय आभूषण। करे जिस भाव से धारण। उसी धारणा से करत सहन। सर्व ही जो।।४३।। त्रिविध मुख्य पांडव। उपद्रव के समुदाय। प्राप्त जब न विकल होय। पुरुष जो।।४४।। अपेक्षित पावे अर्जुन। जिस संतोष से करे ग्रहण। अनपेक्षित को वही मान। देता जो।।४५।। जो मानापमान सहे। सुख, दुःख जहां समाये। निंदा स्तुति से न होवे। द्विधा जो।।४६।। उष्णा से जो न तपत। हिमवंत से न कंपित। दारुण संकट से न

भयभीत। प्राप्त जब।।४७।। स्वशिखर का भारु। न मानत जैसा मेरु। या धरा को यज्ञसूकरू। बोझ न माने।।४८।। नाना चराचर भूतों से। क्षिति नं माने भार जैसे। नाना द्वंद्वप्राप्ति से। न पसीजत जो।।४९।। लेकर जल के ओघ। आवत नदी नदके संघ। विस्तृत करे पेट हे अनघ। समुद्र जैसा।।३५०।। वैसे जिसको कोई। असहनीय बात नाही। और स्वयं सहत इसका कुछ ही। न स्मरण किंचित।।५१।। देह को प्राप्त दशा। मानत स्वयं को अशेषा। सत्य यह नवल वीरेशा। किंतु निरभिमानी जो।।५२।। यह अनाक्रोश क्षमा। पास जिसके प्रियोत्तमा। उससे प्राप्त महिमा। ज्ञान को पार्थ।।५३।। वह पुरुष पांडव। ज्ञान का जानो आर्दत्व। अब सुनो आर्जव-। का स्वरूप कैसा?।।५४।। तब आर्जव वह ऐसे। प्राण का सौजन्य जैसे। करे किसी उद्देश्य से। अनुकूल उसको।।५५।। मुख देखकर प्रकाश। न करे जैसे चंडांश। जग को एक ही अवकाश। आकाश जैसे।।५६।। वैसा जिसका मन। प्रत्येक से न भिन्न-भिन्न। और उसका वर्तन। इसीविध जानो।।५७।। जो सब जगही परिचित। जग से पूर्व चिरसंबंध पार्थ। आप पर भाव सार्थ। न जाने जो।।५८।। किसी से भी उसका मेल। पानी जैसा उसका शील। न किसी के प्रतिकूल। चित्त उसका।।५९।। पवन वेग जैसा सरल। भाव उसका निर्मल। शंका लिप्सा लौल्य। नाही जिसमें।।३६०।। मात-गोद में बालक बैठत। न कछु शंका मन में उठत। वैसा स्व-मन, पर को देत। निःशंक जो।।६१।। प्रफुल्लित इंदीवर। लुटावत स्वसौरभ धनुर्धर। वैसा अंतर्बाह्य समग्र। एकसा जो।।६२।। रत्न का चोखापन। पीछे दिखत पहले किरण।

वैसे आगे जिसका मन। कृति पीछे।।६३।। आलोचना जो न जानत। अनुभव से सदा तृप्त। आसक्ति अनासक्ति पार्थ। नाही जिसमें।।६४।। दृष्टि न जिसकी भ्रष्ट। वाचा सदा स्पष्ट। किसी से हीन बुद्धि युक्त। न वर्तन जिसका।।६५।। इंद्रिया प्रांजल। निष्प्रपंच निर्मल। पंचप्राण मुक्त सकल। आठों प्रहर।।६६।। अमृत की धार। वैसे ऋजु अंतर। किंबहुना जो नैहर। चिन्हों का इन।।६७।। वह पुरुष सुभट। आर्जव की मूर्ति स्पष्ट। वही वस्ति यथार्थ। करत ज्ञान।।६८।। अब इस पर पार्थ। गुरुभक्ति की रीत यथार्थ। कहूं सुनो चतुरनाथ। सावधान चित्त से।।६९।। समस्त भाग्यों की। जन्म भूमि सेवा गुरु की। देत जीव को स्थिति ब्रह्म की। शोक ग्रस्त को भी।।३७०।। वह आचार्योपास्ति। प्रकट करूं तुमको सुमति। रहने दो एकपांति। अवधान तेरा।।७१।। सकल जल समृद्धि सहित। गंगा उदधि तक जात। या श्रुति महापद में प्रविष्ट। सब अभिप्राय युक्त।।७२।। अथवा अपना सब जीवित। नाना गुणावगुण सहित। पतिव्रता अर्पण करत। प्रिय प्राणनाथ को।।७३।। वैसे सबाह्य अंतर पार्थ। गुरुकुल को करे समर्पित। करे स्वशरीर आगार सार्थ। गुरुभक्ति का जो।।७४।। गुरुगृह जिस देश में। वही देश रहे मानस में। विरहिणी चिंतत चित्तमें। वल्लभ को जैसी।।७५।। वहां से जो वायु आवत। उसको भी अगवानी करत। साष्टांग दंडवत करके कहत। आओ गृह में मेरे।।७६।। सच्चे प्रेम के उफान से। चाहे बोलना उसी दिशा में। जीव करत स्थानपति जैसे। गुरुगृह में जो।।७७।। यदि गुरुआज्ञा से क्वचित। देहग्राम में वसत। गोवत्स रज्जु से बद्ध पार्थ। रहत वैसा।।७८।। कहत कब

छूटेगा यह बंधन। होगा कब स्वामी से मिलन। युग से भी मानत महान। निमिष को वह।।७९।। ऐसे में गुरुग्राम से कोई आवे। या स्वयं गुरु पठावे। तब गतायुष को प्राप्त होवे। जीवन जैसे।।३८०।। या शुष्क अंकुर पर। वर्षत पीयुषधार। अथवा अल्पोदक का मीन सुवीर। पहुंचत सागर में।।८१।। नातर रंक पावत निधान। किंवा जन्मांध के खुलत नयन। या दरिद्री को प्राप्त महान। इंद्रपद जैसे।।८२।। वैसे गुरुकुल नाम से। बढ़े बहुत महासुख से। जो आलिंगत प्रीति से। आकाश पूर्ण।।८३।। देखो गुरुकुल के प्रति। ऐसी जिसकी प्रीति। ज्ञान उसकी किरीटि। पाईकी करत।।८४।। और अभ्यंतर में जैसे। प्रेम के प्रभाव से। करत गुरुरूप की ध्यान से। उपासना जो।।८५।। हृदयशुद्धि के परिसर में। करे आराध्य को निश्चल ध्रुव उसमें। तब सब भाव परिवार में। स्थित स्वयम्।।८६।। चैतन्य के चौथरे पर। आनंद मंदिर में सुवीर। करे अभिषेक श्रीगुरुलिंग पर। ध्यानामृत का।।८७।। उदित जब बोधार्क। बुद्धि डलिया अष्ट सात्विक। भरकर त्र्यंबक-। को चढावत लक्ष्य।।८८।। कालशुद्धि त्रिकाल में किरीटि। जीव भाव की धूपारती। ज्ञानदीप से उतारत आरती। निरंतर।।८९।। सामरस्य का रससोय (रससिद्धि)। अखंड अर्पण करत जाय। स्वयं पुजारी होय। गुरु शिवलिंग।।३९०।। स्वजीव की शेज करत। गुरु कांत बनाके भोगत। इसविध पुलकित होत। बुद्धि कौतुक से।।९१।। किसी एक अवसर। अनुराग से भरे अंतर। उसको ही क्षीर सागर। माने जो।।९२।। वहां ध्येय ध्यान बहुसुख। वही शेषशय्या निदाख। उपर जलशयन देख। गुरुको माने।।९३।। तब, चरण

सेवा-रत। लक्ष्मी स्वयं होत। गरुड़ बनकर खड़ा रहत। स्वतः ही जो।।९४।। स्वयं उत्पन्न नाभीसे। ऐसे गुरुमूर्ति प्रेम से। अनुभवत मनोधर्म से। ध्यान सुख।।९५।। किंसी एक काल क्वचित। भावबल से गुरु को माता करत। स्तन्य सुख में पहुंड़त। अंक पर।।९६।। अथवा कभी पार्थ। चैतन्यतरुतल स्थित। गुरु धेनु स्वयं को मानत। वत्स उसका।।९७।। गुरुकृपा स्नेह सलिल में। स्वयं बनत मछली उसमें। इसविध किसी समय में। माने जो।।९८।। गुरुकृपामृत की वृष्टि। स्वयं गुरुसेवा अंकुर किरीटि। ऐसी संकल्प सृष्टि। सृजत मन।।९९।। चक्षुपंख बिन। शिशु होत आपुन। कैसा देखो अपार पन। प्रेमभाव का।।४००।। गुरु को पक्षिणी करत। चंचुसे दाना चुगत। गुरु तैराक पकड़त। दृढ़ उनको।।१।। इसविध प्रेमबल से। ध्यान ही ध्यान को प्रसवत तैसे। अथवा तरंग पूर्ण सिंधु से। उपजत पार्थ।।२।। किंबहुना इस प्रकार। गुरुमूर्ति से व्याप्त अंतर। सुनो अब धनुर्धर। बाह्य सेवा।।३।। मन में ऐसा विचार। नीका दास्य करूं साचार। जो होंगे प्रसन्न गुरुवर। कहेंगे, मांगों वर।।४।। ऐसी उत्कृष्ट उपास्ति। जो प्रसन्न होगी गुरुमूर्ति। तब इसविध बिनति। करूंगा मैं।।५।। कहूँगा आपको कृपानिधान। परिवार जो संपूर्ण। करूं उतने रूप धारण। अकेला मैं।।६।। और जो-जो सब उपयुक्त। उपकरण आंपके अनंत। होऊंगा पृथक-पृथक समस्त। मैं ही एक।।७।। ऐसा माँगूँगा वर। तब हां कहेंगे श्रीगुरु। वह पूर्ण परिवारू। बनूंगा मैं।।८।। उपकरण जात सकल। मैं ही बनू निखिल। तब उपास्ति का कौतुक अखिल। देखोगे आप।।९।। वैसे श्रीगुरू सबकी माता। कैसे होगी मुझे अकेले

की सर्वथा। लेवहूं शपथ उनसे पार्था। कृपा से उनकी।।४१०।। उनको छंद मेरे अनुराग का। दूंगा व्रत एक पत्नी का। करूंगा क्षेत्र संन्यासी उनका। स्नेहवश।।११।। चतुर्दिशु वायु सुवीर। किंतु कभी न जात बाहिर। गुरुकृपा को पिंजर। बनूंगा मैं।।१२।। मेरी गुरुसेवा स्वामिनी को। स्वगुण आभूषण चढ़ाऊं उसको। बनूंगा स्वयं गुरुभक्ति को। गिलाफ मैं।।१३।। गुरुस्नेह की वृष्टि। तल मैं बनूं पृथ्वी किरीटि। ऐसे मनोरथ की सृष्टि। रचूंगा अनेक।।१४।। कहे श्रीगुरु का भुवन। बनूंगा स्वयं आपुन। करूंगा दास बनकर पूर्ण। दास्य उनका।।१५।। निर्गमागमन में जो उल्लंघत। वह देहरी बनूंगा सार्थ। द्वार मैं होऊंगा मैं ही पार्थ। द्वारपाल भी।।१६।। पादुका मैं बनूंगा। मैं ही उनको पहिनाऊंगा। छत्र मैं और करूंगा। बारीपन भी मैं।।१७।। कहूं यह नीचे यह ऊपर। दूं हाथ बनू चंवरधर। स्वामी सम्मुख पंथसुखकर। होऊंगा मैं।।१८।। स्वामी की झारी धरूं मैं। कराऊं कुल्ला उनको मैं। थूंकत जब वे जिसमें। बनूं तस्त मैं।।१९।। मैं ही बनूंगा पानदान। दूंगा तांबुल मैं ही अर्जुन। करूं पीक हस्त में धारण। कराऊं स्नान मैं।।४२०।। होऊं गुरु का आसन। कराऊं अलंकार परिधान। बनूं चंदनादि पूर्ण। उपचार सब।।२१।। मैं होऊंगा सुआरु (रसोइया)। परोसूंगा उपहारू। करू स्वशरीर से श्रीगुरु-। की आरती स्वयम्।।२२।। जब गुरुदेव करत भोजन। पंगत मैं करूं भोजन साथ। मैं ही उठकर सार्थ। बीड़ा देऊं उनको।।२३।। थाली मैं उठाऊं। सेज मैं सवारुं। चरणसंवाहन करूं। मैं ही उनके।।२४।। मैं स्वयं बनूं सिंहासन। करेंगे गुरुदेव आरोहण। इसविध उनकी पूर्ण। करूं सेवा।।२५।।

श्री गुरुदेव का मन। जिसको देगा अवधान। होऊंगा वह संपूर्ण। चमत्कार मैं।।२६।। उस अवधान के आंगन में। अक्षौहिणीयां शब्द कीं बनूं मैं। होगा अंगस्पर्श जिस स्थान में। वह स्थान भी मैं।।२७।। श्रीगुरु के नयन कमल। अवलोकन अति स्नेहल। जिनको देखत सकल। बनूं रूप मैं।।२८।। रसना को प्रिय जो-जो रस। उनको सो-सो मैं ही अशेष। गंधरूप से करूं खास। घ्राण सेवा।।२९।। एवं बाह्य मनोगत। श्री गुरुसेवा समस्त। करूं बनकर सब वस्तुजात। धनुर्धर।।४३०।। जब तक यह देह धारण। इसविध सेवा करूं पूर्ण। होवे जब देह पतन। नवल सुनो!।।३१।। इस शरीर की मिट्टी। मिलाऊं उस क्षिति में किरीटि। जहां खड़ी रहत गुरुमूर्ति। चरणधूलि बनू मैं।।३२।। इस शरीर का उदकांश। मिलाऊं उस आप में अशेष। कौतुक से स्पर्श करत। श्रीगुरु जिसको।।३३।। जिस दीप से गुरु आरति होत। जिस भवन में वे दीप प्रदीप्त। उसके दीप्ति में रखूं समस्त। तेजांश अपना।।३४।। श्रीगुरु के चंवर और वीजन। उसमें लय करूं स्वप्राण। वायु रूप से अंगसेवन। करूं उनका।।३५।। जिस-जिस अवकाश में। श्रीगुरु स्वपरिवार में। आकाश उस आकाश में। मिलाऊं मैं।।३६।। जीते मरते निरन्तर। दूंगा न किसी को अवसर। करूं कोटी कल्प अपार। गुरुसेवा मैं।।३७।। इसविध इच्छा पूर्ण। जिसके मन में अर्जुन। और करके ऐसा आराधन। सदा सज्ज जो।।३८।।रात्रि दिवस न जाने। न्यून अधिक न माने। आज्ञापित गुरुकार्य करने। उल्लसित जो।।३९।। इस प्रकार गुरु कार्यार्थ। गगन से भी बड़ा होत। अकेला ही करत पार्थ। उसी समय।।४४०।। हृदयवृत्ति

से भी आगे। अंग उसका भागे। शर्त लेत मनसंगे। धनुर्धर।।४१।। किसी एक काल। श्री गुरुलीलार्थ निखिल। निछावर करत सकल। जीवित अपना।।४२।। जो गुरु दास्य से कृश। जिसे गुरु सेवा से संतोष। जो गुरु आज्ञा निवास। स्थान स्वयम्।।४३।। जो गुरुकुल से कुलीनु। गुरुबंधु सौजन्य से सुजनु। गुरुसेवा व्यसन से सव्यसनु। निरन्तर।।४४।। गुरु संप्रदाय धर्म। वरी जिसका वर्णाश्रम। गुरु परिचर्या नित्यकर्म। जिसका पार्थ।।४५।। गुरु क्षेत्र, गुरु देवता। गुरु माता, गुरु पिता। गुरु सेवा बिन सर्वथा। मार्ग न जाने।।४६।।श्री गुरु का द्वार। वह जिसका सर्वस्व सार। गुरु सेवक को सहोदर। स्नेह से भजत।।४७।। और जिसके वक्त्र-। पर गुरु सेवा मंत्र। गुरु वाक्य बिन शास्त्र। न स्पर्शत जो।।४८।। गुरु चरण स्पर्श। जिस पानी को वीरेश। मानत महातीर्थ विशेष। त्रिलोक में उसको।।४९।। श्री गुरु का उच्छिष्ट। लभत जब अकस्मात। उस लाभ से हीन लेखत। समाधिसुख।।४५०।। कैवल्य सुख प्रीत्यर्थ। गुरु पदरज मस्तक पर धरत। जो पदतल से उछलत। मार्गक्रमण में।।५१।। रहने दो यह पार्थ। गुरुभक्ति अपार अनंत। इसकारण मति उत्क्रान्त। हुई मेरी।।५२।। जिसको प्रिय गुरुभक्ति। उस विषय की जिसको प्रीति। सेवाबिन अन्य कृति। न भाये मनको।।५३।। वह तत्त्वज्ञान का आगार। ज्ञान का वही शृंगार। देव, ज्ञान दोनों साचार। भक्त उसके।।५४।। यह जानो साचोकार। वह ज्ञान का खुला द्वार। सकल जग के लिये प्रचुर। निश्चित जानो।।५५।। जिस गुरुसेवा प्रीत्यर्थ। मन मेरा अति उत्कंठित। अतः वर्णन अमर्यादित। किया मैने।।५६।। वैसे हाथ से लूला मैं। अंध

भजनावधान मैं। पंगु से पंगु परिचर्या मैं। सज्जनवर।।५७।। गुरुवर्णन को मूक। आलसी अवगुण अनेक। तदपि पोषत शरीर देख। सानुराग से मैं।।५८।। यही एक कारण। इसीलिये यह स्थूल पोषण। प्राप्त मुझको संतजन। कहे ज्ञानदेव।।५९।। वह किया श्रवण सज्जनवर। सेवार्थ अब दीजिये अवसर। कहूं अब उत्तम सार। ग्रंथार्थ का।।४६०।। सुनो! सुनो! श्रीकृष्णु। जो भूतभार सहिष्णु। बोलत वह श्री विष्णु। सुनत पार्थ।।६१।। कहे शुचित्व वह ऐसा। जिसके पास हे सुमनसा!। अंग मन जैसा। कर्पूर का।।६२।। या रत्न का रूप अर्जुन। अंतर्बाह्य दीप्तिमान। बाहिर भीतर एक समान। सूर्य जैसा।।६३।। बाहिर कर्म से क्षालित। भीतर ज्ञान से प्रज्वलित। दोनों प्रकार से यथार्थ। हुआ शुद्ध।।६४।। मृत्तिका एवं जल से। इनके बाह्य मेल से। निर्मल होत मंत्रोच्चार से। वेदों के जैसे।।६५।। कभी भी बुद्धिबल से यथार्थ। रज दर्पण निर्मल करत। या भट्टी में रजक छुड़ावत। दाग वस्त्रों के।।६६।। किंबहुना इस प्रकार। बाह्य चोखा धनुर्धर। ज्ञानदीप अंतर में और। इसलिये शुद्ध।।६७।। वैसे भी पंडुसुत। अशुद्ध जिसका चित्त। उसका बाह्यकर्म तत्त्वतः। विडंबन केवल।।६८।। मृत जैसा शृंगारित। गर्दभ तीर्थ से स्नाषित। कटु तुंबा (सूखी लौकी) लिप्त। गुड़ से जैसे।।६९।। निर्वास (निर्जन) गृह में बांधा तोरण। पेटपर क्षुधित के लीपा अन्न। या कुंकुम सिंदूर से प्रसाधन। कान्तहीना का।।४७०।। मुलामेका कलश पोल। व्यर्थ उसकी चमक केवल। क्या करना चित्रीव फल। गोबर अंदर।।७१।। वैसे बाह्यकर्म सकल। अशुद्ध को न आवत मोल। न होगा मदिराकुंभ निर्मल। गंगा से

भी।।७२।। जब अंतर में ज्ञान स्थित। बाह्यशुद्धि सहज प्राप्त। किंतु कर्म से ज्ञान सृजन। कैसे संभव यह?।।७३।। इसलिये बाह्यभाग। कर्म से धूत सुरंग। ज्ञान से नाशत व्यंग। अंतर का।।७४।। ऐसे में अंतर्बाह्य भेद नष्ट। निर्मलत्व एकत्रित। किंबहुना अवशिष्ट। शुचित्व ही वहां।।७५।। विकल्प जहां स्फुरत। झूठी विकृति उपजत। कुप्रवृत्ति का प्रस्फुटत। बीजांकुर।।७६।। जो देखे सुने होवे प्राप्त। मन में न परिणाम किंचित। मेघरंग से न मलिन होत। व्योम जैसे।।७७।। वैसी इंद्रियों की संगत। विषय भोग उदंड भोगत। किंतु विषय विकार से लिप्त। न होवे कभी।।७८/७९।। मार्ग से कभी पार्थ। चोखी अंत्यजासे भेटत। एक दूजे को न स्पर्शत। वर्तत वैसा जो।।४८०।। या पतिपुत्र को आलिंगन। देत एक ही तरुणांगी अर्जुन। वहां पुत्र भाव में कदापि न। प्रवेशत काम।।८१।। वैसे हृदय चोख। संकल्प विकल्प से परिचित अशेख। कृत्याकृत्य विशेख। स्पष्ट जानो।।८२।। पानी में हीरा न भीगत। उफनत जल में बालू न चुरत। वैसे विकल्प जात से न लिंपत। मनोवृत्ति।।८३।। उसको नाम शुचिपन। सुनो पार्थ संपूर्ण। यह जहां विद्यमान। जानो ज्ञान वही।।८४।। और स्थिरता सत्य। जिसके घर रींगत। वह पुरुष ज्ञान का सार्थ। जीवन जानो।।८५।। देह तो उपर उपर। संचरत स्वभावानुसार। किंतु बैठक न बिगड़े धनुर्धर। मानस की कदा।।८६।। धेनू का वत्स विषय में। स्नेह न जाये बन में। भोग न सती के सहगमन में। प्रेमभोग।।८७।। अथवा लोभी दूर जाये। जीव गुप्त धन में रहे। वैसे चलत देह किंतु न होवे। विचलित चित्त।।८८।। चलत मेघ सहित। आकाश न भागे पार्थ।

भ्रमण चक्र में न भ्रमत। ध्रुव जैसा।।८९।। पथिक के आवागमन। सह पंथ न चलत अर्जुन। या तरुवर को संचरण। नाहीं जैसा।।४९०।। वैसे चलन भ्रमणात्मक। रह कर यह पंचभौतिक। न कभी भूतोर्मि से अनेक। विचलित कभी।।९१।। चंडवात के बल से। न ढलत पृथ्वी जैसे। उपद्रव कल्लोल से। बहत न जो।।९२।। दैन्य, दुःख से न तप्त। भय, शोक से न कंपित। देह, मृत्यु से न भयक्रान्त। प्राप्त जब।।९३।। आर्ति आशा अभिलाषा से। वय व्याधि गर्जना से। पीठ न फेरत धैर्य से। अग्रसर होत जो।।९४।। दंड निंदा अपमान का। वर्चस्व काम लोभ का। किंतु बाल न होवे बांका। मन का कभी।।९५।। आकाश गिरे खंडित होकर। धुल जाये पृथ्वी तदनंतर। मोहरा न पलटे धनुर्धर। चित्तवृत्तिका।।९६।। मारो हाथी को पुष्प से। टस से मस न होवे जैसे। भेदक दुर्वाक्य शैली से। अप्रभावित जो।।९७।। क्षीराब्धि कल्लोल से पार्थ। मंदराचल न कभी कंपित। आकाश न दग्ध होत। वडवाग्निज्वाला से।।९८।। वैसी आते जाते उर्मि। जो अचल मनोधर्मी। किंबहुना धीर क्षमी। कल्पान्त में भी।।९९।। अब स्थैर्य ऐसी भाष। बोलिये जिसको अशेष। देखो वह दशा सविशेष। दर्शन कुशल।।५००।। ऐसे स्थैर्य निर्भय। अंग जीव में कौन्तेय। वह ज्ञान का निश्चय। निधान सत्य।।१।। ब्रह्मसमंध अपने घरको। अथवा योद्धा शस्त्र को। न भूलत भांडार को। लोभी जैसा।।२।। एकलौते बालकपर। अंबिका करे प्राण निछावर। मधुमक्षिका मधुकी निरंतर। लोभिणी जैसी।।३।। इस विध जो पार्थ। अंतःकरण जतन करत। खड़ा न होने दे क्वचित। इंद्रिय द्वार में।।४।। डरावेगा

काम असुर। देखेगी आशा डाकिन क्रूर। आवेगा प्राणसंकट जीवपर। इसलिये डरत।।५।। व्यभिचारिणी को जैसी। गृह में पति बंद रखत वैसी। निगरानी करत तैसी। प्रवृत्ति की।।६।। सचेतन में साधन कमी से। घिसत स्वदेह को जैसे। करे संयमित बोध से। इंद्रियों को।।७।। मन के महाद्वार में सुवीर। प्रत्याहार के चौकीपर। यम दम पहरेदार। खड़े जगावत।।८।। आधार नाभी, कंठ। बंधत्रय से करावे गश्त। चंद्रसूर्य संपुट में प्रवृत्त। करे चित्तको।।९।। समाधि सेज सन्निध। ध्यान को करे बद्ध। करे चित्त अंतर में अनुबद्ध। चैतन्य समरस में।।५१०।। सुनो जो अंतःकरण निग्रह। जानो जहां तुम यह। जिसके पास, वहां विजय। ज्ञान का जानो।।११।। जिसकी आशा अर्जुन। सिर पर रखे अंतःकरण। मनुष्याकार में संपूर्ण। ज्ञान ही वह।।५१२।।

इंद्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदूःखदोषानुदर्शनम्।।८।।

और विषयों के प्रति। वैराग्य की उत्तम प्रीति। बसत जीति जागती। प्रचुर मन में।।१३।। देख वमित अन्न प्रीत्यर्थ। लार न रसना को छूटत। या आलिंगन को अंग न डारत। प्रेत पर कभी।।१४।। न चाहत विषभक्षण। जलते भवन में न प्रवेशत अर्जुन। व्याघ्रविवर में न करे गमन। वस्ती प्रीत्यर्थ।।१५।। उफनत लोहरस में पार्थ। कतई न कोई कूदत। न कभी उपधान (सिरहाना) लेत। अजगर का।।१६।। अर्जुन उसके सरिख। अप्रिय विषयवार्ता अशेख। जाने न दे इंद्रियमुख-। में कुछ भी कभी।।१७।। जिसके मन में आलस्य। देह अतिकार्श्य। शमदम में सौरस्य। देखो जिसको।।१८।। तपोव्रतों का

समुदाव। जिसके पास पांडव। माने युगान्त गांव-। में जाने से जो।।१९।। योगाभ्यास अतिप्रिय। विजन की ओर दौड़ कौन्तेय। न सहे लागे नाम अप्रिय। संघात का।।५२०।। नाराच पर शयन। पूयपंक में विचरण। माने वैसे भोग पूर्ण। ऐहिक के जो।।२१।। और स्वर्ग की मन से। वार्ता मानत वैसे। सड़ा पिशित (मांस) जैसे। श्वान का पार्थ।।२२।। सो यह वैराग्य। जो आत्मप्राप्ति का सौभाग्य। इससे ब्रह्मानंद के योग्य। बनत जीव।।२३।। ऐसा उभय भोग में त्रास। देखोगे जहां खास। जानो वही निवास। ज्ञानका तुम।।२४।। और आस्थायुक्त। यज्ञादि इष्ट आचरत। किंतु कृतकर्म का स्मरण किंचित। न रखे मन में।।२५।। वर्णाश्रम पोषक। कर्म नित्य नैमित्तिक। रखत न न्यून एक। आचार में पार्थ।।२६।। किंतु मैंने यह किया। या मुझसे यह सिद्ध हुआ। ऐसा न कभी चाहा। मन में जिसने।।२७।। जैसा स्वभावगत अर्जुन। वायु का सर्वत्र विचरण। या उदय निरभिमान। सूर्य का जैसे।।२८।। श्रुति का निरपेक्ष बोलना। गंगा का निस्वार्थ बहना। वैसे अवष्टंभहीन उत्तम अर्जुना। आचरण जिसका।।२९।। ऋतुकाल में जो फलत। किंतु न स्मरण उसका किंचित। उन वृक्ष जैसी वृत्ति, पार्थ!। कर्मफल में सदा।।५३०।। मन कर्म बोल से अशेष। किया अहंकार का नाश। खींच ली एकावली से वीरेश। डोरी जैसी।।३१।। संबंध रहित जैसे। अभ्रपुंज आकाश में जैसे। देह के कर्म तैसे। जिसके पार्थ।।३२।। मद्यपी के अंग के वस्त्र। या चित्र के हाथ का शस्त्र। बैल उपर रखा शास्त्र। धनुर्धर।।३३।। वैसा मैं देही। जिसे यह स्मरण नाहीं। निरहंकारता मूर्त ही। संज्ञा उसको।।३४।। यह

संपूर्ण दिखत जहां। जानो ज्ञान वहां। अन्य मत वहां। न बोलो तुम ।।३५।। जन्म मृत्यु जरा दुःख। व्याधि वार्धक्य कल्मष। आने पूर्व ही देखो अशेष। दूर से ही जो।।३६।। मांत्रिक जैसे पिशाच को। अथवा योगी उपसर्ग को। या भित्तिके न्यून अधिक को। साहुल से साधे।।३७।। बैर जन्मान्तर का। मन से न जाये सर्प का। वैसे अतीत जन्मोंका। दूषण स्मरे जो।।३८।। बालू न आंख में घुलत। न साहे शरीर के शल्यघात। वैसे भूतकाल के न विस्मरत। जन्म दुःख।।३९।। पूयगर्त से गया। मूत्रमार्ग से बाहर आया। अरेरे मैंने ये क्या किया। चूसा कुचस्वेदभी।।५४०।। ऐसे ऐसे प्रकार से पार्थ। जन्म का उद्वेग धरत। अब न करूं वह मैं कदाचित। जिससे ऐसा होय।।४१।। जुवाड़ी यदि पराजित। मनोयोग से दूजा दाँव खेलत। या पुत्र प्रतिशोध लेत। पिता के वैर का।।४२।। मारे कोई क्रोध से। पीछे रक्षक बदला लेवे जैसे। करे यत्न दक्षता से वैसे। जन्मनिवारणार्थ।।४३।। किंतु ऐसे जन्म की दुष्कीर्ति। छांड़त न जिसकी मति। संभावित को अपकीर्ति। असहनीय जैसी।।४४।। और मृत्यु जब भविष्य में। चाहे आवे कल्पांत में। होवे आजही मन में। सावधान जो।।४५।। पानी मध्य में अथाह। जानकर तीर पर ही पांडव। तैराक कसत त्वरित एव। काछ जैसे।।४६।। या रणगमन पूर्व अर्जुन। सम्हालत अपना अवधान। घाव के आगे ही रोके आक्रमण। ढाल से अपने।।४७।। बटमार हो कल के मुकाम पर। तब होईये सावधान आजही साचार। जीव जाने पूर्व औषधि की सत्वर। कीजे दौड़धूप।।४८।। नातर ऐसा होत पार्थ। जलते गृह में यदि प्रविष्ट। स्वशक्ति से तब खोदना व्यर्थ। कुवां

जैसे।।४९।। डोह में पत्थर समान। जो डूबत अर्जुन। आक्रंदन सह पावे मरण। किंतु बतावें कौन?।।५५०।। अतः समर्थ के साथ बैर। जिसका होवे कट्टर। वह सज्ज जैसे आठों प्रहर। पैने शस्त्र से।।५१।। नातर वधु मंगनी पश्चात्। या संन्यासी संन्यासपूर्व पार्थ। वैसे मरण पूर्व ही मन में रखत। मृत्यु सूचना।।५२।। जो इसविध करे अर्जुन। भावी जन्म का निवारण। देह मरण से मृत्यु को हनन। करके बचे स्वयम्।।५३।। उसके घर ज्ञान का। न्यून नाहीं सर्वथा। जिसको जन्ममृत्यु का। दुःख न शेष।।५४।। वैसे ही ज्यों न आवे जरा। इस शरीर को धनुर्धरा। भर तरुणाई में सुवीरा। देखे जो।।५५।। कहे आज के अवसर में। पुष्टि जो वसत शरीर में। बदलेगी शुष्क लकड़ी में। धनुर्धर।।५६।। निर्दैवी के व्यवसाय। असमर्थ होंगे हाथपांव। मंत्री हीन राजा सम होय। निर्बल देह।।५७।। पुष्प गंध का अर्जुन। भोग जो लेत घ्राण। होगा ऊंट के जानुसमान। बधिर जो।।५८।। चौपायों के खुर। खुरपकासे अवस्था घोर। वही दशा मेरा शरीर। पावेगा यह।।५९।। कमलदल से स्पर्धा करत। जो मेरे ये नयन सांप्रत। पक्व परेर जैसे निश्चित। होंगे वह।।५६०।। भौं पटल दोनों जान। लटकेंगे शुष्क छाल समान। उर गलेगा जल से पूर्ण। आसुवों के।।६१।। जैसे बबूल का काष्ट। लीपत मलमूत्र से सरट। वैसा मुख लिरबिडित। श्लेष्मा से पूर्ण।।६२।। चूल्हा सम्मुख चरइ में। बुदबुद उठत मलिन पानी में। वैसे फूटत फुक्के नासिका में। नासामल के।।६३।। तांबूल से ओष्ट रंगारू। हँसते दात दिखाऊं। उत्तम बोल बोलूं। जिस मुख से मैं।।६४।। उसी मुख को धनुर्धर। आवेगा लार श्लेष्मा का पूर। उखड़ेगी दंष्ट्रा

ऊपर। दंत सहित।।६५।। कृषिक कोई ऋणग्रस्त। या अतिवृष्टि से ढोर ठिठुरत। वैसे न कुछ यत्न से उठत। जिव्हा यह।।६६।। जैसे शुष्क तृण। उड़त हवा से अर्जुन। वैसी आपदा वदन-। दाढी को प्राप्त।।६७।। आषाढ़ के जल से। सैल शिखर झिरत जैसे। वैसे लार का मुखरंध्र से। लोटयत पूर (बाढ़)।।६८।। वाचा होवे अस्पष्ट। कर्ण न सुनेंगे स्पष्ट। पिंड वृध्द मर्कटवत। होवेगा यह।।६९।। विभिषिका तृण की जैसी। आंदोलत वायु से सहज तैसी। कँपकँपी छूटे वैसी। सर्वांग को।।५७०।। पाँव पाँव में फसत। मुट्ठि मैं हाथ जखड़त। सुंदरपन का स्वांग रचावत। मदारी जैसा।।७१।। मल मूत्र द्वार। चलनी होत धनुर्धर। प्रार्थत जन इतर। मृत्यु मेरा।।७२।। देखकर जग थूकेगा। मरण मेरा चाहेगा। सब संबंधियों को आवेगा। उद्वेग मेरा।।७३।। स्त्रीजन मानत भूत। भय से बालक मूर्छा पावत। किंबहुना अतिघृणित। होऊंगा मैं।।७४।। खांसी का ठसका सुनकर। निद्रित पड़ोसी का घर। कहत सतावेगा सबको बहुतर। वृध्द यह।।७५।। ऐसे वार्धक्य का संकेत। तरुण दशा में ही स्वतः जानत। विवेक से उससे होत। विरक्त स्वयम्।।७६।। आयेगा कल यह सोचत। भोग में वर्तमान होगा व्यतीत। तब क्या शेष बचत। स्वहित के लिये।।७७।। अतः जब तक न होवे बधिर। श्रवण करे शास्त्र समग्र। पंगुत्व के पूर्व ही सब तीर्थक्षेत्र। को जाये जो।।७८।। जब तक दृष्टि अच्छी पार्थ। तब तक दर्शनीय सब देखत। मूकत्व के पहले करे सुभाषित। मुखाग्र सब।।७९।। लूले होंगे हाथ। ज्ञान यह अल्प पार्थ। अतः पहिले ही करे समस्त। दानादिक।।५८०।। आवेगी आगे ऐसी दशा।

तब मन होगा भ्रमित सर्वशा। तब चिंतन करके देखे वीरेशा। आत्मज्ञान शुद्ध।।८१।। कल चोर अंग को झपटत। तब आज ही दूर की जे संपत। दीप बूझने पूर्व ही करना युक्त। झांक पाक।।८२।। वैसे कल वार्धक्य आयेगा। बिन हित व्यर्थ जायेगा। अतः यत्न से ज्ञान पावेगा। तारुण्य में ही जो।।८३।। जहां तहां दुर्ग विकीर्ण। देखकर निवर्तत खग गण। वहां उपेक्षा से जो करे गमन। लुट गया वह।।८४।। वैसे वार्धक्य की आशा में पार्थ। सांप्रत तरुणपन गवायें व्यर्थ। उसके शतवृद्धत्व का यथार्थ। भरोसा क्या?।।८५।। झरी तिल की बोड़ी झारत। फल न कदापि पुनः पावत। अग्नि यद्यपि प्रदीप्त क्या जलावत। राख को कभी?।।८६।। अतः पहले ही वार्धक्य के स्मरण से। हानि न पावे जो वार्धक्य से। उसमें विद्यमान निश्चय से। ज्ञान जानो।।८७।। वैसे ही नाना रोग। जब तक न पछाड़त अंग। आरोग्य के उपाय सावेग। योजत जो।।८८।। सर्प के मुख से पार्थ। पिंड यदि बाहर गिरत। वह छांडत त्वरित। प्रबुद्ध जैसा।।८९।। वैसे जिसके वियोग से दुःख। पोखत आपत्ति शोक। वह स्नेह से छोडके सुख। होत उदासीन जो।।५९०।। और जिन जिन मार्ग से पार्थ। पाप प्रवेश पावत। कर्मरंध्र में नियम के ठोकत। पाषाण दृढ।।९१।। ऐसी ऐसी युक्ति। योजत जिसकी मति। वही मूर्त ज्ञान संपत्ति–। का स्वामी जानो।।९२।। अब और एक। लक्षणअति अलौकिक। कहूं सुनो देख। धनुर्धर।।९३।।

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।९।।

तब जो इस देह पर। उदास ऐसा धनुर्धर। पथिक किसी मुकाम पर। ठहरे जैसा।।९४।।

या वृक्ष की छाया में पार्थ। मार्ग चलते विश्रमत। घर पर उतनी भी निश्चित। आस्था नहीं।।९५।। निजछाया सदा सन्निध। किंतु मन में न उसका बोध। वैसे स्त्रीविषय संबंध- । में लोलुप्य नाहीं।।९६।। और प्रजा को अर्जुन। मानत पथिक समान। या गौकुल लेत विश्राम। वृक्ष तल में।।९७।। यदि वह लक्ष्मीवंत। भासत ऐसा पंडुसुत। वस्तु विषय में मार्गस्थ। साक्षी केवल।।९८।। किंबहुना रहे तोता पार्थ। पिंजरे में स्वामी आज्ञांकित। वेदाज्ञाभय से वर्तत। निरन्तर।।९९।। वैसे द्वारा गृह पुत्र। नाहीं इनका जो मित्र। जानो वह आधार। ज्ञान का सार्थ।।६००।। महासिंधु सरिसा। ग्रीष्म वर्षा में एकसा। नाही इष्टानिष्ट भाव वैसा। पास जिसके।।१।। या तीनों काल में पार्थ। त्रिधा नहीं गभस्त। वैसे सुख दुःख में किंचित। भेद नाही।।२।। जहां नभ समान। समत्व को नहीं न्यून। वहां शुद्धज्ञान। पहिचानो तुम।।३।।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। विविक्तदेशसेवित्मरतिर्जनसंसदि।।१०।।

और मेरे बिन कुछ ही। और वस्तु सुंदर नाहीं। ऐसा निश्चय तीनों ही—। से किया जिसने।।४।। शरीर वाचा मानस। पीबत कृतनिश्चय का कोश। एक मेरे बिन आस। न देखत अन्य।।५।। किंबहुना निकट निजमन। जिसका मत्स्वरूप में लीन। मेरी अपनी सेज अर्जुन। की एकही जिसने।।६।। पति समागम समय। नहीं अंगजीव में शंका कौंतेय। उस कांतासम अनन्य। अनुसरत जो।।७।। मिलकर मिलत ही जात। समुद्र मैं गंगाजल पार्थ। मद्रूप होकर मुझे भजत। सर्वस्व भाव से।।८।। सूर्य के साथ प्रकट होवे। साथ सूर्य के

ही लय पावे। यह समर्पण सुहावे। प्रभा को जैसा।।९।। पानी की सतह पर जैसे। पानी ही उभरत कौतुक से। लौकिक में कहत लहर उसे। अन्यथा पानी ही वह।।६१०।। जो अनन्य इस प्रकार। मद्रूप मुझे ही भजत साचार। वही वह मूर्त आकार। ज्ञान सत्य।।११।। और तीर्थ पवित्र तट। तपोवन सुघट। गिरीशिखर विकट। प्रिय जिसको।।१२।। शैलकक्ष के गव्हर। जलाशय का परिसर। बरत जो सादर। नगर न भाये।।१३।। प्रिय बहु एकान्त। जिसको जनपद की खंत। जानो मनुजाकार में मूर्त। ज्ञान की वह।।१४।। और भी आगे किरीटि। लक्षण सुनो सुमति। ज्ञान के लिये स्पष्टरीति। कहूं तुझको।।१५।।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।११।।

तब परमात्मा नामक। जो विद्यमान वस्तु एक। जिस ज्ञानके कारण प्रत्यक्ष। दिखत पार्थ।।१६।। उस एक बिन अन्य। जिससे भवस्वर्गादि ज्ञान। वह अज्ञान ऐसा मन। निश्चय करत।।१७।। स्वर्ग गमन छोडत। भववार्ता कान से न सुनत। अध्यात्मज्ञान में डुबकी लेत। सद्भाव की।।१८।। मार्ग में चौराहपर। छोटी गली अव्हेरकर। होवे सीधा अग्रसर। राजमार्ग से।।१९।। वैसे अन्य ज्ञान जात। विवेक से तज के पार्थ। मन बुद्धि मोहरा करत। अध्यात्म ज्ञानमें।।६२०।। कहे यही एक सत्य। अन्य जानना सब भ्रांत। ऐसी मति जिसकी निश्चित। मेरु जैसी।।२१।। एवं निश्चय जिसका। द्वार में अटल अध्यात्म का। ध्रुवदेव गगन का। वैसा स्थिर।।२२।। उसके ठाँई ज्ञान। बोल यह सत्य जान। ज्ञान में ही स्थिर तन तत्क्षण। वह सो ही मैं।।२३।। अध्यात्म निष्ठा से जो प्राप्त। वह मात्र बोल से

न लभत। अतः ज्ञान एवं निष्ठा को सार्थ। योग्यता सम।।२४।। और तत्वज्ञान निर्मल। प्रसवत जो एक फल। उस ज्ञेय पर उसकी सरल। दृष्टि पहुंचे।।२५।। वैसे ज्ञान बोध हुआ कौंतेय। और न प्राप्त मनको ज्ञेय। तब पाकर भी वृथा होय। ज्ञानलाभ।।२६।। अंधे ने हस्त में दीप तो लिया। किन्तु लेकर क्या किया? वैसा ज्ञाननिश्चय हुआ। व्यर्थ सब।।२७।। यदि ज्ञान के प्रकाश से। परतत्व में प्रवेश न दृष्टि से। वह स्फूर्ति व्यर्थ जैसे। अंधसम।।२८।। अतः उस ज्ञान में जहां तहां। एक वस्तु मात्र दिखत वहां। ऐसी होना सर्वशः। बुद्धि चोख।।२९।। अतः निर्दोष ज्ञान से। दिखाया जो ज्ञेय दृष्टिसे। उस शुद्ध उन्मेख से। सम्पन्न जो।।६३०।। जितनी ज्ञान की वृद्धि। उतनीही जिसकी बुद्धि। वह ज्ञान उसकी प्रसिद्धी। अनावश्यक।।३१।। ज्ञान की प्रभासह पार्थ। मति जिसकी ज्ञेय में स्थित। वह हां हां कहते स्पर्शत। परतत्व को।।३२।। वही ज्ञान रूप कौन्तेय। कहने में क्या विस्मय?। क्या सूर्य को सूर्य। कहना ही पडत?।।३३।। तब श्रोता गण बोलत। न करना अतिशयोक्ति युक्त। ग्रंथोक्ति को प्रतिबंध व्यर्थ। लगावत क्यों?।।३४।। आपका महान उपकार। वक्तृत्व से किया साकार। जो ज्ञान विषय सविस्तर। निरूपित स्पष्ट।।३५।। रस होना अतिमात्रु। यह सामान्य करिमंत्रु। आमंत्रित श्रोताओं को शत्रु। करिये क्यों?।।३६।। भोजन को सिद्ध मेहमान। पिछवाडे से भागे लेकर भोजन। कहो मेहमानी के सब उपचार अन्य। किस कामके?।।३७।। सब गुण से यदि युक्त। सांझ को ऐन छूने न देत। ऐसी लतखोरी गैया संतत। पाले कौन?।।३८।। ज्ञान विषय में न किंचित। करत अन्य वल्गाना बहुत। किंतु

भला किया तुमने युक्त। वर्णन यहाँ।।३९।। ज्ञानलेशोद्देश से जिस। करत योगादि सायास। किये तृप्त सबके मानस। निरुपण से अपने।।६४०।। अमृत की सप्तझड़ी। होवे यदि अनुघड़ी। सुख के बिन करोड़ यदि। क्या मीनत कोई?।।४१।। पूर्ण चंद्र की रात। यदि रहे युगपर्यंत। तब क्या न देखत। चकोर वह?।।४२।। ज्ञान का सुंदर वचन। और ऐसे रसभरित पूर्ण। अब कहो बस कहे कौन?। सुनते ही जात।।४३।। सुभग अतिथि आवे। सुभगा भोजनदात्री होवे। तब कोई न समाप्ति चाहे। रस सिद्धि।।४४।। वैसा यह प्रसंग। जहां ज्ञान में हमारा लाग। और तुमको भी अनुराग। उसी में ही।।४५।। अतः इस व्याख्यान-। को बल आवे चौगुन। ना कहेंगे न दर्शक महान। ज्ञान के तुम।।४६।। तब आगे सांप्रत। प्रज्ञा के अंतःपुर में सार्थ। पद को विशद करो सत्य। निरूपण में।।४७।। इस संत वाक्य सहित। निवृत्तिदास विनम्र कहत। जो मेरा भी मनोगत। यही प्रभो!।।४८।। इस पर आपका सांप्रत। स्वामी सेवक आज्ञांकित। यह वाग्जाल व्यर्थ। न बढ़ाऊंगा मैं।।४९।। एवं यहां सुनो सुधीजनाः। ज्ञान लक्षण अठारह। श्रीकृष्ण निरूपत स्वतः। धनुर्धर को।।६५०।। जहां से सब लक्षण। ज्ञान वहां विद्यमान। यह मेरा मत एवं ज्ञानीजन। मानत सकल।।५१।। गोल करतल उपर। डोलत देखों अमलक सुवीर। वैसे चक्षु से ज्ञान साकार। दिखाया तुझको।।५२।। अब धनंजय महामति। अज्ञान जिसकी नामोक्ति। वह कहुं स्पष्ट सांप्रति। लक्षण सहित।।५३।। वैसे जब ज्ञान स्पष्ट। अज्ञान सहज पहचानत। जो नाहीं ज्ञान स्वभावतः। अज्ञान ही पार्थ।।५४।। देखो जब दिन पूर्ण

समाप्त। तब बारी रात्रि की शेष निश्चित। बिन उसके तीसरा पदार्थ। नाहीं जैसा।।५५।। वैसे ज्ञान जहां नाहीं। जानो अज्ञान वहीं। यद्यपि कहूं कोई। चिन्ह उसके।।५६।। जो जीवित प्रतिष्ठा प्रीत्यर्थ। सन्मान के लिये लालायित। सत्कार से संतोषत। धनुर्धर।।५७।। चढ़े शिखर पर गर्व से। न उतरत कभी महत्व से। उसको ठाँई पूर्ण रूप से। अज्ञान जानो।।५८।। स्वधर्म का मांगलिक तोरण। बांधे वाचा के अश्वत्थ पर अर्जुन। अथवा देवालय में खड़ा जान। मोर्चल रखत।।५९।। स्वविद्या का प्रचार करत। सुकृत का डंका पीटत। सब कुछ मोहरा करत। स्फीति के लिये।।६६०।। उपर उपर भस्म लेपन। टालत जन अभ्यर्चन। वह जानो यहां खान। अज्ञान की पार्थ।।६१।। और वन्ही वन में विचरत। वहां स्थावर जंगम जलत। वैसे जिसके आचार से होत। दुःख जगको।।६२।। कौतुकसे करे ज्यों ज्यों जल्पन। छेदत सब्बल से तीक्ष्ण। संकल्प विष से भी दारुण। मारक जिसका।।६३।। उसको बहुत अज्ञान। अज्ञान काँ वह निधान। हिंसा को आयतन। जीवित जिसका।।६४।। फूंकने के भाथी फूलत। छोडने पर तत्क्षण दबत। वैसा चढत तड़पत। संयोग वियोगसे।।६५।। आवेष्टित चक्रवात में। धूल चढे आकाश में। वैसे फूलत सुप्तिकाल में। हर्ष से जो।।६६।। अल्प निंदा सुनत। माथा पकड़कर बैठत। बूंद से घुलत हवा से सूखत। कर्दम जैसा।।६७।। वैसा मानापमान से होवे। विकार उर्मि कोई न साहे। उसके पास निश्चित रहे। अज्ञानपूर्व।।६८।। मन में दुःसंकल्प गुप्त। बाहिर वाचा दृष्टि खुली रहत। लिपटत अंग से जीव से झटकत। किसी को भी।।६९।। व्याध का चारा

देना। वैसा प्रांजल जिसका पोसना। अंतःकरण से वैर करना। सज्जनों का।।६७०।। शिला शैवाल से वेष्टित। पक्व निंबफल जैसे सुपीत। वैसी जिसकी उत्तम पार्थ। बाह्य क्रिया।।७१।। अज्ञान उसके ठांई। वसत देखो निश्चित ही। प्रत्यवाय इस बोल को नाहीं। सत्य मानो।।७२।। गुरुकुल से लज्जित। गुरुसेवा जो टालत। विद्या पाकर होवे उन्मत। गुरु से ही जो।।७३।। उसका नामोच्चरण। वाचा से जैसा शुद्रान्न सेवन। किंतु हुआ मुझसे लक्षण। वर्णन में यह।।७४।। अब करूं गुरु भक्तों का स्मरण। वाचा को प्रायश्चित से पापहरण। गुरुसेवक का गुण कीर्तन। सूर्य जैसा।।७५।। इससे पापका दोष। निरसेगा वाचाका अशेष। जो गुरुनिंदक नाम से विशेष। हुआ मुझसे।।७६।। नाम यह पापका पार्थ। सब भय हरण करत। आगे सुनो बतावत। चिन्ह अन्य।।७७।। जो अंग से कर्महीन केवल। मनमें किंतु विकल्प सकल। अटवी का अमंगल। कुआ जैसा।।७८।। उसके मुख में कंटक। अंदर अस्थि समूह देख। अशुचि इसविध अशेख। सबाह्य जो।।७९।। जिस विध श्वान पार्थ। खुला ढका न जानत। वैसे अपना पराया न देखत। द्रव्य के लिये।।६८०।। जैसे ग्रामसिंह के ठांई। ठांव अठांव मिलनीको नाही। वैसा स्त्री संबंध में कुछ ही। न विचारे जो।।८१।। कर्म का समय चूकत। नित्य नैमित्तिक वैसे ही रहत। किंतु उससे न होवे दुःखित। मनमें कदा।।८२।। पाप में निर्लज्ज पार्थ। पुण्यविषय में अति भ्रष्ट। मन में जिसके वेग बहुत। विकल्प को।।८३।। वह जानो निखिल। अज्ञान का पुतला केवल। बांधत चक्षुको सकल। वित्ताशासे।।८४।। और किंचित स्वार्थ के

लिये। बुद्धि से विचलित होवे। जैसा तृण बीज हिल जाये। चींटी से भी।।८५।। पाँव रखते क्षण। तडाग कर्दममय होवे पूर्ण। भय के नाममात्र से अर्जुन। व्याकुल जो।।८६।। मनोरथ के प्रवाह सहित। बहत जिसका चित्त। महापूर में गिरा प्रक्षिप्त। कद्दू जैसा।।८७।। वायु का सहाय्य पावे। धूम दिगंतर में जाये। वैसे दुःखवार्ता से होवे। विचलित जो।।८८।। चक्रवात के समान। अनाश्रय सदा गतिमान। तीर्थ क्षेत्र नगर में अर्जुन। स्थिर नाहीं।।८९।। अथवा उन्मत्त सरट। कभी फुनगी कळी स्तंभ तक। भ्रमत कोरा निरर्थक। यहां वहां।।६९०।। कनारी जमाने बिन पार्थ। स्थिर न रहे कदाचित। लेटे जब तक शांत। घूमत अन्यथा।।९१।। उसके ठाँई उदण्ड। अज्ञान वसत वितन्ड। जो चंचल गुन्ड। भाई मर्कट का।।९२।। और हे अर्जुन!। जिसके अंतर में सुन। नही कुछ बंधन। संयम का।।९३।। नाले को जब आवे पूर। रोके न सिकतासेतु सुवीर। वैसे शास्त्रशुद्ध आचार–। का भय न माने जो।।९४।। व्रतबंधन न मानत। स्वधर्म पाँव से कुचलत। मर्यादा नियम की उल्लंघत। क्रिया जिसकी।।९५।। नाहीं पापका भय। नहीं पुण्य से स्नेह। लज्जा की सीमा कौंतेय। उखाड़त जो।।९६।। कुलधर्म को पीठ दिखाकर। वेदाज्ञा दूर हटाकर। कृत्याकृत्य व्यापार। निर्णय न जाने।।९७।। वृषभ जैसा मुक्त। पवन सीमारहित। बांध जैसा फूटत। निर्जन में।।९८।। अंध हाथी मदोन्मत्त। पर्वत पर दावानल प्रदीप्त। वैसा विषयोन्मुख चित्त। जिसका पार्थ।।९९।। क्या न घुरे पर फेकत? (कचरा फेकने की जगह)। मुक्त वृष किससे वश होत?। कौन न देहरी सु गुजरत। ग्राम द्वार के?।।७००।। अन्नसत्र में कोई भी खात। या सामान्य को

जब प्रभुता प्राप्त। दुकान में बनिया के पार्थ। कौन न रीगत?।।१।। वैसा जिसका अंतःकरण। उसके ठाँई संपूर्ण। अज्ञान की विद्यमान। ऋद्धि वहां।।२।। और विषयों की प्रीति। जीते मरते न छोडे किरीटि। करे स्वर्ग में भी भोगप्राप्ति-। के उपाय यहीं से।।३।। जो अखण्ड श्रमत भोगार्थ। जिसे काम क्रिया का व्यसन पार्थ। विरक्त का मुख देखकर करत। सचैल स्नान जो।।४।। विषयों से श्रान्त होत। किंतु न उनको छोडत। सड़े गलित हस्त से भक्षत। कोढी जैसा।।५।। खरी लगने न दे उड़त। लत्ता से नासिका फोड़त। तथापि न जैसे मुड़त। पीछे खरू।।६।। वैसा जो विषय प्राप्त्यर्थ। कूदत जलती आग में पार्थ। मानत अंग में आभूषण सार्थ। व्यसनों को जो।।७।। चाहे ऊर फूटत। लालसा मृग की और बढत। किंतु न वह माया जानत। मृगजल की।।८।। वैसा जन्म से मृत्यू पर्यंत। करे बहुविध यत्न विषयार्थ। किंतु न ऊबत और बढत। प्रेम अधिक।।९।। प्रथम बालदशा में। माता-पिता का ही छंद मन में। पश्चात उनके स्त्रीमांस में। भूले सब।।७१०।। जब स्त्री भोग में असमर्थ। वार्धक्य प्राप्त होवे पार्थ। तब प्रेमभाव यथार्थ। रखे पुत्र में।।११।। जैसे जन्मांध रहे घरमें। रहत वैसे सुत परिवार में। जीये मरे किंतु न त्रसित मन में। विषयों से जो।।१२।। जानो ऊसके ठाँई। अज्ञान की सीमा नाहीं। सांप्रत कुछ और ही। कहूं चिन्ह।।१३।। तब यही बुद्धि देहात्म। ऐसा जिसका मनोधर्म। मानकर दृढ़ जो कर्म। प्रारंभ करे।।१४।। और न्यून या अधिक। जो जो कर्म करे सकौतुक। उसके अहंकार से अत्याधिक। होवे उन्मत्त जो।।१५।। प्रसाद लेकर मस्तक पर। देव-भगत घूमत चौफेर।

वैसा विद्या यौवन गर्व निर्भर। तनकर चले।।१६।। कहे मैं ही एक कुबेरपति। मेरे ही घर में सब संपत्ति। मुझ जैसी आचारनीति। किसकी जगमें?।।१७।। नहीं मेरे समान श्रेष्ठ। मैं सर्वज्ञ और वरिष्ठ। इस तुष्टिगण्ड से गर्विष्ठ। वर्तत सदा।।१८।। व्याधिग्रस्त मानव को। भोग जैसा असह्य उसको। वैसे औरों का सुख जिसको। असहनीय।।१९।। बाति का गुण भक्षत। स्नेह सब जलावत। जहां रखो वहां होत। कालिख पूर्ण।।७२०।। जीवन सिंचन से तड़तड़त। हवा से प्राण छोड़त। स्पर्श से गृह धड़धड़त। काडी न बचत।।२१।। किंचित प्रकाश देत। उतने से ही अति उष्मा करत। ऐसे दीप के समान। सुविज्ञ जो।।२२।। औषध के नाम से दिया दूध। नवज्वर होवे और प्रक्षुब्ध। या निवर्तत होकर विषशुद्ध। सर्प से वही।।२३।। वैसे सद्गुण से मत्सर। व्युत्पत्ति से अहंकार। तपोज्ञान से अपार। उन्माद चढे।।२४।। अंत्यज राज्यपर प्रतिष्ठित। या अजगर खंबा निगलत। वैसे गर्व से फूलत। सदा जो।।२५।। जो बेलन सम दृढ पार्थ। पत्थर सम न पसीजत। गुनिया से न उतरत। मांत्रिक जैसा।।२६।। किंबहुना उसके पास। अज्ञान विद्यस्थान विशेष। यह निश्चित अशेष। कहूं तुझको।।२७।। और भी अर्जुन। गृह, देह, सामग्रि में जो मग्न। किंतु गतजन्म का स्मरण। न रहे जिसको।।२८।। कृतघ्नपर उपकार किया। चोरको व्यवहार दिया। या निर्लज्ज का स्तवन गाया। बिसरत जैसा।।२९।। घर से निकाला बाहिर। पूंछ कान काटकर। श्वान जैसे यद्यपि बहे रुधिर। आवे पुनः।।७३०।। मेंढक सर्पमुख में पार्थ। निगला जाय जीव सहित। किंतु वह तो मक्षिकार्थ लालायित।

स्वस्थिति जाने ना।।३१।। वैसे नवही द्वार स्त्रवत। अंग में उभरत कुष्ट। जिससे यह दशा पावत। न विषाद किंचित।।३२।। माता के उदर कुहर में। निमग्न विष्टा के पूर में। नवमास पर्यंत जठर में। उबलत जो।।३३।। गर्भकालकी व्यथा। और प्रसव में जो हुई तत्त्वता। वह कुछ भी सर्वथा। स्मरत न जो।।३४।। मलमूत्र पंक में। पड़ा जननी अंक में। देखकर न त्रसित मन में। थूके न जो।।३५।। कलतक गत जन्म क़ित्येक। आगे भी और दुःखदायक। आवेंगे भविष्य में अनेक। सोचे न जो।।३६।। और भी इसी प्रकार। यौवन वैभव में चूर। मन में करे विचार। मृत्यु चिंताका।।३७।। जीवित का करके विश्वास। एक दिन मृत्यु आयेगा खास। यह बात जिसका मानस। माने ना।।३८।। जैसे अल्पोदक का मीन। कभी यह सूखेगा पूर्ण। जानकर भी न जावे अर्जुन। महादह में।।३९।। मधुर गान से भ्रमित। मृग व्याध को न देखत। गल न देखे निगलत। मांस खण्ड मीन।।७४०।। दीप की जगमग। जलायेगी पतंग। किंतु झोंकत अपना अंग। अज्ञान से वह।।४१।। निद्रासुख में मूरख मग्न। जलता स्वगृह न देखे अर्जुन। या न जानकर विषाक्त अन्न। सेवन करे जो।।४२।। वैसे जीवित के मिष से। देवें निमंत्रण मृत्यु को जैसे। न जाने राजससुख से। धनंजय।।४३।। शरीर का पोषण। अहोरात्रि का परिभ्रमण। विषय सुख संवेदन। माने सत्य।।४४।। किंतु विचार न जाने बुद्धिहीन। यह वेश्या का सर्वस्व अर्पण। सच तो यह लूटना संपूर्ण। धनुर्धर।।४५।। साहु-चोर की यह संगत। प्राणनाशक सुनिश्चित। मृण्मूर्ति को जैसे स्नपन होत। नाशकारी।।४६।। पांडुरोग से अंग फूलना। जानो मृत्यु का

समीप आना। ऐसे में आहार निद्रा में खो जाना। भ्रम यह।।४७।। सम्मुख शूल के पार्थ। द्रुतगति पद से धावत। प्रतिपद सन्निध आवत। मृत्यु जैसा।।४८।। वैसे देह ज्यों-ज्यों वर्धत। दिन ज्यों-ज्यों बीतत। और ज्यों-ज्यों होवे लिप्त। विषय सुख में।।४९।। तब-तब अधिकाधिक पार्थ। मरण आयुष्य को जीतत। नमक जैसे घुलत। उदक में।।७५०।। जैसे जीवित्व जाये। काल सन्निध आवे। देखते-देखते नाश होवे। न जाने जो।।५१।। किंबहुना सुनो अर्जुन। यह अंग का मृत्यु नित नवीन। जो न जाने माया पूर्ण। विषयों की।।५२।। पार्थ! वह मूढ़मति। अज्ञान देश का भूपति। जानो यह मेरी उक्ति। निःसंदेह।।५३।। जीवित के संतोष से। मृत्यु को न देखे जैसे। वैसे तारुण्य के भर से। जरा न गणत।।५४।। पर्वत से गिरा गाड़ा (गाडी)। शिखर से छूटा धोंडा (पत्थर)। वैसा न देखे सम्मुख खड़ा। वार्धक्य जो।।५५।। बन नाले को आया पूर। या छिड़ी भैसों की झुंझ घोर। वैसे यौवन के मद में चूर। हुआ उन्मत्त जो।।५६।। शरीर की पुष्टि नष्ट। मुख की कान्ति लुप्त। मस्तक प्रान्त में छूटत। कंप पार्थ।।५७।। पक्व दाढी शुभ्र होत। ना ना करे ग्रीवा कंपित। तथापि अंत तक न छूटत। मायाजाल।।५८।। सामने खंभा गिरे वक्ष पर। फिर भी न देखे अंध नर। निगले फल जो गिरा नेत्रपर। आलसी प्रेम से।।५९।। वैसे तारुण्य आजका। भोगते वृद्धत्व कल का। न देखे वह अज्ञान का। प्रतीक पूर्ण।।७६०।। अशक्त कुब्ज देखकर जैसे। हंसी उड़ावे अभिमान से। किन्तु न कहे होगा ऐसे-। ही कल मुझे।।६१।। और अंग में वृद्धपन। जो प्रत्यक्ष मरण का चिन्ह। परन्तु तारुण्य का अर्जुन। भ्रम न

नष्ट।।६२।। वह अज्ञान का घर। सत्य मानो यह उत्तर। सुनो अब अन्य और। लक्षण इतर।।६३।। व्याघ्र के वन में से पार्थ। चर के आवे दैव से सुरक्षित। उसी विश्वास से पुनः वहां धावत। वृष जैसा।।६४।। सर्पगृह भीतर से पार्थ। निधि निकाला रहा स्वस्थ। इसीलिये हुआ निश्चित। बना नास्तिक जो।।६५।। वैसे यह शरीर कौन्तेय। है अभी तक निरामय। किन्तु कभी रोगी होगा यह सत्य। माने न जो।।६६।। वैरी को नींद आयी। अब द्वंद्व कुछ शेष नाहीं। समझे, होवे सकुटुम्ब नर वही। नष्ट जैसा।।६७।। और स्त्री-पुत्रादि संपत्ति। जब तक सुख देत किरीटि। उसी से जिसकी होवे दृष्टि। मदान्ध पूर्ण।।६८।। वह केवल अज्ञान। वही अज्ञानमूर्त अर्जुन। जो इंद्रियों से स्वैर वर्तन। करत जात।।६९।। होगा वियोग क्षण में। आवेगी विपदा प्रहर में। यह भावी दुःख मन में। देखे न जो।।७७०।। वह अज्ञानी पार्थ। वही मूढ़ यथार्थ। स्वच्छंद से जो पोषत। इंद्रियों को।।७१।। यौवन के उत्कर्ष से। संपत्ति के सहाय से। सेव्यासेव्य एकसे। भोगत जो।।७२।। न करना वह करे। असंभाव्य मन में धरे। न सोचना वही विचारे। मति जिसकी।।७३।। प्रवेशत जहाँ न प्रवेशना। माँगत जो न मांगना। स्पर्शत जिसको न स्पर्शना। अंग-मन से।।७४।। न जाना वहीं जावे। न खाना वही खावे। न देखना देखकर वही होवे। तब ही तोष।।७५।। न करना वही संग। न रखना वही लाग। अनाचरणीय मार्ग। आचरत जो।।७६।। अश्रवणीय सुनत। न बोलना वही बकत। किन्तु होगा पाप न यह देखत। वर्तन में जो।।७७।। अंग मन जिससे संतुष्ट। अतः कृत्याकृत्य न सोचत। जो क्रिया सब करत।

अनाचरणीय।।७८।। किन्तु पाप भागी मैं होऊंगा। या नरक यातना पाऊंगा। यह आगे का न देखेगा। कुछ भी वह।।७९।। उसी के समागम से। प्रसरत अज्ञान जग में ऐसे। जो सज्ञान को भी एक से। ग्रासत पार्थ।।७८०।। रहने दो अब यह देख। अज्ञान का चिन्ह और एक। होगा जिससे तुझको सम्यक। ज्ञान उसका।।८१।। तब जिसकी प्रीति पूर्ण। उलझी गृह में अर्जुन। नव गंध केसर में जान। भ्रमरी जैसी।।८२।। शर्करा राशि में पार्थ। बैठी मक्षिका न उठत। वैसे स्त्री में आसक्त चित्त। जिसका पूर्ण।।८३।। मेंढक जैसे कुंड में। या मक्खी नासामल में। ढोर जैसे कर्दम में। फँसा दलदल में।।८४।। वैसे जिसका तन मन। न निकले गृह से कदाचन। जैसे सर्प होकर बैठे अर्जुन। बामी में उस।।८५।। प्रियतम के कंठ को जैसे। प्रमदा आलिंगत दृढ़ प्रेम से। कुटिया को पकड़े वैसे। धनुर्धर।।८६।। मधुर रसोद्देश्य प्रीत्यर्थ। मधुकर भ्रमत अविरत। वैसे गृहसंगोपनार्थ। यतत जो।।८७।। वार्धक्य में प्राप्त पुत्ररत्न। वह भी एकलौता अर्जुन। उसका जितना भूषण। माता पितरको।।८८।। उस समान पार्थ। गृह में जिसको प्रेम आस्था। और स्त्री सिवा सर्वथा। जाने न जो।।८९।। वैसा स्त्री देह में जो पार्थ। मग्न आसक्त सर्वभाव युक्त। कौन मैं क्या कर्म उचित। कुछ जाने ना।।७९०।। महापुरुष का चित्त। ब्रह्मपद में जब सुस्थित। रुके सब व्यवहारजात। जिस प्रकार।।९१।। हानि लाभ न देखत। परापवाद न सुनत। इंद्रियां जिसकी आसक्त। स्त्रीमांस में।।९२।। आराधत स्त्री का चित्त। और उसके छंद में ही नाचत। मर्कट जैसे वशीभूत। मदारी के।।९३।। स्वतः श्रमत अपार। दुखी करके

इष्टमित्र। धनवृद्धि करे प्रचुर। लोभी जैसा।।९४।। दानपुण्य को पीछे हटत। गोत्र कुटुंबियों से करे कपट। किन्तु स्वस्त्री की मरज़ी झेलत। न्यून पड़ने न दे।।९५।। कृपणता से पूजे कुलदैवत। मीठे बोलो से गुरु को बहलावत। माता पिता को दिखलावत। दारिद्र्य अपना।।९६।। स्त्री के प्रीत्यर्थ। अनेक भोगसंपत। वस्तु सुंदर लावत। देखे जो जो ।।९७।। जिस प्रकार प्रिय भक्त। कुलदैवत को भजत। वैसा एकाग्रचित्त उपासत। स्त्री को जो।।९८।। साँच और चोख। देत सब स्त्री को अशेख। औरों को निर्वाह तक देख। नाहीं वह भी।।९९।। कोई देखे बुरी नजर से। या विरोध करे उससे। तब युगान्त होवें जैसे। माने जो।।८००।। दाद के डर से पार्थ। नाग देवता की मन्नत देत। वैसी पूर्ण करत मनोगत। स्त्री का सदा।।१।। किंबहुना किरीटि। स्त्री ही सर्वस्व जिसकी मति। और उससे जात संतति। विषय में प्रेम।।२।। और भी जो समस्त। उसकी संपत्ति जात। वह जीवन से भी आप्त। मानत जो।।३।। वह अज्ञान का मूल। अज्ञान को उससे बल। रहने दो वह केवल। अज्ञान रूप।।४।। और मत्त सागर में पार्थ। छोड़ दी तरी मुक्त। कल्लोल सहित अधोर्ध्व संतत। आंदोलत जैसी।।५।। वैसी प्रिय वस्तु पावे। अतिसुख से उन्मत्त होवे। वैसाही अप्रिय सहित रहे। धराशायी जो।।६।। ऐसी जिसकी चित्तवृत्ति। वैषम्य साम्य की चिन्ता किरीटि। वहन करे हे महामति। वह अज्ञान पूर्ण।।७।। और मेरे ठाँई भक्ति। फलप्राप्ति की जिसको आर्ति। धनोद्देशी की विरक्ति। जैसी पार्थ।।८।। अथवा कान्तमन पार्थ। करके स्वैरिणी संतुष्ट। सिद्ध जार के साथ। समागम को जैसी।।९।। वैसे भजत

मुझको किरीटि। पावरी करत मेरी भक्ति। किन्तु रखे अपनी दृष्टि। विषयों में जो।।८१०।। और ऐसी भक्ति सहित। विषय यदि न होवे प्राप्त। तब छोड़ो-छोड़ो यह कहत। झूठ सब।।११।। अधबँटाई कृषिक अर्जुन। वैसे पूजत दैवत भिन्न-भिन्न। करे स्वकुल दैवत के समान। उपचार जो।।१२।। ऐसा गुरुमार्ग ग्रहण करत। जो ऋद्धि-सिद्धि ऐश्वर्य युक्त। उसका ही मंत्र लेत। अन्य का नाहीं।।१३।। प्राणिजात को निष्ठुर। विश्वास बहुत पाषाण पर। वैसी नाहीं किसी एक पर। भक्ति जिसकी।।१४।। मेरी मूर्ति बनावे। घर के कोने में बिठावे। देव-देवी की जत्रा में जावे। स्वयं पार्थ।।१५।। नित्य मुझे आराधत। काज से कुलदैवत भजत। पर्वविशेष में करत। पूजा अन्य की।।१६।। घर में मेरा अधिष्ठान। मनौती अन्य की अर्जुन। पितृकार्य अवसर भजत पूर्ण। पितरों को जो।।१७।। एकादशी के दिन को। जितना महत्त्व मुझको। देवे उतना ही नागदेवता को। पंचमी दिन को।।१८।। देखे चांद चौथ का। होवे भक्त गणेश का। चौदस को कहे दुर्गाजी को। ''मां तेरा ही मैं''।।१९।। नित्य नैमित्तिक छाँडत। नवचंडी का घट स्थापत। आदित्य वार को परोसत। खिचड़ी भैरव को।।८२०।। पश्चात सोमदिन आवे। लेकर बेल लिंगतक धावे। ऐसा अकेला ही होवे। भक्त सबका।।२१।। अखंड करे भजन। स्तब्ध न रहे एक क्षण। ग्रामद्वार में सबके गुण। गाये गणिका जैसी।।२२।। ऐसा जो भक्त। देखो तुम स्वैर धावत। जानो अज्ञान का मूर्त। अवतार वह।।२३।। और पवित्र एकान्त। तपोवन तीर्थ तट। देखकर माने जो कष्ट। वो ही वह।।२४।। जिसको जनपद में सुख। भीड़भाड़ में

माने कौतुक। चाहे वर्ण लौकिक। वो ही वह।।२५।। और आत्मा जिससे होवे गोचर। ऐसी जो विद्या धनुर्धर। सुनते ही कर्ण बंद करे नर। ऐसा विद्वान जो।।२६।। उपनिषद को न पढ़त। योगशास्त्र न रुचत। अध्यात्मज्ञान में चित्त। नाहीं जिसका।।२७।। जहाँ केंद्रित आत्मज्ञान। ऐसी बुद्धि की भित्ति अर्जुन। गिराकर जिसका मन। दौड़े इतरत्र।।२८।। कर्मकांड तो जानत। पुराण सब मुखोद्गत। भविष्य होवे जैसा ही कहत। ऐसा ज्ञानी।।२९।। हस्तकला में अतिनिपुण। पाप कर्मों में भी प्रवीण। विधि अथर्वण। हस्तगत पूर्ण।।८३०।। कोकशास्त्र वश पार्थ। महाभारत कंठस्थ। आगम स्वाधीन समस्त। मूर्त होत।।३१।। नीतिशास्त्र में पारंगत। आयुर्वेद में निष्णात। काव्य नाटक में दूजा यथार्थ। चतुर नाहीं।।३२।। स्मृति की चर्चा जानत। गारुडी का दंशु जानत। निघंट प्रज्ञा कोष होत। पाइक जिसका।।३३।। जो वैय्याकरण में संपूर्ण। तर्कशास्त्र में प्रवीण। किन्तु आत्म ज्ञान में पूर्ण। जात्यंध जो।।३४।। उस एक अध्यात्म शास्त्र बिन। सिद्धान्त निर्माण धात्रा पूर्ण। जल जाये वह बालक मूल में उत्पन्न। पिता न देखे जिसको।।३५।। मयूर अंग में अशेष। पिच्छ रहत डोलस (नेत्रयुक्त)। किन्तु दृष्टिहीन सब खास। वैसा पांडित्य जिसका।।३६।। यदि परमाणु समान। संजीवनी मूल प्राप्त अर्जुन। तब गाड़ा औषधि का अन्य। भरना क्यों?।।३७।। आयुष्य बिन लक्षण। शीर्ष बिनु अलंकरण। बारात वरवधु बिन। विडंबन ही केवल।।३८।। अन्य शास्त्रों का गहन ज्ञान। बिन एक अध्यात्मज्ञान। वह अशेष अप्रमाण। धनुर्धर।।३९।। इसलिये सुन अर्जुन! विशेख। इस आध्यात्मज्ञान निःशेख। नहीं जिसको नित्यबोध देख।

शास्त्रमूढको।।८४०।। उसको जो यह शरीर प्राप्त। मानो अज्ञान का बीज वर्धित। उसका व्युत्पन्नत्व हुआ व्यर्थ। अज्ञान वल्ली सम।।४१।। वह जो जो बोलत। मानो अज्ञान ही प्रफुल्लित। उसके पुण्य को जो फल प्राप्त। अज्ञान ही वह भी।।४२।। और अध्यात्म ज्ञान पर। श्रद्धा न जिसकी सुवीर। वह न देखे ज्ञानार्थसार। सुनिश्चित।।४३।। ऐल तीर पर भी नहीं आवत। भगत पीछे निवर्तत। पैल द्वीप की उसको वार्ता पार्थ। कैसे होत?।।४४।। या जिस चोर का देहली में। काटा सिर गाड़ा वही गर्त में। वह धन भीतर घर में। देखे कैसे?।।४५।। वैसे अध्यात्म ज्ञान में संपूर्ण। अपरिचय जिसको अर्जुन। उसको ज्ञानार्थ दर्शन-। को विषय नाही।।४६।। अतः अब विशेष। न देखे वह ज्ञानतत्त्व अशेष। अंकलेखन से कहना बात को इस। अनावश्यक तुम्हें।।४७।। जब सगर्भ को परोसत। भीतर गर्भ उससे ही तृप्त। वैसे वर्णित पूर्व पद से ही स्पष्ट। यह भी पार्थ।।४८।। पृथक इसके बिन। अनावश्यक अन्य व्याख्यान। जैसे दिया अंधको निमंत्रण। पावे दूजे को भी।।४९।। एवं इसके विपरीत। अज्ञान चिन्ह पार्थ। अमानित्वादि प्रभृति यथार्थ। निरूपित सब।।८५०।। जो ज्ञानपद अठारह। उलटकर यदि किये समग्र। अज्ञान स्पष्ट साकार। पावत सहज।।५१।। पूर्वी श्लोकार्ध से (अज्ञानं यदतोऽन्यथा)। श्री मुकुंद कहत ऐसे। जो होवे उलट ज्ञान पद से। अज्ञान वही।।५२।। अतः इस प्रकार। किया मैंने विस्तार। नहीं तो दूध में पानी मिलाकर। बढ़ाना क्यों?।।५३।। वैसे मैं न बोलूं व्यर्थ। पद की सीमा न लांघत। मूल ध्वनितार्थ करने विस्तृत। हुआ निमित्त।।५४।। तब रुको कहत श्रोतागण।

रस निरसन का न कछु कारण। क्यों भय धरत अकारण। कविपोषका!।।५५।। तुम तो श्री अच्युत। जो कहत करो अब प्रकट। जो अभिप्राय गव्हर में गुप्त। रखा देवने।।५६।। वह देव का मनोगत। दिखावत हमको तुम मूर्त। वही कहते होत चित्त। सद्गद् तेरा।।५७।। तब ऐसा न कहना युक्त। हम सर्वथा संतुष्ट। जो ज्ञानतरी हमको प्राप्त। श्रवण सुख की यह।।५८।। अब इसके उपरान्त। जो वह श्री अच्युत। उपदेश निरूपत। कहो शीघ्र।।५९।। इस संत वाक्य सरिस। कहे श्री निवृत्तिदास। अब अवधारो खास। कहत कृष्ण जो।।८६०।। जो तुमने गुडाकेश। यह चिन्ह समुच्चय विशेष। सुना वह जानो अशेष। अज्ञान भाग।।६१।। इस अज्ञान विभाग-। को पीठ देकर हे सुभग। ज्ञान विषय में अंतरंग। करो दृढ़।।६२।। अब उस शुद्ध ज्ञान से। ज्ञेय की भेंट होगी मन से। वह जानने के भाव से। उत्कंठित पार्थ।।६३।। तब सर्वज्ञों का राव। जानकर उसका भाव। कहत सुनो श्रेय का अभिप्राय। बतलाऊं अब।।६४।।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।१२।।

वह ज्ञेय ऐसा कथन। वस्तु ही वह इस कारण। जो जानो ज्ञानबिन अन्य। उपाय से न प्राप्त।।६५।। और जानने उपरान्त। कुछ करना शेष पार्थ। वह ज्ञान ही तन्मयता पर्यन्त। लावत जिसको।।६६।। जो जानकर सुवीर। संसार रखकर तीरपर। जाना पेट में घुलकर। नित्यानंद के।।६७।। वह ज्ञेय, अर्जुन ऐसे ही। आदि जिसको नाहीं। और परब्रह्म सहज ही। नाम जिसको।।६८।। यदि नाहीं कहत। तब विश्वाकार में दिखत। और

यदि उसको विश्व मानत। तो माया यह।।६९।। रूपवर्ण व्यक्ति। नाहीं दृष्यादृष्य स्थिति। तब है वह कैसे, किरीटि। कहना उसको?।।८७०।। और साच यदि नाहीं। तब महदादि किसके ठाँई?। स्फुरत कैसे सबही। बिन उस पार्थ?।।७१।। अतः है नाही यह कथन। जो देखकर श्रुति हुई मौन। विचार की खंडित पूर्ण। राह जहां।।७२।। जैसे भांड घट कुंड में। तदाकार पृथ्वी उसमें। वैसी सर्व होकर सर्व में। रहे जो वस्तु।।७३।।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरेमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।१३।।

सर्व देशाकाल में सदा। देश काल से न पृथक कदा। क्रिया स्थूलास्थूल में सर्वदा। वही हाथ जिसके।।७४।। उसको इस कारण से। विश्वबाहु कहना ऐसे। जो सर्व, सर्वपन से। करे संतत।।७५।। और समस्त स्थान में अर्जुन। एक ही समय विद्यमान। इसलिये जिसको धारण। विश्वांघ्रिनाम।।७६।। जैसे सविता को अंग नेत्र। न होत पृथक-पृथक पार्थ। वह तो स्वस्वरूप से ही सकल देखत। सर्वदृष्टा जो।।७७।। अतः विश्वतः चक्षु। यह अचक्षु के ठाँई पक्षु। कहने को जो दक्षु। हुआ वेद।।७८।। जो सबके सिर ऊपर। नित्य वसत सर्वतः धनुर्धर। ऐसी स्थिति वश सुवीर। कहिये विश्वमूर्धा।।७९।। किंतु अरे! मूर्ति वही मुख। हुताशन जैसे देख। वैसे सब प्रकार से अशेख। भोक्ता जो।।८८०।। इसलिये उसको पार्था। विश्वतोमुख यह व्यवस्था। आई बाक्पथ में सर्वथा। श्रुति के सार्थ।।८१।। और वस्तुमात्र में गगन। रहे जैसा संलग्न। वैसे शब्दजात में कर्ण। सर्वत्र जिसके।।८२।। अतः हम उसको पार्थ। सर्वत्र श्रवणकर्ता कहत। एवं जो सर्वव्याप्त।

निरन्तर।।८३।। वैसे भी हे महामति। विश्वतः चक्षु आदि नामसे श्रुति। उसके इस व्याप्ति-। को बरनत स्वयम्।।८४।। सिवा हस्त नेत्र पाँव। यह भाष कैसे वहां होय?। शून्य का भी न साहे वह। निष्कर्ष जो।।८५।। पै कल्लोल को कल्लोल। ग्रासत क्वचित काल। किंतु ग्रसित, ग्रासक कल्लोल-। से क्या भिन्न होत?।।८६।। वैसे साचही जो एक। वहां क्या व्याप्य, व्यापक। पर समझाने को क्षणैक। कहनाही पड़त।।८७।। किंतु शून्य को जो दिखाना। तब बिंदुरूप से उसे लिखना। वैसे अद्वैत यदि शब्द से बताना। तब कीजे द्वैत।।८८।। वैसे तो देखो अन्यथा। गुरु-शिष्य सत्पथ को पार्था। प्रतिबंध होवे सर्वथा। होगी चर्चा ही बंद।।८९।। अतः श्रुतिभगवती पार्थ। द्वैतभावसे अद्वैत का समस्त। निरूपण का किया प्रवाहित। मार्ग प्रशस्त।।८९०।। वही अब सुनो साचार। इन्हीं नेत्रों से गोचर साकार। वह ज्ञेय ब्रह्म किस प्रकार। व्यापक होत।।९१।।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सवेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्त च।।१४।।

तब किरीटि वह ऐसा। अवकाश में आकाश जैसा। या पट में पट होकर एकसा। तंतु रहत।।९२।। उदक में उदक होकर। रस देखो जैसा धनुर्धर। दीपक में दीपपन से साचार। तेज जैसे।।९३।। कर्पुर में कर्पुरत्व से। वसत सौरभ जैसे। होकर शरीर शरीर में वैसे। क्रिया जैसी।।९४।। किंबहुना पांडवा। सुवर्ण ही सुवर्ण का रवा। वैसा जो स्वयं सर्वेसर्वा। सर्वांगमें व्याप्त।।९५।। परंतु रवारूप में पार्था। रवा सम ही भासत। किंतु सुवर्णरूप से यथार्थ। सुवर्ण ही वह।।९६।। देख जलौघ यद्यपि वक्र। पानी सरल हे

सुमित्र। वन्हिसे तप्त लोह, साचार। किंतु न होवे लोह।।९७।। घटाकार से आवृत। नभ वहां वर्तुलाकार ही भासत। देखे मठ में वही दिखत। चौकोर पार्थ।।९८।। किंतु वह आकाश जैसा। नाहीं घटमठाकारसा। विकार पाकर भी वैसा। न विकारी जो।।९९।। मनमुख्यादि इंद्रियां। सत्वादि गुणत्रया। सहित ऐसा धनंजया। भासत वैसा।।९००।। देख गुड़ का मीठापन। न उसके आकार में अर्जुन। वैसे इंद्रियाँ जान। ब्रह्म में नाही।।१।। अरे क्षीरकी दशा में। घृत रहत क्षीराकार में। किन्तु घृत क्षीर नाहीं मन में। जानो कपिध्वज।।२।। वैसे जो इन विकारों से भिन्न। न कभी विकार पावत अर्जुन। जैसे आकार भिन्नता से बिछिया, कंकण। अन्यथा सोना, सोना ही।।३।। इस प्राकृत में स्पष्ट। कहूं तुझको पार्थ। जो यह पृथकपन समस्त। गुणेंद्रियों से ही।।४।। नाम-रूप संबंध। जाति क्रिया भेद। यह आकार को ही प्रवाद। वस्तु को नाहीं।।५।। वहां न गुण कोई। गुण से उसका संबंध नाहीं। किंतु उसके ही ठाँई। आभास उनका।।६।। इसी कारण से अर्जुन। संभ्रान्त का मन। करे कल्पना ऐसी पूर्ण। जो गुणही वह।।७।। तब यह धारणा कैसी। अभ्र से आकाश को वैसी। या प्रतिवदन प्रियदर्शी। दर्पण से ही।।८।। नातर सूर्य मण्डल। धारण करत सलिल। या रश्मि किरण से मृगजल। धरना जैसे।।९।। वैसे ही कुछ संबंध बिन। सबको धारण करे निर्गुण। किंतु यह सब व्यर्थ अर्जुन। मिथ्या दृष्टि से।।९१०।। और इसविध निर्गुण से। गुण को भोगना वैसे। रंक ने राज्य करना जैसे। स्वप्न में पार्थ।।११।। अतः गुण का संग। अथवा गुणभोग। निर्गुण से इसका लाग। कहना न युक्त।।१२।।

निरन्तर।।८३।। वैसे भी हे महामति। विश्वतः चक्षु आदि नामसे श्रुति। उसके इस व्याप्ति-। को बरनत स्वयम्।।८४।। सिवा हस्त नेत्र पाँव। यह भाष कैसे वहां होय?। शून्य का भी न साहे वह। निष्कर्ष जो।।८५।। पै कल्लोल को कल्लोल। ग्रासत क्वचित काल। किंतु ग्रसित, ग्रासक कल्लोल-। से क्या भिन्न होत?।।८६।। वैसे साचही जो एक। वहां क्या व्याप्य, व्यापक। पर समझाने को क्षणैक। कहनाही पड़त।।८७।। किंतु शून्य को जो दिखाना। तब बिंदुरूप से उसे लिखना। वैसे अद्वैत यदि शब्द से बताना। तब कीजे द्वैत।।८८।। वैसे तो देखो अन्यथा। गुरु-शिष्य सत्पथ को पार्था। प्रतिबंध होवे सर्वथा। होगी चर्चा ही बंद।।८९।। अतः श्रुतिभगवती पार्थ। द्वैतभावसे अद्वैत का समस्त। निरूपण का किया प्रवाहित। मार्ग प्रशस्त।।८९०।। वही अब सुनो साचार। इन्हीं नेत्रों से गोचर साकार। वह ज्ञेय ब्रह्म किस प्रकार। व्यापक होत।।९१।।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्त च।।१४।।

तब किरीटि वह ऐसा। अवकाश में आकाश जैसा। या पट में पट होकर एकसा। तंतु रहत।।९२।। उदक में उदक होकर। रस देखो जैसा धनुर्धर। दीपक में दीपपन से साचार। तेज जैसे।।९३।। कर्पुर में कर्पुरत्व से। वसत सौरभ जैसे। होकर शरीर शरीर में वैसे। क्रिया जैसी।।९४।। किंबहुना पांडवा। सुवर्ण ही सुवर्ण का रवा। वैसा जो स्वयं सर्वेसर्वा। सर्वांगमें व्याप्त।।९५।। परंतु रवारूप में पार्थ। रवा सम ही भासत। किंतु सुवर्णरूप से यथार्थ। सुवर्ण ही वह।।९६।। देख जलौघ यद्यपि वक्र। पानी सरल हे

सुमित्र। वन्हिसे तप्त लोह, साचार। किंतु न होवे लोह।।९७।। घटाकार से आवृत। नभ वहां वर्तुलाकार ही भासत। देखे मठ में वही दिखत। चौकोर पार्थ।।९८।। किंतु वह आकाश जैसा। नाहीं घटमठाकारसा। विकार पाकर भी वैसा। न विकारी जो।।९९।। मनमुख्यादि इंद्रियां। सत्वादि गुणत्रया। सहित ऐसा धनंजया। भासत वैसा।।९००।। देख गुड़ का मीठापन। न उसके आकार में अर्जुन। वैसे इंद्रियाँ जान। ब्रह्म में नाही।।१।। अरे क्षीरकी दशा में। घृत रहत क्षीराकार में। किन्तु घृत क्षीर नाहीं मन में। जानो कपिध्वज।।२।। वैसे जो इन विकारों से भिन्न। न कभी विकार पावत अर्जुन। जैसे आकार भिन्नता से बिछिया, कंकण। अन्यथा सोना, सोना ही।।३।। इस प्राकृत में स्पष्ट। कहूं तुझको पार्थ। जो यह पृथकपन समस्त। गुणेंद्रियों से ही।।४।। नाम-रूप संबंध। जाति क्रिया भेद। यह आकार को ही प्रवाद। वस्तु को नाहीं।।५।। वहां न गुण कोई। गुण से उसका संबंध नाहीं। किंतु उसके ही ठाँई। आभास उनका।।६।। इसी कारण से अर्जुन। संभ्रान्त का मन। करे कल्पना ऐसी पूर्ण। जो गुणही वह।।७।। तब यह धारणा कैसी। अभ्र से आकाश को वैसी। या प्रतिवदन प्रियदर्शी। दर्पण से ही।।८।। नातर सूर्य मण्डल। धारण करत सलिल। या रश्मि किरण से मृगजल। धरना जैसे।।९।। वैसे ही कुछ संबंध बिन। सबको धारण करे निर्गुण। किंतु यह सब व्यर्थ अर्जुन। मिथ्या दृष्टि से।।९१०।। और इसविध निर्गुण से। गुण को भोगना वैसे। रंक ने राज्य करना जैसे। स्वप्न में पार्थ।।११।। अतः गुण का संग। अथवा गुणभोग। निर्गुण से इसका लाग। कहना न युक्त।।१२।।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत्।।१५।।

जो चराचर भूतजात-। में विद्यमान पंडुसुत। नाना वन्हि में दाहकत्व। अभेद जैसे।।१३।। अविनाशित्व भाव से। जो सबमें सूक्ष्मदशा से। रहे व्याप्त जानिये उसे। ज्ञेय यहां।।१४।। जो एक भीतर बाहिर। जो एक समीप और दूर। जिस एक बिन प्रकार। दूजा नाहीं।।१५।। क्षीरसागर का मधुरत्व। मध्ये बहु कमी तटपर पार्थ। ऐसा नहीं वह सर्वतः। पूर्ण जो।।१६।। स्वेदजादिप्रभृति। भिन्न भिन्न भूतजाति-। मध्ये जिसकी अनुस्युति-। को न्यूनत्व नाहीं।।१७।। किन्तु हे श्रोतृमुखतिलक!। घट सहस्र अनेक। मध्ये बिंबत चंद्रिका एक-। को न भेद जैसा।।१८।। नाना लवण कण राशी। किंतु क्षारता एक ही जैसी। एक और गट्ठेभर गन्ने में वैसी। मधुरता एक ही।।१९।।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१६।।

वैसे अनेक भूतजात में किरीटि। एकत्व से जिसकी व्याप्ति। विश्वरचनार्थ सुमति। आदिकारण जो।।९२०।। अतः यह भूताकार। जहां से वहीं उसका आधार। कल्लोल को सागर। जिस प्रकार।।२१।। बाल्यादि तीनों काल में। काया एकही सबमें। वैसे आदि स्थिति अंत में। अखंड जो।।२२।। सायं प्रातर्मध्याह्न। होत जात दिनमान। किंतु तीनों में जैसे गगन। न बदले कभी।।२३।। सृष्टि काल में प्रियोत्तमा। नाम जिसको ब्रह्मा। व्याप्ति काल में वही विष्णुनामा। होवे पात्र।।२४।। और जब आकार निरसत। तब रुद्र जिसको कहत। जब गुणत्रय लोपत। सो जो शून्य।।२५।। नभ का शून्यत्व निगलकर। गुणत्रय

को निरस्त कर। वह शून्य ही महाशून्य। श्रुतिवचन संमत।।२६।।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्।।१७।।

जो अग्नि का दीपन। जो चंद्रमा का जीवन। सूर्य के नयन। देखत जिससे।।२७।। जिसके प्रकाश से पार्थ। तारागण को तेज प्राप्त। महातेज जिससे प्रकाशत। शक्ति से जिसके।।२८।। जो आदि का आदि। जो वृद्धि की वृद्धि। बुद्धि की जो बुद्धि। जीव जीव का।।२९।। जो मन का मन। जो नेत्र के नयन। कर्ण के जो कर्ण। वाचा वाचा की।।९३०।। जो प्राण का प्राण। जो गति के चरण। क्रिया का कर्तापन। जिससे पार्थ।।३१।। आकार को जिससे आकार। विस्तार को जिससे विस्तार। संहार को जिससे संहार। पंडुकुमार।।३२।। जो मेदिनी की मेदिनी। जो पानी को जीवनदानी। दीप की दीपजलनी। तेज से जिस।।३३।। जो वायु का श्वासोच्छ्वास। जो गगन का अवकाश। और जो अशेष आभास। आभास से जिसके।।३४।। किंबहुना पांडव। जो सर्वही सर्व। जहां द्वैतभाव-। को प्रवेश नाहीं।।३५।। जो देखते ही तत्काल। दृश्य-दृष्टा यह निखिल। एकत्र होवे सकल। सामरस्य में।।३६।। तब वही होत ज्ञान। ज्ञाता-ज्ञेय अर्जुन। ज्ञान से साध्य जो स्थान। वह भी वह।।३७।। जब गिनती की समाप्ति। योग एक ही निश्चिति। साध्य-साधनादिक किरीटि। पावत ऐक्य।।३८।। गणना द्वैत की शेष नाहीं। अर्जुन जिसके ठाँई कुछ ही। जो हृदय में सबके सदा ही। वसत पार्थ।।३९।।

एवं तुझको प्रियमित्र। दिखाया आदि क्षेत्र। स्पष्ट रूप से विस्तृत। विवेचन से पूर्ण।।९४०।। वैसे ही क्षेत्रनंतर। खुली दृष्टि से देखोगे समग्र। वह ज्ञान भी धनुर्धर। निरूपित तुझको।।४१।। सकौतुक अज्ञान को। रूप किया निको। जब तक होवे श्रम बुद्धि को। कहोगे रुको अब।।४२।। और दृष्टांत से सांप्रत। उपपति से विस्तृत। निरूपित तुझको स्पष्ट। ज्ञेय जो।।४३।। यह संपूर्ण विवंचना। करके बुद्धि से अर्जुना। मत्सिद्धि भावना-। सहित मद्रूप होत।।४४।। देहादि परिग्रह से पार्थ। संन्यस्त होकर यथार्थ। जीव मेरे ठांई करत। वृत्तिक जो।।४५।। वे मुझको अंत में निश्चित। जानकर ज्ञेय स्पष्ट। होत स्वयं साटोबाट (परस्पर)। मत्स्वरूप।।४६।। मद्रूप प्राप्त्यर्थ। यह मुख्य रीति पार्थ। सुलभ सर्वतोपरि रचित। हमने स्वयं।।४७।। गिरीरोहण को सीढ़ी बनाना। अंतराल में मचान बांधना। या अथाह पानी में डालना। तरी जैसे।।४८।। वैसे सर्वत्र आत्मा। कहूं यदि तुम्हें वीरोत्तमा। न मानेगा मनोधर्मा। तेरा पार्थ।।४९।। अतः एक ही जो व्याप्त। चतुर्धा हमने विभाजित। जो दुर्बलत्व जानत। प्रज्ञा का तेरी।।९५०।। बालक को यदि जिमाना। ग्रास एक के बीस करना। वैसे एक ही चतुर्विध बताना। माना युक्त हमने।।५१।। क्षेत्र, एक का ज्ञान। ज्ञेय एक, एक अज्ञान। विभाग किये अवधान। जानकर तेरा।।५२।। और इस पर भी पार्थ। यदि अभिप्राय तुम न जानत। तब यही व्यवस्था सांप्रत। कहूं एक बार और।।५३।। अब चतुर्विध न मानो। एक भी न जानो। आत्मानात्म रखो दोनों।

समसम्मन।।५४।। किंतु एक तुम करना। जो मांगू मुझको देना। जो कर्ण ही नाम रखना। स्वयं का पार्थ।।५५।। सुनकर यह श्रीकृष्ण का कथन। रोमांकित हुआ पार्थ पूर्ण। देव कहत, अच्छा हुआ मन। स्थिर इसका।।५६।। ऐसा जब आवे उमंग। रोककर बोलत श्रीरंग। प्रकृति पुरुष विभाग। कहूं सुनो तुम।।५७।। जिस मार्ग को जग में अर्जुन। सांख्य कहत योगी जन। जिसका करने वर्णन। हुआ कपिल मैं।।५८।। वह सुनो निर्दोख। प्रकृति पुरुष विवेक। कहत आदि पुरुख। अर्जुन को।।५९।।

प्रकृति पुरुषं चैव विद्ध्यनादि उभावपि। विकारांश्च गुणाश्तचैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।।१९।।

वैसे पुरुष अनादि किरीटि। अनादि ही देखो प्रकृति। संचरत दोनों दिन राति। संग संग जैसे।।९६०।। देखो रूप नाहीं सत्य। किंतु छाया रूप के साथ। बीज जब बढ़त। बढ़े कण सह तुष।।६१।। वैसे जुड़वा सम पार्थ। दोनों यहां एक साथ। प्रकृति पुरुष प्रकटत। अनादि सिद्ध।।६२।। क्षेत्र के नाम से अर्जुन। जो जो बतलाया पूर्ण। वही यहाँ जानो पूर्ण। प्रकृति रूप।।६३।। और क्षेत्रज्ञ ऐसे। जो कहलाया उसे। जानिये पुरुष रूपसे। निःसंशय।।६४।। इनके अन्यान्य नाम पार्थ। किंतु निरूपण भिन्न न होत। यह लक्षण चित्त में रखो सतत। बारम्बार।।६५।। तब जो केवल सत्ता। वही पुरुष पंडुसुता। समस्त प्रकृति को तत्त्वता। नाम क्रिया।।६६।। बुद्धि इंद्रिया अंतःकरण। इत्यादि विकार भरण। और तीनों गुण। सत्वादिक।।६७।। यह समुदाय समस्त। बना प्रकृति पार्थ। यही कारण संभव यथार्थ। कर्म के लिये।।६८।।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुवयत्वे।।२०।।

वहां इच्छा और बुद्धि। सृजत अहंकार उपाधि। पश्चात् लगावे छंद में त्रिशुद्धि। विषयों को।।६९।। इसी कारण प्रीत्यर्थ। जो सूत्र गृहित पार्थ। उसको ही संज्ञा सार्थ। कार्य जानो।।९७०।। और इच्छा जब मद से युक्त। जगावत मन को सुप्त। जो इंद्रियों को प्रेरणा देत। जानो कर्तृत्व वही।।७१।। अतः यह तीनों को। कार्य कर्तृव्य कारण को। जानो मूल प्रकृति को। सिद्धराज कहे।।७२।। एवं तीनों के समवाय से। प्रकृति कर्मरूप होवे जैसे। किंतु वर्धत गुण बल से। होवे उसी समान।।७३।। जो सत्त्वगुण से सृष्ट। वह सत्कर्म निश्चित। रजोगुण से जो निर्मित। जानो मध्यम वह।।७४।। जो तम से केवल। वह कर्म सकल। निषिद्ध अधम निखिल। जानो उसको।।७५।। इसविध सत्-असत् कर्म प्रकृतिजन्य पार्थ। उन कर्मों से प्राप्त। सुख-दुख दोनों।।७६।। असत् से उपजत दुःख। सत्कर्म से सृजत सुख। भोग दोनों का लेत पुरुख। सांख्य मत यह।।७७।। सुख-दुख जब तक। उपजत सत्य एकेक। प्रकृति उद्यमरत तब तक। भोगत पुरुष।।७८।। प्रकृति पुरुष का यह संसार। विसंगत देखो अति विचित्र। जो आंबुली (स्त्री) करे सब व्यापार। खाये आंबुला (पुरुष) बैठ कर।।७९।। आंबुला आंबुली पार्थ। कभी न संजोग साथ। किन्तु आंबुली जग सृजत। नवल सुनो।।९८०।।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्। कारणं गुणसंड्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।२१।।

वह अनंग उदासीन। असंग धनहीन। जीर्ण अतिवृद्ध से भी अर्जुन। वृद्ध जानो।।८१।।

उसको नाम पुरुष देख। वैसे स्त्री या नपुंसक। इनमें से कुछ एक। यह निश्चित नाहीं।।८२।। वह अचक्षु अश्रवणु। अहस्तु आचरणु। रूप ना वर्णूं। नाहीं नाम भी।।८३।। जिसका कुछ भी नहीं अर्जुन। वह प्रकृति का भर्ता जान। ऐसे को भी भोगमान। सुख दुःख का।।८४।। वैसा यह अकर्ता। उदास अभोक्ता। किंतु बनावे यह पतिव्रता। भोक्ता उसको।।८५।। जैसे कोई स्त्री किंचित। स्वरूप गुण शृंगार सहित। विलक्षण खेल दिखावत। नचावे पुरुष को।।८६।। तब प्रकृति को तो इस। गुणमयी नाम खास। किंबहुना साक्षात अशेष। गुण ही यह।।८७।। प्रतिक्षण नित्य नूतन। रूप गुण युक्त अर्जुन। जड़ को भी करे मत्तपूर्ण। ऐसा मद इसका।।८८।। नाम सब इससे ही प्रसिद्ध। स्नेह इससे ही स्निग्ध। इंद्रिया प्रबुद्ध। इसीसे ही।।८९।। वैसे मन यह नपुंसक। किंतु भ्रमवत तीनों लोक। ऐसे ऐसे अलौकिक। कार्य इसके।।९९०।। यह भ्रमका महाद्वीप। यह व्याप्तिका रूप। विकार अनाप। किये इसने।।९१।। यह काम की मंड़पिका। यह मोहबन की वसंतिका। यह दैवी मायिका। नाम से प्रसिद्ध।।९२।। यह वाङ्मय की व्याप्ति। साकार की प्राप्ति। प्रपंच की चढ़ाई किरीटि। निरन्तर।।९३।। कला यहां से उत्पन्न। विद्या इसी के कारण। इच्छाज्ञान क्रिया पूर्ण। बियानी यह।।९४।। यह नाद की टकसाल। चमत्कार का घर केवल। किंबहुना यह सकल। खेल इसका।।९५।। जो उत्पत्ति प्रलय होत। वे इसके सायंप्रात। इतनी ही नहीं अति अद्भुत। मोहिनी यह।।९६।। यह अद्वैत की सहधर्मिणी। निःसंग की संगिनी। निरालंब की वासिनी। धनुर्धर।।९७।।

इसका यहां तक पार्थ। सौभाग्य व्याप्ति का प्रांत। इसीलिये वश करत। अनावर को यह।।९८।। उसके तो ठाँई। कतई कुछ भी नाहीं। तब भी होत उसका सबही। अनायास।।९९।। उस स्वयंभू की संभूति। उस अमूर्त की मूर्ति। स्वयं होत स्थिति। स्थान भी उसका।।१०००।। उस अनार्त की आर्ति। उस पूर्ण की तृप्ति। उस अकुल की जाति। गोत्र होत।।१।। उस अनर्च का चिन्ह। उस अपार का मान। उस अमनस्क का मन। होवे बुद्धि भी।।२।। उस निराकार का आकार। उस निर्व्यापार का व्यापार। निरहंकारीका अहंकार। होकर रहे।।३।। उस अनाम का नाम। उस अजन्मा का जन्म। कर्म-क्रिया स्वयम्। होवे उसकी।।४।। उस निर्गुण का गुण। अचरण के चरण। उस अश्रवण के श्रवण। अचक्षु के चक्षु।।५।। उस भावातीत के भाव। उस निरवयव के अवयव। किंबहुना होत सर्व। पुरुष का यह।।६।। ऐसी-ऐसी इसकी प्रकृति। अपनी सब व्याप्ति। सो उस अविकारी को विकृति। वश करत।।७।। वहां जो पुरुषत्व। वह इस प्रकृति दशा से प्राप्त। चंद्रमा अमावस में गुप्त। निस्तेज जैसा।।८।। विदल बहुत चोख (शुद्ध)। मीनत वाल से एक। होवे पंधरा से पांच का देख। कस जैसा।।९।। साधु के अंग में पिशाच्च पार्थ। संचरके कुकर्म में करे प्रवृत्त। नभमंडल सुदिन को करत। दुर्दिन जैसा।।१०१०।। जैसे पय पशु पेट में। अथवा वन्हि काष्ट में। या आवृत पट में। रत्नदीप।।११।। राजा पराधीन हुआ। या सिंह रोगजर्जर भया। वैसा पुरुष ने प्रकृति संग पाया। खोवत स्वतेज वह।।१२।। जागता नर सहसा। निद्राधीन होवे जैसा। स्वप्न के

भोग से एकसाथ। होवे वशीभूत वह।।१३।। वैसे प्रकृति आधीन। पुरुष का गुणभोग अर्जुन। होवे उदास अंतुरी (स्त्री) गुण। कामवश जैसा।।१४।। वैसे इस अज नित्य को होवे। अंग जन्म-मृत्युके घाव सहे। जब गुणसंग लाहे। प्रकृति का वह।।१५।। परंतु वह कैसा पंडुसुत। जैसा पीटत लोह तप्त। बोलत वन्हीं पर होत। आघात धनुर्धर।।१६।। या आंदोलत उदक। प्रतिमा होवे अनेक। वह अनेकत्व आरोपत लोक। चंद्रपर जैसे।।१७।। दर्पण के समीपत्व से। आवे दूजेपन मुख को जैसे। या कुंकुम स्फटिक रखने से। पावे लोहितत्त्व वह।।१८।। वैसे इस गुण संगसे पार्थ। अजन्मा यह जन्म पावत। केवल भास ऐसा होवत। अन्यथा नाहीं।।१९।। अधमोत्तम योनियां कौन्तेय। इनको ऐसा ही मानो भाव। जैसे संन्यासी स्वप्न में होय। अंत्यजादि जाति।।१०२०।। अतः यह केवल पुरुष। न इसे होना, भोगना देख। यहां गुणसंग ही अशेख। मूल जानो।।२१।।

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।२२।।

यह प्रकृतिमध्य स्थित। किंतु जुही के आधार स्तंभवत। प्रकृति इस बीच अंतर पार्थ। पृथ्वी नभ समान।।२२।। प्रकृति सरिता तीर पर। मेरु यह सुवीर। बिंबत न बहत पर। जलौघ से।।२३।। प्रकृति होत जात। यह तो अनादि अनन्त। अतः आब्रह्मका स्वतः। शास्ता यह।।२४।। प्रकृति इससे पाये जीवित। इसकी सत्ता से जग सृजत। इसलिये इसका पार्थ। भ्रतार यह।।२५।। अनंत काल से किरीटि। जितनी होवे सृष्टि। रीगत इसमें समष्टि। कल्पान्त समय में।।२६।। यह महदब्रह्म गोसावी पार्थ। ब्रह्मगोल का सूत्रधार

सार्थ। अपारपन से आजमावत। प्रपंच को।।२७।। किंतु इस देह में। परमात्मा जो इसमें। कहत वह जानिये सबमें। इसीको ही।।२८।। अरे प्रकृति के परतः। कोई एक पंडुसुत। ऐसा प्रवाद जो तत्त्वतः। पुरुष ही वह।।२९।।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह। सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।२३।।

इसविध जो चोखेपन से। जानत इस पुरुष को ऐसे। और गुणकर्म पूर्ण रूप से। प्रकृति के सब।।१०३०।। यह रूप या छाया। पैल जल यह माया। निर्णय ऐसा धनंजया। कीजे जैसा।।३१।। उसी प्रकार अर्जुन। प्रकृति पुरुष विवेचन। गोचर होवे पूर्ण। मनको जिसके।।३२।। वह इस शरीर से। करे सकल कर्म जैसे। न होवे मलिन आकाश धूल से। वैसा ही वह।।३३।। प्राप्त हुआ देह यह। परंतु न ग्रासत देहमोह। न पावे जन्म जब नष्ट देह। पुनरपि वह।।३४।। इस प्रकार उसको एक। प्रकृति पुरुष विवेक। उपकार अलौकिक। होवे पार्थ।।३५।। परन्तु अन्तर में सुवीर। भानु सम यही विचार। उदित करे ऐसे प्रचुर। उपाय सुनो।।३६।।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना। अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।२४।।

कोई एक हे सुभट। विचार अंगीठा में सतत। आत्मानात्मरूप कीट। को पुट देकर।।३७।। छत्तीस प्रकार भेद। तोड़कर निर्विवाद। छांटत शुद्ध। तत्त्व स्वतः।।३८।। उस आत्मस्वरूप ज्ञान में किरीटि। आत्मज्ञान की लगाकर दृष्टि। निरखत निश्चिति। स्वयं कोही।।३९।। और कोई दैवयोग से। चित्त देत सांख्ययोग से। कोई एक अंगलगसे।

कर्ममार्ग के।।१०४०।।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते। तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।२५।।

इन इन प्रकार से। निस्तरत साचोकार से। इस भवभय भ्रांति से। सब वे।।४१।। परंतु वे इसविध वर्तत। जो अभिमान देश को भगावत। एक पर विश्वास करत। सुनत बोल उसके।।४२।। जो हिताहित सोचत। शिष्य हानी से दुखी होत। पूछकर संशय हरत। देतसुख।।४३।। उसके मुख से जो स्त्रवत अर्जुन। अति आदर से वह करत श्रवण। सुनकर होवत तल्लीन। अंग मन से।।४४।। उस श्रवण को ही समग्र। जानत साधन उपकार। जीव उन अक्षरों पर। निछावर करत।।४५।। इसविध हे कपिध्वज!। इस मरणार्णव समाज-। से पार होत सहज। उत्तम रीति से।।४६।। ऐसे-ऐसे ये उपाय। बहुतेरे यहां कौन्तेय। उपस्थित लाभाय। वस्तु के एक।।४७।। अब रहने दो यह बहुत। यह सर्वार्थ का मथित। सिद्धांत नवनीत। दूं मैं तुझको।।४८।। इससे ही पंडुसुत। अनुभव सहज प्राप्त। और इसके प्राप्त्यर्थ। सायास नाही।।४९।। अतः बुद्धि से करे वर्णन। मतवाद का खंडन। करे शुद्ध विवरण। फलितार्थ का।।१०५०।। तब क्षेत्रज्ञ इस नाम से पार्थ। आत्मतत्त्व तुझको दिखाया सार्थ। और क्षेत्र भी यथार्थ। कहा पूर्ण।।५१।।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वंस्थावरजङ्गमम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।।२६।।

उनके परस्पर मेल से। सृजत भूतजात सब एकसे। अनिल संग से उठत जैसे। कल्लोल सलिल में।।५२।। अथवा तेज और उखर। मेल जब होवे सुवीर। मृगजल का

पूर। निर्माण होत।।५३।। नाना मेघ वर्षा से। आर्द्र जब वसुंधरा उनसे। प्रस्फुटत अंकुर जैसे। नानाविध।।५४।। वैसे चराचर संपूर्ण। जो कुछ जीव नाम से पूर्ण। वह उभय संयोग से उत्पन्न। जानो यह।।५५।। इसलिये किरीटि। क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-। से समस्त भूतव्यक्ति। भिन्न न होत।।५६।। वैसे तो पटत्व तंतु नाही। किंतु तंतु से ही वही। ऐसी सखोल दृष्टि से सबही। ऐक्य देखो।।५७।।

समं सर्वेषुभूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।२७।।

भूत सकल अर्जुन। एकसे ही उत्पन्न। किंतु उनकी प्रतीति भिन्न। जानो तुम।।५८।। इनके नाम भिन्न। न्यारा इनका वर्तन। वेष भी भिन्न-भिन्न। इनके पार्थ।।५९।। ऐसा देखकर किरीटि। यदि मानोगे सत्य प्रवृत्ति। तब जन्म शतकोटी। न उबारोगे तुम।।१०६०।। नाना प्रयोजनशील। दीर्घ वक्र वर्तुल। होत एकही के फल। तुंबिनी के।।६१।। शाखा ऋजु या वक्र। किंतु बेरी की ही समग्र। वैसे टेढ़े-मेढ़े भूतमात्र। किंतु वस्तु ऋजु।।६२।। अंगारकण में बहुवस जैसी। उष्णता समाहित एकसी। वैसी नाना जीवराशि। किंतु पुरेशु एक।।६३।। गगन भर में धारा। किंतु पानी एक ही सुवीरा। वैसा इस भूताकार में पूरा। सर्वांग में वह।।६४।। यह भूतग्राम विषम। परंतु वस्तु यहां सम। घटमठ में व्योम। जिस प्रकार।।६५।। जब यह नाशत भूतभास। आत्मा तो अविनाश। जैसे केयूरादिकी कस। सुवर्ण का।।६६।। एवं जीवधर्म हीन। जो जीव से अभिन्न। देखो वह सुनयन!। ज्ञानियों में पार्थ।।६७।। ज्ञानचक्षु से वीरेश। चाक्षुसों में चाक्षुस। स्तुति नाहीं बहुवस। भाग्यवान

वह।।६८।।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्। न हिनस्त्यात्मनान्मानं ततो याति परां गतिम्।।२८।।

यह गुणेंद्रिय की पेटी। देह धातुकी त्रिकुटि। पंचतत्त्व के मेल से किरीटि। दारुण यह।।६९।। यह पंचलूम की बिच्छी अर्जुन। लगावे पंचधा अगन। प्राप्त जीवपंचानन-। को हिरन कुटि यह।।१०७०।। ऐसे समर्थ शरीर में। क्यों न नित्यबुद्धि की छुरी उसमें। अनित्यभाव के उदर में। न भोंकत वह।।७१।। तथापि इस देह में पार्थ। जो न करे अपना घात। और अन्त में निश्चित। मीनत वही।।७२।। जहां योगज्ञान की प्रौढ़ी किरीटि। लांघकर योगी जन्म कोटी। निकलेंगे न ऐसी उक्ति। बोलत प्रतिज्ञापूर्वक।।७३।। जो आकार का पैल तीर। जो नाद की परिसीमा सुवीर। तूर्याका मध्यघर। परब्रह्म जो।।७४।। मोक्ष सहित गति। पावत जहां विश्रांति। गंगादि आपापति-। को सरिता जैसे।।७५।। वह सुख इसी देह में पार्थ। पांवप्रक्षालन को प्राप्त। जो भूतवैषम्य से न होत। विषमबुद्धि।।७६।। दीप कोटि जैसे। किंतु तेज एक ही वैसे। विद्यमान ईशभाव से। सर्वत्र जो।।७७।। इसविध समत्व से पंडुसुत। जिये तो इस बूझ के साथ। वह मरण और जीवित-। से होवे मुक्त।।७८।। अतः वह विशेष दैववान। वर्णु उसको बारबार अर्जुन। जो साम्यसेज पर करे शयन। निरन्तर।।७९।।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।२९।।

और मन बुद्धि प्रमुख। कर्मेंद्रियां अशेख। करे प्रकृति ही देख। सत्य जाने जो।।१०८०।।

गृहवासी गृह में रहाटत। गृह तो न कुछ करत। अभ्र अंबर में दौड़त। अंबर तो स्तब्ध।।८१।। तैसी प्रकृति आत्मप्रभा। खेलत गुणमयी विविधारंभा। यह आत्मा तो आश्रयखंभा। कौन न जाने?।।८२।। इसविध अनुभव से अर्जुन। हिय में जिसके प्रकाशत ज्ञान। अकर्ता को पूर्ण। जाना उसने।।८३।।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति। तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा।।३०।।

वैसे जब हे अर्जुन!। होवे ब्रह्म संपन्न। तब यह भूताकृति भिन्न। दिखत एकरूप।।८४।। लहरें जैसी जल में। परमाणुकणिका स्थल में। रश्मीकिरण सूर्य में। जैसी पार्थ।।८५।। नातर देह में अवयव। मन में सब भाव। विस्फुल्लिग सावेव (सर्व)। वन्हीं में एक।।८६।। वैसे प्राणिजात उत्पन्न एकसे। दृष्टि में भाव यह स्थिर जैसे। तबही ब्रह्म संपत्ति का निश्चित से। जहाज पाये।।८७।। तब जहां तहां पार्थ। दृष्टि ब्रह्ममय देखत। किंबहुना होवे प्राप्त। अपारसुख।।८८।। इस प्रकार कौन्तेय। प्रकृति-पुरुष व्यवस्था यह। कथित निश्चित अनुभव। दृष्टान्त से तुझको।।८९।। अमृत हाथ में आया जैसे। या निधान देखा दृष्टि से। मानिजे यह लाभ वैसे। धनुर्धर।।१०९०।। ऐसी जो हुई प्रतीति। न हो जाओ उसमें स्थिरमति। न ऐसा करो सुभद्रापति। इतने में अभी।।९१।। क्योंकि एक दो और बोल। कहूंगा तुझको सखोल। गिरवी रखकर मन को निखिल। लेना वह।।९२।। ऐसा कहकर श्रीरंग। प्रारंभ करत कथन सुरंग। तव अवधानमय सर्वांग। होत पार्थ।।९३।।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। शरीस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।३१।।

तब परमात्मा जो कहिये। वह इस स्वरूप से जानिये। जल में जल से न लिप्त होवे। सूर्य जैसा।।९४।। जल के पूर्व और पश्चात। वह तो रहत ही पार्थ। मध्ये बिंबत तब ही दिखत। औरों को वह।।९५।। वैसे आत्मा देह में अर्जुन। विद्यमान यह कथन। सांच नाहीं जान। जहां का वहीं वह।।९६।। दर्पण में मुख जैसे। बिंबत तब नाम वैसे। देह में रहना तैसे। आत्मतत्त्व को।।९७।। उसका देहका मेल पार्थ। बात यह सर्वथा व्यर्थ। वायु और बालु का साथ। संभव कैसा?।।९८।। अग्नि और कपास में जैसे। पिरोना धागा कैसे?। कैसे जोड़ना पाषाण से-। आकाश को?।।९९।। चले एक पूर्वदिशा को। जाये एक पश्चिम को। मेल समान उनको। संबन्ध यह।।११००।। प्रकाश और अंधेरे का। जो भेद मृत-जीवित का। वही आत्मा देहका। जानो तुम।।१।। रात्रि एवं दिवस। कनक और कपास। नहीं जैसा सादृष्य। वैसा ही इसको।।२।। देह तो पंचभूत से सृष्ट। कर्मगुण से ग्रथित। भवचक्र में स्थित। जन्म-मृत्युके।।३।। यह कालानल के कुण्ड में पार्थ। मक्खन का पिंण्ड पड़त। या मक्षिका पंखुड़ि झाड़त। उतने में ही नष्ट।।४।। या अग्नि में गिरत क्वचित। तब भस्मी होकर उड़त। यदि श्वान को प्राप्त। होवे विष्टा यह।।५।। यदि चूकत दोनों काज। तब होवे कृमी का पुंज। यह परिणाम कपिध्वज। कश्मल अति।।६।। इस देह की ऐसी दशा। और आत्मा तो यहां ऐसा। नित्य शुद्ध सहज सा। अनादिपन से।।७।। सकल या निष्कल। अक्रिय या क्रियाशील। कृश ना स्थूल। निर्गुणपन से।।८।। आभासू ना निराभासु। प्रकाशु ना अप्रकाशु। अल्प ना बहुवसु। अरूपपन से।।९।। रीता ना

भरित। रहित ना सहित। मूर्त ना अमूर्त। शून्य पन से।।१११०।। आनन्दु ना निरानन्दु। एकु ना विविधु। मुक्तु ना बद्धु। आत्मपन से।।११।। इतना ना उतना। स्वयंभ ना किससे बना। मौनी या बोलता ना। अलक्षपन से।।१२।। सृष्टिसहित न सृष्ट। सर्व संहार में न नष्ट। है नहीं दोनों का पार्थ। पंचत्व जो।।१३।। नापे न बरनवत। बढ़त न घटत। न होवे खर्च न बिगड़त। अव्ययपन से।।१४।। एवं रूप वह आत्माराम। देह में जो रहत प्रियोत्तम। वह मठाकार से व्योम। संज्ञा जैसी।।१५।। वैसी उसकी अनुस्युति। तब होत जात देहाकृति। धरत न त्यागत सुमति। रहे स्वस्वरूप सा।।१६।। अहोरात्र, जैसे। आवे जावे अंबर में वैसे। आत्मसत्ता से तैसे। देहधारण जानो।।१७।। अतः इस शरीर में पार्थ। न कछु करे ना करवत। कोई सहजव्यापार में क्वचित। सज्ज न होत।।१८।। इसलिये स्वरूप को पार्थ। न्यून अधिक विकार न संभवत। इतना ही नहीं वह न लिप्त। देह से देह में।।१९।।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।३२।।

कहो नहीं कहां आकाश?। कहां न इसका प्रवेश?। किन्तु किसीसे भी न इसको क्लेश। धनुर्धर।।११२०।। वैसा सर्वत्र सर्व देहमें। आत्मा वास करे उनमें। किन्तु संगदोष से एक भी उसमें। न होवे लिप्त।।२१।। अतः पुनः-पुनः यहां पार्थ। यही शुद्ध लक्षण निश्चित। जो जानिये क्षेत्रज्ञ को सार्थ। क्षेत्रविहीन ही।।२२।। संसर्ग से लोह चेष्टत। किंतु लोह भ्रामक न होत। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ को वैसा ही भिन्नत्व। धनुर्धर।।२३।। दीपक की

ज्योति से अर्जुन। गृहव्यवहार होवे पूर्ण। किंतु पृथकत्व कोटिगुण। दीप और गृहको।।२४।। काष्ट के पेट में किरीटि। वन्हि रहे निश्चिति। किंतु वह न काष्ट यह दृष्टि। रखिये यहां।।२५।। अंतर नभ-अभ्र में। या सूर्य और मृगजल में। यदि देखे आत्मा देह में। विवेक चक्षु से।।२६।।

यथा प्रकाशत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।३३।।

और तो और एक। गगन में जैसा अर्क। प्रकाशत नाना लोक। भारत जो।।२७।। वैसे जानिये क्षेत्रज्ञ को। प्रकाशक क्षेत्राभास को। मनमें न रखो शंका को। और न पूछो कुछ।।२८।।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा। भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।३४।।

शब्द तत्त्व सारज्ञा!। वह ही चाक्षुषी प्रज्ञा। जो क्षेत्र क्षेत्रज्ञ-। का भेद देखे।।२९।। इन दोनों में अंतर। जानने को चतुर। आराधत द्वार। ज्ञानियों का।।११३०।। इस प्रीत्यर्थ सुमति। जोड़त शांति संपत्ति। शास्त्र की दुधार धेनु किरीटि। पालत घर में।।३१।। इसी ज्ञान के प्रीत्यर्थ। इसी आशा से पुरुष पार्थ। बड़े धैर्य से चढ़त। योगाकाश वे।।३२।। शरीरादि समस्त। मानत तृणवत। जीव से संतों के होवत। पादुकाधारी।।३३।। ऐसे-ऐसे प्रकार की। सामग्री ज्ञान की। जुटाकर निजान्तर की। निःसंशय होत।।३४।। तब क्षेत्र क्षेत्रज्ञका। देखत अन्तर उनका। उन्मेख पर उनके स्वयं का। ज्ञान उतारे हम।।३५।। और महाभूतादिक। विकार विशेष से अनेक। विस्तारित जग में अशेख। झूठी प्रकृति यह।।३६।।

जो शुकनलिका न्याय से। अलिप्त को लिपटत जैसे। यह स्व-प्रज्ञाबल से। जाने जो।।३७।। जैसी माला तो माला ही पार्थ। ऐसी ही दृष्टि देखत। जब मिथ्या भ्रम नाशत। सर्पबुद्धिका।।३८।। अथवा शुक्ति तो शुक्ति। यह साच होवे प्रतीति। जब रुपया की भ्रान्ति। होत नष्ट।।३९।। वैसा पृथक पृथकपन। प्रकृति का सान्तःकरण। देखत वे होत ब्रह्मपूर्ण। कहूं मैं।।११४०।। जो आकाश से महान। अव्यक्त का पैलतीर अर्जुन। आत्मत्त्व से साम्यासाम्य भिन्न। होने न देत।।४१।। आकार जहां लोपत। जीवत्व जहां विरमत। द्वैत जहां न बचत। अद्वय जो।।४२।। जो परमतत्त्व पार्था। होत वे पुरुष सर्वथा। आत्मानात्म व्यवस्था-। के राजहंस जो।।४३।। ऐसा यह सर्व। जीव का जीव जो पांडव। दिया उसको अनुभव। हृद्गत का अपने।।४४।। एक कलश का दूजे में जैसा। उड़ेलना जिस प्रकार वैसा। श्री हरिने अपना तैसा। दिया उसको।।४५।। और किसको देत कौन?। वह नर वही नारायण। कहत अर्जुन को श्रीकृष्ण। जो तुम वही मैं।।४६।। क्यों मैं कहूं यह व्यर्थ। बिन पूछे नृपको (धृतराष्ट्र) यह बात। किन्तु दिया अर्जुन को समस्त। सर्वस्व देव ने।।४७।। तथापि वह पार्थ मन में। अब भी तृप्ति न माने। अधिकाधिक तृष्णा मन में। बढ़ावत जांत।।४८।। स्नेह की भरमार से। प्रदीप्त दीप को तेज अधिक जैसे। सुनकर अर्जुन अन्तर में वैसे। वर्धत इच्छा।।४९।। सुगरन और उदार। अतिथि रसज्ञ चतुर। हस्त बढ़ावत परस्पर। धनुर्धर।।११५०।। वैसे देव को घटित, पार्थ। श्रवण को उत्कंठित। देखत-देखत चौगुन बढ़त। व्याख्यान उनका।।५१।। सुवायु से मेघ भरत।

चंद्रसे सिंधु को ज्वार आवत। वैसे मत्त रस वर्धत। उत्सुक श्रोताओं से।।५२।। अब आनंदमय पूर्ण। करेंगे, देव विश्व संपूर्ण। सुनो राजा देकर अवधान। संजय कहे।।५३।। एवं जो महाभारत में। अप्रान्तमति श्री व्यास ने। भीष्म पर्व संगत में। कही कथा।।५४।। वह श्रीकृष्णार्जुन संवाद। प्राकृत भाषामें विशद। कहकर दिखाऊं प्रबंध। ओवियों का।।५५।। केवल यह शांतिरस कथा। लगाऊं मैं वाक्पंथा। जो शृंगार के भी माथा। रखे पाँव।।५६।। दिखाऊं प्रिय देशी में नूतन। जो साहित्य को होवे भूषण। अमृत को लावे न्यून। माधुर्य से अपने।।५७।। बोलकी आर्द्रतागुण से। चंद्र ही झरत जैसे। रसरंग, भुलावत वैसे। लोपत नाद ब्रह्म।।५८।। खेचरों के भी मनको। लाये भर कर सात्त्विक को। श्रवण सहित सुमन को। समाधि प्राप्त।।५९।। वैसा वाग्विलास विस्तार से। भर विश्व गीतार्थ से। आनंद का आवास जैसे। बांधे जग में।।११६०।। नाश हो विवेक का दैन्य। हो सफल कर्ण, मनका जीवन। दिखे सबको खान। ब्रह्म विद्या की।।६१।। देखे परतत्त्व नयन। उदित हो सुख का सुदिन। होवे ब्रह्मबोध के सुकाल में मगन। विश्व पूर्ण।।६२।। होगा सब यह सद्य निर्माण। ऐसे सुंदर बोलूं वचन। जो अनुगृहीत परम देव से पूर्ण। श्रीनिवृत्ति से मैं।।६३।। प्रत्येक अक्षर में सन्तवर। लगे कवित्त्व उपमा की भीर। प्रतिपद का वरनु सार। गीतार्थ का मैं।।६४।। यहां तक मुझको संतजन!। सारस्वत से परिपूर्ण। किया सब शास्त्र निपुण। श्रीमंत गुरुराजने।।६५।। उस कृपा सहाय से श्रोतागण। बोलूं जितना अपनाओगे पूर्ण। और होऊंगा पात्र निश्चित पूर्ण। गीतार्थ कथन को।।६६।। और आप संतों के पद। पाये

आज मैंने शुभद। अतः न कोई प्रतिबन्ध। आवेगा कभी।।६७।। प्रभूजी! सरस्वती को मूक । कौतुक से भी न उपजे वैसा बालक। न ही न्यून सामुद्रिक। लक्ष्मी सन्निध।।६८।। वैसे आप संतों के पास। कैसी अज्ञान की बात खास। इसीलिंये अब नवरस-। की वर्षा करूं मैं।।६९।। किंबहुना अब देव। अवसर मुझे दीजे अपूर्व। जो उत्तम कहे ज्ञानदेव। कहूंगा ग्रंथ मैं।।११७०।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे प्रकृतिपुरुषविवेकयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।
(श्लोक ३४; ओवियाँ ११७०)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।

।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – चौदहवाँ

जय जय आचार्या!। समस्त सुरवर्या!। प्रज्ञाप्रभातसूर्या!। सुखोदया!।।१।। जय जय सर्व विश्रामिया। सोऽहंभावसुहावया। नाना लोक हेलाविया। समुद्र आप।।२।। सुनो हे आर्तबंधु। निरंतरकारुण्यसिंधु। विशदविद्यावधु-। वल्लभ जो।।३।। आप जिनके प्रति छिपत। उनको विश्व सत्य प्रतीत। जिनको प्रकट तब दिखावत। स्वरूपमय सर्व।।४।। प्रेक्षक की नजर चुराना। यह तो नजरबंदी करना। किंतु नवल विलक्षण प्रभो अपना।

स्वस्वरूप चोर आप।।५।। जी! आप ही आप इन सबको। किंतु मायाबोध किसी को। ऐसे जो आप गारुड़िको। प्रणाम मेरा।।६।। जानो आपके आर्दत्व-। से पानी को उसका सुरसत्व। आप से ही क्षमत्व। पृथ्वी को प्रभु।।७।। रविचंद्रादि शुक्ति (सीप)। उदय करत त्रिजगती। वह आपकी ही दीप्ति। दे तेज तेजको।।८।। वायु का संचार समस्त। आपके देवत्व से ही सार्थ। नभ आप में ही खेलत। लुका छिपी।।९।। किंबहुना माया आप में अशेष। ज्ञान आप से चाक्षुस। वर्णन आपका सायास। श्रुति को भी।।१०।। वेद वर्णन में चतुर सुरंग। जब तक न देखे अंतरंग। तब वे हम एकसंग। धरे मौन।।११।। जी! एकार्णव के ठाँई। प्रलय मेघ को ठाव नाही। महानदी का भी न कोई। अस्तित्व पृथक।।१२।। या उदित जब भास्वत। चंद्र वैसा ही खद्योत। वर्णन को हम श्रुति को सार्थ। योग्यता एक।।१३।। जहां द्वैत का ठाँव मोड़त। परासहित वैखरी डूबत। ऐसे आपका वर्णन होत। किस मुख से प्रभो?।।१४।। इसलिये सांप्रत। स्तुति छांड के निवान्त। चरण में रखूं माथ। वही युक्त।।१५।। तब आप जैसे हो यथार्थ। नमन गुरुराज समर्थ। मुझको ग्रंथोद्यम प्रीत्यर्थ। साहूकार होईजे।।१६।। आप कृपा मुद्दल छोड़िये। मन्मति थैली में भरिये। ज्ञानपद्य दीजिये। लाभ मुझको।।१७।। उससे करूं मैं वर्णन। करूंगा संतों को कर्ण-। भूषण पहिनाऊं सुलक्षण। विवेक के मैं।।१८।। जी! गीतार्थ निधान। निकाले मेरा मन। डालो ऐसा स्नेहांजन। अपना आप।।१९।। यह वाक्सृष्टि एक समय। देखे मम बुद्धिचक्षु सदय।। होवे अब शुद्ध उदय। कारुण्य बिंब का।।२०।। मेरी

प्रज्ञावल्ली वेल्हाल (सुन्दर)। काव्य फल से होगी सफल। होवे वसंत स्नेहल। श्रेष्ठ आप।।२१।। प्रमेय महापूर से। मतिगंगा मेरी भरे जैसे। बरसो ऐसी कृपादृष्टि से। अपार आप।।२२।। अहो विश्वैकधामा!। आप का प्रसाद चंद्रमा। करे मुझको पूर्णिमा। स्फूर्ति की, जी!।।२३।। आप जब अवलोकत मुझको। आवे भर उन्मेष सागर को। ज्वार रसवृत्ति को। उमड़ेगी स्फूर्ति।।२४।। तब संतुष्ट गुरुराज। कहत लेकर विनती का ब्याज। बढ़ावत द्वैतकाज। स्तवन मिष से।।२५।। रहने दो अब यह व्यर्थ। वह सुंदर ज्ञानार्थ। विशद करो ग्रंथ। न करो उत्कंठा भंग।।२६।। जी वैसा ही होगा स्वामी। यही सोचूँ मैं अंतर्यामी!। जो श्रीमुख से हो आज्ञा नामी। ग्रंथ कथन की।।२७।। पहले ही दुर्वांकुर। स्वभावतः अमर। उस पर वर्षत पूर। पीयूष का अब।।२८।। अब तो पाया प्रसाद। करुं विन्यास विदग्ध। मूलशास्त्र पद। प्रशंसू मैं।।२९।। जिससे जिवान्तर की समस्त। संदेह नौका डूबत। श्रवण की चाह वर्धत। श्रोताओं की।।३०।। बोली वैसी मेरी। करे प्रकट माधुरी। भिक्षा मांगकर द्वारी। गुरुकृपा के।।३१।। पीछे त्रयोदश में। बात उस अध्याय में। अर्जुन को श्रीकृष्ण ने कथा में। कही ऐसी।।३२।। जो क्षेत्र क्षेत्रज्ञ योग से। सृजत यह जग जैसे। होवे आत्मा गुण संग से। संसारिया।।३३।। और यही प्रकृति गत। सुख दुःख भोग प्राप्त। अन्यथा गुणातीत। केवल यह।।३४।। तब कैसा इस असंग को संग। कैसा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ। सुख दुःखादि भोग। कैसा इसको?।।३५।। गुण कितने कैसे। बांधत कौन रीति से। और चिन्ह कैसे। गुणातीत के।।३६।। एवं सब इसी प्रकार। अर्थ का निरूपण

साचार। वर्णन विषय सार। चतुर्दश अध्याय में।।३७।। तब वह ऐसा सांप्रत। सुनो करूं मैं प्रस्तुत। अभिप्राय विश्वेश का स्पष्ट। वैकुंठवासी का।।३८।। कहत कृष्ण हे अर्जुन!। अवधान का पूरा सैन्य। जुटाकर इस ज्ञान को पूर्ण। लिपटना तुम।।३९।। पहले हमने तुम को बहुत। उपपत्ती से दर्शित। किंतु अब भी न प्रवेषत। प्रतीति पेट में तेरे।।४०।।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्। यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।१।।

अतः पुनः हे किरीटि!। कहूं यह तुझ प्रति। 'पर' कहकर श्रुति-। ने विशद किया जो।।४१।। अन्यथा अपना यही ज्ञान। किंतु हुआ पर अर्जुन। जो भाया हमको पूर्ण। भवस्वर्गादिक यह।।४२।। अरे इसी कारण से। कहूं इसे उत्तम सबसे। जो वन्हि और जानु तृण सा जैसे। अन्य ज्ञान।।४३।। जो भव स्वर्ग जानत। यज्ञ को उत्तम मानत। भेद ही परखत। निरन्तर।।४४।। वह अशेष ज्ञान। या इसने स्वप्न। अंत में वातोर्मि गगन। निगलत जैसे।।४५।। या उदित जब रश्मिराज। लोपत चंद्रादि तेज। नाना प्रलयाम्बु में लुप्त सहज। नदी-नद जैसे।।४६।। वैसे देखकर यह। ज्ञानजात पावे लय। अतः हे धनंजय। उत्तम जानो।।४७।। अनादि जो मुक्तता। अपनी हे पंडुसुता। यह मोक्ष हस्तगत तत्त्वता। होय जिससे।।४८।। जिसके प्रतीति से पार्थ!। विचार वीर समस्त। संसृति को न करने देत। माथा ऊपर।।४९।। मन से मन को हटाकर। स्वानुभव से विश्राम पाकर। देही देह में रहकर। विकारी न होत।।५०।। तब इस देहद्वय-। को लांघकर उसी समय। काटकर समतोल कौंतेय। मुझसे होत।।५१।।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

जो मेरी नित्यता-। से स्वयं नित्य पांडुसुता। परिपूर्ण पूर्णता-। से मेरी ही पार्थ।।५२।। मैं जैसा अनन्तानन्द। और जैसा सत्यसिंध। वैसे ही वे न भेद। शेष कुछ।।५३।। जो मैं जितना जैसा। वैसे ही वे वीरेशा। घट भंगपर आकाश सा। घटाकाश वैसा।।५४।। नातर मूल दीप में। दीप शिखा अनेक उसमें। मीनत जब मूल में। तेज जैसा।।५५।। अर्जुन उसी प्रकार। शेष न द्वैतचक्र। वसत नामार्थ एकसर। मैं तू बिन।।५६।। इसी कारण से पार्थ। उत्पत्ति जोते में न जखड़त। न जन्म लेना पड़त। सृष्टिकाल में।।५७।। सृष्टि के सर्वादि। जिनको न देहोपाधि। उनका प्रलयावधि। में नाश कैसा?।।५८।। अतः जन्म क्षय। अतीत वे धनंजय। आत्मज्ञान से यह। हुए मद्रूप वे।।५९।। ऐसी वृद्धि ज्ञान की। प्रशंसत देव नीकी। पार्थ को प्रीति उसकी। लगाने को।।६०।। तब उसको हुआ ज्ञान। सर्वांग को स्फुटत कर्ण। निखालिस अवधान। से व्याप्त वह।।६१।। अब देव का ऐसा। जानत प्रेमोत्कर्ष जैसा। जो निरूपण इतना व्यापक सा। न समाये आकाश में।।६२।। तब कहत हे प्रज्ञाकान्ता। विकसित आज मेरी वक्तृत्व दुहिता। जो तुझसन ज्ञानी श्रोता। पाया वररूप में।।६३।। अतः एक मैं अनेक से। फसत देहापाश से। त्रिगुण बहेलिया से। किस प्रकार।।६४।। कैसा क्षेत्र योग से पार्थ। सृजत जग यह समस्त। सुनो कह वह सांप्रत। सुनिश्चित।।६५।। तब इस व्याज से क्षेत्र। बोलिये इसको सुमित्र। जो सृजत भूतमात्र। सत्संग बीज से।।६६।।

वैसे तो महद्ब्रह्म। इसलिये ऐसा नाम। जो महदादि विश्राम-। शालिका यह।।६७।। विकार को बहु विस्तार। करत यह सुवीर। इसलिये कहत साकार। महद्ब्रह्म।।६८।। अव्यक्त वादियों भांति। कहत अव्यक्त ऐसी वदन्ति। सांख्यो की प्रतीति। से प्रकृति यही।।६९।। वेदान्ती इसको माया। कहत हे प्राज्ञराया। किंतु सब धनंजया। अज्ञान यह।।७०।। अपना अपने को अर्जुन। होवे जो विस्मरण। वही रूप लक्षण। अज्ञान को इस।।७१।। और एक खास बात। विवेक से न कभी दिखत। दीप से न गोचर होत। अंधेर जैसा।।७२।। चलाने से जाये। निश्चल तब ही आवे। दूध में मलाई छाये। दूध की जैसे।।७३।। तब जागृति न स्वप्न। न स्वरूप अवस्थान। वह सुषुप्ति घन। जैसी होत।।७४।। या वायुउत्पत्ति पूर्व पार्थ। आकाश भासत रिक्त। उसी समान निश्चित। अज्ञान यह।।७५।। दूर स्तंभ या, पुरुख। न कह सके निश्चय से एक। किंतु कुछ तो आलोक। भासमान।।७६।। वस्तु जैसी होत। वैसी न दिखत। कुछ भिन्न भी न भासत। धनुर्धर।।७७।। ना रात्रि ना तेज। संधि जैसी सांज। वैसे विरुद्ध अथवा निज। ज्ञान नाही।।७८।। ऐसी कोई एक दशा। उसको नाम अज्ञान ऐसा। उस अवगुंठित प्रकाश को तैसा। क्षेत्रज्ञ नाम।।७९।। अज्ञान होवे वर्धित। स्वयं को न जानत। वही रूप पार्थ। क्षेत्रज्ञ का।।८०।। अब यह उभय योग। जानो अच्छे से हे सुभग!। सत्ता का नैसर्ग। स्वभाव यह।।८१।। इसी अज्ञान सहित। वस्तु अपने को न दिखत। रूप अनेक धारण करत। अनगिनत।।८२।। तैसा रंक

भ्रमिष्ट। कहे हटो मैं राजा आवत। या भ्रम से कहे मूर्छित। गया स्वर्ग लोक मैं।।८३।। वैसी विचलित जब सृष्टि। जो जो देखत किरीटि। उसको नाम सृष्टि। सृजत मैं ही।।८४।। जैसे स्वप्न मोहसे। देखे स्वतः को अनेक रूप से। वही स्थिति विस्मरण से। आत्मा को जानो।।८५।। यही अतिभ्रान्त। प्रमेय पुनः करूं स्पष्ट। किंतु इसकी प्रतीति सत्य। लेना जरूर तुम।।८६।। तब यह मेरी गृहिणी। अनादि तरुणी। अनिर्वाच्य गुणी। अविद्या यह।।८७।। कुछ नहीं यही इसका रूप। स्थान इसका अति अमाप। यह निद्रित के समीप। जागृत से दूर।।८८।। मेरे ही अंग पर निद्रित। यह पहुँड़त जागृत। सत्ता संभोग से पार्थ। गर्भिणी होत।।८९।। महद्ब्रह्म उदर में। प्राकृत अष्ट विकारों में। गर्भवृद्धि करे उसमें। पंडुकुमर।।९०।। उभय संग से प्रथम। बुद्धि तत्त्व का जन्म। बुद्धि तत्त्व से उत्पन्न। संकल्पात्मक मन।।९१।। तरुणी ममता मन की। जननी अहंकार तत्त्व की। उससे महाभूतों की। अभिव्यक्ति होत।।९२।। और विषयेंद्रियों का वेष्टन। महाभूतों का सभावजन्य। अतः पावत रूप अर्जुन। साथ उनको।।९३।। विकार जब क्षोभित। त्रिगुण पीछे खड़े रहत। तब वासनावश उपजत। ठाँई ठाँई।।९४।। आकार वृक्ष का। रखे मन में बीज कणिका। लाहे वह जब उदर का। संग तत्क्षण।।९५।। वैसे मेरे संग से सुवीर। नाना अविद्या अंकुर। सृजत अणिदार। विश्वाकार।।९६।। तब गर्भगोलको उस। कैसा रूप आकार खास। सुनो वह विशेष। सुजनराय।।९७।। देखो अंड़ज, स्वेदज। उद्भिज, जारज। प्रस्फुटत सहज। अवयव यह।।९८।। व्योम-वायु वश। वर्धत गर्भरस। मणिज

जीवन विशेष। पावत वह।।९९।। तम, रज गुणयुक्त। तोय-तेज अधिकत्व। तब उपजत। स्वेदज पार्थ।।१००।। आप-पृथ्वी पर उत्कट। और तमोमात्र निकृष्ट। स्थावर प्रकट। उद्भिज यह।।१।। सहाई पांचो को परस्पर। मन बुद्ध्यादि सुवीर। ये तो जानिये हेतु कर। जारज के।।२।। ऐसे चारों यह सरल। जगद्गर्भ के कर चरण तल। महाप्रकृति स्थूल। वही सिर।।३।। प्रकृति जिसका पेट। निवृत्ति उसकी पीठ। सुर योनि अंग अष्ट। उर्ध्व के।।४।। कंठ दैदीप्यमान स्वर्ग। मृत्युलोक मध्य भाग। अधोदेश सुरंग। नितंब प्रदेश।।५।। ऐसा बालक एक। प्रसवत प्रकृति पत्नी देख। जिसकी तीनों लोक। पुष्टि पार्थ।।६।। चौरासी लक्ष योनी अर्जुन। अस्थि अंगुली संधिस्थान। वर्धत दिन प्रतिदिन। बालक यह।।७।। नाना देह अवयव पर। पहिनावत नाम अलंकार। मोहस्तान्य से बढ़ावे साचार। नित्य नूतन।।८।। पृथक-पृथक सृष्टि। करांघ्रि अंगुलिया किरीटि। करे भिन्नाभिमान अंगूठी। धारण वहां।।९।। यह एकलौता चराचर। अविचारी बालक सुंदर। प्रसव कर अतिमात्र। गौरवान्वित वह।।११०।। ब्रह्मा उसका प्रातःकाल। विष्णु मध्यान्हकाल। सदाशिव सायंकाल। बालक का उस।।११।। महाप्रलय सेज पर पार्थ। खेलकर सोवत निवान्त। विषयज्ञान से जागत। कल्पोदय में।।१२।। अर्जुन इसी प्रकार। मिथ्या दृष्टि गृह में साचार। बढ़ावत युगानुवृत्ति के पैर। कौतुक में आगे।।१३।। संकल्प जिसका इष्ट। अहंकार विनष्ट। ऐसे इसका होवे अन्त। ज्ञान से इस।।१४।। अब रहने दो बात बहुत। विश्व ऐसी माया प्रसवत। वहां सहाय होत। सत्ता मेरी।।१५।।

इस कारण मैं पिता। महद्ब्रह्म यह माता। अपत्य पंडुसुता। जगडंबर यह।।१६।। अब ये शरीर बहुत। देखकर भेद न मानो पार्थ। जो मनबुध्यादि भूत। एक ही यहां।।१७।। देखो देह में एक ही। क्या अवयव पृथक नाही। वैसे विश्व विचित्र सब ही। किन्तु एक ही यह।।१८।। ऊँची नीची शाखा। विषम भिन्न अशेखा। किन्तु विस्तार एक बीज का। पंडुकुमर।।१९।। और संबंध वह ऐसा। घट मृत्तिका का पुत्र जैसा। या पटत्व कर्पास का वैसा। नाति होत।।१२०।। नाना कल्लोल परंपरा। संतति जैसी सागरा। हम चराचर का सुवीरा। संबंध तैसा।।२१।। अतः ज्वाला और अनल। दोनों अनल ही केवल। वैसे मैं ही सकल। अन्य संबंध व्यर्थ।।२२।। यदि जग सृष्टि से मैं लुप्त। तब जगत्व से कौन प्रकट?। माणिक के तेज से माणक पार्थ। क्या लोपत कभी?।।२३।। जब अलंकार बनत। कहो क्या सुवर्णत्व नाशत?। या कमल जब विकसित। क्या कमलत्व नष्ट?।।२४।। कहो तुम धनंजय। क्या अवयवी अवयव। से आच्छादित होय। या वही रूप जिसका।।२५।। विरूढ़त जब जवार। लाहे भुट्टारूप सुवीर। क्या नष्ट या भिन्न साचार। दिखत वह।।२६।। अतः पृथक करके जग को। यदि देखो तुम मुझको। न दिखूंगा तुझको। क्योंकि सब मैं ही।।२७।। तुम यह कौतेय। करो निश्चय सत्य। पल्ले में बांधो वह। जीव के अपने।।२८।। अब मुझसे मैं ही प्रकाशित। भिन्न-भिन्न शरीर से पार्थ। त्रिगुणों से मैं ही ग्रसित। भासत ऐसे।।२९।। जैसे स्वप्न में स्वतः। मृत की कल्पना करत। और दुखी होवत।

कपिध्वज।।१३०।। पीलियाग्रस्त के अर्जुन। पीले होत नयन। पीले दिखत पदार्थ पूर्ण। उन्हीं से जानो।।३१।। अथवा सूर्य प्रकाश से। प्रकट होत अभ्र जैसे। लोपत जब भी दिखत वैसे। सूर्य से ही।।३२।। अपने से ही जो निर्माण। छाया अपनी ही अर्जुन। देखकर जो भीत, क्या भिन्न। उससे वह?।।३३।। नाना देह में वैसे। एक मैं ही होत अनेक जैसे। अनेकत्व का बंध वैसे। जानू मैं ही।।३४।। बद्ध या बिना बंधन। मद्रूप से ही मेरा ज्ञान। अज्ञानी को बंध उत्पन्न। अपने से ही पार्थ।।३५।। तब कौन गुण से कैसा। मुझे मैं ही बंधन ऐसा। भासत सुनो वैसा। धनुर्धर।।३६।। गुण कितने उनके, क्या धर्म। क्या उनका रूप नाम। उत्पन्न कैसे यह मर्म। सुनो अब।।३७।।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।५।।

तब सत्त्व-रज-तम। तीनों को ये नाम। और प्रकृति जन्म-। भूमि इनकी।।३८।। यहां सत्त्व उत्तम। रज सो मध्यम। और तीनों में तम। अधम जानो।।३९।। उत्पन्न एक ही वृत्ती के ठाँई। अतः अनुभव त्रिगुणत्व यही। वयसात्रय एक ही। देह में जैसे।।१४०।। जितना मिलावे कीट। भार ज्यौं-ज्यौं बढ़त। त्यौं-त्यौं सुवर्णहीन होत। पांचिक कस का।।४१।। किंतु जागृतपन जैसे। नष्ट होत आलस से। और सुषुप्ति होवे उससे। दृढ़ जैसी।।४२।। वैसी अज्ञानांगिकार से। वृत्ति बहकत तैसे। सत्व-रज और तम उसे। संज्ञा पार्थ।।४३।। अर्जुन! अरे जान। इसी को, नाम गुण। अब दिखाऊं लक्षण। जिससे बांधत वे।।४४।। तब क्षेत्रज्ञ दशा में पार्थ। आत्मा प्रवेशत किंचित। देह मैं ही यह मुहूर्त। करे

वो।।४५।। आजन्म मरणान्त। देह धर्म के समस्त। डोर ममत्व-। का लेत न ज्यों।।४६।। जैसे मीन के मुख में पार्थ। जब तक न पिंड गिरत। तब ही गल खींचत। तलपारधीजैसा।।४७।।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकनामयम्। सुखसंङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।।६।।

लुब्धक (बहेलिया) सत्व वैसे। सुख ज्ञान पाश से। खींचे जब मृग को जैसे। तड़पत तब।।४८।। ज्ञान पाश से तड़पत। विद्वत्ता खुर झाड़त। सुख अपना लुढ़कत। हाथ से अपने।।४९।। तब अपनी विद्या से तोषत। लाभ मात्रा से हर्षत। समझकर मैं संतुष्ट। श्लाघत स्वयं को।।१५०।। अहोभाग्य अपना मानत। आज न दूजा सुखी कहत। विकाराष्टक से फूलत। सात्विक से वह।।५१।। इतना ही नहीं अर्जुन। लागे दूसरा बंधन। विद्वता का भूत पूर्ण। संचरत अंग में।।५२।। स्वयं ज्ञानस्वरूप होय। विस्मरत न करे दुःख कोय। फूले विषयज्ञान से कौन्तेय। गगन समान।।५३।। राव जैसा स्वप्न में। रंकपन से जावे राजधानी में। दो दाने से संतुष्ट मन में। माने इंद्र ही मैं।।५४।। वैसे यह देहातीत। जब होत देहवन्त। पावत हर्ष पंडुसुत। ब्राह्यज्ञान से।।५५।। प्रवृत्ति शास्त्र में निष्णात। बूझत यज्ञविद्या समस्त। किंबहुना जानत। स्वर्गपर्यंत।।५६।। और कहत आज शून्य। बिन मेरे नहीं सज्ञान। चातुर्य चंद्र को गगन। चित्त मेरा।।५७।। ऐसे सत्व सुख ज्ञान से पार्था। बांधत जीव को जोता। गाड़े में बैलसम तत्त्वता। खींचे उसको।।५८।। अब इसी शरीर में कैसे। किस प्रकार रज से। बद्ध होत कहूं तुझसे। सुनो तुम।।५९।।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन दैहिनम्।।७।।

यह रज उसी कारण। करे जीव का रंजन। अभिलाषा सदा तरुणापन। इसकी पार्थ।।१६०।। जीव में यदि प्रवेश किंचित। काम मद में फँसावत। तृष्णा पवन पर आरूढ़त। धनुर्धर।।६१।। अग्नि कुंड में घृतसिंचन। करे वज्राग्नि प्रदीप्त पूर्ण। होवे छोटी-बड़ी, सम-समान। वस्तु दग्ध।।६२।। चाड़ (इच्छा) मन में वैसी उछलत। भासत मधुर दुःख सहित। इंद्र-श्री को भी मानत। क्षुद्र पार्थ।।६३।। ऐसी तृष्णा बढ़त। जो मेरू भी यदि हस्तगत। चाहत होवे कोई वस्तु प्राप्त। दारुण उससे भी।।६४।। कभी कौड़ी यदि प्राप्त सुवीर। करे जीव अपना निछावर। माने तृण लाभ पर। कृतकृत्य स्वयं को।।६५।। आज नष्ट संचित धन सकल। तब कल क्या होगा हाल। आरंभत इस तृष्णाबल-। से व्यवसाय बड़े।।६६।। सोचत स्वर्ग में तो जाना। किंतु वहां क्या खाना। इस चिंता से करत नाना। यज्ञ याग।।६७।। व्रत पीछे व्रत। आचरत इच्छा पूर्ति प्रीत्यर्थ। काम्य कर्म बिन न स्पर्शत। कर्म अन्य।।६८।। जैसे ग्रीष्मान्त का समीर। न जाने विश्राम सुवीर। वैसे करे व्यापार। निरन्तर।।६९।। क्या चंचलता में मीन। क्या कामिनी कटाक्ष भी अर्जुन। द्रुतगति उस समान। विजु की नाही।।१७०।। ऐसे अति वेग से। स्वर्ग संसार इच्छा से। आग में रीगत जैसे। क्रियाओं की।।७१।। ऐसा देही, देह से भिन्न। तृष्णा शृंखला से बद्ध अर्जुन। करे खटपट गले में पाषाण। ढोवे व्यापार का।।७२।। यह रजोगुण का दारुण। देह में देही को बन्धन। अब सुनो लक्षण। तम का तुम।।७३।।

व्यवहार के भी नयन। मंद जिस जवनिका से अर्जुन। मोहरात्रि के काले घन। मेघ जो।।७४।। अज्ञान का जीवित। जिस एक को प्राप्त। उससे विश्व भ्रमित। नाचन लागे।।७५।। अविवेक का महामंत्र। जो मोहमधका पात्र। इतना ही नही मोहनास्त्र। जीव को जो।।७६।। पार्थ जानो वह तुम। इसविध रचकर युक्ति परम। जो ग्रासत चौबाजू से देहात्म। बुद्धियों को।।७७।। यह एक ही शरीर में। बढ़ने लगे चराचर में। वहां अन्य बात उसमें। संभव नाहीं।।७८।। सर्वेंद्रिय में जड़ता। मन में उत्पन्न मूढ़ता। दोनों में आलस्य की दृढ़ता। व्याप्त पूर्ण।।७९।। अंग से अंगड़ाई लेत। कार्यजात में रुचि न किंचित। केवल जम्हाई देत जात। एक पीछे एक।।१८०।। उसकी खुली दृष्टि। किंतु न देखे वस्तु सृष्टि। पुकारे बिन उठे किरीटि। आवाज देकर।।८१।। अंग पर पत्थर गिरत। न दाएं बायें पलटत। वैसे करवट भी न बदलत। निद्रित जब।।८२।। पृथ्वी पाताल में जावे। आकाश अंगपर आवे। उठने की न इच्छा होवे। मन में कभी।।८३।। उचित-अनुचित पार्थ। न स्मरे कुछ सोचत जात। जहां के वहां लेटत। मेधा ऐसी।।८४।। उठाकर करतल। दबाकर दोनों कपोल। घुटनों में सर्वकाल। रखत सिर।।८५।। निद्रा में रुचि सुरंग। मन में उसका ही लाग। सोवत जब स्वर्ग। भी माने हीन।।८६।। ब्रह्मा की आयु मांगत। कल्प पर्यंत सोना चाहत। बिन इस दूजा न वांछत। व्यसन कोई।।८७।। या चलत मार्ग में सहज। फिसलकर पांव गिरत। न अमृत भी चाहत। जब आवे नींद।।८८।। वैसे आक्रोश बल से। कोई कर्म में

प्रवृत्त जैसे। क्रोधित अंधसम वैसे। चले पार्थ।।८९।। कब कैसे बरतना। किससे क्या बोलना। कुलीन कफल्लक पहिचानना। न जाने पार्थ।।१९०।। प्रदीप्त दावानल। पीछु पंख से सकल। पतंग यह इच्छा से केवल। झड़पत जैसा।।९१।। ऐसे साहस में प्रवृत्त। अकरणीय धैर्य से करत। प्रमाद सदा भावत। मनको जिसके।।९२।। एवं निद्रा आलस्य प्रमाद में। तब इन त्रिबंधों में। बांधे शुद्ध को उसमें। निरुपाधिक को।।९३।। जब वन्हि काष्ट में प्रविष्ट। काष्टाकार तब दिखत। व्योम घट में व्याप्त। घटाकाश बहु।।९४।। अथवा सरोवर परिपूर्त। तब चंद्रबिंब वहां बिंबत। वैसे गुणपाश से बद्ध होत। आत्मत्त्व पार्थ।।९५।।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत। ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत।।९।।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत। रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।१०।।

नष्ट करके कफ-वात। जब देह में वर्धत पित्त। तब करे संतप्त। देह को जैसे।।९६।। या वर्षा, आतप बीतत। पीछे शीतकाल आवत। तब होवे पूर्ण शीत। आकाश जैसा।।९७।। अथवा स्वप्न एवं जागृति। लुप्त होकर आवे सुषुप्ति। क्षणएक होवे चित्तवृत्ति। जड़मूढ़ जैसी।।९८।। करके रज तम परास्त। जब मत्त सत्त्व वर्धत। तब जीव से कहलावत। सुखी हूं मैं।।९९।। जैसे सत्त्व रज। नष्ट करके तम का तेज। बल लेत तब सहज। प्रमादी होत।।२००।। वैसे ही परिपाठि से। सत्त्व तम को दबोचकर जैसे। उभरत जब सहज से। रजोगुण।।१।। तब कर्म बिन कोई। अन्य सुंदर नाहीं। ऐसे मानत देही। देहराज।।२।।

त्रिगुण वृद्धि निरूपण। श्लोकत्रय से बनाया अर्जुन। अब पृथक सत्त्वादि वृद्धि लक्षण। सादर सुनो।।३।।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।११।।

पाकर विजय रज तम पर। देह में वर्धत सत्व धनुर्धर। तब उसका चिन्ह समग्र। ऐसे होत।।४।। प्रज्ञा अंतर में पार्थ। न समावत बाहिर उमड़त। वसंत में पद्मखण्ड से प्रसरत। दृति जैसी।।५।। सर्वेन्द्रिय प्रांगण में देख। सेवा करत विवेक। करचरण को प्रत्यक्ष। चक्षु प्राप्त।।६।। राजहंस सम्मुख अर्जुन। रखा करके मिश्रण। चंचुअग्रसे करे पृथःकरण। नीरक्षीर का।।७।। वैसे दोषादोष विवेक। इंद्रियां करत स्वयं परख। नियम होवे पाईक। सेवा करत।।८।। कर्ण स्वयं त्यजत अश्रवणीय। दृष्टि न देखे अदर्शनीय। जिव्हा टालत अवाच्य। धनुर्धर।।९।। बाती सामने जैसे। भागने लागत अंधेर वैसे। निषिद्ध इंद्रियों के तैसे। सम्मुख न आवे।।२१०।। वर्षाकाल में पार्थ। महानदी उफनत। वैसी बुद्धि प्रसरत। शास्त्र जात में।।११।। सुनो पूनम के दिन में। धावत चंद्रप्रभा आकाश में। वैसी वृत्ति ज्ञान में। विकसत पूर्ण।।१२।। वासना एकवटत। प्रवृत्ति निवर्तत। मानस विरक्त होत। विषयों से।।१३।। एवं जब सत्यवर्धन। यही उसका लक्षण। ऐसे में यदि आवे मरण। पंडुकुमर।।१४।। हुवा कोई सुकाल सुवीर। आया कोई त्यौहार। स्वर्ग से आवे घर। मेहमान प्रिय कोई।।१५।। होवे घर में बहुत संपत्ति। वैसी ही मन में औदार्य धैर्यवृत्ति। तब साधन परत्र और कीर्ति। क्यों न होवे।।१६।। तब ऐसे प्रसंग को। कैसी उपमा उसको।

ऐसा कौन स्थान देह को। सत्त्व से अन्य।।१७।। जो सत्त्वगुण में उद्भट सुवीर। शुद्ध सत्त्व लेकर। त्यागत यह शरीर। भोगक्षम जो।।१८।। अकस्मात ऐसा जो जावे। वह सत्त्वमूर्ति नूतन लाहे। किंबहुना निश्चित जन्म पावे। ज्ञानियों में ही।।१९।। कहो तुम कौंतेय। राजा राजपन से गिरीपर जाय। कहो क्या कुछ कम होय?। ऐश्वर्य उसका।।२२०।। ना तो यहां का दीप पार्थ। गांव में पड़ौस के ले जात। वहां भी जानो निश्चित। दीप ही वह।।२१।। वैसी यह सत्त्यबुद्धि। होवे अधिक ज्ञानवृद्धि। तरंगत विवेक पर बुद्धि। धनुर्धर।।२२।। महदादि परिपाटी में। विचार कर अन्त में। विचार सहित पेट में। मीनत ब्रह्म के।।२३।। छत्तिस अपेक्षा सैतिसवां। चौबीस परे पच्चीसवां। तीनों छोडकर स्वभाव से जो पांडवा। चतुर्थ जो।।२४।। ऐसा सर्व जो सर्वोत्तम। हुआ जिसको सुगम। सत्त्वगुण यह निरूपम। लाहे देह।।२५।। इसी प्रकार से देख। तम सत्व अधोमुख। करके जब बढ़त अशेख। रजोगुण।।२६।।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।१२।।

अपने कार्यकलाप से पार्थ। देह गांव में धूम मचावत। तब जो चिन्हों का होत। उदय वहां।।२७।। उठत जब चक्रवात। तब समेटत वस्तुजात। विषय में छूटत मुक्त। इंद्रियां तैसी।।२८।। परदारादि संग समस्त। शास्त्र विरुद्ध न मानत। बकरी के मुख सम चरत। विषय सब।।२९।। लोभकी इतनी सीमा अर्जुन। करे स्वैरत्व से वर्तन। हाथ न आवे जान। बचत वही।।२३०।। और जो जो आवे सम्मुख। उद्यम जात अशेख। प्रवृत्ति हाथ

से न छोड़े देख। धनंजय।।३१।। वैसे एखाद प्रासाद। या करना अश्वमेघ। ऐसा अफाट छंद। उठे लेकर।।३२।। नगर बनाना। जलाशय खोदना। महावन लगाना। नाना विध।।३३।। ऐसे-ऐसे अचाट कर्म। आयोजन उपक्रम। दृष्टा दृष्ट में अतिकाम। असंतुष्ट सदा।।३४।। सागर भी पड़े न्यून। अग्नि न होवे कौड़ी का तीन। ऐसी अभिलाषा अर्जुन। दुर्भर उसकी।।३५।। भागे आगे मन की स्पृहा। आशा की दौड़ ऐसी महा। विश्व संपूर्ण हुआ। पदतल नीचे।।३६।। एवं जब वर्धत रज। चिन्ह ये विकसित सहज। और ऐसे यदि समाज-। में गिरत देह।।३७।। इन्ही लक्षण परिवार से ही। प्रवेशत यदि अन्य देही। मानुषी योनि में सहज ही। पावे जन्म।।३८।। ठाठ से भिखारी कोई क्वचित। राजमंदिर में रहत। तब कहो क्या वह होत। राजा कभी?।।३९।। बैल जहां कड़बी अर्जुन। मिथ्या नहीं कभी यह वचन। चाहे ले जाओ बारात में सदन। समर्थ के उसको।।२४०।। अतः निरन्तर व्यापार में। विश्राम न देह को रात्री में। वह ऐसे के ही संगत में। जोता जाये।।४१।। कर्मप्रिय के ठाँई। पावत जन्म वह देही। जो रजोवृत्ति के दह में ही। डूबत मरत।।४२।। वैसे ही आये अर्जुन। सत्य रज वृत्ति का करके दमन। उन्नत होत तमोगुण। पंडुकुमार।।४३।।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च। तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।१३।।

तब जो प्रकट लिंग। तथा बहिरंग। उनको सुनो सुरंग। श्रोतृ बल से।।४४।। उसका होवे ऐसा मन। जैसे रविचन्द्रहीन। रात्रि का होत गगन। अमावस के।।४५।। वेसे अंतर

विरस। होवे स्फूर्तिहीन उदास। विवेक की तब भाष। नष्ट पूर्ण।।४६।। बुद्धि पाषाण से भी जड़ पार्थ। मृदुता छांडत इस सीमापर्यंत। स्मरण शक्ति हुई बहिष्कृत। भासत ऐसा।।४७।। अविवेक बलवत्तर। उन्मत्त होवे शरीर। केवल लेन-देन का व्यवहार। मूढ़ता का वहाँ।।४८।। आचार भंग की अस्थियाँ। सेवत सम्मुख इन्द्रियाँ। मरे यदि जावे पाप क्रिया। साथ उसके।।४९।। और एक बात दुष्कृति में। चित्त उल्लसित अंधेरे में। देखना पार्थ उसमें। उलूक का जैसे।।२५०।। वैसे निषिद्ध के नाम से। अति लौल्य हृदय से। दौड़े उसी विषय में जैसे। इंद्रियों के।।५१।। मदिरापान बिन डोलत। सन्निपात बिन बर्रावत। निष्प्रेम से भूलत। भ्रमित जैसा।।५२।। चित्त तो भटकत कहीं। किन्तु वह उन्मनी नाहीं। ऐसा व्याप्त पूर्ण ही। मत्त मोह से।।५३।। किंबहुना ऐसे-ऐसे। पोषत तम चिन्ह से। तब वर्धत स्वगुण बल से। धनुर्धर।।५४।। ऐसे में कहे श्रीरंग। आवे यदि मरण का प्रसंग। तब गिरत सुरंग-। में हीन योनि के।।५५।। राई बीज में राईपन। समाकर तजत स्वरूप अर्जुन। विरुढ़त तब कौन। लक्षण अन्य?।।५६।। होकर दीपकलिका अर्जुन। बुझे या अग्नि से होए प्रज्वलित। जलाओ वहाँ पुनः प्रतीत। वही वह।।५७।। अतः तम की गठरी में। बांधकर संकल्प उसमें। जावे जब देह, तमरूप में। प्रकट पुनः।।५८।। अब क्या विस्तार का प्रयोजन। जो तमोवृद्धि में आवे मरण। वह पशु पक्षी होवे अर्जुन। पेड़ का कृमि।।५९।।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।।१४।।

देखो इसी कारण से। जो उपजत सत्वगुण से। उसको सुकृत कहत ऐसे। श्रुति

समुदाय।।२६०।। अतः वह निर्मल। सुख ज्ञान से सरल। पावत जो अपूर्व फल। सात्त्विक वह।।६१।।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्म संङ्गिषु जायते। तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।१५।।

अब राजस क्रिया पार्थ। जैसी इंद्रावणी फलत। नेत्र को सुख देत। जिव्हा को फल दुखद।।६२।। या कडवे नीम के फल कित्येक। ऊपर मधु भीतर विख। वैसे वह राजस देख। क्रिया फल।।६३।। तामस कर्म से निःशेख। अज्ञान फल ही फलत देख। विषांकुर से विख। जिस प्रकार।।६४।।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मल फलम्। रजसस्तु फलं दुःखमज्ञान तमसः फलम्।।१६।।

अतः श्रीकृष्ण कहे अर्जुन को। यहाँ सत्त्व ही हेतु ज्ञान को। जैसे कि दिनमान को। सूर्य कारण।।६५।। वैसे ही यह जानो अर्जुन। जो लोभ का रज कारण। होवे अपना ही विस्मरण। अद्वैत को जैसे।।६६।। मोह अज्ञान प्रमाद। यह मिलकर दोषवृंद। पुनः पुनः इनको हे प्रबुद्ध। तम ही मूल।।६७।। ऐसे विवेक चक्षुसे देख। तीनों गुण पृथक-पृथक। दिखाया तुझको आमलक। तल-हस्तगत जैसा।।६८।। तब रज तम दोनो अर्जुन। प्रौढ़ पतन के कारण। न लावत सत्त्व बिन। ज्ञान के निकट।।६९।। अतः सात्त्विक वृत्ति-। से एक हुए जन्मव्रती। सर्वत्याग कर अपनाई चतुर्थी। भक्ति जैसी।।२७०।।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च। प्रमाद मोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।१७।।

ऊर्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

तैसे नट नाच से सत्त्व के। जीवन मरण उल्हास से जिनके। वे तनुत्याग के पश्चात स्वर्ग के। राजा होत।।७१।। इसी प्रकार रजोत्कर्ष से। जो जीयत मरत जैसे। जन्मत वे मनुष्य रूपसे। मृत्युलोक में।।७२।। वहाँ सुख दुःख खिचड़ी का पार्थ। एक ही थाली में भोग लगावत। जहाँ इस मरणमार्ग से निश्चित। मुक्तता नाही।।७३।। उसी प्रकार तम में। बढ़कर मरत भोगक्षमी उसमें। वे लेत नरक भूमि में। मूलपत्र।।७४।। एवं वस्तु की सत्ता। त्रिगुण से ही पंडुसुता। दिखाई कारण वशता। अशेष तुझको।।७५।।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१९।।

वस्तु का वस्तुत्व सदा निर्विकार। भासत गुण संग से भिन्नाकार। देखकर कार्य विशेष सुवीर। अनुसरत वह।।७६।। राजा बनकर स्वप्नस्थ। जब पर चक्र देखत। तब मानत पराजित। स्वयं को ही पार्थ।।७७।। वेसे मध्योर्ध्व अध। ये जो गुणवृत्ति भेद। दृष्टिबिन शुद्ध। वस्तु ही वह।।७८।। रहने दो यह कथन। न जानो तुम यह भिन्न। सुनो कहूं वही निरूपण। पूर्व कथित जो।।७९।। तब ऐसे जानिये। सामर्थ्य से तीनों मानिये। प्रकटत देहव्याज से सुनिये। गुण ही ये।।२८०।। इंधन के आकार से पार्थ। अग्नि वैसा ही भासत। या भूमिरस प्रकट। तरु रूप से।।८१।। अथवा दही के मिष से। विकारत दूध ही जैसे। या मूर्त होय इक्षुरूप से। मधुरता स्वयम्।।८२।। वैसे ये सान्तःकरण। देह ही होत त्रिगुण। अतः बंध का कारण। बनत वे।।८३।। किन्तु आश्चर्य वह अर्जुन। जो इतना सब बन्धन। न लाये न्यूनपन। मोक्ष व्यवहार को।।८४।। त्रिगुण स्वगुणधर्म से। वर्तत देह

में निरन्तर जैसे। किन्तु न होवे बद्धकर इनसे। गुणातीत ।।८५।। ऐसी यह मुक्ति सहज। वह बतलाऊं तुझ-। को जो तुम ज्ञानांबुज-। द्विरेफ यहाँ।।८६।। और गुण में गुण संग से कौन्तेय। न परिवर्तित कदा चैतन्य। कहा सिद्धान्त यही मान्य। पहले ही।।८७।। तुझको तब पार्थ यह ऐसा। बोधित यह मनको दिखत वैसा। स्वप्न का मिथ्या भास जैसा। जागृत को।।८८।। नातर स्वयं जल में। बिंबित देखे तीर से उसमें। आन्दोलन कल्लोल में। अनेकधा।।८९।। या नाटक के स्वांग से। नट भ्रमित न होवे जैसे। गुणजात को मानिये जैसे। साक्षीभूत।।२९०।। या आकाश में ऋतुत्रय। धारण करत कौंतेय। किन्तु न कभी लिप्त होय। पृथक ही वह।।९१।। वैसे गुण में गुण के पर। जो स्वयं का अस्तित्व सुवीर। आरुढत अहं मूल पद पर। धनुर्धर।।९२।। जब वहाँ से देखत। साक्षी मैं अकर्ता कहत। ये गुण से ही क्रियाजात। नियोजित।।९३।। सत्त्व रज तम के। भेद से प्रसार कर्म के। होत वह गुणों के। विकार पार्थ।।९४।। इनमें मैं ऐसा। वन में वसंत जैसा। वनलक्ष्मी विलास को तैसा। हेतुभूत।।९५।। या तारांगण का लोपन। सूर्यकान्त का उद्दीपन। कमल का विकसन। तम निस्तरण।।९६।। इनमें किसी में कोई। सविता जैसे लिप्त नाही। वैसा अकर्ता मैं देही। सत्ता रूप।।९७।। मैं दिखाऊँ तब गुण दिखत। मुझमें ही गुणत्व वर्धत। अन्त में शेष बचत। मैं ही वह।।९८।। ऐसे विवेक का उदय। जिसके हिय में धनंजय। गुणातीतता प्राप्त होय। इसी मार्ग से उसको।।९९।।

गुमानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्। जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।२०।।

अब निर्गुण यह पृथक। वह जाने अचूक। जो किया टीका प्रत्यक्ष। ज्ञान ने उसको।।३००।। किंबहुना पंडुसुता। ऐसी मेरी वह सत्ता। पावत जैसी सरिता। सिंधुत्व देख।।१।। नलिका से शुक उठकर। बैठत अन्य शाखा पर। वैसे अधिष्ठित मूल अहंपर। सोऽहँ कहकर।।२।। अरे! अज्ञान की निद्रा से। धुरधुरत उच्च स्वर से। जागृत स्वस्वरूप में जैसे। प्रबुद्ध वह।।३।। तब बुद्धिभेद का दर्पण। गिरा हाथ से अर्जुन। अतः प्रकृति मुखभास पूर्ण। नष्ट सहज।।४।। देहाभिमान का वारा। बंद हुआ अब सुवीरा। तब ऐक्य-विची-सागरा। जीवेश को यह।।५।। इसीलिये मद्भाव को पार्थ। तत्क्षण वे होत प्राप्त। वर्षान्त में घन जात। आकाश में जैसे।।६।। वैसे मद्रूप होकर अर्जुन। उस देह में विद्यमान। देहसंभूत वह गुणाधीन। न होवे कभी।।७।। अरे! कांच के गृह से-। भी दीप प्रकाश न रुके जैसे। या न बुझत सागर से। बड़वानल।।८।। जैसे आवे जावे त्रिगुण। बोध उनका न होवे मलिन। वह देही जैसा व्योम का अर्जुन। चंद्र जल में।।९।। तीनों गुण प्रौढ़ी से पार्थ। स्वच्छन्द देह में नाचत-खेलत। देखकर भी न छोड़त। अहंता को।।३१०।। इस स्थितिपर्यंत। स्थिर निश्चय से अंतर में पार्थ। क्या घटत शरीर में सांप्रत। यह भी न जाने।।११।। केंचुली अंग की छोड़ पार्थ। सर्प बामी में प्रवेशत। कौन उस त्वचा को सम्हालत। पुरुष होवे वैसा।।१२।। या सौरभ कमल का जीर्ण। आमोद आकाश में मीनत पूर्ण। पुनरपि कमल-कोश में अर्जुन। न आवे वह।।१३।। वैसे समरस से। हुआ उसको भी हम जैसे। वहां देहधर्म क्या कैसे। न जाने देह।।१४।। अतः जन्म जरा मरण। इत्यादि

जो षड्गुण। वे देह से ही निगड़ित अर्जुन। अलिप्त वह।।१५।। घट का खप्पर। घटभंग पर फेका दूर। महदाकाश सहज सुवीर। होवे जैसा।।१६।। वैसे देहबुद्धि जाये। अखंड स्मरण रहे। तब अन्य कुछ न होवे। उसके बिन।।१७।। ऐसे बोध से महान। देह में उसका वास अर्जुन। इसीलिये कहूँ उसको जान। गुणातीत मैं।।१८।। इस देव के बोल से। पार्थ अतिसुख पावत वैसे। हर्षित मेघगर्जना से। मयूर जैसा।।१९।।

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो। किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिर्वतते।।२१।।

उस संतोष से वीर पूछत। जी, किस चिन्ह से वह प्रकटत। जिसके ठाँई वसत। बोध ऐसा।।३२०।। वह निर्गुण कैसा आचरत। किस प्रकार गुण निस्तरत। कहो, यह नैहर मूर्त। कृपा का आप!।।२१।। इस प्रकार अर्जुने के प्रश्न पर। वह षड्गुणोंका अधीश्वर। सुनो उसका उत्तर। जो कहत कृष्ण।।२२।।

श्री भगवान उवाच-

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव। न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति।।२२।।

कहे पार्थ तेरी नवाई। यह इतना ही पूछत काई?। जो पूछना नाम (गुणातीत यही। झूटा या सच।।२३।। गुणातीत जिसको नाम अर्जुन। निश्चित नहीं वह गुणाधीन। गुण में रहकर भी न अधीन। गुण के इन।।२४।। वह अधीन या अलिप्त। यह कैसे जानिये यथार्थ। गुण के मरुस्थलमें स्थित। धनुर्धर।।२५।। यह संदेह यदि मन में करत। तब सुख से पूछो पार्थ। सुनो उसका रूप यथार्थ। कहूँ अब।।२६।। तब रजोगुण के मद से।

फूटत देह में कर्मांकुर जैसे। प्रकृति जब घेरत उसे। पंडुकुमर।।२७।। तब मैं ही एक कर्मठ। ऐसा न अभिमान प्रकट। या कर्म दरिद्रता से मन में पार्थ।न खेद भी।।२८।। अथवा जब होवे सत्वोत्कर्ष। सर्वेन्द्रियों में प्रकट ज्ञान अशेष। तब सुविधा से संतोष–। मग्न होवे वह।।२९।। था वर्धित तमसे। न निगलित मोह भ्रम से। तब उस अज्ञानत्त्व से। विषाद न होवे।।३३०।। क्वचित मोह के अवसर में। ज्ञान की चाड़ (इच्छा) न धरे मन में। ज्ञान से न रखे आदर कर्म में। न उससे दुखी।।३१।। सायंप्रातर्मध्यान्ह। तीनों काल की गणना अर्जुन। नाही जैसी यह तपन-। को वैसा वह।।३२।। क्या उसको अन्य प्रकार से। होवे प्राप्त ज्ञानित्व ऐसे। क्या जलार्णव वृष्टि से। परिपूर्ण होत?।।३३।। या कर्म में जब प्रवर्तत। आवे तब कर्मठत्व। कहो हिमवंत हिम से पार्थ। कँपत कभी?।।३४।। अथवा जब मोह उत्पन्न। क्या नष्ट उसका ज्ञान?। महाअग्नि को ग्रीष्म अर्जुन। दाहक कभी?।।३५।।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो विचाल्यते। गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।।२३।।

कैसे गुणागुण यह कार्य। आपुन ही सर्व होय। अतः सुखदुखः न कोय। एकेक से इस को।।३६।। ऐसी उसकी प्रतीति। देह में करत वस्ती। मुसाफिर मुकाम में किरीटि। आपत्ति में जैसा।।३७।। उसको न जय पराजय। गुणवश न करे कुछ कौन्तेय। जैसे कि श्रोणी (भूमि) होय। संग्राम की।।३८।। या शरीरान्तर्गत प्राण। जैसे घर आया अतिथि ब्राह्मण। चौहार पर खड़ा स्तंभ पूर्ण। उदासीन जैसा।।३९।। और गुण आवागमन से।

होवे न विचलित जैसे। मृग जल के कल्लोल से। मेरू जैसा।।३४०।। बहुत क्या कहना यह। व्योम वायु से चलित न होय। अथवा क्या निगलित सूर्य। अन्धःकार से कभी?।।४१।। स्वप्न देखो जिस प्रकार। जागृत को न भ्रमकर। ज्ञानी जैसा गुणविकार-। से बद्ध न होत।।४२।। गुण से न कभी आकलत। दूर से ही कौतुक से देखत। गुणदोष कठपुतली का निहारत। दर्शक जैसा।।४३।। सात्त्विक सत्कर्म में। रज राजसभोग में। तम मोहादिक में। साक्षीभाव से।।४४।। सुनो ऐसी उसकी सत्ता। होत उससे गुण क्रिया समस्ता। जानो निश्चित जैसा सविता। लोक व्यवहार को।।४५।। समुद्र जो ज्वार आवत। सोमकान्त मणि द्रवत। कुमुदिनी विकसत। चंद्र तो स्तब्ध।।४६।। वायु बाजत शमत। गगन तो निश्चल पार्थ। वैसा न होवे विचलित। गुणविद्रोह से जो।।४७।। इन लक्षणों से अर्जुन। जानो वह गुणातीत पूर्ण। अब सुनो आचरण। कैसा उसका।।४८।।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।

वस्त्र के पीठ पेट में निश्चिति। नाही तंतु बिन कुछ भी किरीटि। ऐसी चराचर में दृष्टि। मद्रूप जिसकी।।४९।। अतः सुख दुःख में वैसा। समतोल आचरण एकसा। रिपुभक्त को जैसा। दान हरी का।।३५०।। वैसे तो सहज अर्जुन। तब ही सुख दुःख भोगमान। जब होवत मीन। देह जल में।।५१।। अब तो उसने वह त्यक्त। हुआ स्वस्वरूप में स्थित। सस्यान्त में शेष बचत। बीज जैसे।।५२।। या जलौघ छाँडकर गांग। मीनत प्रवेशत समुद्र का अंग। निस्तरत अशेष सलग। खलबली उसकी।।५३।। वैसे आत्मस्वरूप में बस्ती।

जिसकी हुई किरीटि। देह में अपने आप समस्थिति। होवे सुख दुःख की।।५४।। रात्रि वैसा ही दिन। गृहस्तंभ को एक अर्जुन। देह में अन्तर्द्वन्द्व समान। आत्माराम को।।५५।। निद्रित अंग को जैसी। सर्प वैसी उर्वशी। देही स्वरूपस्थ को तैसी। भावना द्वंद्व की।।५६।। अतः उसके ठाँई। सुवर्ण गोमय में भिन्नता नाही। रत्न पाषाण में कुछ ही। भेद न जाने।।५७।। घर को आवे स्वर्ग। या अंग पर झड़पत बाघ। किन्तु आत्मबुद्धि अंग। न होवे कदा।।५८।। मृत न जैसा हो जागृत। या दग्धबीज न विरुढ़त। साम्यबुद्धि न मोड़त। उसी प्रकार।।५९।। यह ब्रह्मा ऐसे स्तवन। या नीच जानकर करे अपमान। जलना-बुझना न जाने अर्जुन। राख जैसी।।३६०।। वैसी निन्दा और स्तुति। नहीं कुछ भी अभिव्यक्ति। नहीं अंधेरा अथवा बत्ती। सूर्य गृह में।।६१।।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः। सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।२५।।

ईश्वर कहकर पूजित। या चोर मानकर दंडित। या वृष गज से वेष्टित। किया राजा।।६२।। सुहृद आवे निकट। अथवा वैरी होवे प्राप्त। किन्तु न जाने दिन रात्र। सूर्य तेज जैसा।।६३।। षड्ऋतु में आकाश। निर्लिप्त जैसे अशेष। वैषम्य जिसका मानस। न जाने कदा।।६४।। और एक देखो बात। आचार यद्यपि करत। किन्तु व्यापार में न लिप्त। दिखत वह।।६५।। सर्वारम्भ बन्द होत। प्रवृत्ति जहाँ विरमत। कर्मफल भस्म होत। ज्ञानाग्नि में।।६६।। दृष्टादृष्ट विचार। भाव भी न उपजत साचार। सेवन करत समग्र। सहज प्राप्त जो।।६७।। फूले न तड़पे पार्थ। जैसे कोई पाषाणवत। घट मोड़ वैसी तजत।

मन से पूर्ण।।६८।। अब कितना करू विस्तार। जानो ऐसा आचार। जिसका वही साचार। गुणातीत।।६९।। गुण का अतिक्रमण। होवे जिस उपाय से अर्जुन। वह सुनो अब निरुपण। कहे कृष्णनाथ।।३७०।।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।।२६।।

तब व्यभिचार रहित चित्त से। मुझको भक्तियोग से। सेवत वह गुण को निश्चित से। करत वश।।७१।। अब कौन मैं कैसी भक्ति। अव्यभिचार की क्या अभिव्यक्ती। इसका विवेचन किरीटि। करना युक्त।।७२।। सुनो सावधान मनसा। मैं तो यहाँ ऐसा। रत्न में प्रकाश जैसा। रत्न ही वह।।७३।। या द्रवपन ही नीर। अवकाश ही अंबर। मधुरता ही शक्कर। अन्य नाही।।७४।। वन्ही, वही ज्वाल। दल को ही नाम कमल। वृक्ष वही फल–। शाखादिक।।७५।। अरे हिम जो घनीभूत। वही होवे जैसे हिमवंत। जमने से जमा दूध कहावत। दही पार्थ।।७६।। वैसे जो विश्व के नाम से। मैं ही जानो उससे। अनावश्यक छिलना चंद्रबिंब को जैसे। जो चंद्र ही वह।।७७।। घृत का घनपन। फिर भी वह घृत ही जान। या न पिघला यदि कंकण। सुवर्ण ही वह।।७८।। न विदारित पट । तंतु उसमें रहे स्पष्ट। यदि न घुलत घट। किन्तु मृत्तिका ही जैसे।।७९।। अतः विश्व की जब व्यावृत्ति। पश्चात मेरी उत्पत्ति। नहीं ऐसा, विश्वसहित किरीटि। समग्र मैं।।३८०।। ऐसा मुझको जानिये। वही अव्यभिचारिणी भक्ति कहिये। यहाँ यदि भेद देखिये। व्यभिचार वह।।८१।। इस कारण भेद को। छाँडकर अभेद चित्त से मुझको। अपने सहित एक को। जानो

पार्थ।।८२।। स्वर्ण का कण पार्थ। स्वर्ण को ही जड़ावत। वैसे अपने को अन्य पदार्थ। न मानो तुम।।८३।। सूर्य का सूर्य से ही निसृत। किन्तु सूर्य से ही संबंधित। उस रश्मि सम निश्चित। लेना बोध।।८४।। परमाणु भूतल पर। हिम कण हिमाचल पर। निहरो मेरे अधिष्ठान पर। अहं को वैसे।।८५।। तरंग लघु अर्जुन। किन्तु सिंधु से नहीं भिन्न। वैसे ईश्वर से मैं नहीं अन्य। सुनिश्चित।।८६।। अरे ऐसे समरस से। दृष्टि विकसित होवे जैसे। तब ही उसको भक्ति ऐसे। कहत हम।।८७।। और ज्ञान का विशालपन। इसी दृष्टि को नाम अर्जुन। योग का भी संपूर्ण। सर्वस्व यह।।८८।। सिंधु और जलधर। मध्य गिरत अखंड धार। वैसी वृत्ति सुवीर। प्रवृत्त जब।।८९।। अथवा कूप का आकाश। मुख पर न कोई संधि विशेष। वैसे वह परमपुरुष-। से एक रूप जो।।३९०।। प्रतिबिंब से बिंब पर्यंत। प्रभा जैसी समान पार्थ। सोऽहंवृत्ति अखंडित। वैसे होत।।९१।। इसविध आगे परस्पर। सोऽहं वृत्ति का अवतार। तब वह भी नष्ट साचार। अपने आप।।९२।। जैसा सैंधव का कण पार्थ। सिंधु बीच घुल जात। घुलत पूर्ण तब होत। घुलना बंद।।९३।। नातर जलाकर तृण। वन्हि भी शमत स्वयं पूर्ण। वैसे भेद नष्ट करके जान। ज्ञान भी न शेष।।९४।। मेरा प़रभाव जाये। भक्त का हीनत्व नष्ट होवे। अनादि जो ऐक्य रहे। प्रकट वही।।९५।। तब गुणों को वह पार्थ। जीतत यह भी न बात। ऐक्य को भी आलिंगन समाप्त। निश्चित जहाँ।।९६।। किंबहुना ऐसी दशा। वह ही ब्रह्मत्व सुदंशा!। पाये वह यह जो ऐसा। भजत मुझको।।९७।। और इन लक्षण से युक्त। इस जग में जो मेरा भक्त।

ब्रह्मता पतिव्रता होकर पार्थ। सेवत उसको।।९८।। जैसे गंगा का ओघ। बहत जब संथ सवेग। सिंधुपद ही उसको जोग। अन्य नाही।।९९।। वैसे ज्ञान दृष्टि से पार्थ। जो मेरी सेवा करत। ब्रह्मता के मुकुट में होत। चूड़ारत्न वह।।४००।। इस ब्रह्मत्व को ही पार्था। सायुज्य ऐसी व्यवस्था। यही पुरुषार्थ चौथा। सुनिश्चित।।१।। किंतु मेरा आराधन। ब्रह्मत्व का जानो सोपान। ऐसे में मैं और साधन भिन्न। मानोगे यदि।।२।। यह कदाचित ऐसे। चित्त को तेरे भाये वैसे। किन्तु ब्रह्म न मुझमें मुझसे। भिन्न कभी।।३।।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।२७।।

ब्रह्म इस नाम से पार्थ। अभिप्राय जो अभिप्रेत। मैं ही इन्हीं शब्दों से समस्त। प्रसिद्ध जानो।।४।। देखो मंडल एवं चंद्रमा। दो नहीं सुवर्मा। वैसा मैं और ब्रह्मा-। में भेद नाही।।५।। अरे नित्य जो निष्कंप। अनावृत्त धर्मरूप। सुख जो अनाप। अद्वितीय।।६।। विवेक अपना काम। करके ही पावे जो धाम। वह निष्कर्ष का निःसीम। मैं ही पार्थ।।७।। सुनो इस विध नृपनाथ। अनन्यों का प्रिय लक्ष्मीकान्त। कहत यह सांप्रत। पार्थ वीर को।।८।। यहाँ संजय को धृतराष्ट्र बोलत। किसने पूछी तुझको यह बात?। क्यों पूछे बिन व्यर्थ। कहत जात।।९।। अब करो मेरी चिन्ता दूर। कहो पुत्रविजय का समाचार। छोड़ो यह गोष्ठी विचार। निरर्थक।।४१०।। संजय मानस में विस्मित। क्रोधयुक्त अरे रे कहत। कैसा देखो देव के साथ। बैर इसका।।११।। किन्तु कृपाल वह होवे संतुष्ट। देवें इसको विवेक का घूंट। करे मोह स्वामी इसका नष्ट। महारोग।।१२।। संजय इसविध

सोचत। कृष्णार्जुन संवाद स्मरत। महापूर हर्ष का लोटत। चित्त में उसके।।१३।। अतः अब यह मूर्त। उत्साह का अवतरण साक्षात। जो निरूपण कृष्ण करत। कहेगा अब।।१४।। वह अक्षर गर्भित अभिप्राय। ले जाऊँ हिय तक वही भाव। सुनो कहे ज्ञानदेव। श्री निवृत्ति का।।४१५।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणातीतयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।।
(श्लोक २७; ओवियाँ ४१५)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।

।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – पन्द्रहवाँ

अब हृदय अपना निर्मल। प्रक्षालकर सुविमल। उपर रखूं चरणकमल। श्री गुरु के।।१।। ऐक्यभाव की अंजुल में। सर्वेंद्रिय कलिका उसमें। भरकर पुष्पांजली से तुम्हें। अर्घ्य दूं मैं।।२।। अनन्योदक से चोखट। वासना जो तन्निष्ठ। वहीं चंदन लगाऊं सुघट। अनामिकासे।।३।। प्रेम के भांगार-। के बनाकर नुपुर। पहनाऊ सुकुमार। चरणों में उनके।।४।। अतिदृढ़ प्रीतिछंद। अव्याभिचारी विशुद्ध। डालूं उसकी बिछिया शुभद।

पदांगुलियों में।।५।। आनंदमोद बहुल। सात्त्विक का मुकुल। विकसित वह अष्टदल। चढाऊँ ऊपर।।६।। वहां अहं का धूप जलाऊँ। नाहं तेज से आरती उतारुं। सामरस्य से आलिंगन दूं। निरन्तर।।७।। मेरा प्राण और शरीर। दो खड़ाऊ चढ़ाऊ श्रीचरणपर। करूँ भोग मोक्ष निछावर। उन पर मैं।।८।। इस श्री गुरुचरण सेवा से। ऐसी योग्यता पावे सुदैव से। जो सकलार्थ मेल का होत सहज से। स्वामी वह।।९।। ब्रह्म के विश्राम पर्यंत। ऐसा उन्मेष उजियारा प्राप्त। जो इस वाचा को करत। सुधासिंधु।।१०।। कोटि पूर्णचन्द्र निछावर। उसके वक्तृत्व पर। ऐसी मधुरता अपार। अक्षरों को।।११।। प्राची को शक्ति जब सूर्य की। देवें जग को राणीव (राज्य) प्रकाश की। वैसे वाणी से श्रोताओं को ज्ञानकी। दीपावली करत।।१२।। लगे नादब्रह्म भी बौना। कैवल्य भी सोहे उतना। ऐसा होत बोल सुहाना। जिस दैव से।।१३।। श्रवण सुख के मण्डप में। भोगत विश्व वसंत उसमें। वैसी विकसित सौंदर्य में। वाचावल्ली।।१४।। ठाँव न पाकर जिसका किंचित। वाचा निवर्तत मनसहित। वह देव शब्द का विषय होत। चमत्कार अति।।१५।। ज्ञान भी न जो जानत। ध्यान को भी अप्राप्त। होवे वह अगोचर स्पष्ट। शब्द रूप में।।१६।। ऐसा अपूर्व सौभग। पावे वाचा का अंग। गुरूपाद पद्म पराग। लाहे जब।।१७।। और क्या कहूँ बहुत। आज वह अन्य को प्राप्त-। नाही एक बिन मेरे यथार्थ। कहे ज्ञानदेव।।१८।। मैं नन्हा सा बालक। मेरे गुरु का इकलौता एक। इस कारण अकेला मैं एक। पात्र कृपा को।।१९।। देख अशेष जलसम्पत्ति। लुटावे मेघ चातक पर करे वृष्टि। मेरे लिये किया

उसी भांति। गोसावी ने मेरे।।२०।। अतः रिक्त मेरा मुख। करने लगे जब बक-बक। सो गीताशास्त्र मधुर देख। पाया उसने।।२१।। होवे अनुकूल अदृष्ट। तब बालू भी रत्न बनत। आयुष्य दीर्घ तब मारक भी होत। हितकारी।।२२।। डालें कंकड़ अधन में। बदले वे अमृतमय तण्डुल में। जो चाहे क्षुधाशमन मन में। जगन्नायक।।२३।। श्री गुरू उसी प्रकार। करत जब अंगिकार। तब ठाके होकर संसार। मोक्षमय पूर्ण।।२४।। देखो जी नारायण। उन पांडवों का विगुण। करत विश्व वंद्य पुराण। स्वकृपा से।।२५।। श्री निवृत्तिराजने वैसे। अज्ञानपन को मेरे जैसे। पहुंचाया पात्रता को तैसे। ज्ञान की साक्षात।।२६।। किन्तु रहने दो सांप्रत। कहते प्रेमभाव उमड़त। वैसे गुणगौरव वर्णन प्रीत्यर्थ। मुझमें उन्मेष कहाँ?।।२७।। अब उनके ही प्रसाद से। संतचरण सेवा होवे मुझसे। अभिप्राय कथन से। गीतार्थ के।।२८।। तब वही प्रसुत में। चौदहवें अध्याय के अन्त में। निर्णय कैवल्यपति ने। किया ऐसा।।२९।। यह ज्ञान जिसके हाथ। वही मुक्ति को पात्र पार्थ। जैसे शतमख से पावत। स्वर्ग संपत्ति।।३०।। अथवा शत एक जन्म। ब्राह्मण कुल में करे ब्रह्मकर्म। होवे वही ब्रह्मा परम। अन्य नाही।।३१।। या सूर्य का प्रकाश। लाहे जैसा चाक्षुस। वैसे ज्ञान से ही प्राप्त सौरस। मोक्ष का सार्थ।।३२।। तब ऐसे ज्ञान के लिये। कौन अंग में योग्यता पावे। यदि जग में देखिये। तो एकहि ऐसा।।३३।। जो पाताल का भी निधान। दिखावे वह अंजन। किन्तु चाहिये लोचन। पद जात के।।३४।। वैसे मोक्ष देगा ज्ञान। इसमें न कोई शंका अन्य। किन्तु स्थिर चाहिये मन। शुद्ध निर्मल।।३५।। तब विरक्ति

बिन कोई। ज्ञान को स्थिरता नाही। यह सोचकर ठाँई-ठाँई। निरुपित देव ने।।३६।। तब विरक्ति की परी कौन। जो मन का आकर करे वरण। यह भी सर्वज्ञ श्रीकृष्ण। जानत पूर्ण।।३७।। जो विष से पाकसिद्धि होवे। और भोजक के समझ में आवे। तब थाली छोड़कर जावे। जिस प्रकार।।३८।। वैसा यह संसार समस्त। जाना जब अनित्य। तब रोकने पर भी दौड़त। वैराग्य उसका।।३९।। तब उसका अनित्यत्व कैसे। वही वृक्षाकार मिषसे। निरूपत विश्वेश उसे। पंचदश में इस।।४०।। सहज यदि उखड़त। पेड़ तब उलटत। वह शीघ्र ही सूखत। वैसा न यह।।४१।। इसी एक प्रकार से। रूपक की कुशलता से। नाशत फेरा जैसे। संसार का।।४२।। व्यर्थ सिद्ध करके संसार। स्वरूप में अहं को स्थिर। करने को अध्याय हितकर। पंदरहवा यह।।४३।। अब यही अशेष। ग्रंथ गर्भसार विशेष। विस्तरत विश्वेश। सुनो जीव से।।४४।। तब महानंद समुद्र। जो पूर्ण पौर्णिमाचन्द्र। सो वह द्वारका नरेंद्र। कहत ऐसे।।४५।। अरे ओ पंडुकुमर!। पहुंचते स्वरूप के घर। करत जो प्रतिबंध सुवीर। विश्वाभास वह।।४६।। वोही यह जगड़ंबरु। नाही यहां संसारु। जानो यह महातरु। वर्धित पार्थ।।४७।। किंतु अन्य वृक्ष समान। तल में मूल न ऊपर शाखा अर्जुन। अतः इसका वर्णन। न संभव किसी को।।४८।। आगी या कुल्हाडी पार्थ। यदि जड़ में प्रवेशत। कितनी भी होवे विस्तृत। वृद्धि उपर।।४९।। छेदत जब मूलसहित। शाखा सहित उन्मूलत। किंतु नहीं यहां ऐसी बात। न सुलभ यह।।५०।। अर्जुन यह कौतुक। कहने में अति अलौकिक। जो वृद्धि अधोमुख। वृक्ष की

इस।।५१।। जैसी भानु की ऊंचाई न ज्ञात। किंतु रश्मिजाल नीचे प्रसारित। संसार यह अति अद्भुत। वृक्ष वैसा।।५२।। और है नहीं जितना अशेष। समेटा इस एक में ही निःशेष। व्याप्त जैसा आकाश। कल्पान्त उदक ने।।५३।। या रवि अस्तमान में जैसे। डूबंत अंधेर में रजनी वैसे। गगन भर में तैसे। परिपूरित यही।।५४।। इसको भक्षणीय फल नाही। सुगंध युक्त फूल नहीं कोई। जो कुछ वह यह वृक्ष ही। पंडुसुत।।५५।। यह ऊर्ध्वमूल पार्थ। किंतु नहीं उन्मूलित। इसलिये सर्वदा रहत। हराभरा यह।।५६।। और ऊर्ध्वमूल से। निरूपित स्पष्ट जैसे। परंतु अद्य में ही बहुत से। मूल इसको।।५७।। यह प्रसारित चौफेर। पीपल बड़ जिस प्रकार। जो मूल में भी विद्यमान सुवीर। शाखा इसकी।।५८।। वैसे भी देखो धनंजय। संसार तरु को यह। अधमेही शाखा सर्व। ऐसा नाही।।५९।। तब ऊर्ध्व में ही पार्थ। शाखा संभार बहुत। दिखत अनगनित। विस्तरित।।६०।। हुआ गगन ही पल्लवमय। पवन वृक्षरूप कौन्तेय। नाना अवस्थात्रय। के रूप में प्रकट।।६१।। ऐसा यह एक। विश्वाकार विटंक (विस्तृत)। उत्पन्न जानो वृक्ष। ऊर्ध्वमूल।।६२।। अब ऊर्ध्वभाग कवन। यहां मूल का किं लक्षण। या अधोमुखपन। शाखा को कैसे?।।६३।। अथवा द्रुमको इस। अध में मूल विशेष। और कैसी इसकी खास। ऊर्ध्वशाखा।।६४।। और अश्वत्थ यह कैसी। प्रसिद्धि इसकी ऐसी। आत्मविद विलासी-। निर्णय करत।।६५।। यह अशेष सुंदर। तुझको प्रतीत होवे सुवीर। कैसे कहूं समझाकर। विशिष्ट विन्यास से।।६६।। तब सुनो हे सुभगा। योग्य तुझको यह प्रसंग। कर्णा ही करो सर्वांग। श्रवणार्थ

हियसे।।६७।। ऐसे प्रेमरस से सरोवर। कहत जब यादववीर। तब अवधान अर्जुनाकार। हुआ मूर्त।।६८।। देव निरूपत सो अल्प न्यून। श्रोतापन इतना महान। जैसे आकाश को आलिंगन। हुआ दश दिशा में।।६९।। श्रीकृष्णोक्तिसागर। यह अगस्तिही दूसर। अतः लेना चाहे घूंट एक-सर। अशेषका।।७०।। ऐसी श्रवणप्रीति अपार। अर्जुन में देखे यदुवर। तब करे संतोष निछावर। उस पर देव।।७१।।

श्री भगवान उवाच-

ऊर्ध्वमूलमधःशाखामश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य मर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।१।।

तब देव कहे धनंजय। इस तरु को ब्रह्म ऊर्ध्व। जिसको आवे यह ऊर्ध्वत्व। इसी वृक्ष से।।७२।। अन्यथा मध्योर्ध्व अध। यह नहीं जहां भेद। अद्वय का ऐक्य विशद। जिसके ठाँई।।७३।। जो श्रवण अगम्य नाद। जो असौरभ्य मकरंद। जो प्राप्त स्वरूपानन्द। सुरती बिन।।७४।। जिसको इह नही पर। आगा-पीछा एक सुवीर। दृष्टिबिन गोचर। अदृष्य इंद्रियों कों।।७५।। जब उपाधि का दूसर। डालकर ओपसर (संबंध)। नामरूप संसार का विस्तार। होवे जिसका।।७६।। ज्ञातृज्ञेय विहीन। केवल जो ज्ञान। सुख से संपृक्त गगन–।से छना जो।।७७।। जो कार्य ना कारण। जिसको एक ना दूजापन। अपना जो आपुन। एकलौता एक।।७८।। ऐसी जो वस्तु सत्य। वह ऊर्ध्व इस तरुका पार्थ। उस मूल का अंकुर यथार्थ। इस प्रकार।।७९।। उसको माया यह ख्याति। अस्तित्व जिसका मिथ्या किरीटि। या बांझ की संतति। वर्णन जैसी।।८०।। वैसी सत् न असत्। विवेक का नाम

भी न सहत। इस प्रकार अनादि अद्भुत। कहत इसे।।८१।। जो नाना तत्त्वों की पेटी। जगदभ्र को आकाश किरीटि। विश्वाकार वस्त्र की पुटी। की जैसी।।८२।। भवद्रुम बीजिका। जो प्रपंच चित्र भूमिका। विपरित ज्ञान दीपिका। प्रज्वलित।।८३।। वह माया वस्तु के ठाँई। रहत जैसी मिथ्या ही। किंतु वस्तु प्रमारूपसे वही। होवे प्रकट।।८४।। अपने को जब आवे नींद। करे स्वतः को जैसी मुग्ध। या कालिख करे मंद। प्रभा दीप की।।८५।। तरुणांगी स्वप्न में निद्राधीन। प्रियसम्मुख जगाकर तत्क्षण। आलिंगत आलिंगन बिन। सकामु करत।।८६।। वैसे स्वरूप से माया उत्पन्न। करे उसका ही विस्मरण। वही इस वृक्ष की जान। प्रथम मूल।।८७।। वस्तु को अपना अबोध। वही ऊर्ध्व का मायाकंद। वेदान्त में यही प्रसिद्ध। बीजभाव।।८८।। घन अज्ञान सुषुप्ति। वह बीजांकुरभाव किरीटि। अन्य स्वप्न और जागृति। फलभाव उसको।।८९।। ऐसी यह वेदांत में पर्थ। निरूपम की भाषा प्रतीत। रहने दो यह जानो प्रस्तुत। अज्ञान ही मूल।।९०।। ऊर्ध्व वह आत्मा निर्मल। अधोर्ध्व प्रस्फुटत मूल। खोदकर बलिष्ट गहरा थाल। माया योग का।।९१।। तब अध में संदेहान्तर। उठत जिसको अपार। चौबाजू से फूटत अंकुर। सखोल जात।।९२।। ऐसे भवद्रुम का मूल। ऊर्ध्व में यह करत बल। तब अंकुर संभार सकल। अध में दिखावत।।९३।। वहां चिद्वृत्ति प्रथम पार्थ। महत्तत्व विकसत। वह पर्ण कोमल सृजत। अति प्रिय एक।।९४।। पश्चात सत्वरजतमात्मक। त्रिविध अहंकार जो एक। प्रस्फुटत त्रिपर्णी अधोमुख। धनुर्धर।।९५।। वह बुद्धि की फुनगी अन्य। लोकर करे भेद का वर्णन। वहाँ प्रस्फुटित विकसित पूर्ण।

शाखा मन की।।९६।। इस विध मूल दृढ़ जब। विकल्प रूप रस से तब। चित्त चतुष्टय शाखा सब। अंकुरत पार्थ।।९७।। और आकाश वायु द्योतक। आप पृथ्वी ये पंच फोंक (शाखाएं)। महाभूत के पुष्ट देख। सीधे सृजत।।९८।। वैसे क्षोत्रादि तन्मात्र। अंगाश्रित गर्भ पत्र। कोमल अतिविचित्र। प्रस्फुटत।।९९।। वहां शब्दांकुर को आलिंगनार्थ। क्षोत्रवृद्धि डेवड़ी होवे पार्थ। तब शाखा निर्मिति करत। विषय आकांक्षा की।।१००।। अंग त्वचा के वेली पल्लव। स्पर्शान्कुर तक धावत पाण्डव!। वहां शैवाल उठे अभिनव। विकारों का।।१।। पश्चात रूप पत्र लता प्रस्फुटित। दीर्घ शाखा चक्षु प्रसवत। वहां व्यामोह का पार्थ। विस्तार होत।।२।। और रस के साथ। शीघ्र गति से बढ़त। अतिपर्ण इच्छा के जिव्हा को बहुत। समूह सृजत।।३।। वैसे अंकुरित गंध जब। घ्राण की फुनगी लेत तब। स्वानंद से वहां अनुभव सब। प्रलोभ का।।४।। एवं महदहंबुद्धि। मन महाभूत समृद्धि। यह संसार की अवधि। विस्तरित सर्वत्र।।५।। किंबहुना इन्हीं अष्ट–। अंग से यह अधिक वर्धत। किंतु सीप समान प्रकटत। रूपा जैसा।।६।। या समुद्र का जितना विस्तार। उतने ही ऊपर तरंग अपार। वैंसे ब्रह्म ही होवे वृक्षाकार। अज्ञान मूलक।।७।। अब यही इसका विस्तार। यही इसका परिवार। जैसे स्वप्न में सब परिवार। एकल ही का।।८।। किंतु रहने दो ऐसे। उस उन्मत्त वृक्ष से। प्रस्फुटत महदादि अंकुर से। अधोशाखाएं।।९।। और ऐसे इसको अश्वत्थ। जो ज्ञानीजन कहत। वह सुनो यहां सांप्रत। कहूं तुझको।।११०।।

तब श्वःमाने कल तक। एक समान इसका एक। निर्वाह नाही प्रपंचरूप। वृक्ष का

पंडुकुमर।।११।। जैसा न व्यतीत एक क्षण। मेघ होवे नानावर्ण। या विजु न रहे संपूर्ण। निमिषभर ही।।१२।। अथवा कंपित पद्म दल-। पर स्थिर न रहे जल। या चित्त जैसे व्याकुल। मनुष्य का।।१३।। वैसी इसकी स्थिति। प्रतिक्षण नष्ट होवे किरीटि। इसलिये कहत निश्चिति। अश्वत्थ इसको।।१४।। और अश्वत्थ इस नाम से। व्यवहार में पीपल संज्ञा जिसे। किन्तु वह अभिप्राय नाही इससे। श्री हरि का।।१५।। वैसै पीपल ही किरीटि। प्रभु की नीकी विभूति। किंतु इस लौकिकार्थ का संप्रति। प्रयोजन क्या?।।१६।। इसलिये यह प्रस्तुत। अलौकिक सुनो ग्रन्थ। क्षणिक अतः अश्वत्थ। कहिये इसको।।१७।। और भी एक कौन्तेय। प्रसिद्ध नाम इसका अव्यय। किन्तु इसका गर्भित अभिप्राय। इस प्रकार।।१८।। जैसे मेघ के मुख से। समुद्र रीतत एक अंग से। और नदी दूजी ओर से। भरत जात।।१९।। किन्तु वह न कमत न बढ़त। अतः सदा परिपूर्त। जब तक चक्र यह न रुकत। मेघ-नदीका।।१२०।। इस वृक्ष की उत्पत्ति-लय। अति शीघ्र गति से कौन्तेय। अतः इसको अव्यय। कहत लोक।।२१।। जैसे दानशील पुरुष एक। दातृत्वपन से ही पुण्य संचक। वैसे व्यय से ही यह वृक्ष। अव्यय भासत।।२२।। चलते अति शीघ्र गति से। भ्रम से भासत भूमि में गड़ा ऐसे। दिखत रथ वैसे। धनुर्धर।।२३।। कालातिक्रम से जो सूखत। भूतशाखा वह यहां गिरत। तब कोटिशः अंकुर पार्थ। सृजत उसको।।२४।। किंतु कब एक नष्ट। कोटि शाखा कब सृष्ट। न जाने कैसे आवत जात। आषाढ़ अभ्र।।२५।। महाकल्पान्त में किरीटि। उत्पन्न जो उन्मूलत सृष्टि। और अरण्य की उत्पत्ति। एवं वृद्धि

होत।।२६।। प्रचंड संहार वात से पार्थ। जीर्ण छाल प्रलयान्त में झड़त। पुनः कल्पादि में पल्लवत। वृक्ष संभार।।२७।। मन्वन्तर आगे मन्वन्तर। वंश पर वंश का होवे विस्तार। जैसी इक्षुवृद्धि होवे सुवीर। कांड (पोर) पर कांड से।।२८।। कलियुगान्त में शुष्क अर्जुन। चार युग की गिरे छाल संपूर्ण। तब कृतयुग की दुगनी नूतन। उपजत पुनः।।२९।। वर्तमान वर्ष बीतत। आगामी को पाचारत। वैसे दिन उदय होत या अस्त। न जाने कोई।।१३०।। जैसे पवन के झोंकों का अर्जुन। न जाने कौन संधिस्थान। वैसी शाखा पर शाखा जानो। प्रस्फुटत बहुत।।३१।। एक देह का टूसा टूटत। सैकड़ों देहांकुर फूटत। इस विध भवतरू भासत। अव्यय जैसा।।३२।। बहता पानी बहे शीघ्र। दिखत अखंड पीछे से मिले और। वैसे असत् यह जगव्यापार। भासत सत्य।।३३।। या निमिष भर में पार्थ। जब कोटिशः होत जात। किंतु अज्ञानी को तरंग भासत। नित्य जैसे।।३४।। पुतली एक काक को अर्जुन। दोनों ओर घुमावत समान। तब दो पुतली का भ्रम उत्पन्न। होवे जग को।।३५।। लट्टू घूमे तीव्र गति से। भासत भूमि में गड़ा जैसे। ऐसा भ्रँम अति वेग से। होवे पार्थ।।३६।। रहने दो यह बहुत। अंधेरे में मशाल घुमावत। यह जैसी सहज दिखत। चक्राकार।।३७।। यह संसार वृक्ष तैसा। निर्मित नाशत सहसा। अज्ञानी भ्रांत अव्यय ऐसा। मानत इसको।।३८।। किंतु इसकी गति तीव्र। जो यह जाने क्षैणिक सुवीर। निमिषभर में कोटि बार। होत जात।।३९।। नहीं मूल अज्ञानबिन। अस्तित्व इसका व्यर्थ जान। ऐसा वृक्ष जीर्ण शीर्ण। जाना जिसने।।१४०।। उसको हे पंडुसुता। कहूं मैं

सर्वज्ञाता। वाग्ब्रह्म सिद्धांत को सर्वथा। वंद्य वह।।१४१।। योग साधन से प्राप्त। अकेले उसको ही फलित। किंबहुना उससे ही जीवित। ज्ञान जग में।।४२।। रहने दो यह विस्तृत कथन। कौन कर सके इसका वर्णन। जो जाने भववृक्ष संपूर्ण। क्षणभंगुर यह।।४३।।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

तब इसी प्रपंचरस को। अधःशाखिया पादप को। प्रस्फुटत ऋजु ऊर्ध्व को। डालियां बहुत।।४४।। और अध में विकसित डाल। वही बनत इसका मूल। उससे बहरत तल में निखिल। पल्लव लता।।४५।। ऐसा जो हमने। कहा तुझको उपक्रम में। कहूं वही सुगम बोली में। सुनो अब।।४६।। दृढ बद्ध मूल अज्ञान। लेकर महदादिक वेदशासन। प्रपंच का महाबन। निर्मित पार्थ।।४७।। किंतु प्रथम स्वेदज। जारज उद्भीज मणिज। अधः स्तंभ से महाभुज। प्रस्फुटत चार।।४८।। इन एकेक से और। चौरासी लक्षधा अंकुर। फूटत जीव शाखा में अवान्तर। डालिया सैंध।।४९।। प्रसवत कुछ शाखा सरल। नाना सृष्टिरूप बहुल। आड़े में शाखा सकल। भिन्नजाति की।।१५०।। स्त्री पुरुष नपुंसक। व्यक्ति भेद सांचे अनेक। आंदोलत आंगिक। विकार भार से।।५१।। जैसे वर्षाकाल गगन में। प्रसरत नवघनरूप में। वैसे आकारजात अज्ञान में। बहरत पार्थ।।५२।। तब शाखा के अंगभार से। झुककर उलझत परस्पर से। गुणक्षोभ वायु उससे। बहने लगत।।५३।। तब उस अति वेगवन्त। गुणवृद्धि प्रकोप से पार्थ। त्रिस्थान में यह फटत। ऊर्ध्वमूल।।५४।। इसविध रज

का झोंका। झड़झड़त तीव्र गति से देखा। तब मनुष्यजाति शाखा। वर्धत वहां।।५५।। उनसे ऊर्ध्व में न अध में। लदालद भरत मध्य में। स्फुटत आड़ी शाखाएं इसमें। चतुर्वर्ण की।।५६।। वहां विधि निषेधरूप पल्लव। वेदवाक्यों के अभिनव। डोलत नित्यनूतन अपूर्व। स्वच्छंद से।।५७।। अर्थकाम के अंकुर। अग्रवन का होवे विस्तार। प्रसरत क्षणिक पदान्तर। ऐहिक भोग की।।५८।। वहां प्रवृत्ति के वृद्धि-लोभ–। से प्रस्फुटत शुभाशुभ। नाना कर्मों के स्तंभ। न जाने कितने।।५९।। वैसे भोगक्षय उपरांत। शुष्क देहवृक्ष उन्मूलत। तब आगे शाखाएं बढ़त। नूतन देह की।।१६०।। और शब्द स्पर्शादिक। सहजरूप से आकर्षक। विषय पल्लव नूतन कित्येक। सृजत नित्य।।६१।। इसविध रजोवात से प्रचंड। मनुष्य शाखाओं के झुंड। वर्धत जहां वह रूढ़। मृत्युलोक।।६२।। ऐसा वह रज का पवन। रुकत जब एकक्षण। तब गर्जत विलक्षण। तम घोर।।६३।। वहां इसी मनुष्य शाखा से। नीच वासना अध में जैसे। पल्लवत उपशाखा उससे। कुकर्मों की।।६४।। अप्रवृत्ति के बलिष्ट। कोपल सरल फूटत। पर्ण प्ररोह प्रस्फुटत। प्रमादों के।।६५।। कहत निषेध नियम। जो ऋचाएं यजुःसाम। वह पर्ण संभार अग्रिम। सिरे पर।।६६।। प्रतिपादित अभिचार। अथर्व में जो परमार। त्रिपर्णों का वह विस्तार। वासना वल्ली का।।६७।। तब तब होवे पुष्ट। अकर्म तलस्तंभ पार्थ। और आगे-आगे धावत। जन्मशाखा।।६८।। वहां चांडालादि निकृष्ट। हीन जाति महाशाखा सृष्ट। भ्रमित कर्मभ्रष्ट को प्राप्त। होवे सहज।।६९।। पशु पक्षी सूकर। व्याघ्र वृश्चिक विषधर। ये आड़शाखा

प्रकार। प्रबल होत।।१७०।। किंतु ऐसी शाखाएं अर्जुन। सर्वांग को नित्य नूतन। निरयभोग दारुण। पावत वे।।७१।। और हिंसा विषय मुख्य पार्थ। कुकर्मसंग धुरी धरत। अनेक अग्रांकुर जन्मपर्यंत। बढ़त जात।।७२।। ऐसे होवत तरु तृण। लोह लोष्ट पाषाण। वहां शाखा फल जान। योनियां यही।।७३।। सुनो ध्यान से सुवीर। मनुष्य से इन स्थावर। पर्यंत वृद्धि होवे साचार। अधो शाखाओं की।।७४।। अतः यह मनुष्य डाल। जानो इसको ही अधोमूल। जो यहां से प्रसरित सकल। संसार तरु।।७५।। वैसे ऊर्ध्व अध का पार्थ। यदि मुद्दल मूल देखत। यही शाखा मध्यस्थ। मनुष्यरूप।।७६।। किंतु तामस सात्विक। सुकृत दुष्कृतात्मक। विरूढ़त शाखाएं अनेक। अधोर्ध्व की।।७७।। और वेदत्रयीके पर्ण। न प्रस्फुटत अन्यत्र अर्जुन। एक मनुष्यबिन इनके विधान–। को विषय नाही।।७८।। अतः तनु मानुष। ऊर्ध्वमूलक शाखा विशेष। किन्तु कर्मवृद्धि को अशेष। यही मूल।।७९।। अन्य सामान्य वृक्ष में। शाखा वृद्धि से आवे दृढ़ता मूल में। मूल पुष्ट तब होवे शाखा में। विस्तार और।।१८०।। वैसा ही यह शरीर। कर्म जब तक देह संसार। और देह तब तक व्यापार। न छूटे कभी।।८१।। अतः यह मानुष देह कौंतेय। मूल कर्म साधन को अनिवार्य। ऐसे जगज्जनक श्री यदुराय। निरूपत स्वयम।।८२।। तम का दारुण भर। होवे जब स्थिर। सत्व का छूटत घोर। चण्डवात।।८३।। तब इसी मनुजाकार जड़ से। सुवासनांकुर फूटत जैसे। सुकृतांकुर उससे। प्रस्फुटत पार्थ।।८४।। विकसित जब उन्मेख। प्रज्ञाकुशलता की तीक्ष्ण अनेक। टहनियां उभरत निमिष–। भर में शीघ्र।।८५।। मतिरूप

लंबी शाखा पार्थ। स्फूर्ति के बल से बढ़त। बुद्धि प्रकाश फैलत। विवेक से।।८६।। वह मेघारस सगर्भ अर्जुन। आस्थापत्र से सुशोभन। अंकुर सरल उत्पन्न। सद्वृत्ति के।।८७।। सदाचार के अचानक। प्रस्फुटत कोपल कित्येक। गर्जत घोष अनेक। वेद पद्यों के।।८८।। शिष्टागम विधान। यज्ञयागादि विविध अनुष्ठान। ऐसे पर्ण ऊपर पर्ण। प्रसरत वहां।।८९।। ऐसे यमदम के गुच्छे पार्थ। तप की टहनियां निर्मित। वैराग्य शाखा कोमल विस्तृत। लिपटत उनको।।१९०।। विशिष्ट व्रत के फोक (पतली शाख)। धृति के अणिदार अनेक। जन्म गति से ऊर्ध्वमुख। ऊंचे बढ़त।।९१।। मध्य में वेदपर्ण घनदाट। करत सुविद्या का घड़घड़ाट। जब गर्जत अचाट। सत्त्वानिल वह।।९२।। वहां धर्मड़ाल विस्तृत। जन्मांकुर सरल फूटत। स्वर्गादिक के फल स्वादिष्ट। पकत वहां।।९३।। आगे उपरतिरूप लोहित वर्ण। शाखा के धर्ममोक्ष पर्ण। लहलहत नित्य नूतन। निरन्तर।।९४।। और रविचंद्रादि ग्रहवर। पितर ऋषि विद्याधर। ऐसे आड़शाखा प्रकार। बढ़त बहुत।।९५।। इससे भी ऊंचे अधिक। ढांकत फल मूल को अशेख। संभार दैवी इंद्रादिक। बृहत शाखाओं के।।९६।। पश्चात उनके भी ऊपर। तपोज्ञान से शाखापर। बसत मरीचि कश्यपादि निरन्तर। जहां पार्थ।।९७।। एवं मालाक्रम से उत्तरोत्तर। ऊर्ध्व शाखाओं का विस्तार। जड़ में लघु विशाल अग्र। फलभार से।।९८।। इसके ऊपर भी शाखा अनेक। आवत जो फलभार देख। ले अणीदार ब्रह्मेश तक। अंकुर वहां।।९९।। फल के बहुभार से। बुनत अध में ऊर्ध्व से। भासत टिकत जैसे। मूल तक पार्थ।।२००।। वैसे भी

सामान्य वृक्ष में। जब लदत फल भार उसमें। झुकत भार से अध में। स्पर्शत जड़को।।१।। वैसे जहां से यह संपूर्ण। संसार तरु उत्पन्न। जड़तक ज्ञानवृद्धि से पुनः। झुकत पार्थ।।२।। अतः ब्रह्मेशान के पर। जीव को न वृद्धि साचार। वहां से आगे समग्र। ब्रह्म ही एक।।३।। रहने दो यह ऐसे। ब्रह्मादिक भी अंगसामर्थ्य से। उस ऊर्ध्वमूल ब्रह्म से। न तुलत कभी।।४।। और भी ऊर्ध्वशाखा पार्थ। सनकादिक नाम से विख्यात। जिनको फल-मूल न प्राप्त। केवल ब्रह्मरूप।।५।। ऐसे मनुष्य योनि से अर्जुन। ऊर्ध्व में ब्रह्मादि अंतिम पर्ण। शाखाओं की वृद्धि पूर्ण। ऊँची बढ़त।।६।। पार्थ! ऊर्ध्वस्थिति ब्रह्मादि। मनुष्यत्त्व ही आदि। अतः इनको प्रसिद्धि। अधोमूल की।।७।। एवं तुझको अलौकिक। यह अधोर्ध्व शाख। निरूपित भववृक्ष। ऊर्ध्वमूल।।८।। और अधस्थित ये मूल। बतलाएं सविस्तार सकल। अब सुनो इनका समूल। उन्मूलन कैसा?।।९।।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चार्दिन च संप्रतिष्ठा।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।

किन्तु तेरे चित्त में पार्थ। संदेह यह होगा क्वचित। इस वृक्ष का उत्पाटन करत। ऐसा शस्त्र कौन सा।।२१०।। जिसकी ब्रह्मलोकपर्यंत। ऊर्ध्वशाखाएं वर्धित। और मूल तो सुस्थित। निराकार में ऊर्ध्व।।११।। शाखा अध की विस्तीर्ण। स्थावर तक प्रसरत अर्जुन। मध्य में बहरत संपूर्ण। मनुष्यरूप।।१२।। ऐसा दृढ़ और बलिष्ठ। कौन करेगा इसका अन्त। कदाचित ऐसा भाव निकृष्ट। आवे तव मन में।।१३।। तब करने इसका

उन्मूलन। क्या सायास यहां अर्जुन। क्या हवा को देश में अन्य। भगाना पड़त?।।१४।। गंधर्व दुर्ग को क्या गिराना?। कैसा शशविषाण तोड़ना?। होगा यदि तब ना तोड़ना। आकाश पुष्प!।।१५।। वैसा संसार यह सुवीर। वृक्ष नाही साचोकार। तब उन्मूलन में धनुर्धर। यत्न कैसा?।।१६।। हमने मूल शाखा प्रकार। बतायें जो अपरंपार। जानिये वह वंशविस्तार। वन्ध्या का पार्थ।।१७।। स्वप्न का संभाषण। क्या उपयोगी जागृति में अर्जुन?। वैसे जानिये वृक्षकथा पूर्ण। निरर्थक यह।।१८।। हमने कहा जैसा। अचल दृढ़मूल ऐसा। यदि सच में यह वैसा। रहे तब।।१९।। ऐसा मां का पूत कौन?। जो करे इसका उन्मूलन। क्या फूंकने से गगन। उड़त पार्थ?।।२२०।। अतः सुनो धनंजय। वर्णित सब माया ही वह। कैसे राजा को मेजबानी शक्य। घी से कछवी के।।२१।। मृगजल का ताल। दूर से दृष्टि से देखना केवल। क्या उससे धान फल। उगाना शक्य?।।२२।। मूल मिथ्या यह अज्ञान। क्या उसका कार्य-कारण। अतः यह संसारवृक्ष साँच जान। माया सब।।२३।। और अन्त इसको नाही। ऐसा जो कथन कोई। वह भी देखो सत्य ही। प्रकार से एक।।२४।। जागृति न आवें जब तक। अन्त निद्रा का कैसा तब तक?। या रात्रि न बीतत तब तक। नहीं दिनोदय जैसा।।२५।। वैसा जब तक पार्थ। न उठावत विवेक माथ। इस भवरूप अश्वत्थ-। को अन्त नाहीं।।२६।। बहत वारा संतत। जब तक न रहे निवान्त। तब तक तरंग अनंत। कहना ही पड़त।।२७।। जब सूर्य का होवे अस्त। तब भास मृगजल का लोपत। या बुझत दीप तब लुप्त। प्रभा उसकी।।२८।। वैसे

मूल अविद्या भक्षत। ज्ञान ऐसे जब होवे उदित। तब ही संभव इसका अन्त। अन्यथा नाहीं।।२९।। वैसा यह अनादि। ऐसी जो इसकी उपाधि। वृथा नही वह प्रसिद्धि। धनुर्धर।।२३०।। इस संसार वृक्ष के ठाँई। वास्तविकता कतई नाहीं। उसको नहीं आदि कोई। सुनिश्चित।।३१।। जो साथ जहां से उत्पन्न। उसको आदि सोहे अर्जुन। अब नहीं जो मूलतः जनन। उसको कहां से?।।३२।। अतः जन्म नाही जिसको। कौन माता उसको?। कहा अभावरूप से ही इसको। अनादि पार्थ।।३३।। बांझ के पुत्र की। कैसी जन्म पत्रिका उसकी?। नीली भूमिका नभकी। कैसी कल्पना यह?।।३४।। व्योम कुसुम का पार्थ। डंठल कौन तोड़त?। अतः नाही जो ऐसे भवको संभवत। आदि कैसी?।।३५।। वैसे घटोत्पत्ति पूर्व। अनादि जैसा घटभाव। वैसा समूल वृक्ष यह। अनादि जान।।३६।। देखो इस विध पार्थ। नहीं इसको आद्यंत। मध्य में अस्तित्त्व जो भासत। मिथ्या वह।।३७।। ब्रह्मगिरि से न उत्पन्न। समुद्र में न इसका मिलन। मध्ये जो प्रत्यक्ष दर्शन। मृगांबु का जैसे।।३८।। वैसा आद्यन्त निश्चित नाहीं। और सत्य भी न कब ही। किंतु मिथ्यत्त्व की नवाई। जो भासत यह।।३९।। नाना रंगों से युक्त। जैसे इंद्रधनु। दिखत। वैसे अज्ञानी को भासत सत्य। आभास इसका।।२४०।। वैसे स्थिति काल में पार्थ। अज्ञानी के नेत्र भुलावत। जैसे बहुरूपी लोगों को लूटत। लाघव से अपने।।४१।। शामिका न होते हुए वैसी। दिखत व्योम में छांई जैसी। किंतु क्षण एक में होवे नाश वैसी। पंडुकुमर।।४२।। स्वप्न के मिथ्या पदार्थ। क्या निर्वाह उनका यथार्थ। कैसा आभास यह क्षणिक पार्थ।

निःसार जान।।४३।। देखें यदि भासत सत्य। किंतु हाथ में न आवत। मर्कट चेष्टा प्रतिबिंबित। जल में जैसी।।४४।। तरंग उठत विरमत जल में। विजु प्रकटत लोपत नभ में। उनका भी संसार की तुलना में। क्षणिकत्त्व हीन।।४५।। जैसे ग्रीष्मान्त का पवन पार्थ। न जाने आगे या पीछे से बहत। वैसे स्थैर्य नाही किंचित। भवतरु को इस।।४६।। वैसा आदि ना अन्त। न कोई रूप निश्चित। ऐसे में क्या खटपट। उन्मूलन में इसको?।।४७।। अपने ही अज्ञान से। वृथा वृक्ष विस्तरित जैसे। अब आत्मज्ञान की कुल्हाडि से। काटो इसको।।४८।। एक ज्ञान के बिना। उपाय करे कितने ना। जानो अधिक उलझना। वृक्ष में इस।।४९।। तब कितनी शाखोपशाखा में। भ्रमण इसका ऊर्ध्वअध में। अतः छेदो इसको मूल में। सम्यक्ज्ञान से ही।।२५०।। वैसे मारने उरग डोर का। ढ़ेर जमाया लाठी का। यत्न वह व्यर्थ ही का। धनुर्धर।।५१।। तैरने मृगजल की गंगा। धावत बन से लाने को डोंगा (तरी)। नाले में डूबत सच में वही गा। पंडुकुमर।।५२।। वैसे मिथ्या इस संसार में। नाहक भ्रमत उसमें। मरे स्वयं या पड़े प्रकोप में। वायु के वह।।५३।। स्वप्न के घाव का पार्थ। उपाय एक, होना जागृत। वैसे अज्ञान मूल करने खंडित। ज्ञान ही खंड।।५४।। किंतु चलाने को वह लीलया। वैराग्य का नित्य नया। बल अभंग बुद्धि का धनंजया। होना युक्त।।५५।। जो उत्पन्न होवे वैराग्य। यह त्रिवर्ग सब भोग्य। जानकर अयोग्य। श्वान वमन जैसा।।५६।। उस सीमा तक गुड़ाकेश। पदार्थ जात में अशेष। होना वैराग्य का आवेश। बल और दृढ़।।५७।। देहाभिमान का म्यान तत्क्षण। निकालकर खड्ग पर से

अर्जुन। प्रत्यग् बुद्धि को मुट्ठी में धारण। करना तुम।।५८।। विवेक पाषाण पर। ब्रह्मास्मि बोध की तीक्ष्ण धार। अद्वैत बोध का पानी बारंबार। चढ़ाना उसपर।।५९।। फिर निश्चय के मुष्टिबल से पार्थ। घुमाना कुछ काल पर्यंत। पश्चात शुद्ध मन से संतत। तौलना उसको।।२६०।। जब ज्ञान खड्ग से एकता। होवे निदिध्याससे पंडुसुता। खंडन को शेष न तत्त्वता। द्वैतवृक्ष।।६१।। वह आत्मज्ञान का शस्त्र। तीव्र अद्वैत प्रभा से पार्थ। कहीं भी न बचने देत। भववृक्ष को।।६२।। शरदागम का समीर। झाड़े मेघमल करे निर्मल अंबर। या उदित रवि अंधेर। का लेत घूंट।।६३।। अथवा प्राप्त जब जागृति तत्क्षण। नष्ट स्वप्न सृष्टि पूर्ण। वैसे स्वप्रतीतिधारा तीक्ष्ण। करत नाश।।६४।। तब उर्ध्व का मूल। या अध का शाखातल। कुछ भी न दिखत मृगजल। चांदनी में जैसे।।६५।। इस प्रकार हे वीरमाथा!। आत्मज्ञान की खड्गलता। छेदत भवाश्वत्थ को तत्त्वता। ऊर्ध्वमूल को।।६६।।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः पसृता पुराणी।।४।।

जो इदंता से ज्ञात। अहं वृत्तिबिन विस्तरित। वह रूप देखें स्वतः। अपना ही स्वयम्।।६७।। किंतु दर्पणाधार से। एक को ही दो करके जैसे। मुख देखत मूढ़ वैसे। न देखो तुम।।६८।। यह देखना ऐसा। न खुदे कूप में जैसा। उद्गम स्थान में निर्झर छिपा सा। भरके ही रहत।।६९।। नातर सूखत जब अंभ। मीनत निजबिंब में प्रतिबिंब। या विलीन नभ में नभ। घटाभाव से।।२७०।। अथवा इंधनांश जब नष्ट। वन्हीं स्वरूप में

प्रविष्ट। वैसे अपने में अपने को पार्थ। निहारना तुम।।७१।। सुस्वाद जिन्होंने सेना। पुतली को स्वचक्षु से देखना। वैसा यह निरखना। स्वयं का जानो।।७२।। या प्रभा को प्रभा मीनत। गगन गगनपर पहुड़त। अथवा पानी की झोली में भरत। पानी ही पार्थ।।७३।। स्वतः अपने आपको जैसे। देखे अद्वैत भाव से। यह ऐसा ही निश्चित से। कहूं तुझको।।७४।। दृष्टा दृष्यबिन जो ज्ञान। विशिष्ट भाव से न जानो अर्जुन। आद्यपुरुष नाम से विद्यमान। स्वयं जो।।७५।। वहां उपाधि का आश्रय। लेकर उभारत जिव्हा कौन्तेय। और नामरूप को गौरव। वृथा करत।।७६।। किंतु भव स्वर्ग से उद्विग्न। मुमुक्षु अवलंबत योग ज्ञान। न पायेंगे जन्म पुनः। शर्त से इस।।७७।। संसार को ताली देकर। दौड़त होड़से वीतराग संसार। कर्मप्राप्त ब्रह्मपद ही चोटी लांघकर। छोड़त पीछे।।७८।। अहंकार निजिविकार। इनको पूर्ण झाड़ा देकर। प्राप्त करत प्रमाणपत्र। मूल घरका।।७९।। जहां से यह विस्तृत। विश्वपरंपरा की वल्ली वर्धित। व्यर्थ आशा जैसी बढ़त। निदैवी की।।२८०।। जिस वस्तु का अज्ञान। बनावें इस विश्व को महान। बढ़ावत नही जो विद्यमान। मैं-तू पन जग में।।८१।। जो विश्व का आदिकारण। वही अपने को जानो अर्जुन। जैसे शीत को आते शीतपन। शीत से ही।।८२।। और भी एक चिन्ह। आत्मस्वरूप का जान। उपरान्त जिसके मिलन। आना न पुनः।।८३।। किन्तु उसको मिलना ऐसे। जो सर्वत्र समभाव से। परिपूर्णत्व से जैसे। प्रलयांबुका पार्थ।।८४।।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्य मूढाः पदमव्ययं तत्।।५।।

जिन पुरुषों का मन। छांडत सब मोह मान। वर्षांत में जैसे घन। आकाश को।।८५।। जो निर्धन और निष्ठुर। स्वजन त्रस्त जात दूर। वैसे न ग्रासत जिसको विकार। धनुर्धर।।८६।। फलित कदली उन्मूलत। वैसी जिसकी क्रिया समस्त। शनैः शनैः निर्मूल होत। आत्मज्ञान से।।८७।। आग लगते ही वृक्ष को। पक्षी छांडत उसको। वैसे छोड़त जिसको। विकल्प सब।।८८।। सुनो सकल दोषतृण। अंकुरत जिस मेदिनी से अर्जुन। उस भेदबुद्धि का ज्ञान। नाहीं जिसको।।८९।। सूर्योदय सरिसी। भागे रात अपने से जैसी। गई देह अहंता तैसी। अविद्या सहित।।२९०।। आयुष्यहीन जीव को पार्थ। शरीर तत्क्षण छांडत। वैसे मोह मूलक द्वैत। तजत उसको।।९१।। लोह दुष्प्राप्य पारस को। अंधेर न दिखत सूर्य को। वैसे अखंड दुकाल जिसको। द्वैतबुद्धि का।।९२।। पार्थ सुख-दुःखाकार–। द्वैत जिस देह में गोचर। वह सम्मुख जिसके साचार। न आवे कभी। ९३।। स्वप्न का राज्य या मरण। न होवे हर्ष शोक का कारण। जागृति में जैसे अर्जुन। जिस प्रकार।।९४।। वैसे सुख-दुःखादिक–। द्वंद्व पापपुण्यादिक। सर्प न आवे सम्मुख। गरुड़ के जैसे।।९५।। और अनात्म वर्ग नीर। छाँडकर आत्मरस का क्षीर। सेवत जो सविचार। राजहंस।।९६।। जैसे सूर्यनारायण। भूतलपर करे जलवर्षण। पुनरपि करे शोषण। रश्मिजाल से।।९७।। वैसे आत्मभ्रांति से पार्थ। वस्तु विकीर्ण दशदिशांत। ज्ञान दृष्टि से एक करत। अखंड

जो।।९८।। किंबहुना अन्त में आत्म स्वरूप का। निर्धारित विवेक जिसका। विलीन प्रवाह गंगा का। सिंधु मे जैसे।।९९।।होवे सर्वत्र स्वरूप का ज्ञान। न शेष अभिलाषा का कारण। जैसे अन्य ग्रामको गमन। आकाश को नाही।।३००।। जैसे अग्नि के पर्वत पर। विरुढ़त नहीं बीजांकुर। वैसे जिसके मन में विकार। न उपजत कभी।।१।। निकालत जब मंदराचल। रहे क्षीराब्धि निश्चल। वैसे शमत भर निखिल। कामोर्मिका जिसमें।।२।। चंद्रमा कला से तृप्त। न कहीं न्यून दिखत। वैसे अपेक्षा उफान समस्त। लुप्त जिसका।।३।। कितनी कहूं यह निरुपम बात। परमाणु वायु सम्मुख न ठहरत। वैसे विषयों का न बचत। लेश भी जहां।।४।। एवं दोष जिसके इसविध पार्थ। ज्ञानाग्निमें दग्ध समस्त। वे वहां विलीन होत। हेम में हेम जैसे।।५।। वहां माने कहां कहोगे। ऐसे यदि कुछ पूछोगे। तब पद वह जानोगे। नाश न जिसका।।६।। दृष्यत्व से देखना। ज्ञेयत्व से जानना। प्रत्यक्ष जिसको दिखाना। ऐसा न वह।।७।।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।६।।

दीपक के दीप्ती को। अथवा चंद्रप्रकाश को। या अंशुमाली के तेज को। प्रकाशित जो।।८।। इन तीनों से जो दिखत। वह उसका न दिखना पार्थ। अशेष विश्व प्रतीत। अज्ञान से जिसके।।९।। जैसा सीप-पन जब लोपत। तब ही साच रूप प्रकटत। अथवा सर्पाभास तब लुप्त। जब डोर स्पष्ट।।३१०।। कैसे सूर्य चंद्रादिक पार्थ। अंधेर में जिसके प्रकाशत। प्रखर तेज से युक्त। धनुर्धर।।११।। वह वस्तु तेजोराशी। सर्व भूतात्मक सरिसी। चंद्रसूर्य

मानस में तैसी। प्रकाशत जो।।१२।। अतः चंद्रसूर्य किरण समस्त। वस्तु के प्रकाश से प्रकट। तेजवन्त का तेज पार्थ। वस्तु का अंग जो।।१३।। और जिसके प्रकाश में लोपत। जग संपूर्ण चंद्रार्क सहित। सचंद्र नक्षत्र जैसे लुप्त। दिनोंदय में।।१४।। नातर प्रबोध समय में पार्थ। स्वप्नसृष्टि सब समाप्त। या सांजकाल में न अवशिष्ट। मृगतृष्णिका जैसी।।१५।। वैसे जिस वस्तु के ठाँई। आभास कुछ भी नाहीं। जानो निजधाम वही। मुख्य पार्थ।।१६।। जो जो वहां गये। लौटकर न पुनः आये। महोदधी में समाये। स्रोत जैसे।।१७।। या लवण की कुंजरी पार्थ। लवण सागर में जहां प्रविष्ट। न पुनः वहां से आवत। वापस जैसी।।१८।। अंतराल में जो गई। वन्हीं ज्वाला न लौटकर आई। तप्त लोह पर जल गिरते ही। न निवर्तत कभी।।१९।। वैसे मुझमें एकवट। हुवे ज्ञान से जो चोखट। उनको पुनरावृत्ति की बाट। बंद सदा।।३२०।। वहां प्रज्ञा पृथ्वी का नरेंद्र। पार्थ कहे जी पाया प्रसाद। किंतु सुनो एक बिनती गोविंद। चित्त देकर।।२१।। देव में जो स्वयं एक होत। न पुनः वे निवर्तत। क्या वे देव से भिन्न अच्युत। या अभिन्न वे।।२२।। यदि भिन्न ही अनादि सिद्ध। तब न लौटत यह असंबद्ध। फूल में प्रविष्ट षट्पद। क्या होवे फूल।।२३।। जैसे लक्ष से भिन्न। लक्ष को वेधकर बाण। पुनरपि गिरत कृष्ण। वैसे परिवर्तित वे।।२४।। नातर आप ही जो स्वभाव से। तब कौन मिले कौन से। छेदना अपने को अपने से। शस्त्र से कैसे?।।२५।। अतः आपसे अभिन्न जीव। आपका संयोग-वियोग देव। कैसे कहे अवयव। भिन्न शरीर से?।।२६।। और जो सदा तुझसे भिन्न। वे कभी न होत ब्रह्मलीन।

वे आवत या न आवत कृष्ण। व्यर्थ चर्चा यह।।२७।। तब आपसे कौन। न लौटत होकर विलीन। हे विश्वतोमुख! यह मुझे पूर्ण। समझाओ आप।।२८।। यह आक्षेप अर्जुन का। वह शिरोमणि सर्वज्ञों का। संतुष्ट बोध शिष्य का। देखकर।।२९।। तब कहत हे महामती!। पाकर मुझे न लौटत किरीटि। वे भिन्नाभिन्न रीति। प्रकार दो।।३३०।। जो विवेक से कीजे मंथन। तब मैं और वे अभिन्न। वैसे ऊपर से विभिन्न। भासत दोनों।।३१।। जैसे पानी पर उछलत कल्लोल। भासत पृथक सकल। वैसे तो वे केवल। पानी ही पार्थ।।३२।। या स्वर्ण से अन्य। अलंकार भासत भिन्न। देखे यदि तत्त्वतः सुवर्ण। अशेषही वे।।३३।। वैसे ज्ञानकी दृष्टी-। से वे अभिन्न किरीटि। यहां भिन्नत्व की प्रतीति। अज्ञान से ही पार्थ।।३४।। और यदि करे वस्तु विचार। कैसे मुझ एक को रूप दूसर। यह भिन्न-भिन्न व्यवहार। संभवत कैसा?।।३५।। यदि आकाश इतना सूर्यबिंब। कहां दिखेगा उसका प्रतिबिंब?। कैसे प्रवेशत रश्मि तब। धनुर्धर।।३६।। कल्पान्त के पानी से पार्थ। केवल खाडियां भरत। अतः कैसे अंशु संभवत। अक्रिय को मुझ।।३७।। प्रवाह के अनुरोध से। पानी ऋजु वक्र दिखत जेसै। या रवि को दूजापन वैसे। तोय संबंध से।।३८।। व्योम वर्तुल या चौकोर। कौन कह सकत सुवीर। किंतु घटमठोपाधि से साचार। भासत वैसे।।३९।। सुनो निद्रा के आधार से। क्या भरे न परिवार जगमें एक से। विचरत राजा पन से। स्वप्न में जब।।३४०।। या कीट जब मिलावे सुवर्ण में। आवे हीनता उसमें। वैसे स्वमाया से ग्रस्त मैं। शुद्ध स्वरूप जो।।४१।। जब अज्ञानारूढ़। सोऽहं विकल्प होत दृढ़।

तब सोचकर समझत मूढ़। देह ही मैं।।४२।।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।७।।

एवं देहाकार समान। माने जब पृथक आत्मज्ञान। तब मेरा अंश मानत अर्जुन। अज्ञान से वह।।४३।। समुद्र जैसा वायुवश। तरंगाकार उछलत विशेष। वह लघु समुद्रांश। सम दिखत।।४४।। वैसा जड़ को जीवनदाता। देह अहंता उत्पन्नकर्ता। मैं ही भासत भारता। जीवलोक में।।४५।। ऐसा जो जीवबोध-। को गोचर व्यवहार विविध। वही जीवलोक शब्द-। का अभिप्राय।।४६।। अरे उपजना या मरना। इसको सच ही मानना। उसी को जीवलोक संज्ञा। अथवा संसार।।४७।। एवं विध जीवलोक में। देखो मुझको उसमें। जैसा चंद्र उदक में। उदकातीत।।४८।। स्फटिक मणि सुवीर। रखा यदि कुंकुम पर। औरों को भासत लोहित साचार। किंतु न वैसा वह।।४९।। वैसे अनादिपन न भंगित। अक्रियत्व मेरा न खंडित। कर्ता-भोक्ता जो मैं भासत। यह भ्रान्ति जानो।।३५०।। किंबहुना आत्मा चोखट। होकर प्रकृति से एकवट। बांधे प्रकृति का राजपाट। अपने लिये।।५१।। मनादि षट् इंद्रियां पार्थ। श्रोत्रादि प्रकृति कार्य समस्त। स्वयं का मानकर होत। व्यापारारूढ़ वह।।५२।। जैसे परिव्राजक स्वप्न में। स्वतः अपना कुटुंब होवे उसमें। और उनके ही मोह में। धावे स्वैर।।५३।। होवे अपनी विस्मृति। मानत स्वयं को प्रकृति। और आगे-आगे किरीटि। उसको ही भजत।।५४।। आरूढ़ मन के रथ पर। श्रवण द्वार से निकल बाहिर। पश्चात शब्द के साचार। प्रवेशत बन में।।५५।। वही प्रकृति की

बागड़ोर। करत त्वचा के मोहर। और स्पर्श के घोर। बन में पार्थ।।५६।। कभी किसी अवसर। प्रवेशकर नेत्रद्वार। रूप के डोंगर में स्वैर। घूमन लागे।।५७।। या रसनामार्ग से पार्थ। निकलकर हे सुभट। रसगुफा में प्रविष्ट। रमत वहां।।५८।। अथवा लांघकर घ्राण का द्वार। जब देहांश जावे बाहिर। गंध के अटवियों में संचार। करे वह।।५९।। इस विध देहेंद्रिय नायक। मन सन्निध विषय पंचक। उपभोगत शब्दादिक। धनुर्धर।।३६०।।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।८।।

किंतु कर्ता, भोक्ता ऐसा। जीव तबही भासत वैसा। जब शरीर में कोई सहसा। प्रवेशत वह।।६१।। जैसा विलासिया और संपन्न। तब ही पहिचानत अर्जुन। जब करे निवासस्थान। राजधानी में।।६२।। वैसा आधिक्य अहं कर्तृत्व का। या उत्पात इंद्रियों का। जब करत आश्रय देह का। जीव पार्थ।।६३।। अथवा शरीर तो छोड़त। किंतु इंद्रिय समुदाय समस्त। अपने साथ मनसहित। लेकर जात।।६४।। जैसा अपमानित अतिथी। ले जावे सुकृत संपत्ति। या नष्ट कठपुतली की गति। सूत्रतंतु बिन।।६५।। अस्तमान में तपन किरीटि। ले जात लोगों की दृष्टि। या पवन पुष्प से द्रुती। ले जात जैसा।।६६।। वैसे ज्ञानेंद्रिय सहित मन। लेकर जात देह से अर्जुन। वैसे करत देहावसान। समय देहराज।।६७।।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च। अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।९।।

तब यहां या स्वर्ग में पार्थ। जहां जिस देह का आश्रय लेत। वहां वैसा ही पुनः विस्तरत। मनादिक।।६८।। जैसे बुझावत जब दीप अर्जुन। प्रभासहित लोपत पूर्ण।

प्रज्वलित यदि पुनः। प्रकाशत वहां।।६९।। ऐसी यह व्यवहार रीति। जहां अविवेकियों की दृष्टि। मानत ऐसे ही किरीटि। सुनिश्चित।।३७०।। आत्मा जो देह को प्राप्त। और विषय वही भोगत। अथवा देह को छांडत। माने सच ही यह।।७१।। वैसे तो आना और जाना। कर्म करना और भोगना। ये प्रकृति धर्म नाना। मानत आत्मा के।।७२।।

उत्क्रामन्तं स्थितिं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्। विमूढ नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

लघु देह जब उत्पन्न। और प्राप्त जब चैतन्य। देखकर वही चलन वलनं। कहत आया यह।।७३।। वैसे उसकी संगत में समस्त। इंद्रियां अपने विषय में वर्तत। उसी का नाम सुभद्रानाथ। भोगना जिसका।।७४।। पश्चात जब भोग क्षीण। नष्ट जब चैतन्य आवे मरण। वहां गया, गया अर्जुन!। चिल्लावत वे।।७५।। जब वृक्ष हिलते देखिये। तब ही वायु बहता मानिये। जहां वृक्ष न होवे। समझना नहीं वह?।।७६।। या दर्पण सम्मुख राखिये। और स्वयं वहां देखिये। तब ही हम उत्पन्न ऐसा समझें। क्या पहले से नहीं?।।७७।। या हटाया जब दर्पण। लुप्त जब आभास पूर्ण। अपना अस्तित्व ही नष्ट अर्जुन। क्या जाने ऐसा?।।७८।। शब्द तो आकाश का। किंतु कहत वह मेघका। चंद्रपर वेग अभ्र क़ा। आरोपत पार्थ।।७९।। वैसे होत जात देह यह। और आत्मसत्ता अविक्रय। किंतु मोहवश करत यही निश्चय। अंधजन वे।।३८०।।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्। यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।११।।

यहां आत्मा, आत्मा के ही ठाँई। तथा देहधर्म, देह में ही। देखत इसविध वे और ही।

बिरले पुरुष पार्थ।।८१।। ज्ञान से जिनके नयन। जानकर देह को खोली अर्जुन। सूर्य रश्मी ग्रीष्म में अति तीक्ष्ण। अभ्रपटल को।।८२।। वैसे जिनका विवेक प्रकाश से। ज्ञान स्वरूप में स्थिर जैसे। वे ज्ञानी देखत ऐसे। आत्मा को।।८३।। जैसे तारांगण युक्त। समुद्र में गगन बिंबत। किंतु न वह खंडित। या गिरत पार्थ।।८४।। गगन तो गगन में ही। आभास वहां प्रतिबिंब ही। वैसा आत्मा देखत देह में ही। परिवेष्टित देह से।।८५।। निर्झर की चंचलता। निर्झर में ही वसत सर्वथा। बिंबित चंद्रिका स्थिर तत्त्वता। चंद्र में ही जैसी।।८६।। या डबरा तो भरत, सुखत। सूर्य जैसा का वैसा ही रहत। देह होता, जाता देखत। मुझ को ही वे।।८७।। घट मठ बांधत। पश्चात उसी को तोड़त। किंतु आकाश अखंडित। सर्वकाल।।८८।। वैसी अखंड आत्मसत्ता। अज्ञान दृष्टि से कल्पित पार्था। आना, जाना देह का ही सर्वथा। जानत स्पष्ट।।८९।। चैतन्य न वर्धत ना घटत। न चेष्टा करावत न करत। ऐसे आत्मज्ञान से शुद्ध सत्य। जानत वे।।३९०।। वैसे ज्ञान भी होगा प्राप्त। प्रज्ञा परमाणु भी गिन सकत। और शास्त्रसार समस्त। होगा हस्तगत।।९१।। ऐसी यदि विद्वत्ता किरीटि। किंतु मन में ना उनके विरक्ति। तब सर्वात्मक मुझसे निश्चिति। भेट नाही।।९२।। शास्त्रज्ञान मुख में पूर्ण। और विषय से भरा अंतःकरण। उनको न मैं प्राप्त अर्जुन। त्रिशुद्धि जानो।।९३।। बर्रावत ग्रंथज्ञान। क्या छूटे संसार बंधन?। किया पोथी को वस्त्र से वेष्टन। क्या पढ़ी वह?।।९४।। अथवा ढांककर नयन। बांधे घ्राण को मुक्ताफल अर्जुन। क्या जानत मोलमान। उसका कभी?।।९५।। वैसा अहंकार चित्त में।

शास्त्राभ्यास पूर्ण जिव्हा में। बीते कोटि जन्म ऐसे में। तथापि न प्राप्त मैं।।९६।। जो समस्त में मैं एक। भूतजात में व्यापक। उस व्याप्ति का रूप अलौकिक। करूं प्रकट अब।।९७।।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

जब जिस सूर्यतेज से समस्त। विश्वरचना दृष्टि से दिखत। वही दीप्ति मेरी निश्चित। आद्यंत पार्थ।।९८।। जल शोषत जब सविता। पुनः आर्द्रत्व देत तत्त्वता। वह चंद्र में पंडुसुता। ज्योत्स्ना मेरी।।९९।। और दहन पाचन सिद्धि। करत जो निरवधि। वह हुताशन में तेजवृद्धि। मेरी ही पार्थ।।४००।।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा। पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

मैं ही प्रवेशत भूतल में। अतः समुद्र के महाजल में। रजः कण की यह भेली उसमे। घुलत न कभी।।१।। और भूतजात चराचर। जो धारण करे यह अपार। मैं ही धरत उनको साचार। प्रविष्ठ होकर।।२।। गगन में मैं पंडुसुत। चंद्ररूप से अमृत। चलता सरोवर बनत। जानो तुम।।३।। वहां से प्रसरत रश्मिकर। बनाकर जलौध अपार। सर्वौषधियों के आगार। भरत मैं।।४।। इस विध सस्यादिक को सकल। धान्य जातिका करूं सुकाल। अन्न द्वारा पोषण निखिल। भूतजात का।।५।। और निर्माण किया जो अन्न। तथापि कैसा उसका दीपन। जो पाचन होकर समाधान। भोगत जीव।।६।।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

अतः प्राणिमात्र के घट में किरीटि। नाभिकंद पर करके अंगिठी। जठर में विद्यमान जो दीप्ति। हुआ मैं ही।।७।। प्राणापान जोड़ भाथी से पार्थ। हवा करके अहोरात्र। न जाने कितना शोषत। अन्न उदर में।।८।। शुष्क अथवा स्निग्ध। सुपक्व अथवा विदग्ध। मैं ही अन्न चतुर्विध। पचावत सब।।९।। एवं मैं ही समस्त जन। जननिर्वाहक मैं ही जीवन। जीवन का मुख्य साधन। वन्ही भी मैं ही।।४१०।। अब इसके आगे और। क्या कहूं व्याप्ति का नवल बिस्तार। यहां न दूजा कोई सर्वत्र। मैं ही एक।।११।। तब कहो इस जगमें। कोई सदा सुख में। और कोई बहुत दुख में। आक्रांत भूत।।१२।। ऐसा यदि तर्क वितर्क। करत मानस में एक। तब करूं निरसन देख। शंका का मैं।।१४।। मैं सर्वत्र ओत-प्रोत। सर्वथा जानो निश्चित। प्राणियों के बुद्धि से कल्पित। भिन्न-भिन्न।।१५।। आकाश का शब्द गुण। सर्वत्र यदि समप्रमाण। किंतु वाद्य विशेष से भिन्न। भासत जैसा।।१६।। अथवा यह एकही उदित सूर्य। विभिन्न लोक चेष्टा से कौन्तेय। विविध व्यवहार को होय। उपयुक्त देख।।१७।। नाना बीज धर्मानुरूप। वृक्ष में उपजवत आप। वैसे आकारत स्वरूप। जीव में मेरा।।१८।। अरे! एक मूढ़ एक चतुर। सामने दो लड़ी नीलमणि का हार। सर्पत्व से एक को भय कर। सुखकर दूजे को।।१९।। जाने दो स्वाति का उदक। शुक्ति में मोती व्याल में विख। वैसे सज्ञानी को मैं सुख। दुःख अज्ञानी को।।४२०।।

शास्त्राभ्यास पूर्ण जिव्हा में। बीते कोटि जन्म ऐसे में। तथापि न प्राप्त मैं।।९६।। जो समस्त में मैं एक। भूतजात में व्यापक। उस व्याप्ति का रूप अलौकिक। करूं प्रकट अब।।९७।।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

जब जिस सूर्यतेज से समस्त। विश्वरचना दृष्टि से दिखत। वही दीप्ति मेरी निश्चित। आद्यंत पार्थ।।९८।। जल शोषत जब सविता। पुनः आर्द्रत्व देत तत्त्वता। वह चंद्र में पंडुसुता। ज्योत्स्ना मेरी।।९९।। और दहन पाचन सिद्धि। करत जो निरवधि। वह हुताशन में तेजवृद्धि। मेरी ही पार्थ।।४००।।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा। पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

मैं ही प्रवेशत भूतल में। अतः समुद्र के महाजल में। रजः कण की यह भेली उसमे। घुलत न कभी।।१।। और भूतजात चराचर। जो धारण करे यह अपार। मैं ही धरत उनको साचार। प्रविष्ठ होकर।।२।। गगन में मैं पंडुसुत। चंद्ररूप से अमृत। चलता सरोवर बनत। जानो तुम।।३।। वहां से प्रसरत रश्मिकर। बनाकर जलौध अपार। सर्वौषधियों के आगार। भरत मैं।।४।। इस विध सस्यादिक को सकल। धान्य जातिका करूं सुकाल। अन्न द्वारा पोषण निखिल। भूतजात का।।५।। और निर्माण किया जो अन्न। तथापि कैसा उसका दीपन। जो पाचन होकर समाधान। भोगत जीव।।६।।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

अतः प्राणिमात्र के घट में किरीटि। नाभिकंद पर करके अंगिठी। जठर में विद्यमान जो दीप्ति। हुआ मैं ही।।७।। प्राणापान जोड़ भाथी से पार्थ। हवा करके अहोरात्र। न जाने कितना शोषत। अन्न उदर में।।८।। शुष्क अथवा स्निग्ध। सुपक्व अथवा विदग्ध। मैं ही अन्न चतुर्विध। पचावत सब।।९।। एवं मैं ही समस्त जन। जननिर्वाहक मैं ही जीवन। जीवन का मुख्य साधन। वन्ही भी मैं ही।।४१०।। अब इसके आगे और। क्या कहूं व्याप्ति का नवल बिस्तार। यहां न दूजा कोई सर्वत्र। मैं ही एक।।११।। तब कहो इस जगमें। कोई सदा सुख में। और कोई बहुत दुख में। आक्रांत भूत।।१२।। ऐसा यदि तर्क वितर्क। करत मानस में एक। तब करूं निरसन देख। शंका का मैं।।१४।। मैं सर्वत्र ओत-प्रोत। सर्वथा जानो निश्चित। प्राणियों के बुद्धि से कल्पित। भिन्न-भिन्न।।१५।। आकाश का शब्द गुण। सर्वत्र यदि समप्रमाण। किंतु वाद्य विशेष से भिन्न। भासत जैसा।।१६।। अथवा यह एकही उदित सूर्य। विभिन्न लोक चेष्टा से कौन्तेय। विविध व्यवहार को होय। उपयुक्त देख।।१७।। नाना बीज धर्मानुरूप। वृक्ष में उपजवत आप। वैसे आकारत स्वरूप। जीव में मेरा।।१८।। अरे! एक मूढ़ एक चतुर। सामने दो लड़ी नीलमणि का हार। सर्पत्व से एक को भय कर। सुखकर दूजे को।।१९।। जाने दो स्वाति का उदक। शुक्ति में मोती व्याल में विख। वैसे सज्ञानी को मैं सुख। दुःख अज्ञानी को।।४२०।।

सर्वस्व चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।१५।।

वैसे सब के हृदय में स्थित। मैं एक ही ऐसी पार्थ। बुद्धि जो अहर्निश स्फुरत। वस्तु वही मैं।।२१।। परंतु संतो की संगत से। और योगज्ञान के अभ्यास से। गुरुचरण उपासना से। वैराग्यसहित।।२२।। इन्हीं सत्कर्मों से पार्थ। अशेष अज्ञान विरमत। जिनका अहं विश्रामत। आत्मरूप में।।२३।। सहज ज्ञान दृष्टि से दर्शन। मेरे आत्मरूप से पावे सुख पूर्ण। इस स्थिति को क्या अर्जुन। हेतु कोई?।।२४।। अरे, होवे जब सूर्योदय। सूर्य से ही देखे सूर्य। वैसे मेरे ज्ञान को कौंतेय। कारण मैं ही।।२५।। शरीर परायण की सेवा कर। संसार गौरव सुनकर। देह में डूबा जिनका समग्र। आत्मभाव।।२६।। वे स्वर्गसंसार प्रीत्यर्थ। कर्ममार्ग पर दौड़त। पावत दुःख विशिष्ट। धनुर्धर।।२७।। किंतु इसका भी मूल अर्जुन। मेरा अशेष अज्ञान। जैसा जागृत ही कारण। निद्रा स्वप्न को।।२८।। अभ्र से दिवस लोपत। वह दिवस से ही होवे प्रतीत। वैसे मुझे न जानकर विषय देखत। सत्ता से ही मेरी।।२९।। निद्रा अथवा जागरण। प्रबोध ही उसका कारण। वैसे ज्ञान-अज्ञान को अर्जुन। मूल मैं ही।।४३०।। जैसे सर्पत्व या डोर को। डोर ही मूल उसको। वैसे ज्ञान अज्ञान संसार को। अधिष्ठान मैं ही।।३१।। अतः मैं जैसा हूं वैसे को। न जानकर धनंजय मुझ को। वेद जो लगा वर्णन करने को। हुई शाखाएं उसकी।।३२।। तब तीनों शाखा भेद में। जानो त्रिशुद्धि मैं ही उसमें। जैसे पूर्वापरा नदी को समुद्र में। प्राप्य स्थान

एक।।३३।। और महासिद्धान्त के निकट। श्रुति लोपत शब्द सहित। जैसी आकाश में सुगंधयुक्त। वातलहरी।।३४।। वैसे समस्त ही श्रुति जात। ठाकत लजाकर निवान्त। उसको मैं ही करूं यथावत। प्रकट पार्थ।।३५।। पश्चात श्रुतिसहित अशेष। जग लोपत निःशेष। वह निजज्ञान का गुड़ाकेश। ज्ञाता मैं ही।।३६।। जागत जब निद्रा से अर्जुन। नष्ट स्वप्न का दूजापन। किंबहुना एकत्व तब जान। देखे अपना।।३७।। वैसे अपना अद्वयपन। मैं ही जानूं दूजेबिन। उसका भी बोधकारण। ज्ञाता मैं ही।।३८।। जलत जब कर्पूर। न कालिख ना वैश्वानर। शेष वहां सुवीर। जिस प्रकार।।३९।। वैसे समूल अविद्या खोवे। वह ज्ञान भी जब लुप्त होवे। तब अस्ति-नास्ति न सहे। आत्मस्वरूप।।४४०।। पूर्ण विश्व हरे जो गुप्त। कैसे करे उस चोर को प्रकट। ऐसी जो एक दशा पार्थ। शुद्ध वह मैं।।४१।। ऐसी जड़ाजड़ में व्याप्ति। कहकर कैवल्यपति। निरुपाधिक स्वरूप में विश्रांति। अन्त में लेत।।४२।। वह अशेष बोध सहसा। अर्जुन में प्रकटत कैसा। व्योम का चंद्रोदय जैसा। क्षीरार्णव में।।४३।। या प्रतिभित्तिपर निघर्षित। चित्र सामने का प्रतिबिंबित। वैसा अर्जुन अन्तर में प्रकट। कृष्णबोध।।४४।। तब धन्य वस्तुस्वभाव। प्राप्त ज्यौं ज्यौं बढ़े मधुरभाव। अतः अनुभव का राव। अर्जुन कहे।।४५।। जी! कहते अपना व्यापकपन। निरुपाधिक का निरूपण। अच्छा किया प्रासंगिक कृष्ण। आपने प्रभु।।४६।। वह एक बार अव्यंग। कहो मेरे लिए सुरंग। वहां कहे द्वारकानाथ श्रीरंग। भला किया तुमने।।४७।। हमको निरन्तर पार्थ। यही कहने की प्रीत। किन्तु क्या करे न प्राप्त। प्रश्नकर्ता ऐसा।।४८।।

आज मनोरथ को फल। मिले तुम मुझको केवल। जो प्रेमभरित मुख से निखिल। पूछा तुमने।।४९।। जो अद्वैत से भोगना अर्जुन। उस अनुभव का तुम साधन। पूछकर मुझे मत्स्वरूप ज्ञान। देत सुख विशेष।।४५०।। जैसे दर्पण आवे निकट। देखे स्वयं को स्वचक्षुसे बिंबित। वैसे संवादिया तुम पार्थ। निर्मल शिरोमणि।।५१।। तुमने अज्ञान से कुछ पूछना। तब कुछ हमने तुम को सुनाना। नहीं ऐसी यह भावना। प्रेम संवाद यह।।५२।। ऐसे कहकर आलिंगत। कृपा दृष्टी से अवलोकत। तब देव क्या कहत। अर्जुन से।।५३।। दो होठों से एक बोलना। दो चरण से एक चलना। वैसे पूछना बताना। तेरा मेरा।।५४।। एवं हम-तुम यहां पार्थ। देखत एक ही अर्थ को तत्त्वतः। जो वक्ता-श्रोता यथार्थ। एक ही दोनों।५५।। ऐसे हुये देव मोहित। अर्जुन को दृढ़ आलिंगत। किंतु भीत मन में कहत न युक्त। प्रेम इतना।।५६।। भेली करने इक्षुरसकी। आवश्यकता होत क्षार की। अन्यथा संवाद सुख में रस की। हानि होत।।५७।। पहले ही मुझमें इसमें कोई। नर-नारायण में भिन्नत्व नाहीं। अतः प्रेमावेश वह मेरे ठाँई। विलीन होवे।।५८।। इस बुद्धि से तत्क्षण। कहत अर्जुन को कृष्ण। कैसा पूछा तुमने प्रश्न। अवसर में इस।।५९।। श्रीकृष्ण रूप में अर्जुन। हो रहा था जो तल्लीन। सो प्रश्न कथा पुनः। लगा सुनने।।४६०।। वहां कहत गद्गद वाचा से। अर्जुन जी! जी! कहत प्रेम से। कहो निरुपाधिक रूप स्पष्ट से। अपना प्रभो।।६१।। इस बोल पर अच्युत। उपाधि को ही निरूपत। वही कहने के प्रीत्यर्थ। दो भाग में।।६२।। यह पूछा निरुपाधि। क्यों बतायी उपाधि। ऐसी कोई शंका यदि। आवे

मन में।।६३।। तक्र से जब पृथक करना। तब ही नवनीत को निकालना। कीट जलाकर ही सोना। होवे शुद्ध।।६४।। हटावे हाथ से शैवाल। तब ही प्राप्त शुद्ध जल। नष्ट अभ्र तब गगन निर्मल। सहज ही पार्थ।।६५।। ऊपर तुष का आवरण। झाड़कर किया पृथक अर्जुन। तब क्या करने प्राप्त कण। लागे समय?।।६६।। वैसे उपाधि सर्वथा जब नष्ट। तब तत्त्वता जो अवशिष्ट। न पूछो किसको तुम पार्थ। निरुपाधिक ही वह।।६७।। होते पती का नामोच्चारण। बाला मौन रहकर दे पहिचान। वैसे कहत श्रुति शब्द बिन। अचर्चा को।।६८।। जो अवर्णनीय शब्द से। प्रथम कहकर उपाधि रूप से। उसका वर्णन करत ऐसे। लक्ष्मीनाथ।।६९।। प्रतिपदा की चन्द्ररेखा। स्पष्ट दिखाने को शाखा। दिखाइये वैसे उपाधिक का। वर्णन यहां।।४७०।।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।१६।।

तब कहत वह धनुर्धर। यह संसार जानो लघुनगर। जहां वसत साचोकार। पुरुष दो।।७१।। जैसे पूर्ण गगन में। वर्तत दिवारात्र उसमें। वैसे इस संसार राजधानी में। दो ही ये।।७२।। और भी तीजा पुरुष। जो न साहे इनका नामनिर्देश। प्रकटते ही करत दोनों का नाश। नगर सहित।।७३।। रहने दो यह बात। प्रथम सुनो दोनों का वृतांत। जो संसार ग्राम में आवत। वस्ती को पार्थ।।७४।। एक अंध उन्मत्त अपंग। दूजा सर्वांग सुंदर अव्यंग। किंतु ग्राम गुण से हुआ संग। परस्पर।।७५।। उस एक का नाम क्षर। दूजे को कहत अक्षर। इन्हीं दोनों से संसार नगर। व्याप्त पूर्ण।।७६।। अब क्षर वह कौन। अक्षर

का किं लक्षण?। अभिप्राय यह कहूं संपूर्ण। सविस्तर।।७७।। जब महदहंकार-। आदि से धनुर्धर। तृणान्त के अग्र। -पर्यंत पार्थ।।७८।। लघु श्रेष्ठ सुवीर। चल अथवा सुस्थिर। किंबहुना गोचर। मन बुद्धि को जो।।७९।। जो जो पंच भौतिक से सृष्ट। नाम रूप के अंतर्गत। टंकशाला में मुद्रित। गुणत्रय के।।४८०।। भूताकृतीका नाणक। जिस सुवर्ण से घटित विशेख। काल द्यूत खेलत देख। कौड़ियों से जिन।।८१।। विपरित ज्ञान से पार्थ। जो जो कुछ होवे ज्ञात। और जो प्रतिक्षण नाशत। उत्पन्न होकर।।८२।। तोड़कर भ्रांतिका दांग (अरण्य)। उभारत सृष्टि का अंग। रहने दो यह बहुत, जग। नाम जिसको।।८३।। अष्टधा भिन्न ऐसे। दिखाया प्रकृति मिष से। क्षेत्र नाम छत्तीस प्रकार से। वर्णित जो।।८४।। यह कितना कहूं पूर्व कथित। सुनो सद्य जो किया प्रस्तुत। वृक्षाकार रूपाकृत। निरूपित जो।।८५।। यह अशेष साकार। जानकर अपना नगर। व्याप्त सर्वत्र तदनुसार। चैतन्य ही।।८६।। जैसे कुए में स्वयं बिंबित। प्रतिबिंब देखकर सिंह क्षोभत। होकर तब संतप्त। कूदत उसमें।।८७।। सलिल में स्वयं विद्यमान। बिंबत व्योम पर व्योम अर्जुन। वैसे अद्वैत होकर भी चैतन्य। द्वैत होत।।८८।। इस प्रकार आकारयुक्त। देह को नगर मानत। आत्मा विस्मृति की लेत। निद्रा वहां।।८९।। किन्तु स्वप्न में शय्या देखना। जाकर उसीपर लेटना। वैसे इस पुरी में सोना। आत्मा को पार्थ।।४९०।। पश्चात उस निद्रा के भर से। मैं सुखी-दुःखी कहत जैसे। अहं-ममता के आवेश से। बर्रावत जात।।९१।। यह जनक यह माता। मैं गोरा काला स्वतः। पुत्र वित्त कान्ता। मेरा हीं सब।।९२।। इस विध मग्न

स्वप्न में। दौड़त भव स्वर्ग के बन में। उस चैतन्य को कहूं मैं-। पुरुष क्षर।।९३।। अब सुनो क्षेत्रज्ञ। इस नाम से जिसको तत्त्वज्ञ। जग में जीव कहत अर्जुन। दशा को जिस।।९४।। स्वरूप को विस्मरत। सब भूतमात्र में वसत। उस आत्मा को जानत। पुरुष क्षर।।९५।। जो कि वह तत्त्वतः पूर्ण। और देहपुरी में करत शयन। आवे पुरुषता अर्जुन। अतः पुरुष वह।।९६।। और क्षरत्त्व का व्यर्थ। आरोप उस पर पार्थ। उपाधिकारण सार्थ। जानो तुम।।९७।। जैसी जल की खलबल से। आंदोलत चंद्रिका वैसे। विकारवश पुरुष उपाधि से। भासत वैसा।।९८।। लघु जलाशय जब सूखत। चंद्रिका तत्क्षण नाशत। वैसे विकार नाश से न दिखत। उपाधिक वह।।९९।। उस विध उपाधि संग से पार्थ। चैतन्य को क्षणिकत्त्व प्राप्त। उस हीनत्व से पावत। नाम क्षर।।५००।। एवं जीव चैतन्य अशेष। जानो वह क्षर पुरुष। अब रूप करूं विशेष। अक्षर का।।१।। तब दूजा जो अक्षर। पुरुष जानो धनुर्धर। यह मध्यस्थ गिरिवर-। में मेरु जैसा।।२।। जो वह पृथ्वी पाताल स्वर्ग। इनसे न होवे त्रिविभाग। वसत अज्ञान दो अंग-। से न बदले वह।।३।। न यथार्थ ज्ञान से ऐक्य पावत। न अन्यथा ज्ञान से होवे द्वैत। जो शुद्ध अज्ञान पार्थ। वही रूप जो।।४।। मृत्तिकत्त्व निःशेष जाये। न घट भांडादि होवे। उस मृत्पिंड सम रहे। मध्यस्थ जो।।५।। जैसे शुष्क होवे सागर। शेष न तरंग ना नीर। वैसी जो अनाकार। दशा पार्थ।।६।। जागृति जब समाप्त। और स्वप्नास्था न अभी प्राप्त। ऐसी निद्रासम यथार्थ। स्थिति जो।।७।। विश्वाभास तो लुप्त। किंतु आत्मबोध न प्रकटे। इस अज्ञान दशा को सार्थ।

अक्षर नाम।।८।। सर्व कलाविरहित शेष। अमावस में चंद्रत्व रहत। वैसे जानियो रूप तत्त्वतः। अक्षर का तुम।।९।। जहां सर्वोपाधि विनाश। यह जीवदशा का जहां प्रवेश। पक्व फलबीज में अशेष। वृक्ष जैसा।।५१०।। वैसे उपाधि उपहित। रखत जहां सुप्त। उसी दशा को अव्यक्त। कहत पार्थ।।११।। घन अज्ञान सुषुप्ति। वही बीज भाव किरीटि। और स्वप्न और जागृति। फलभाव जिसको।।१२।। जिसको संज्ञा बीजभाव। वेदान्त में है प्रज्ञाराव। वह अव्यक्त जानो ठाव। अक्षर पुरुष का।।१३।। जहां से उत्पन्न विपरीत ज्ञान। वहीं से प्रकटत जागृति, स्वप्न। हुआ नाना बुद्धि का बन। वृद्धिंगत।।१४।। जीवत्व जहां से अर्जुन। विश्वसहित उत्पन्न। जीव-विश्व का संगम स्थान। अक्षर पुरुष वह।।१५।। दूजा क्षर पुरुष पार्था। जागृति-स्वप्न में क्रीडाकर्ता। इन दोनों ही अवस्था। प्रसवत जो।।१६।। अज्ञान घन सुषुप्ति। ऐसी श्रुति में जो ख्याति। वहां न्यून एक प्राप्ति। ब्रह्म की जो।।१७।। साथ ही इसके आगे सुवीर। यदि न आवे स्वप्न-जागर। तब इस स्थिति को साचार। कहे ब्रह्मभाव।।१८।। किंतु प्रकृतिपुरुष पार्थ। अभ्र इस गगन में उदित। और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को देखत। स्वप्न में जो।।१९।। जो अधो शाखों का विस्तार। इस संसार वृक्ष को धनुर्धर। उसका मूलरूप अक्षर। पुरुष ही यह।।५२०।। क्यों पुरुष यह अभिधान। जो सोवत होकर पूर्ण। या मायापुर में करे शयन। इसलिये भी।।२१।। और विकारों का जो फेर। वह विपरीत ज्ञान का प्रकार। नहीं जिसके अंदर। सुषुप्ति यह।।२२।। अतः इसको अर्जुन। क्षरण का न कोई कारण। और एक मात्र ज्ञानबिन।

नाश न इसका।।२३।। इसलिये यह अक्षर पार्थ। कहत इसको वेदान्त। एक महान सिद्धान्त। प्रसिद्ध जग में।।२४।। ऐसा जीव कार्यकारण। जिसका मायासंग ही लक्षण। अक्षर पुरुष जान। चैतन्य वही।।२५।।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।१७।।

स्वप्न और जागृति। नाना विपरीत ज्ञान की स्थिति। घन अज्ञानत्व में किरीटि। खोवत दो।।२६।। अज्ञान, ज्ञान में डूबत। ज्ञान, कीर्ति मुखत्व से अवशिष्ट। जैसे काष्ट जलाकर नष्ट। अग्नि स्वयम्।।२७।। वैसे नष्ट करके अज्ञान। ब्रह्मत्त्व देत ज्ञान। शेष ज्ञातव्यबिन। ज्ञप्ति जो।।२८।। वह जानो उत्तम पुरुष। जो तृतीय निष्कर्ष। दोनों से भिन्न विशेष। पूर्व निरूपित जो।।२९।। सुषुप्ति एवं स्वप्न-। से बहुविध अर्जुन। जागृति में भिन्न भिन्न। बोध जानो।।५३०।। या रश्मि और मृगजल-। से भिन्न सूर्यमंडल। वैसे सर्वतः पृथक केवल। उत्तम देख।।३१।। वन्हीं काष्ट में जैसा। काष्ट से भिन्न वैसा। क्षराक्षर से तैसा। भिन्न जो।।३२।। मर्यादा अपनी लांघकर। नदी नद को करत एकत्र। कल्पान्त में करे जयजयकार। एकार्णव का।।३३।। वैसे स्वप्न ना सुषुप्ति। न जागृति की स्थिति। जैसे निगलत दिवारात्री। प्रलय तेज।।३४।। तब ऐक्य ना द्वैत। है या नहीं न जानत। अनुभव स्वयं भ्रमित। जहां पार्थ।।३५।। ऐसा अवाच्य जो एक। वही उत्तम पुरुष देख। परमात्म तत्त्व नाम से विशेष। ज्ञात जो।।३६।। ऐक्य यहां न प्राप्त। कथन यह जीवत्व से पार्थ। जैसी डूबनहारेकी करे। खड़ा किनारे जो।।३७।। वैसे विवेक के तट पर। खड़ा यदि धनुर्धर।

करत तब पैलपार-। की चर्चा वेद।।३८।। अतः पुरुष क्षराक्षर। दोनों देखकर ऐलतीर–। को इसे कहत पर। आत्मरूप।।३९।। अर्जुन इस विध। यह परमात्म शब्द–। से पहिचानो प्रसिद्ध। पुरुषोत्तम।।५४०।। जहां मौन ही बोलना। कुछ न जानना ही जानना। कुछ न होना ही होना। वस्तु जो।।४१।। सोहं भी अस्तमान। जहां निरुपित ही होवे निरूपण। दृष्टासहित विलीन। दृष्य जहां।।४२।। बिम्ब-प्रतिबिम्ब में पार्थ। प्रभा कैसी कहना न उचित। यद्यपि न प्राप्त न ही प्रतीत। प्रयत्न से भी।।४३।। घ्राण पुष्प दोनों में। द्युति जो विद्यमान उसमें। न दिखत किन्तु मन में-। भी न कहो ऐसा।।४४।। वैसे दृष्टा दृष्य जब नष्ट। कौन कहे क्या अवशिष्ट। किन्तु जो अनुभव से प्राप्त। वही रूप जिसका।।४५।। जो प्रकाश्यबिन प्रकाश। जो इशितव्यबिन ईश। व्यापकत्व से अवकाश। समावत जो।।४६।। नाद ही जिसका सुनत नाद। स्वाद ही जिसका लेवे स्वाद। जो भोगत आनंद। आनंद से ही।।४७।। जो पूर्णता का परिणाम। पुरुष वह पुरुषोत्तम। विश्रांति का भी विश्राम। शांत जहां।।४८।। सुख से सुख जुड़त। तेज को तेज प्राप्त। शून्य ही जहां डूबत। महाशून्य में।।४९।। जो विकास उपरांत अवशिष्ट। प्रलय में विश्वग्रास को पूर्ण निगलत। जो बहुत प्रकार से बहुत। बहुतों से।।५५०।। चांदी कभी नहीं शुक्ति। किंतु दर्शवत अज्ञानियों प्रति। चांदीपन की प्रतीति। धनुर्धर।।५१।। नाना अलंकार दशा में। सोना न छिपते हुये छिपा उसमें। न होते हुये धरे अधिष्ठान रूप में। भिन्न करे जो।।५२।। जल और तरंग अर्जुन। जैसे न होत भिन्न भिन्न। वैसे सत्ता और प्रत्यक्ष ज्ञान। जग का स्वयं जो।।५३।।

जो अपने ही आपुन। संकोच-विकास का कारण। या जल के प्रतिबिंब में पूर्ण। चंद्र जैसा।।५४।। विश्व विकास में न प्रकट। विश्व विनाश से न नष्ट। जैसा रात्रि दिवस में न होत। द्विधा रवि।।५५।। वैसे किसी काल देश में अर्जुन। किसी कारण से न होवे क्षीण। जिसकी तुलना पूर्ण। उसी से ही स्वयम्।।५६।।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

जो अपने का आपुन। करे स्वयं प्रकाशन। बहुत क्या कहूं उपमान। न जिसको दूजा।।५७।। वही निरुपाधिकु। क्षराक्षर उत्तम एकु। अतः कहत वेद और लोकु। पुरुषोत्तम।।५८।।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।।१९।।

रहने दो यह इसविध। मुझ पुरुषोत्तम को प्रसिद्ध। जाने दो प्रबुद्ध। ज्ञान मित्रो-दय से।।५९।। जागृति में होकर अपना ज्ञान। जैसे नष्ट होवे स्वप्न। वैसे त्रिभुवन भासमान। लगे मिथ्या जिसको।।५६०।। माला जब आवे हाथ। लुप्त भय सर्पाभास का पार्थ। वैसे आत्मबोध जब उदित। अस्तंगत विश्वाभास।।६१।। अलंकार को जो जाने सुवर्ण। अलंकारत्त्व भासत व्यर्थ अर्जुन। वैसे मुझे जानकर त्यागत पूर्ण। द्वैत जो।।६२।। जब कहे सर्वत्र सच्चिदानन्द। मैं ही एक स्वतः सिद्ध। स्वतः सहित समस्त अभेद। जानत जो।।६३।। जाना सब उसने ही। कहना यह भी कम ही। जो कही भी शेष नाहीं। द्वैत उसमें।।६४।। अतः मेरे भजन। को उचित वही अर्जुन। आलिंगन को जैसे गगन। गगन के ही।।६५।।

होना क्षीर-सागर स्वयं आपुन। तब देना क्षीर सागर को भोजन। अमृत होकर ही संभव मिलन। अमृत में जैसे।।६६।। शुद्ध सुवर्ण में यदि मिलना। तब शुद्ध सुवर्ण ही होना। वैसे मैं ही होकर करना। भक्ति मेरी।।६७।। भिन्न यदि गंगा सिंधु से। कैसा संभव मिलन-उससे?। अतः बिना मद्रूप होकर वैसे। असंभव भक्ति मेरी।।६८।। इसविध सब प्रकार से। अभिन्न कल्लोल सागर से। मुझको अनन्य होकर वैसे। भजत जो।।६९।। प्रभा और सूर्य। अद्वैत इनका जैसा नित्य। उसी तरह योग्य। भक्ति उसकी।।५७०।।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ। एतद्बुद्ध्वाबुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।२०।।

उपनिषदों का दिव्य कमल। उससे प्रसृत जो परिमल। सर्वशास्त्रों का सार निर्मल। कथित यहां।।७१।। यह शब्द ब्रह्म का मथित। श्री व्यास प्रज्ञाहस्त से पार्थ। मंथन कर किया प्राप्त। सहज हमने।।७२।। जो ज्ञानामृत की जान्हवी। जो आनन्द चन्द्र की कला सतरहवीं। विचार-क्षीरार्णव की नवी। लक्ष्मी जो।।७३।। इसलिये वर्ण पद से। अर्थ के जीव प्राण से। मेरे बिन किसी को जैसे। न जाने वह।।७४।। क्षराक्षर सामने आया। पुरुषत्त्व उनका नष्ट किया। मुझको सर्वस्व दिया। पुरुषोत्तम को।।७५।। अतः इस जग में गीता। मेरे पाणिग्रहण से पतिव्रता। जो यह प्रस्तुत तत्त्वता। सुनी तुमने।।७६।। सच ही बोल जोग न यह शास्त्र। यह संसार विजय का शस्त्र। इसके अक्षर दिव्यमंत्र। आत्म प्राप्ति के।।७७।। तेरे सन्मुख यह निवेदन। वह इस प्रकार अर्जुन। जैस प्रकटित गोप्यधन। मेरा आज।।७८।। गीता-गंगा ली माथे पर। जो मैं चैतन्य-शंकर। गौतम सम खींची बाहर।

आस्था-निधि तुमने।।७९।। जैसे शुद्ध दर्पण में पार्थ। वस्तु सामने की प्रतिबिंबित। वैसे आत्मस्वरूप करने व्यक्त। दर्पण तुम मेरे।।५८०।। जैसे चंद्रतारासहित। नभ सिंधु में प्रतिबिंबित। वैसे मुझे हृदय में गीता सहित। समाहित तुमने।।८१।। जो त्रिविधतापमल। क्षालन करके तुम निर्मल। अतः गीतासहित निवासस्थल। हुए मेरे।।८२।। अर्जुन! क्या कहूं यह गीता। यह तो मेरी उन्मेषलता। जाने जो इसको तत्त्वता। मोह से मुक्त वह।।८३।। अमृत सरिता का भोजन। करे सब रोग का हरण। और उचित अमरपन। देत सहज।।८४।। वैसे होवे जब गीताज्ञान। क्या विस्मय? नष्ट मोह पूर्ण। आत्मरूप में होवे लीन। आत्मज्ञान ही से।।८५।। जिस आत्मज्ञान में पार्थ। कर्म निष्कर्म होत सहज। स्वजीव से होकर ऋणमुक्त। पावत लय।।८६।। दिखाकर खोई वस्तु जैसा। शोध पूर्ण होवे वीरविलासा। कर्मप्रासाद पर चढ़त वैसा। ज्ञानकलश।।८७।। अतः ज्ञान जिसको प्राप्त। कर्म उसका होवे समाप्त। बोले ऐसे परम आप्त। अनाथों के।।८८।। वह श्रीकृष्ण वचनामृत। पार्थ हृदय से छलकत। तब व्यास कृपा प्राप्त। संजय को।।८९।। वही वह धृतराष्ट्र राजा को। देत प्राशन करने को। अतः जीवित का अंत उसको। बोझ न लागे।।५९०।। वैसे गीता श्रवण अवसर में। जब रुचि अनधिकारि को उसमें। प्राप्त उसी को उसी से अंत में। प्रकाश ज्ञान का।।९१।। द्राक्ष वेली में दूध डाला पार्थ। लगा तब गया व्यर्थ। किंतु अंत में फल माधुर्य द्विगुणित। होत जैसे।।९२।। वैसे श्री हरिवक्त्र के अक्षर। संजय निरूपित सादर। उसमें अंध भी उस अवसर। सुखिया हुवा।।९३।। वैसी देशी भाषा विन्यास से। मैंने

यथामति जैसे तैसे। उबड़खाबड़ उन्मेष से। निरूपित आपको।।९४।। सेवंति अरसिक को सर्वथा। दिखत न कछु विशेषता। किंतु लिया सौरभ्य उसका तत्त्वता। भ्रमरने ही।।९५।। वैसे मान्य वही स्वीकारिये। न्यून जो मुझे दीजिये। जो अज्ञानपन ही देखिये। रूप बालक का।।९६।। यद्यपि अज्ञानी वह। देखकर पिता और माय। हर्ष कही न समाय। कौतुक करत।।९७।। वैसे संत मेरा पीहर। लड़ियाऊ आपसे मिलकर। ग्रंथ का व्याज लेकर। जानिये ऐसा।।९८।। अब विश्वात्मक मेरा साजा। स्वामी निवृत्तिराजा। अवधारे वाक्यपूजा। ज्ञानदेव कहे।।५९९।।

इति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगोनाम पंचदशोऽध्यायः।।
(श्लोक २०; ओवियाँ ५९९)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।

।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – सोलहवाँ

अस्त करके विश्वाभासु। नवल उदित चंड़ांशु। अद्वयाब्जिनीविकाशु। गुरु को वंदन अब।।१।। जो अविद्या रात्रि करे दूर। ज्ञानाज्ञान चांदनी निकालकर। सुदिन करे स्वबोध का सर्वत्र। ज्ञानियों को।।२।। जिस प्रातः से उदीयमान। लभत आत्मज्ञान के नयन। छोड़त देहाहंताका नीड़स्थान। जीव पंछी।।३।। लिंगदेह कमलस्थ। जीव भ्रमर जो बंदिस्त। तत्काल होवे मुक्त। उदय से जिसके।।४।। शब्दादिक जंजाल से। भेद नदी के दो तीर

से। आक्रंदत विरहव्याकुल जैसे। बुद्धिबोध।।५।। उस चक्रवाक का मिथुन। सामरस्य का समाधान। भोगवत जो चिद्गगन। भुवनदीप।।६।। जिसका होते उदय। भेदचोर काल का होवे विलय। सिधारत आत्मानुभव राह-। पर पथिक योगी।।७।। जिसके विवेक किरण संग। उन्मेख सूर्यकांत स्फुल्लिंग। प्रदीप्त जलावत दांग (अरण्य)। संसार के।।८।। जिसके रश्मिपुंज प्रखर। जब स्वरूप उखर में स्थिर। आवे मृगजल का पूर। महासिद्ध के।।९।। प्रत्यग्बोध के माथे पर। सोऽहंभाव का मध्यान्ह प्रहर। आत्मभ्रांति छाया छिपकर। पदतल में लुप्त।।१०।। जहां विश्व स्वप्न सहित। माया रात्रि पूर्ण नष्ट। विपरीत ज्ञान को सम्हालत। कौन तब?।।११।। अतः अद्वयबोध नगर में सार्थ। निबिड़ महानंद की भीड़ बहुत। सुखानंद की लेन देन समस्त। मंद होत।।१२।। किंबहुना जिसका प्रकाश। मुक्त कैवल्य का सुदिवस। देत सबको विशेष। निरंतर।।१३।। जो निजधाम व्योमका राव। करत बोध उदय सदैव। नाशत पूर्वादि दिशासह ठाँव। उदय, अस्त का।।१४।। नाशत तम-प्रकाश सहित। आवृत्त दोनों से पूर्ण प्रकटवत। बहुत क्या कहूं करत अद्भुत। उषा पूर्ण।।१५।। अहोरात्रि के पार। कौन देखे वह ज्ञानभास्कर। जो प्रकाश करे विस्तार। प्रकाश बिन।।१६।। वह चित्सूर्य निवृत्ति। उसको पुनः पुनः प्रणति। वाचा से उसकी स्तुति। बाधक शब्द को।।१७।। महिमा देवका देखकर पार्थ। स्तुति तब ही होगी उत्कृष्ट। जब स्तव्य बुद्धि का समस्त। होगा लय।।१८।। वस्तुज्ञान सब खोकर जानना। मौन रहकर वर्णन करना। आत्मविस्मरण से पाना। जिसको यथार्थ।।१९।।

सद्गुरु आपके स्तवन प्रीत्यर्थ। पश्यंति मध्यमासहित। परा को पीछे हटाकर वैख़री होत। विलीन स्वयम्।।२०।। ऐसे आपको सेवाभाव से पूर्ण। चढाऊं वक्तृत्व के आभूषण। कहूं स्वीकारो लावे आपको न्यून। अद्वयानंद आप।।२१।। किंतु रंक अमृत का सागर। युक्तायुक्त भूले देखकर। करने लगे स्वागत अर्पण कर। शाकाओं से।।२२।। वहां शाकाही पक्वान्न मानना। हर्षावेग ध्यान में लेना। दीप दिखावे सूर्य को तब देखना। भक्तीहि उसमें।।२३।। बालक यदि जाने उचित। तब बालक पन कैसा दिखत?। किंतु उससे साच माता रीझत। अतः संतुष्ट वह।।२४।। गांव का गंदा जल। गंगा में गया घुल मिल। क्या कहत गंगा निकल। बाहिर उसको?।।२५।। सुनो भृगु का कैसा अपकार। मानकर उसे प्रियोपचार। प्रसन्न स्वीकारत शारंगधर। गुरु प्रसाद वह।।२६।। अंधेरे से अंबर व्याप्त। दीन-नाथ सम्मुख आवत। क्या वह हटो पीछे कहत। उसको कभी?।।२७।। वैसे भेदबुद्धि तराजू में। नाप डालकर सूर्यश्लेष से। तौला आपको एक काल उसे। कीजे क्षमा।।२८।। देखा ध्यान चक्षु से। वर्णित वेदादिने वाचा से। वह सहा आपने जैसे। वैसे करो मुझे।।२९।। करने आपका गुणवर्णन। लालायित मेरा अपराधी मन। अब न छोडूं बीच में स्वामिन्। न उठूं अर्धतृप्त मैं।।३०।। गीता नामक प्रसादामृत। सेवन करने हुआ मैं प्रवृत्त। दैव से द्विगुणित सामर्थ्य प्राप्त। हुआ सुदैवी मैं।।३१।। मैंने सत्यभाषण का तप। किया वाचा से बहुत कल्प। जो फल यह गीता महाद्वीप। पाया प्रभु।।३२।। पुण्य जो अर्जित असाधारण। अतः आपका गुणवर्णन। देखकर मुझे मुक्त ऋण। हुवा आज।।३३।।

जीवित्व के अटवी में। फंसा मैं मरणगांव में। वह अवदशा आपने। की हरण सब।।३४।। गीताख्य आपकी कीर्ती। विख्यात देव त्रिजगती। पाई अविद्यानाशक बलवती। वर्णन को हमने।।३५।। निर्धन के घर अकस्मात। आकर महालक्ष्मी बैठत। उसको निर्धन कैसे कहत। कोई कभी?।।३६।। अथवा अंधेर के स्थान पर। दैव से सूर्य होवे सवार। क्या न होत वह अंधेर। प्रकाश जग को?।।३७।। जिस देव का व्यापकपन। समस्त विश्व न परमाणु भी समान। क्या बंधा भाव-बंधन। में नहीं वह?।।३८।। वैसा मेरा गीता व्याख्यान। यह खपुष्प का गंधग्रहण। किंतु समर्थ आपने की पूर्ण। अभिलाषा मेरी।।३९।। अतः आपका प्रसाद। जो यह गीतापद्य अगाध। निरूपण करूं विशद। कहे ज्ञानदेव।।४०।। पन्द्रहवे अध्याय में श्रीकृष्ण। शास्त्र सिद्धान्त संपूर्ण। करत स्पष्ट निरूपण। पंडुपुत्रको।।४१।। जो वृक्ष रूपक परिभाष। किया उपाधिरूप अशेष। कुशल वैद्य परखत दोष। अंगुलीन जैसे।।४२।। और कूटस्थ जो अक्षर। दिखाया पुरुषरूप धनुर्धर। जो उपाधि युक्त आकार। चैतन्य का।।४३।। पश्चात उत्तम पुरुष-। का करके मिष। विषद किया विशेष। आत्मतत्त्व।।४४।। आत्म अंतरंग का ज्ञान। श्रेष्ठ बलिष्ठ साधन। वह स्पष्ट किया निवेदन। अर्जुन को।।४५।। अतः इस अध्याय में पार्थ। निरुप्य न कोई अवशिष्ट। गुरुशिष्य दोनों को अब प्राप्त। मात्र स्नेह।।४६।। एवं इस संबंध में सुवीर। ज्ञानीजन संतुष्ट अपार। किंतु हुए मुमुक्षू इतर। शंकित सब।।४७।। वह मैं जो पुरुषोत्तम। मिला ज्ञान से सुवर्म। वही सर्वज्ञ सीमा परम। भक्तीकी जानो।।४८।। ऐसे यह त्रिलोकनायक। बोलत इस अध्याय

में जो श्लोक। करत ज्ञानवर्णन ही विशेख।। संतोष से वे।।४९।। भरकर, प्रपंच का घूंट। दृष्टा को दृष्य दृष्ट। आनंद साम्राज्य का पाट। प्राप्त जीव को।।५०।। ऐसा बलिष्ट उपाय। अन्य नाही कहे देव। यह सम्यग् ज्ञान का राव। उपायों में।।५१।। ऐसे आत्मजिज्ञासु धनुर्धर। संतुष्ट चित्त से सादर। करत ज्ञानपर निछावर। जीव अपने।।५२।। मन में जिसकी प्रीत। उसका ही ध्यान संतत। उसमें ही रमत जात। प्रेम लक्षण ऐसा।।५३।। अतः जिज्ञासु में ज्ञानी कोई। जब तक प्रतीति नीकी नाही। ज्ञान विषय में योगक्षेम ही। सोचत वे।।५४।। अतः वह सम्यग् ज्ञान। कैसे होवे स्वाधीन। प्राप्त यदि उसके वृद्धि का यत्न। होवे कैसे?।।५५।। या ज्ञान ही न होने देवे उत्पन्न। उत्पन्न यदि होवे कुमार्ग में मन। ऐसे जो ज्ञानमार्ग में विघ्न। जानना ही योग्य।।५६।। प्रथम ज्ञान के जो विरुद्ध। निकले अंतःकरण से निषिद्ध। पश्चात सोचे ज्ञान के हितमें जो बोध। सर्वभाव से।।५७।। ऐसे जिज्ञासु आप समस्त। चित्त में जो भाव धरत। वही पूर्ण करने लक्ष्मीकांत। बोलेंगे अब।।५८।। ज्ञान को सुजन्म लभत। अर्जित ज्ञान को स्थैर्य प्राप्त। ऐसी संपदा का वर्णन महत्। करेंगे प्रभु।।५९।। और जिस ज्ञान से कामाचार। राग द्वेष को जो देवें आधार। वह आसुरी का भी रूप घोर। करेंगे प्रभु।।६०।। सहज इष्टानिष्ट करनी। दोनों ये लीलाकारिणी। उद्घोषणा जिसकी सुनी। नवमोध्याय में।।६१।। विचार वहां करना था सर्व। किंतु उठा कुछ अन्य प्रस्ताव। अतः प्रसंग वह देव। निरूपत अब।।६२।। सुनो निरूपण का इस। अध्याय यह षोडश। देखे यदि प्रारंभ से विशेष। अनुक्रम इसका।।६३।।

किंतु रहने दो यह प्रस्तुत। ज्ञान के हिताहित संबंध मे पार्थ। संपत्ति जो समर्थ। सो वही दो।।६४।। जो मुमुक्षु को मार्ग में साथ। जो मोहरात्रि में मशाल प्रदीप्त। वह प्रथम देवी संपत। सुनो अब।।६५।। एक दुजे को पोषक। ऐसे बहुत पदार्थ देख। एकत्रित जहां विशेख। कहत संपत्ति उसे।।६६।। वह दैवी सुख संभवी। दैवी गुण को एकोपजीवी। इसलिये हुई दैवी। संपत्ति यह।।६७।।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१।।

अब देव गुणों में पूर्ण। धुरंधर जिसका आसन। सुनो उसका नाम अर्जुन। 'अभयत्त्व'।।६८।। छलांग न मारे महापूर में। न भय उसको डूबने का उसमें। किंवा पथ्य रखते देह में। आवत न रोग।।६९।। वैसे कर्माकर्म के सम्मुख अर्जुन। रोके अहंभाव का उत्थान। संसार का भय पूर्ण। छोड़ना जिससे।।७०।। अथवा ऐक्य भाव के विकास से। माने आत्मतुल्य दुसरों को जैसें। भयवार्ता भगावे सहज सें। दूर देश में जो।।७१।। पानी लवण को डूबाने जावे। तब लवण ही जलरूप होवे। अद्वैत वृत्ति जब होवे। नाशत भय पूर्ण।।७२।। अरे अभय जिसका नाम अर्जुन। उसका यह जानो लक्षण। सम्यग्ज्ञानका पूर्ण। रक्षण करे जो।।७३।। अब सत्त्वशुद्धि जो कहिये। वह ऐसे चिन्ह से जानिये। जैसे जले न बुझे देखिये। राख जैसी।।७४।। अमावस्या तो गई। प्रतिपदा अभी न आयी। ऐसे में अति सूक्ष्मता से रही। चंद्रकला जैसी।।७५।। नातर वर्षाकाल से मुक्त। ग्रीष्म से अभी न ग्रस्त। निजरूप से संधि में स्थित। गंगा जैसी।।७६।। वैसे संकल्प विकल्प का

मनोरथ। छोड़कर रजतम की कांवर पार्थ। भोगते निजधर्म की प्रीत। बुद्धि में शेष।।७७।। इंद्रियवर्ग से दर्शित। निषिद्ध अथवा विहित। विस्मय न चित्त में होत। कदापि कभी।।७८।। गया परदेस वल्लभ। होवे पतिव्रता को विरह क्षोभ। हो कितना भी हानिलाभ। न विचलित मन।।७९।। सत्स्वरूप प्रीति से वैसे। बुद्धिका अनन्य होना जैसे। 'सत्त्वशुद्धि' कहत उसे। केशिहंता।।८०।। आत्मलाभ के प्रीत्यर्थ। ज्ञानयोग दो मार्ग पार्थ। जिस एक में रमत अपना चित्त। अवलंबन करो वह।।८१।। वहां समस्त चित्तवृत्ति। त्यागने की ऐसी रीति। निष्काम बुद्धि से पूर्णाहुति। हुताशन में जैसी।।८२।। आत्मज़ा अपनी कुलवंत। देकर कुलवंत को होवे निश्चिंत। अथवा हुई लक्ष्मी सुस्थित। विष्णुपद में जैसी।।८३।। वैसे निर्विकल्प बुद्धि से। योगज्ञान में होना वृत्तिक जैसे। तीजा गुण कहत उसे। श्रीकृष्णनाथ।।८४।। अब देह वाचा चित्त से। यथा संपन्न वित्त से। सहाय वैरी, आर्त को भी जैसे। करना पार्थ।।८५।। पत्र पुष्प छाया। फल-मूल धनंजया। पथिक मार्ग से जो भी आया। देवे वृक्ष जैसा।।८६।। वैसे धनधान्य पर्यन्त। विद्यमान यथा अवसर समस्त। श्रान्त के समाधान प्रीत्यर्थ। उपयोजत जो।।८७।। उसका नाम जानो 'दान'। जो मोक्षनिदान का अंजन। अब सुनो कहूं चिन्ह। दमका तुम्हें।।८८।। विषय में इंद्रियां आसक्त। उसको करे विभक्त। जैसे करे खड्गपाणि खंडित। शत्रु को पार्थ।।८९।। बंद करके इंद्रियद्वार। बहने न दे विषय समीर। उनको स्वाधीन करे बांधकर। प्रत्याहार के जो।।९०।। प्रवृत्ति चित्त में जो समस्त। बाहिर दौड़त सतत। अतः वैराग्य आग्न डालत। दशद्वारमें।।९१।। श्वासोश्वास

से बहुतर। व्रत करत दुष्कर। रात्रंदिन निरन्तर। न श्रमत जो।।९२।। 'दम' ऐसा जिसको कहत। स्वरूप उसका इसविध पार्थ। कहूं संक्षेप में योगार्थ। सुनो अब।।९३।। अग्रभाग में ब्राह्मण को रखकर। स्त्री शूद्रादिक कौ पैलपार। मध्य में वैश्य यथाधिकार। अपने अ पने।।९४।। जिसको जो सर्वोत्तम। भजनीय देवता-धर्म। वे विधिपूर्वक यथागम। भजन कीजे।।९५।। द्विज करे षट्कर्माचरण। शूद्र करे उसको वंदन। फल दोनों को समान। यज्ञकर्म का।।९६।। वैसे अधिकारानुसार। समस्त को यज्ञाचार। किंतु न रखे विषय विष मात्र। फलाशा का उसमें।।९७।। और मैं कर्ता यह भाव। देह द्वार से मन में न जाय। वेदाज्ञा को ठाँव। होना स्वयम्।।९८।। अर्जुन एवं यज्ञ। सर्वज्ञ जानो प्राज्ञ!। कैवल्य मार्ग का अभिज्ञ। साथी यह।।९९।। भूमीपर करना गेंद से आघात। न ऐसा लेना हस्त में ही पार्थ। बीज क्षेत्र मैं फैलाना बिखुरना सर्वत्र। लक्ष फसल ही।।१००।। रखी चीज देखने के लिये। आदर दीप का कीजिये। शाखा फल के लिये। सींचिये मूल।।१।। अधिक क्या कहे दर्पण। देखने अपने को अर्जुन। अतः अनेकबार पुनः पुनः। पोंछिये प्रीति से।।२।। वैसा वेदप्रतिपाद्य ईश्वर। वह होने गोचर। श्रुति का करना निरन्तर। अभ्यास पार्थ।।३।। द्विज जनों को ब्रह्मसूत्र। अन्य को स्तोत्र या नाममंत्र। करना आवर्तन पवित्र। पाने को तत्त्व।।४।। पार्थ करे 'स्वाध्याय'। बोलत सो यह कहत देव। तप शब्द का अभिप्राय। सुनो कहूं अब।।५।। तब दानरूप से सर्वस्व देना। अन्यथा व्यय सो अपव्यय जानना। जैसे फलित इंद्रायन का सूखना। औषध के लिये।।६।। नाना धूप का अग्निप्रवेश।

कनक में कीटका नाश। पितृपक्ष का पोषिता ऱ्हास। जैसा चंद्र का।।७।। वैसे आत्मस्वरूपका होने दर्शन। शरीर इंद्रियां और प्राण। नियम धर्म से करना क्षीण। यही 'तप'।।८।। अथवा इससे भिन्न। और एक तप का लक्षण। विभागत क्षीर-नीर का मिश्रण। चंचु से राजहंस जैसे।।९।। वैसे देहजीव का ऐक्य। तोड़ने को विवेक कौंतेय। जगावत अंतःकरण में सत्य। जन्मतः जो।।११०।। देखना यदि आत्मा पार्थ। बुद्धि का विस्तार कुंठित। जैसे निद्रासहित स्वप्न लुप्त। जागृति में।।११।। वैसे करने आत्मपर्यालोचन। प्रवृत्त जो विवेक अर्जुन। उसको ही तप जान। 'सुनिश्चित'।।१२।। अब बालक के हित को स्तन्य। जैसे नाना भूतों में चैतन्य। वैसे प्राणिमात्र के लिये सौजन्य। 'आर्जव' वही।।१३।।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्। दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ऱ्हीरचापलम्।।२।।

और जग के सुखोद्देश्य से। शरीर वाचा मन से। आचरण जो ऐसे। रूप अहिंसा का वही।।१४।। तीक्ष्ण होकर कोमल। जैसे कमल पुष्प का मुकुल। या तेज परंतु शीतल। शशांक का।।१५।। दर्शन मात्र से करे रोग नाश। और जिव्हा को नाही कटु विरस। निर्मित ही न वह औषध विशेष। उसको उपमा कैसी?।।१६।। वैसे आंख में मृदुपन से। व्यथा न करत घिसने से। किंतु पर्वत को भेदत जैसे। पानी पार्थ।।१७।। संदेह का करने निवारण। अति तीक्ष्ण शस्त्र समान। सुनकर लज्जित मधुरपन। माधुर्य का भी।।१८।। कौतुक से करते श्रवण। कर्ण को सृजत नयन। सामर्थ्य से सत्य के पूर्ण। भेदत ब्रह्म।।१९।। किंबहुना प्रियपन से। झांसा न किसी को देवे जैसे। चुभत यथार्थपन से। नाही किसी

को।।१२०।। मीठा पारधिका गायन। परंतु साच वह लेवे प्राण। अग्निप्रकट रूप से कर दहन। जले साँचपन ऐसा।।१२१।। कर्ण को लागे मधुर। अर्थ से फोड़े जिव्हार। ऐसी वाचा नही सुंदर। चुड़ैल ही वह।।२२।। अहित रोकने में कठोर। लालन में पुष्प सा मृदु अंतर। वह माता का साँचोकार। स्वरूप जैसा।।२३।। वैसे श्रवण को चतुर सुखकर। परिणाम में मधुर। बोलना जो अविकार। वह सत्य यहां।।२४।। डाले पानी निरंतर। स्फुटत न पाषाण में अंकुर। निकलत न मक्खन मथकर। कांजी से कभी?।।२५।। केंचुली के सिर पर पांव से। फन न उठावे प्रहार से। या वसंत में भी अंबर को जैसे। न आवत पुष्प।।२६।। अथवा रंभा के रूप से अर्जुन। शुक में न कंदर्प उत्पन्न। या भस्म में न अग्नि उद्दीपन। घृत से भी जैसे।।२७।। शिशु छोटा भी होवे क्रोधित। ऐसे अपशब्द बहुत। और भी अन्यान्य निमित्त। प्राप्त एक साथ।।२८।। विधाता के भी पाँव पकड़त। किंतु मृतात्मा न उठत पंडुसुत। वैसा जगाने से भी न जागत। क्रोध जहां।।२९।। 'अक्रोधत्व' ऐसा पार्थ। नाम जिस दशा को सार्थ। जानो इसविध कहत। श्रीनिवास।।१३०।। अब मृत्तिका त्याग से घट। तंतु त्याग से पट। बीजत्याग से जैसा वट। धनुर्धर।।३१।। या गिराकर भित्तिमात्र। त्यागिये संपूर्ण चित्र। या निद्रात्याग से विचित्र। स्वप्नजाल।।३२।। किंवा जलत्याग से तरंग। वर्षा त्याग से मेघ। बिछुड़त जैसे भोग। धनत्याग से।।३३।। वैसे बुद्धिमंत ज्ञानीजन। तजकर अहंभाव अर्जुन। अशेष संसार बंधन। त्यागत सकल।।३४।। उसका नाम त्याग। कहत वह यज्ञांग। जानकर यह सुभग। पूछे पार्थ।।३५।। अब शांति

का लक्षण। वह व्यक्त करो कृष्ण। देव कहत अवधान। देना नीका।।३६।। ज्ञेय निगलकर पूर्ण। पश्चात ज्ञाता और ज्ञान। लुप्त निःशेष अर्जुन। जानो 'शांति' वह।।३७।। जैसा प्रलयांबु का पूर। डुबाकर विश्व का विस्तार। स्वयं यत्र-तत्र-सर्वत्र। व्याप्त पार्थ।।३८।। उगम ओघ सिंधु। शेष न यह व्यवहार भेदु। वहां जलैक्य का बोधु। कैसा किसको?।।३९।। वैसे ज्ञेय से देते आलिंगन। ज्ञातृत्व ही होवे विलीन। तब शेष जो वही ज्ञान। रूप शांतिका।।१४०।। जब सतावत व्याधि। जब तक न बल लेत रोग वृद्धि। आप पर न देखे देत औषधि। सद्वैद्य जैसा।।४१।। या धेनु पंक में फँसी। दूधी बाखड़ न जाने कैसी। दुःख से उसके उदासी। व्याकुल होवे।।४२।। अथवा डूबते को सकरुण। न पूछे अंत्यज या ब्राह्मण। निकालकर राखना प्राण। यही जाने।।४३।। अथवा कुलस्त्री बन में पार्थ। की पापी ने उघारी कदाचित। बिन वस्त्र डाले न देखत। शिष्ट जैसा।।४४।। अज्ञान, प्रमादादिक से। या प्राक्तन संचित दोष से। ग्रस्त निंद्यत्व के सर्व विष से। काष्ट कीलक जैसे।।४५।। अपना आंगिक भलापन। सहाय्य देकर अर्जुन। भुलावत भेदक दारुण। शल्य उनके।।४६।। उनके सम्मुख आवे दोष। शुद्ध स्वदृष्टि से करके निर्दोष। पश्चात डाले नेत्रकटाक्ष। उनके ऊपर।।४७।। जैसे देव देखिये करके पूजन। जाईये खेत में करके बीजारोपण। संतुष्ट करके लीजिये आशीर्वचन। अतिथि का।।४८।। वैसे स्वगुण सामर्थ्य से। न्यून औरों के हटाकर जैसे। पश्चात दयार्द्र दृष्टी से। देखना उसको।।४९।। वर्म पर न करना आघात। न करो अकर्म का उच्चार। न बुलाओ नाम लेकर। सदोष का

उनको।।१५०।। उलटा उपाय से नाना। गिरते को खड़ा करना। कदापि घाव न मारना। मर्म पर।।५१।। न माने एक को उत्तम। और दूजे को अधम। देखत सब को सम। निर्दोष भाव से।।५२।। 'अपैशुन्य' का यह लक्षण। जानो निश्चित अर्जुन। मोक्ष मार्ग का सुखासन। मुख्य यह।।५३।। अब दया वह ऐसी। पूर्ण चंद्रिका जैसी। शीतल करत एकसी। हीन-श्रेष्ठ को।।५४।। वैसे दुःखित का दुख। हरते दयार्द्रपन से अशेख। विचार न करत देख। उत्तमाधम का।।५५।। जग में जीवन समान। जो देकर अपना प्राण। करत जीवित का रक्षण। तृण का भी।।५६।। सम्मुख कोई दुःखित। सकृप होकर दुःख हरत। सर्वस्व अपना देकर मानत। कम ही वह।।५७।। गर्त भरने बिन पार्थ। पानी न आगे बहत। श्रान्त को संतोष देकर ही बढत। आगे जो।।५८।। कांटे चुभत पाँव में। तब उत्पन्न जो व्यथा मन में। वैसे औरों के संकट में। होवे व्यथित जो।।५९।। या पांव को जब शीतलता प्राप्त। तत्क्षण चक्षु भी होत शांत। वैसे परसुख से सुख पावत। धनुर्धर।।१६०।। करने सबकी तृषा शमन। जगमें पानी हुआ निर्माण। वैसे दुखियों के हित हेतुजीवन। समस्त जिसका।।६१।। ऐसा जो गुणवंत। वही 'दया' मूर्तिमंत। मैं जन्मतः पार्थ। ऋणी उसका।।६२।। अब सूर्य को जीव से। अनुसरत राजीव वैसे। किंतु वह न स्पर्शत जैसे। सौरभ्य उसका।।६३।। या ऋतुराज के मार्ग पर। अक्षोहिणी वनश्रिया स्वागत पर। किंतु न करे उनका स्वीकार। आगे बढ़े वह।।६४।। वैसे ऐहिक या स्वर्ग के। भोग पाइक हुए इच्छा के। तथापि न भाये उपभोग उसके। मन को कदा।।६५।। सकल महासिद्ध सहित।

महालक्ष्मी वसत निकट। किंतु महाविष्णु न मानत। उसको जैसे।।६६।। क्या कहूं तुमको बहुत। सहज कुतुहल के भी निमित्त। मन न होवे विषयासक्त। अलौलुप्त्व दशा वह।।६७।। अब मधुकोष जैसा मक्षिका को। या जल जलचर को। अथवा अंतराल पक्षियों को। मुक्त जैसा।।६८।। नातर बालक के उद्देश्य से। माता का स्नेह जैसे। या मृदु वासंतिक स्पर्श से। मलयानिल।।६९।। नेत्र को प्रियजनों का मिलन। कछुवी से शिशुओं का अवलोकन। वैसे भूतमात्र से वर्तन। कोमल अति।।१७०।। स्पर्श को अति मृदु। मुख को सुस्वादु। घ्राण को सुगंधु। उज्ज्वल अंग से।।७१।। जो खावे जितना चाहे। परंतु न विकारक होवे। तब ही उपमान सोहे। कर्पुर यहां।।७२।। महाभूत धरे पेट में। विद्यमान जैसे परमाणु में। रहे विश्वव्यापक होकर विश्व में। गगन जैसा।।७३।। कैसे बरनु ऐसा जीवन। अस्तित्त्व जिसका जगकारण। उसको ही संज्ञा गुण। 'मार्दव' पार्थ।।७४।। जैसा राजा पराभूत। होवे अत्यंत लज्जित। अथवा मानी निस्तेज होवत। हीन दशा में।।७५।। यदि चांडालगृह निकट। आवे संन्यासी अवचट (अकस्मात)। होवे जैसा लज्जित। उत्तम वह।।७६।। क्षत्रिय को रण से भागना। लज्जास्पद कैसे सहना?। या विधवा नाम से पुकारना। महासती को जैसे।।७७।। रूपवान को फूटत कुष्ट। संभावित को दूषण झूट। लज्जा से उसको प्राणसंकट। होवे जैसे।।७८।। औट हाथ का शरीर। जीना जन्म लेकर। जनन मरण बारम्बार। नाना योनियों में।।७९।। गर्भ मेद-मूष से। रक्तमूत्र रस से। ढला वह उससे। लज्जाकारक यह।।१८०।। बहुत हुआ विस्तार। यह नामरूपात्मक शरीर।

धारण करना बारंबार। घृणास्पद अति।।८१।। ऐसी ऐसी दुर्गति। होवे शरीर से विरक्ति। आवे साधु को लज्जा किरीटि। भाये निर्लज्ज को।।८२।। जब सूत्रतंतु टूटत। क्रिया कठपुतली की रुकत। वैसी प्राणजय से गति कुंठित। कर्मेंद्रियों की।।८३।। या अस्तंगत जब दिनकर। नष्ट किरणों का प्रसार। वैसा मनोजय से प्रकार। ज्ञानेंद्रियों का।।८४।। एवं मन पवन॰ नियम से पार्थ। दशेंद्रिया अक्षम होवत। वही अचापल्य कहलावत। जानो तुम।।८५।।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।।३।।

अब ईश्वर प्राप्त्यर्थ। ज्ञानमार्ग में यदि प्रवेशत। तब न्यूनता न किंचित। धैर्य की उसको।।८६।। दारुण मरण सरिस। प्राप्त यदि अग्नि प्रवेश। परंतु प्राणेश्वरोद्देश्य। गिनत न सती।।८७।। आत्मनाथ की चिन्ता कर। विषय विष को जलाकर। शून्य की कटीलि राहपर। दौड़ना भाये।।८८।। न आवे निषेध आड़। न लौकिक विधि की भीड़। न महासिद्धी की चाड़। उपजत मन में।।८९।। ऐसा ईश्वरोन्मुख चित्त निज। धावत स्वयं सहज। उसको ही संज्ञा 'तेज'। अध्यात्मिक।।१९०।। अब सहते सर्वही गरिमा। गर्व न होवे वही क्षमा। जैसे देह धरते हुए रोमा। गर्व न जाने।।९१।। अब मस्त जब इंद्रियावेग। पूर्वकर्म से वर्धित रोग। अथवा योग-वियोग। प्रियाप्रियों के।।९२।। ऐसा आर्तियों का आवे पूर। एक ही समय महाघोर। रहे उसमें खड़ा धीर। अगस्ति सम।।९३।। धूम्ररेखा अंबर-। में प्रसरत अति सुंदर। एक ही झोंके से ग्रासत समीर। उसको जैसा।।९४।। वैसे

उपद्रव अधिभौतिक। अधिदैविक एवं आध्यात्मिक। प्राप्त यदि पांडव अशेख। निगलत जो।।९५।। इसविध चित्तक्षोभ के अवसर। धैर्य से वर्तत अंतर। वह जो गुण कहे श्रीधर। 'धृति' जानो।।९६।। सुवर्ण शोधित निर्मल। भीतर अमृतमय गंगाजल। उस कलशसम उज्ज्वल। शौच पार्थ।।९७।। निष्काम बाह्य आचार। विवेक परिपूर्ण अंतर। ऐसा पुरुष साचार। मूर्ति 'शुचित्व' की।।९८।। नष्ट करते पाप ताप। पोषत तीर के पादप। समुद्र में जाये आप। गंगा को जैसे।।९९।। जग का अंधत्व करते नष्ट। खोलते लक्ष्मी के मंदिर पार्थ। निकलत जैसा गभस्त। परिक्रमा को।।२००।। वैसे बद्ध को मुक्त करते। डूबते को निकालते। विपदा को हरण करते। आर्तजनों की।।१।। किंबहुना रात्रं दिवस। दूसरों का सुख उत्कर्ष। करके करना प्रवेश। स्वार्थ में अपने।।२।। साधने अपना स्वार्थ। औरों का करना अहित। ऐसा निंद्य संकल्प पार्थ। न करना जो।।३।। अद्रोहत्व यह गुण। सुना जो तुमने निरूपण। प्रत्यक्ष होगा दर्शन। किरीटि तुझको।।४।। और गंगा शंभु के माथ। पहुंचकर जैसी सकुचत। वैसे मान प्राप्ति से लज्जित। होवे जो।।५।। ऐसा वह पुनः-पुनः। 'अमानित्व' जानो अर्जुन। किया पहले ही निरूपण। कितना कहूं वही।।६।। एवं इन्हीं छब्बीस। ब्रह्मसंपदाका वास। मोक्ष चक्रवर्ती का विशेष। अग्रहार जैसा।।७।। अथवा यह संपत्ति दैवी। यह गुण तीर्थों की नित नवी। निर्विण्ण सगरों की दैवी। आयी गंगा ही।।८।। या गुण कुसुमों की माला। लेकर यह मुक्तिबाला। वैराग्य निरपेक्ष का गला। खोजत पार्थ।।९।। या इन्हीं छब्बीस गुण-ज्योति-।से। प्रज्वलित करके आरती।

गीता आत्म निजपति-। को नीराजत स्वयम्।।२१०।। इस गीतार्णव में। दैवी संपदाशक्ति कलिका में। निर्मल मुक्ताफल उसमें। प्रकटित ये।।११।। बहुत क्या वरनू ऐसी। अभिव्यक्ति होवे अपनेसी। दैवी संपत्ति गुणराशि। का रूप यह।।१२।। अब अंतरंग दुःखवल्ली पार्थ। दोषकंटक से यदि परिपूरित। तथापि निजाभिधान में वर्णित। आसुरी वह।।१३।। किंतु त्याज्य तजने प्रीत्यर्थ। जानो यदि अनुपयोगी तत्त्वतः। तथापि सुनो पंडुसुत। श्रोत्र शक्ति से।।१४।। तब नरक व्यथा को महति। लावे अघोर दोष किरीटि। मेल की वह संपत्ति। आसुरी यह।।१५।। नाना विषवल्ली एकत्रित। नाम उसका कालकूट। सकल दोषों का संपुट। धनुर्धर।।१६।।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च। अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।।४।।

तब उन्हीं आसुर। दोषों में जिसको सुवीर। श्रेष्ठत्व डंके की चोट पर। वह 'दंभ' जानो।।१७।। जैसी तीर्थरूप जननी। नग्न दिखाई जग में अपनी। कारण होवे वह पावनी। पतन का।।१८।। ब्रह्मविद्या गुरुपदिष्ट। चिल्लाकर चौराहे पर प्रकट। इष्टदा किंतु अनिष्ट। कारक होत।।१९।। डूबते महापूर में। पहुंचावे त्वरित पैलतीर में। नाव ही यदि बांधे सिर में। डूबावत जैसी।।२२०।। अन्न जीवित का कारण। प्रशंसापूर्वक किया अधिक सेवन। वह अन्न ही होवे अर्जुन। विष जैसा।।२१।। दृष्टादृष्ट का सखामित्र। धर्म यदि चौराहेपर कथित। तारक किंतु वही होवत। अहितकारी।।२२।। अतः वाचा से चौराहे पर। किया धर्म का विस्तार। वह धर्म ही अधर्मकर। जानो दंभ।।२३।। जब मूर्ख

के जीभपर। गिरे अक्षर बिंदु उसपर। न रीझत वह नर। ब्रह्म सभा में जैसा।।२४।। भादुरी घोड़ेपर सवार। मानत राजाधिपति को भी क्षुद्र। चढ़े गिरगिट कटीले पेड़पर। माने स्वर्ग हीन।।२५।। पावत तृण का ईंधन। ज्वाला स्पर्शत गगन। वैसा डबरे में रहत मीन। माने सागर तुच्छ।।२६।। वैसे उन्मत्त स्त्रीधन से। विद्यास्तुति बहुसम्मान से। एकही दिन के परान्न से। मत्त निर्धन जैसा।।२७।। अभ्र छाया के निमित्त। स्वगृह निदैवी तोड़त। मृगांबु देखकर मूर्ख फोड़त। कूप धर का।।२८।। किंबहुना ऐसेसें। मदोन्मत्त संपत्ति मिष से। वह 'दर्प' जानो निश्चित से। धनुर्धर।।२९।। जगका वेद में विश्वास। और विश्व को पूज्य ईश। जग में एक ही तेजस। पदार्थ सूर्य।।२३०।। जगत्स्पृहाका आस्पद। पाना एक सार्वभौम पद। न चाहत निर्विवाद। मरण कभी।।३१।। अतः जग उत्साह से। वेद ईश को स्तवत जैसे। सुनकर वह मत्सर से। फूलत जो।।३२।। कहे भक्षू ईश्वर को। जहर दूं उन वेदों को। स्वगौरवार्थ मर्यादा को। उल्लंघत जो।।३३।। ज्योति न भाये पतंग को। त्रास भानु का खद्योत को। यां टिट्टिभ आपापति को। माने वैरी।।३४।। वैसे अभिमान आवेश से। सहे न नाम ईश्वर का जैसे। वेदाज्ञा को कहे वैसे। सौतन मेरी।।३५।। ऐसा मान्यता का पुष्ट गंड। वह अभिमानी परमलंड। रौरव का जो रूढ। मार्ग ही जाने।।३६।। और दूजे का सुख अर्जुन। देखकर क्रोधाग्नि से जिसका मन। तत्त्काल होवे विषपूर्ण। पंडुकुमर।।३७।। जल शीतल तप्त तैल में। गिरते उफनत उसमें। चंद्र देखकर जले मन में। शृगाल जैसा।।३८।। विश्व को जो देत जीवन। उस सूर्य को उदितमान। देखकर

फूटत नयन। दिवाभीत के जैसे।।३९।। जग की सुप्रभात। चोर को मरण से निकृष्ट। दूध का होवे कालकूट। व्याल मुख में।।२४०।। अगाध समुद्र जल से। अधिक भी जल प्राशन से। न कभी लभत शांति जैसे। वड़वानल को।।४१।। वैसे विद्याविनोद वैभव से। देखकर औरों के भाग्य से। तब तब दुगनावत रोष जैसे। मानो 'क्रोध' वह।।४२।। और सर्पकुटिसम मन। नाराज जैसे तीक्ष्ण नयन। अग्निवृष्टि सम भाषण। दाहक जिसका।।४३।। और सब क्रिया जात। मानो फौलाद की आरी पार्थ। ऐसे सबाह्य जिसका चरित्र। कठोर अति।।४४।। वह मनुष्य में अधम जान। 'पारुष्य' का केवल अवतरण। अब सुनो लक्षण। अज्ञान का।।४५।। प्रदीप्त अग्नि करे आरोगण। न देखे खाद्याखाद्य अर्जुन। या पारस न जाने भिन्न पन। लोह, सुवर्ण का।।४६।। जैसा स्पर्श शीतोष्ण। भेद न जाने पाषाण। अथवा रात और दिन। जात्यंध जैसा।।४७।। नातर नाना रस में। चलत करछुली उनमें। किंतु रसास्वाद न जाने। धनुर्धर।।४८।। या पवन पारखी जैसा। नहीं मार्गामार्ग विषय में वैसा। कृत्याकृत्य विवेक में वैसा। अंधपन जो।।४९।। यह चोखा यह मैल। न जानकर बाल। देखे सोही केवल। डाले मुख में।।२५०।। वैसी पाप-पुण्य की खिचड़ी पार्थ। करके खाते बुद्धि चेष्टा समस्त। कटु मधुर न भासत। ऐसी दशा जो।।५१।। उसका नाम 'अज्ञान'। इसमें न संशय अर्जुन। एवं षट्दोष का चिन्ह। निरूपित।।५२।। ये षट्दोष अंग में पार्थ। यह बलिष्ट आसुरी संपत। जैसा सुभगां में विषय बहुत। कृश तनु के।।५३।। अग्नि त्रिभुवन में अर्जुन। देखे यदि संख्या में तीन। किंतु विश्व भी अल्प पूर्ण। प्राणाहुति

को।।५४।। धाता को भी आवे शरण। न चूकत त्रिदोष से मरण। वह तीनों की दुगुन। छह दोष ये।।५५।। इन्हीं दोषों से संपूर्ण। हुआ इसका उभार पूर्ण। अतः आसुरी कोई न्यून। संपदा नाही।।५६।। जैसा क्रूर ग्रहों का कौंतेय। एक राशी में मिले समुदाय। या निंदक के पास जाय। अशेष पाप।।५७।। मरणहार के अंग-। में आवत समस्त रोग। अथवा कुमुहुर्त में दुर्योग। जुटत सब।।५८।। विश्वसित ने चोर से लुटवाना। श्रान्त को महापुर में लोटना। वैसे नर का अनिष्ट करना। काम इनका।।५९।। बिच्छी सप्त लूम की पार्थ। मरण समय में काटत। वैसे छह ही दोष समस्त। प्राप्त उनको।।२६०।। मोक्षमार्गस्थ नर। यदि बूंद इनका गिरे उसपर। डूबत जैसा कभी न आवे ऊपर। संसार में वह।।६१।। अधम योनियों का सोपान। यथा क्रम से उतर के अर्जुन। पहुंचत स्थावर तल तक। जान नर वह।।६२।। रहने दो यह उसके ठाँई। मिलकर षट्दोष यही। आसुरी संपत्ति सबही। बढ़ावत।।६३।। ऐसी ये दो पार्थ। प्रसिद्ध संपदा जग में समस्त। पृथक चिन्ह से कथित। तुमको यहां।।६४।।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता। मा शुचः संपदं देवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।५।।

इन दोनों में प्रथम। दैवी जो कही सुवर्म!। मोक्ष सूर्य से उदित उत्तम। उषा ही वह।।६५।। अन्य जो दूसर। संज्ञा जिसको आसुर। मोह लोह की साचोकार। शृंखला जीव को।।६६।। सुनकर यह तल्लक्षण। न करना भय शंकित मन। क्या रात्रि का धाक दिन। धरत मन में?।।६७।। यह आसुरी संपत उनको। कारण होत बंध को। जो छह ही

उन दोषों को। आश्रय देत।।६८।। तुम तो हे भारत!। दैवी ऊपरी निर्दिष्ट। संपत का यथार्थ जन्मतः। गुणानिधि प्रत्यक्ष।।६९।। अतः तुम पार्थ!। दैवी संपत का नाथ। होकर पहुंचना सुखप्रत। कैवल्य के।।१७०।।

द्वौ भूतसर्गौ लेकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च। दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु।।६।।

अब दैवी एवं आसुर। संपत्तिवंत नर। उनका अनादिसिद्ध उजागर। व्यवहार जग में।।७१।। जैसे रात्रि के अवसर। कार्य करत निशाचर। दिन में सुव्यवहार। मनुष्यादि के।।७२।। वैसे अपनी अपनी पद्धति-। से वर्तत दोनों सृष्टि। दैवी और किरीटि। आसुरी यहां।।७३।। वैसे पूर्वाध्याय में पार्थ। दैवी संपत सुविस्तृत। ज्ञान कथन में यथार्थ। निरूपित।।७४।। अब आसुरी जो सृष्टि। उनकी बरनू गोष्टी। अवधान की नीकी दृष्टि। देना तुम।।७५।। सुनो वाद्यबिन नाद। कदापि न देत प्रतिसाद। या पुष्पबिन मकरंद। न लभत जैसा।।७६।। वैसी प्रकृति यह आसुर। अकेली न होवे गोचर। जब तक कोई एक शरीर। न अंगिकारत वह।।७७।। घिसते लकड़ी लकड़ी पर। होवे अग्नि दृष्टिगोचर। वैसे प्राणिदेह में दिखत समग्र। व्याप्त यह।।७८।। तब गन्ने की वृद्धि जैसी। अंदर रसवृद्धि भी तैसी। देहाकृति होवे वैसी। प्राणियों की।।७९।। अब उन प्राणियों का पार्थ। रूप बतलाऊं यथार्थ। जो दोषवृन्द से युक्त। आसुरि के।।२८०।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न निदुरासुराः। न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।७।।

अतः पुण्य विषय में प्रवृत्ति। या पाप विषय से निवृत्ति। इस ज्ञान की रात्रि। उनका

मन।।८१।। निर्गम या प्रवेश पार्थ। न सोचत बांधत सावेश। स्वगृह जैसा कीटकोश। फसत उसमें।।८२।। आवे न आवे वापस। दिया पैसा अपने पास। देवे मुद्दल चोर को खास। मूर्ख जैसा।।८३।। वैसे प्रवृत्ति-निवृत्ति। न जानत आसुरी किरीटि। और शुचित्व स्वप्न में भी दृष्टि। न देखे जिनकी।।८४।। कोयला कालिख छोड़ेगा। कौवा शुभ्र होवेगा। मांस का ऊबग आवेगा। राक्षस को भी।।८५।। किन्तु ये आसुरजन। शौच न राखत अर्जुन। मद्यपात्र को पवित्रपन। न कदापि जैसे।।८६।। न मानत विधि-विधान। श्रेष्ठों का आज्ञापालन। और भाष सदाचरण। न जानत वे।।८७।। जैसा चरना बकरी का। या दौड़ना वायु का। जलाना अग्नि का। बिन सोचे।।८८।। वैसे होकर स्वैर। आचरत वे आसुर। सत्य से उनका वैर। निरन्तर।।८९।। लूम से यदि अपने पार्थ। बिच्छू गुदगुदी करत। तब ही सत्य बोलत। आसुरी वे।।२९०।। अपान के मुख से कदाचित। यदि सुगंध निसृत। तब ही सत्य उनको प्राप्त। आसुरी को।।९१।। इसविध बिन कारण। अंग में जिनके दुष्टपन। उनका विलक्षण भाषण। सुनो कहूं अब।।९२।। वैसे ऊंट के अंग-। में कौन सा अवयव चांग। वैसा आसुरियों का प्रसंग। सुनो प्रसंगानुसार।।९३।। चिमनी के मुख से पार्थ। धूम्र के उभड़ उभड़त। वैसे जानो स्पष्ट। बोल उनके।।९४।।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।८।।

अनादि यह विश्वनगर। नियंता इसका परमेश्वर। वेद करत चौकीपर। न्याय-अन्याय भेद।।९५।। वेद कहत अन्यायी जिसको। नरक भोग प्राप्त उनको। और स्वर्गसुख

संन्यासी को। धनुर्धर।।९६।। ऐसी यह विश्व व्यवस्था। अनादि जो रही पार्था। किंतु इसको कहत वृथा। अशेष ये।।९७।। यज्ञमूढ़ पागल यज्ञ में। भ्रमित देवपूजक प्रतिमा पूजन में। लुट गये समाधि भ्रम में। संन्यासी योगी।।९८।। अतः बुद्धि बल से स्वतः। भोगना विषय समस्त। दूजा इससे और श्रेष्ठ। पुण्य कौनसा?।।९९।। आंगिक अशक्तपन से। विषय भोग न शक्य उससे। सुखरहित जीवन ऐसे। पाप वही।।३००।। धनवंत का प्राण लेना। पाप यदि उसको मानना। किंतु सर्वस्व उसका पाना। पुण्य फल ही वह।।१।। बली निर्बल को खावे। कर्म निषिद्ध यह होवे। क्यों न मत्स्यों का होवे। निःसंतान तब।।२।। होने वंश का वर्धन। उभयकुल परखकर अर्जुन। सुमुहुर्त में करना लग्न। हेतु यदि यह।।३।। तब पशुपक्षादि संतान। अखंड बढ़ने कारण। कौन करे उनका लग्न। किस मुहूर्त में?।।४।। चोरी का धन आवे। क्या किसको विष होवे?। प्रीत से परद्वार करे वह पावे। कुष्ट कभी?।।५।। अतः देवस्वामी सबका। भोग देत धर्माधर्म का। और भोगत फल ऐहिक का। परलोक में।।६।। परंतु परत्र और देव। न दिखत अतः व्यर्थ सर्व। मरे कर्ता तब शेष ठाँव। भोग्य का कौन?।।७।। स्वर्गलोक में जैसा इंद्र। भोग से उर्वशी के सुखी अपार। वैसे कृमि भी नरक में प्रचुर। मानत सुख।।८।। अतः नरक एवं स्वर्ग। नहीं पाप-पुण्य भाग। जो दोनों में सुखभोग। काम का ही पार्थ।।९।। इस कारण कामतृप्ति-। को संग स्त्री-पुरुष युग्म का किरीटि। उससे ही होवे उत्पत्ति। अखिल जग की।।३१०।। और जो जो अभिलाष। स्वार्थ का जिससे परिपोष। पश्चात परस्पर

द्वेष–। से नाश काम का ही।।११।। एवं काम के बिन कोई। इस जग का मूल नाही। ऐसे बोलत सबही। आसुरी जन।।१२।। अब रहने दो यह कुविचार। न करना इनका विस्तार। होवे कहते मत आसुर। निष्फल वाचा।।१३।।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः। प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।।९।।

द्वेष अत्यंत ईश्वर का। अतः न करत उच्चार उसका। मन में न किसी प्रकार का। निश्चय एक।।१४।। किंबहुना अंग में स्पष्ट। भरकर पाखंड पार्थ। नास्तिकपन की छड़ी निश्चित। गाड़त जैसे।।१५।। तब स्वर्ग का आदर। या नरक का डर। इन वासनाओं का अंकुर। दंभ पूर्ण।।१६।। फिर केवल यह देह खोड़। अभेध्योदक का बुदबुद। विषय पंक में हे सुहृद!। डूबत सब।।१७।। प्राप्त जलचर का मरणकाल। आवत डोह में ढ़ीमर सकल। आवे जब शरीर का अंतकाल। उद्भवत रोग।।१८।। उदय केतु का जैसे। जग के अनिष्ट उद्देश्य से। वैसे जन्मतः वे नाशार्थ। लोगों के पार्थ।।१९।। विरुढ़त जब अशुभ। फूटत जब वे कोंभ। जलते कीर्ति स्तंभ। पाप के वे।।३२०।। अगले पिछले को जलाना। इतना अग्नि ने जानना। वैसे विरुद्ध ही केवल करना। सबका सदा।।२१।। वह विरुद्ध आचरण। करत जिस समारोह से अर्जुन। वह करो अब श्रवण। कहे श्रीनिवास।।२२।।

काममाश्रिय दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः। मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।।१०।।

देखो, जाल पानी से न भरत। अग्नि इंधन से न कभी तृप्त। ऐसा जो अग्रभाग में स्थित। बुभुक्षितों के।।२३।। उसी काम का आर्द्रत्व। जीव में रखकर पांडव। दंबमान का

समुदाय। समेटत जो।।२४।। पहलेही मत्त कुंजर। उसमें पिलाई मदिरा और। वैसे बढ़ते जरासे आसुर। होवे मदोन्मत्त।।२५।। दुराग्रह का वही ठाँव। ऊपर मूढ़त्व सहाय। तब क्या बरनूं निर्वाह। निश्चय का।।२६।। जिससे परताप पावत। परजीव का रगड़ा होत। ऐसे कर्मों में दृढ़ प्रवृत्त। जन्मवृत्तिक वे।।२७।। स्वकर्म की प्रौढ़ी बरनत। और जगको धिक्कारत। दश दिशा में प्रसरत। स्पृहा ज्वाला।।२८।। ऐसा धरत अभिमान। करत घोर पापाचरण। जैसी चरत खेत में अर्जुन। धर्म धेनु-मुक्त।।२९।।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः। कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।।११।।

इसी एक साधन से पार्थ। उनकी कर्म प्रवृत्ति संतत। और मरण उपरान्त की भी वहत। चिन्ता वे।।२३०।। पाताल से भी निम्न। ऊंचाई को जिससे ठिगना गगन। अणुसमान न त्रिभुवन। सम्मुख जिसके।।३१।। संन्यासी नवदीक्षित-। को योगनियम की चिन्ता संतत। या न छांडत पतिव्रता मरण उपरान्त। वल्लभ को जैसी।।३२।। वैसी चिन्ता अपार। वर्धवत निरन्तर। प्राप्त करने असार। विषयादिक।।३३।। स्त्री गायन सुनना। स्त्री रूप नेत्र से देखना। सर्वेन्द्रिय से आलिंगन देना। स्त्री को ही।।३४।। निछावर कीजे अमृत। ऐसे सुख स्त्रीबिन पार्थ। नहीं दूजा करे चित्त। निश्चय ऐसा।।३५।। वह स्त्री भोग करने प्राप्त। स्वर्गपाताल पर्यन्त। दशदिशा पार धावत। निरन्तर।।३६।।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः। ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्।।१२।।

आमिष कवल की बहुत आशा। न सोचकर मीन निगलत जैसा। करत तैसी विषय

आशा। वंचना उनकी।।३७।। वासना की न कभी तृप्ति। वर्धत शुष्क आशा संतति। बढ़ते-बढ़ते होत निश्चिति। कोष कीटक वे।।३८।। और वर्धित यह अभिलाष। अपूर्ण जब होवे वही द्वेष। एवं काम क्रोध से विशेष। पुरुषार्थ नाहीं।।३९।। जैसे पहरेदार को। फेरी दिन को जागना रात को। अहोरात्र वैसे आसुरको। विश्रांति नाहीं।।३४०।। फेका ऊंचे पर्वत से काम ने। गिरिशिखर पर गिराया क्रोधने। तथापि राग-द्वेष विषय प्रेम ने। किया उन्मत्त उनको।।४१।। हृदय में अति लालसा कौन्तेय। जुटा विषय वासना समुदाय। किंतु क्या उसका भोग शक्य। अर्थ ही से ना।।४२।। अतः कामभोगार्थ। संचय करने अर्थ। मिले उनको लूटत। यथेच्छ वे।।४३।। मौका देखकर एक को मारत। एक का सर्वस्व हरण करत। किसी एक के लिये योजत। अपाय-यंत्र।।४४।। पाश बोरा वागुर। भाला चिकाटी कुक्कुर। लेकर जात पहाड़ पर। पारधी जैसा।।४५।। केवल भरने पेट। मारत प्राणियों के संघाट। ऐसे ऐसे कर्म निकृष्ट। करत वे।।४६।। करके पर प्राणघात। जोड़त अपार वित्त। मिला उससे भी चित्त। संतुष्ट नाहीं।।४७।।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्। इदमस्तीदमति मे भविष्यति पुनर्धनम्।।१३।।

कहे आज मैने पार्थ। बहुतों की संपत्ति बहुत। की अपने हस्तगत। धन्य हुआ मैं।।४८।। ऐसा अपने को जब श्लाघत। तब और भी मनमें चाहत। कहे देखो लूटूं तुरंत। औरों को भी।।४९।। अब तक जो जुटाया सकल। उसका बनाकर मुद्दल। लाभ लूंगा शेष अखिल। चराचर मैं।।३५०।। विश्व का संपूर्ण धन। स्वामी बनूं अकेला मैं अर्जुन। देखू

जिसको उसको पूर्ण। नष्ट करूं मैं।।५१।।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि। ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।१४।।

कुछ कम वैरी अभी नष्ट। और भी मारूंगा बलिष्ट। तब सुख से जीऊं पार्थ। अकेला मैं।।५२।। जो बने वो मेरे दास। बिन उनके मारूं अशेष। किंबहुना चराचर में खास। ईश्वर सो मैं।।५३।। मैं भोगभूमिका राव। आज सब सुखों को ठाँव। इंद्रभी लज्जित पांड़व!। देखकर मुझको।।५४।। मैं मन वाचा देह से। चाहूं वह न होवे कैसे?। कौन मुझबिन वाणी से। आज्ञाकारी दूजा?।।५५।। तब तक ही बली काल। जब तक न दिखा मैं अतुलबल। साच सब सुख का केवल। राशि मैं ही।।५६।।

आढयोऽभिजनवानस्मिकोऽन्योऽस्तिसदृशोमया। यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।।१५।।

होगा कुबेर भी संपन्न। किन्तु नहीं वह मुझ समान। नहीं मुझसम धनवान। श्रीनाथ भी।।५७।। मेरे कुल की बहु प्रसिद्धि। उच्च मेरे सगे संबंधी। तुलना में प्रत्यक्ष विधि। दिखत हीन।।५८।। उस ईश्वरादिक की कीर्ति। व्यर्थ लोग गात किरीटि। नही मुझसा समबल व्यक्ति। कोई जग में।।५९।। सांप्रत लुप्त अभिचार। करूं मैं उसका जीर्णोद्धार। प्रतिष्ठा करूं परघातकर। त्याग सर्वत्र।।३६०।। मुझको गात स्तवत। नाट्यनर्तन से रिझावत। उनको दूं मैं जो मांगत। वस्तु वही।।६१।। करके मदिरा-अन्नपान। प्रमदाओं का आलिंगन। त्रिभुवन में होऊंगा संपूर्ण। आनंदाकार मैं।।६२।। क्या बहुत कहूं ऐसे। वे आसुरी प्रकृति उन्माद से। सूंघत गगन पुष्प जैसे। अपरिमित।।६३।।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः। प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।१६।।

ज्वर के भर से पार्थ। रोगी कुछ भी बर्रावत। संकल्प से वैसे बकत। आसुरी वे।।६४।। अज्ञान धूली में फंसत। अतः उन्हें आशाचक्रवात। अन्तराल में घुमावत। मनोरथ के।।६५।। अमर्यादित आषाढ़ मेघ। अखंड समुद्र तरंग। वैसे वांछत अभंग। काम ही वे।।६६।। तब कामनाओंकी कटीली। अंतर में उलझत वल्ली। खरकाना जैसी कमलकली। कांटों पर से उन।।६७।। या पाषाण के माथ। फूटत हंडी पार्थ। जीव के टुकड़े होत। सर्वशः वैसे।।६८।। तब बढ़ते रजनी में। तमवृद्धि होवे उसमे। वैसा मोह अंतःकरण में। बढ़ने लागत।।६९।। जब-जब बढ़े मोह। तब-तब विषय में वर्धत चाह। विषय वही ठाँव। पातक को।।३७०।। पाप अपने बल से पार्थ। क्रम क्रम से समूह जुटावत। तब जीते जी भोगत। नरक सब।।७१।। अतः हे सुमति!। कुमनोरथ जो रखत किरीटि। वे आसुर करत बस्ती। स्थान में उस।।७२।। जहां असिपत्र तरुवर। खदिरांगार के डोंगर (पहाड़)। तप्त तैल के सागर। उफनत।।७३।। जहां यातनाओं की श्रेणी। नित्य नूतन दारुणी। यमयातना उनको भोगनी। नरक लोक में।।७४।। ऐसे छटे साचार। नरक के भागीदार। भ्रमिष्ट करत धनुर्धर। यज्ञ याग।।७५।। वैसे यज्ञादिक क्रिया पार्थ। माना फलदायी अंततः। किंतु निष्फल सब होत। नाटक में जैसे।।७६।। वल्लभ का लेकर आश्रय। कुस्त्रियां अपने को कौंतेय। तोषत मानकर सौभाग्य-। वती जैसे।।७७।।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः। यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।।१७।।

वैसे अपने को आपुन। मानकर महंतपन। फूलत असाधारण। गर्व से उस।।७८।। न जानत झुकना कैसे?। ढले लोह के स्तंभ जैसे। या खड़े ऊंचे आकाश में वैसे। शिलाराशी।।७९।। और अपने ऐश्वर्यगुन। मन में रीझत अर्जुन। औरों को तृण समान। मानत हीन।।३८०।। ऊपर धन के मद से पार्थ। होकर स्वयं उन्मत्त। कृत्याकृत्य विचार सर्वतः। तजत वे।।८१।। अंग में जिनके सामग्री ऐसी। उनको यज्ञ याग की गोष्टी कैसी?। क्या-क्या क्रिया विपरीत सी। न करत भ्रमित वे।।८२।। अतः किसी एक काल वैसे। मौढ्यमद के बल से। रचत यज्ञ का स्वांग जैसे। धनुर्धर।।८३।। कुंडमंडप ना वेदी। नहीं उचित साधन समृद्धि। विधि विधान से उनकी बुद्धि। करे वैर सदा।।८४।। देव-ब्राह्मण नामका पार्थ। वारा भी न कभी सहत। ऐसे में कौन आवे प्रतिष्ठित। पास उनके।।८५।। बछुवे का मूंडा धनुर्धर। गौ के सम्मुख रखकर। दोहन करत रसक्षीर। बुद्धिमंत।।८६।। वैसे याग के नाम से। सब लोगों को बुलाकर जैसे। लूटत उपहार मिष से। सबको वे।।८७।। ऐसे अपने उत्कर्ष प्रीत्यर्थ। होम हवन का आडंबर रचत। उससे प्राणिजात का वांछत। सर्वनाश वे।।८८।।

अहंकारं बलं दर्प कामं क्रोधं च संश्रिताः। मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।१८।।

आगे भेरी निशान। लगाकर अपना दीक्षितपन। जग में उजागर करत जान। व्यर्थ ही वे।।८९।। तब उस महत्त्व से उनको। गर्व चढ़त अधम को। जैसे लेप पुट दिये तमको। काजल के।।३९०।। वैसे मौढ्य होवे ठोस। औधत्य की वृद्धि विशेष। अहंकार दुगनत

खास। अविवेक सहित।।९१।। तब दूजे की भाष पार्थ। नष्ट करने निःशेष। बल को उनके प्राप्त। बल अधिक।।९२।। ऐसा अहंकार बलिष्ठ। ऐक्य बल का जब पावत। क्षुब्ध होकर सीमा छांडत। दंभसागर तब।।९३।। दर्प जब उभड़त। काम का पित्त भड़कत। उस अग्नि से सेंध बढ़त। क्रोधाग्नि वह।।९४।। ग्रीष्माग्नि प्रखर प्रदीप्त। घी तेल भांडार को स्पर्शत। और उसमें छूटत सैराट। वायु जैसा।।९५।। वैसे अहंकार को बल प्राप्त। दर्प काम क्रोध में उलझत। इन दोनों का मेल होत। जिनके ठाँई।।९६।। वे अपनी स्वेच्छा से। हिंसा कौन कौन की उन्माद से। न होवत इन प्राणियों से। सोचो तुम।।९७।। प्रथम तो धनुर्धर। अपना मांस रुधिर। व्यय करत अभिचार। प्रीत्यर्थ सब।।९८।। देह को अपनो वे जलावत। किंतु उसमें मेरा वास पार्थ। आत्मा मेरी पावत। पीड़ा दाह सब।।९९।। वे अभिचारक अर्जुन। करत जो जो पीड़न। वहां भोगत दुःख पूर्ण। चैतन्यरूप मैं।।४००।। और व्यभिचार के अतिरिक्त। जो जो बचत कदाचित्। उनपर ईंटें फेकत। पैशुन्यकी वे।।१।। सती और सत्पुरुष। दानशील याज्ञिक। तपस्वी-अलौकिक-। संन्यासी जो।।२।। या महात्मा और भक्त। जो मेरा निजधाम पार्थ। होमधर्म जो पवित्र। श्रोतादिक से।।३।। उनको द्वेषकालकूट। चढ़ाकर अति बिकट। कुबोल के तीक्ष्ण बलिष्ट। मारत बाण।।४।।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१९।।

ऐसे जो सर्वतोपरि पार्थ। मेरे वैर में प्रवृत्त। पापियों को जो मैं दण्ड देत। सुनो

तुम।।५।। मनुष्य देह का आधार। लेकर जगको होत पीड़ाकर। उनकी मनुष्य पदवी छीनकर। रखूं ऐसे मैं।।६।। जो क्लेशगांव का धूरा। भवपुरी का पौसरा (प्याऊ)। देत तम योनिकी वृत्ति वीरा। उन मूढ़ों को।।७।। तब आहार के नाम से पार्थ। तृण भी जहां न ऊगत। व्याघ्र वृश्चिक वनवासी करत। उनको मैं।।८।। जहां क्षुधा से बहुत ग्रस्त। लुंचकर अपनाही अंग खावत। मरमर पुनः आवत। योनियों में वही।।९।। अपने ही गरलाग्नि में। जलावत स्वअंग की खाल उसमें। वह सर्प ही बिल में। फंसा जैसा।।४१०।। किंतु लिया सांस न जाये बाहिर। इतना भी अल्प अवसर। विश्राम न दूं धनुर्धर। दुर्जनों को मैं।।११।। इसविध कोटी-कल्पान्त। गिनते होवे समाप्त। तब तक न करूं मुक्त। क्लेश से उनको।।१२। दैव से उनके जहां गमन। वहां का यह प्रथम स्थान। भोगत वहां दुःख दारुण। पहले से भी।।१३।।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।२०।।

इस सीमापर्यंत। वे आसुरी संपत युक्त। अधोगति सुनो निश्चित। प्राप्त उनको।।१४।। पश्चात व्याघ्रादि तामसी। योनि में उनको थोडीसी। स्वस्थता देहाधार की जैसी। पावत ज्योंहि।।१५।। वह भी विश्राम करूं हरण। और जहां करके प्रयाण। अंधेर भी काला पड़त अर्जुन। अवचित।।१६।। जिसकी घृणा पाप को। भय प्राप्त नरक को। जहां मुर्च्छा आवे श्रमको। परिश्रम से।।१७।। मल जिससे होवे मलिन। ताप भी तप्त पूर्ण। जिसका नाम सुन। ड़रे महाभय भी।।१८।। पाप भी जिससे त्रसित। आवे अमंगल को अमंगलत्व

पार्थ। असपृश्यता भयभीत। स्पर्श से जिसके।।१९।। ऐसे विश्व में जो निकृष्ट। अर्जुन! अधम अत्यंत। भोगकर वे पावत। तामसी योनी।।४२०।। जो कहते वाचा रोवत। स्मरण से पीछे मुड़त। हाय रे वे मूर्ख जोड़त। निरय भोग।।२१।। किसलिये वे किरीटि। व्यर्थ पोषत आसुर संपत्ति। जिससे भोगत ऐसी आपत्ति। घोर पतन की।।२२।। अतः तुम धनुर्धर। न होना उसके मोहर। जहां वस्ति आसुर-। संपत्तिवन्त की।।२३।। और दंभादि दोष छहही। संपूर्ण जिसके ठाँई। उनको त्यागना निश्चित ही। पार्थ तुम।।२४।।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।२१।।

जहां काम, क्रोध, लोभ। इन तीनों के वर्धत स्तंभ। वहां जानो अशुभ। परिपक्व पार्थ।।२५।। सब दुख दिखाने को। इहलोक में अपने को। मार्गदर्शक ये सब को। धनंजय।।२६।। पापी को नरक भोग पार्थ। कराने इस जग में समस्त। पातकों की महाबलिष्ट। सभाही यह।।२७।। या रौरव का घोरपन। वर्णित पुराण में अर्जुन। तब तक ही लगे भीषण। जब तक न प्राप्त ये।।२८।। अपाय उनसे सत्वर। यातना पावन अपार। हानी न हानी धनुर्धर। तीनों मूर्त हानी ही ये।।२९।। बहुत क्या कहूं सुभट। कथित जो जो निकृष्ट। नरक की देहरी पार्थ। त्रिशंकु यह।।४३०।। इस कामक्रोध लोभ त्रय। में जीव से खड़ा कौंतेय। नरकपुर की सभा में वह। पावे सम्मान।।३१।। अतः पुनः पुनः किरीटि। यह कामादि दोष त्रिपुटी। त्यागना तुम यह खोटी। सर्वतोपरि इसको।।३२।।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः। आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।२२।।

धर्मादि पुरुषार्थ चार। तब ही सधत साचार। जब छूटे संघात घोर। दोषों का इन।।३३।। जब तक मन में जागृत किरीटि। तब तक कल्याण की प्राप्ति। न सुनेंगे कर्ण मेरे निश्चिति। कहत देव।।३४।। जिसको अपनी प्रीति। आत्मनाश का मन में भय किरीटि। न करना उसने इनकी संगति। रहना सावधान।।३५।। बांधकर पेट में पाषाण। तैरना समुद्र अर्जुन। या जीने को करना भोजन। कालकूट का।।३६।। इन्ही कामक्रोध मोह से। अशक्य कार्यसिद्धि इनसे। अतः मिटाओ नामनिशान जड़से। इनका तुम।।३७।। जब सहसा यह बेड़ी। टूट जाये त्रिकड़ी। होवे चलते प्रीत बड़ी। आत्मराह में।।३८।। त्रिदोष छांडत शरीर। त्रिकपट से मुक्त नगर। त्रिदाहविहीन अन्तर। होवे जैसे।।३९।। वैसे कामादिक ये तीन। नष्ट जब मन से अर्जुन। प्राप्त सुख सत्संग पूर्ण। मोक्ष मार्ग में।।४४०।। तब सत्संग बल से। सच्छास्त्र के ज्ञान से। उल्लंघत उसर बन जैसे। जन्ममृत्यु के।।४१।। गुरुकृपा का पुण्य स्थान। जो आत्मानंद से परिपूर्ण। सदोदित सुप्रसन्न। लभत पार्थ।।४२।। वहां भेटत परमप्रिय। आत्मा माऊली (माता) सदय। होवे आलिंगन से तत्क्षण विलय। संसार ताप का।।४३।। ऐसा जो कामक्रोध लोभ को। खड़ा त्यागकर इनको। वही इतने लाभ को। गोसावी होत।।४४।।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।२३।।

आत्महित की प्रीत नाही। कामक्रोधादिक के ही ठाँई। घुसाया सिर पूराही। आत्मचोर ने जिस।।४५।। जो जग में समान सकृप। हिताहित दर्शक दीप। उस वेदको किया बाप!।

अमान्य जिसने।।४६।। न धरत विधि की भीड़। न मन में आत्मज्ञान की चाँड। अविवेक से करत लाड़। इंद्रियों के।।४७।। कामक्रोध लोभ का आश्रय। न छोड़े पाले उनका वचन कौन्तेय। स्वैराचार वन में प्रवेश वह। करे जो।।४८।। वह मुक्ति की नदी में। पानी न पावे उसमें। कहानी मुक्तता की स्वप्न में। भी दूर उसको।।४९।। और परत्र तो नष्ट ही होय। बात यह निश्चित कौंतेय। किंतु ऐहिक भी सब भोग्य। न भोगत भोग।।४५०।। मीन लोभ से ब्राह्मण। मछुओ में प्रवेशत अर्जुन। किंतु वहां भी उसको प्राप्त जान। नास्तिकवाद ही।।५१।। वैसे विषय प्रीत से। परत्र को पलटाया जैसे। ले गया अन्य योनी में सहज से। मरण उसको।।५२।। एवं परत्र ना स्वर्ग। ना ही ऐहिक विषय भोग। उसको कहां प्रसंग। मोक्ष का पार्थ।।५३।। अतः प्रबल जग कामविकार। विषय सुख ज्यौं होवे आतुर। उसको विषय, स्वर्ग दोनों दूर। न उद्धरत वह।।५४।।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।२४।।

इस कारण धनंजया। जिसको है अपनी दया। उसने न करना अवज्ञा। वेदवचनों की।।५५।। अनुसरके पति का मत। पतिव्रता करे प्राप्त। अनायास आत्महित। सुनिश्चित।।५६।। नातर श्रीगुरु के वचन। निष्ठासे करके ज़तन। प्रवेशत आत्मभुवन। शिष्य जैसा।।५७।। जाने दो यह निधि अपना। हस्तगत यदि करना। तब आदर से आगे दिखाना। दीप पार्थ।।५८।। वैसा अशेष ही पुरुषार्थ-। का जो चाहे स्वामित्व। उसने श्रुति, स्मृति माथ। पर धरना युक्त।।५९।। शास्त्र कहे सो त्यागना। यदि राज्य भी तृणसम

मानना। जो देवे लेना न कहना। मारक विष भी।।४६०।। ऐसा होकर वेदनिष्ठ। वेदाज्ञा जो पालत श्रेष्ठ। तब वह कैसा अनिष्ट। पावे पार्थ।।६१।। अहित से मुक्तिकारक अर्जुन। हितप्रद करे जो सुखसंवर्धन। नहीं श्रुतिबिन अन्य। माउली जग में।।६२।। जिससे होवे ब्रह्मप्राप्ति। न छोड़ना वहां श्रुति भगवती। करना तुम भक्ति। विशेष इसकी।।६३।। जो आज तुम यहां पार्थ। करना सत्यशास्त्र सार्थ। धर्म के ही बल से यथार्थ। जन्म तेरा।।६४।। और धर्मानुज ऐसी। उपाधि जो प्राप्त सहज सी। न करना अन्यथा उसी-। को आचार से अपने।।६५।। कार्याकार्य का विवेक। शास्त्र से लेना परख। अकृत्य व्यवहार निन्दक। करना वर्ज।।६६।। और जो उत्तम सत्य। अपने अंग से वही कृत्य। अति आदर अगत्य से। करना तुम।।६७।। जो विश्वप्रामाण्य की मुदी। हाथ में तेरे आज सुबुद्धि!। लोकसंग्रह को त्रिशुद्धि। योग्य तुम।।६८।। ऐसी आसुरी संपत भीषण। उसका स्वरूप लक्षण। पांडव को किया नीका निरूपण। भगवन्त ने।।६९।। आगे पंडुकुमर अर्जुन। हृदय में सद्भाव पूर्ण। पूछेगा प्रश्न, करो श्रवण। चैतन्य कर्ण से।।४७०।। संजय ने कहा व्यासकृपा से। नृप को वृतान्त विस्तारसे। वैसे मैं भी निवृत्ति-कृपा से। कहूंगा आपको।।७१।। आप सब मेरी ओर। करो कृपादृष्टि वर्षा निरन्तर। तब ही आपको मान्य संतवर। होऊंगा मैं।।७२।। अब निज अवधान। दीजिये यही प्रसाददान। जिससे बनूंगा मैं समर्थ पूर्ण। कहे ज्ञानदेव।।४७३।।

इति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
दैवासुरसंपद्विभागयोगोनाम षोडशोऽध्यायः।।
(श्लोक २४; ओवियाँ ४७३)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।

।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – सत्रहवाँ

विश्वविकासित मुद्रा। नष्ट करे आपकी योगनिद्रा। नमन उस गणेंद्रा!। श्री गुरुरायको।।१।। त्रिगुण त्रिपुर से वेष्टित। जीवत्व दुर्ग में बंदिस्त। वह आत्मशंभुने किया मुक्त। स्मृति से आपकी।।२।। अतः तुलना यदि शिव के साथ। गुरुत्व से आपही समर्थ। किंतु मायाजाल में तारक यथार्थ। लघुभार आप।।३।। आपको न जाने जो मूढ़। उनके लिये आप वक्रतुंड। ज्ञानियोंको दिखत अखंड। ऋजु आप।।४।। यदि दैविकी सूक्ष्म दृष्टि से। तथापि

मिलनोन्मिलन से। करत उत्पत्ति प्रलय दोनों जैसे। लीलया आप।।५।। होवे प्रवृत्तिकर्ण की हलचल। प्रसरत मंद सुगंधित अनिल। पूजित आप नीलोत्पल--। से जीव भृंग के।।६।। पश्चात हिलत जब निवृत्ति कर्ण। पूजा होवे विसर्जन। होवे मुक्त स्वरूप का दर्शन। आंगिक आभूषण से।।७।। वामांगीका लास्य विलास। सो यह जगद्रुप आभास। वह तांडवमिष से कला खास। दिखावत आप।।८।। सुनो दातार विस्मय की बात। आप जिसके संबंधी बनत। नाता व्यवहार छूटत। उसका सब।।९।। नष्ट करते बंधन का ठाँव। आप जगद्बंधु ऐसा भाव। लेत दृढ़ आश्रय। चरण में आपके।।१०।। तब उसको द्वैत नाम से। प्रभु देह भी न शेष जैसे। किया आपने जिसे अपने से। दूजा उसको।।११।। आपको मानकर भिन्न। करत जो उपाय साधन। वे बहुत अंतर से जान। रहत दूर।।१२।। मानस में जो ध्यान धरत। आपन उसके मन में बसत। ध्यान भी जो विस्मरत। सो प्रिय आपको।।१३।। आप सिद्ध जो न जानत। जगत में सर्वज्ञपन से विचरत। स्तुति वेदवचन की भी न सुनत। ऐसे आप।।१४।। मौन राशिनाम आपका। कैसा धरूं हठ स्तवन का। दृश्य सब खेल माया का। भजू किसविध?।।१५।। दैविक जानकर बनू सेवक। वह द्रोह ही होगा अशेख। अतः न रखू द्वैतमूलक। संबंध कुछ।।१६।। सर्वथा जब छूटत संबंध। पाऊं तब ही आपका अद्वयबंध। जानू मैं यह मर्मशुद्ध। आराध्य लिंगा।।१७।। तब छोड़कर भिन्नपन। रसमें रहत जैसा लवण। वैसा जानो मेरा नमन। क्या कहूं और।।१८।। देखो रिक्तकुंभ समुद्र में प्रविष्ट। भरकर पूर्ण जलसे निकलत। या बाति दीप ही होत।

दीपसंगसे।।१९।। वैसी आपकी प्रणति। हुवा मैं पूर्ण निवृत्ति। अब करूं अभिव्यक्ति। गीतार्थ की।।२०।। पहले षोडश अध्याय में। समाप्ति के श्लोक में। किया निर्णय निश्चित उसमें। देव ने स्वयम्।।२१।। जो कृत्याकृत्य व्यवस्था। अनुष्ठान यदि करना पार्था। तब शास्त्र ही सर्वथा। प्रमाण तुमको।।२२।।

अर्जुन उवाच–

ये शास्त्रीविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।१।।

तब अर्जुन कहे मनसा। प्रभु यह कथन कैसा। जो शास्त्रबिन नहीं सहसा। छूट कर्म को।।२३।। बोलो तक्षक के फन से। निकालना मणि कैसे?। या पाना सिंह के नाक से। बाल कैसे?।।२४।। प्राप्त जब उसमें पिरोना। तब ही अलंकार पहनना। नहीं तो क्या रहना। रिक्त कंठ से?।।२५।। वैसे समस्त शास्त्र भिन्न। ऐक्य उसका करेगा कौन। एकवाक्यता का फल पूर्ण। भोगेगा कौन।।२६।। होवे यदि एकवाक्यता। किसको समय अनुष्ठान को श्रीकांता। किसको मर्यादा प्राप्त तत्त्वता। दीर्घायुष्य की इतनी?।।२७।। देश काल शास्त्र अर्थ। ये चारों लभत एकत्र। उपाय यह कैसा प्राप्त। सबको कभी?।।२८।। अतः अशक्य सबको कृष्ण!। प्राप्त शास्त्रोंके साधन। वहां मूर्ख मुमुक्षओं की कौन–। गति देखो।।२९।। यही प्रश्न का पूछने अभिप्राय। जो अर्जुन रखे प्रस्ताव। वही सतरहवें का विषय। अध्याय में इस।।३०।। तब सबके लिये वितृष्णु। जो सकल कला मे प्रवीणु। कृष्ण को भी नवल प्रतिकृष्णु। अर्जुनभाव से।।३१।। शौर्य को जिसका आधार। जो

सोमवंश का शृंगार। सुखादि उपकार। लीला जिसकी।।३२।। जो प्रज्ञा-प्रमदा का प्रियोत्तम। ब्रह्म-विद्या का विश्राम। सहचर मनोधर्म। देवका जो।।३३।। वह अर्जुन कहे तमालशामा!। इंद्रिय गोचर परब्रह्मा!। कथन आपका गुणधामा!। संशययुक्त अति।।३४।। जो शास्त्रबिन न और। प्राणियोंको मोक्षकर। इसविध एकपक्षी क्यों रमावर। कहा आपने?।।३५।। तब न मिले कभी वह देश। नहीं काल का अवकाश। गुरु जो करावे शास्त्राभ्यास। दुर्लभ भी।।३६।। और अभ्यास में सहायक। सामग्रियां जो अनेक। न स्वाधीन एकाएक। सुलभ सहज।।३७।। अनुकूल नहीं प्राक्तन। न करे प्रज्ञा संवाहन। ऐसा छूटा अपादान। शास्त्र का जिसका।।३८।। और शास्त्र विषय में एकवाक्यता। करने नहीं समर्थन तत्त्वतः। इसलिये शास्त्रचर्चा सर्वथा। छोड़ी जिन्होंने।।३९।। किंतु अध्ययन करके शास्त्र। अर्थानुष्ठान पवित्र। रहत सदा परत्र-। में सानंद जो।।४०।। होवे हम उन समान। ऐसी इच्छा मन में कृष्ण। उनका मार्गानुकरण। आचरत जो।।४१।। पाठ के देखकर अक्षर। नीचे बालक लिखे दातार!। या आगे करके परिकर। अक्षम चलत।।४२।। वैसे सर्वशास्त्र निपुण। उनका जो आचरण। वही मानत प्रमाण। श्रद्धा से अपनी।।४३।। तब शिवादिक पूजन। भूम्यादिक महादान। करे अग्निहोत्रादि यजन। श्रद्धापूर्वक।।४४।। ऐसे सात्विक राजस तामस। को कौन गति खास। लाभत उनको विशेष। कहिये हमको।।४५।। तब वैकुंठपीठ के लिंग। निगमपद्म-पराग। जीयत यह जग। अंगछाया से जिसके।। ४६।। वह कालबल जिससे दृढ़। लोकोत्तर प्रौढ़। अद्वितीय गूढ़। आनंद घन जो।।४७।।

इस गुणोंको शक्ति। जिसके अंग से किरीटि। स्वमुख से वे श्रीपति। लगे कहने।।४८।।

श्री भगवान उवाच–

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु।।२।।

कहत पार्थ, तेरा विचार। जानूं मैं साचोकार। जो शास्त्राभ्यास दुष्कर। मानत तुम।।४९।। केवल मन से सश्रब्ध। पकड़ना चाहत परमपद। तब इतना यह हे प्रबुद्ध। सुलभ नाही।।५०।। माना श्रद्धा एक उत्तम गुण। किंतु न करना विश्वास अर्जुन। क्या अंत्यज समागम से ब्राह्मण। अंत्यज न होत।।५१।। गंगोदक भी पार्थ। मद्यपात्र में यदि स्थित। कभी न लगाना हाथ। सोचो तुम ही।।५२।। चंदन होत शीतल। किंतु पावे जब अग्नि से मेल। हस्त में यदि लेवे उसी काल। क्या न दाहक वह।।५३।। ओटत यदि धातु हीन। डाले उसमें चोखा सुवर्ण। दीजे मूल्य पूर्ण। क्या न ठगना ही यह।।५४।। वैसा श्रद्धा का रूप पार्थ। यदि मूल में शुद्ध अत्यंत। किंतु विभाग में आवत। प्राणियोंके ज़िन।।५५।। वे प्राणि तो स्वभाव से। अनादि माया प्रभाव से। सब तो त्रिगुण से–। ही बने निश्चित।।५६।। वहां भी जब दोनों क्षीण। बल लेत तीसरा गुण। होत वृत्ति तत्समान। जीवोंकी तब।।५७।। वृत्ति जैसी वासना होत। वासना सम कर्म घटत। कर्मानुरूप शरीर पावत। मरण उपरान्त।।५८।। बीज लोपत वृक्ष होय। वृक्ष मोड़त बीज में समाय। ऐसे कल्प कोटी बीत जाय। किंतु जाति न नष्ट।।५९।। इस विध अपार। होत जात जन्मान्तर। किंतु आवे न त्रिगुणत्व में अन्तर। प्राणियोंके।।६०।। अतः प्राणियों में पार्थ। श्रद्धा जो उदित। वह त्रिगुणानुरूप निश्चित।

जानो तुम।।६१।। क्वचित जब वर्धत सत्त्व शुद्ध। ज्ञानवृद्धि को देत साद। किंतु रजतम दो विरुद्ध। रोकत उसको।।६२।। सत्त्व के जब अनुसंग से। श्रद्धा मोक्षफल तक पहुंचत जैसे। किंतु क्या तब रजतम रहत वैसे। मौन पार्थ।।६३।। मरोड़कर सत्त्व का त्राण। जाय आकाश तक रजोगुण। तब होत कर्म प्रवण। श्रद्धा वही।।६४।। जब तमो अग्निप्रदीप्त। तब वही श्रद्धा बढ़त। करे भोग को प्रवृत्त। कैसे भी।।६५।। एवं सत्वरजतम–। से भिन्न श्रद्धा सुवर्मी!। नहीं निश्चित जीवग्राम–। मध्ये इस।।६६।।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।३।।

अतः श्रद्धा स्वाभाविक। होत जानो त्रिगुणात्मक। रजतम और सात्त्विक। भेद से इनके।।६७।। जैसे जीवन ही उदक। किंतु विष में होवे मारक। वही मिरचा में तीख। मधु ईख में।।६८।। वैसे वर्धित जब तम गुण। पावे सदा जन्म-मरण। वहाँ श्रद्धा परिवर्तत अर्जुन। वही होकर।।६९।। तब काजल और मसी–। में भिन्नता न दिखे जैसी। श्रद्धा तामस में वैसी। भिन्न नाही।।७०।। वैसी ही राजस जीव में। रजोमय ही जानो उसमें। और सत्वमय सात्विकों में। पूर्ण वह।।७१।। इसविध यह सकल। जगडंबर निखिल। श्रद्धा से ही केवल। ढला पार्थ।।७२।। किंतु त्रिगुणवश से। त्रिविधपन के चिन्ह से। श्रद्धा में प्रकटत जैसे। पहचानो तुम।।७३।। वृक्ष जानिये देखकर सुमन। बोल सुनकर जानिजे मन। भोग से जानिजे प्राक्तन। पूर्वजन्म का।।७४।। वैसे जिन चिन्हों से पार्थ। श्रद्धा के तीनों रूप यथार्थ। स्पष्ट रीति से दिखत। अवधारो अब।।७५।।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः। प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।४।।

तब सात्त्विक श्रद्धा–। का देह जिनका बहुधा। विचार करे उनकी मेधा। स्वर्ग प्राप्तिका।।७६।। वे विद्याजात पढ़त। चर्चा यज्ञ क्रिया की करत। किंबहुना निश्चित पावत। देवलोक वे।।७७।। और श्रद्धा राजस। स्वभाव से जो वीरेश!। वे भजत राक्षस–। खेचरादि।।७८।। श्रद्धा जो का तामसी। कहूं मैं तुझको वह कैसी। निर्दयत्व से केवल पापराशी। कर्कश अति।।७९।। जीव वध से बली देत। अमंगल कुल भूतप्रेत। स्मशान में वे पूजत। संध्याकाल में।।८०।। वे तमोगुण का सार। निचोड़कर निर्मित नर। जानो तामसी का घर। श्रद्धा का वह।।८१।। ऐसी तीनों चिन्ह से युक्त। त्रिविध श्रद्धा जग में पार्थ। किंतु इस कारण कहत। यहां तुमको।।८२।। जो यह श्रद्धा सात्त्विक। जतन करो यत्नपूर्वक। अन्य दोनों विरुद्ध देख। त्यागो तुम।।८३।। जो सात्त्विकमति धनंजय। आचरत इसविध सदैव। उनको न हव्वा होय। कैवल्य कभी।।८४।। न पढ़े वह ब्रह्मसूत्र। न सीखे सब शास्त्र। सिद्धान्त न होवे स्वतंत्र। हस्त में उसके।।८५।। किंतु श्रुति-स्मृति का अर्थ। जो स्वयं होकर मूर्त। अनुष्ठान से जग को होवत। मार्गदर्शक वे।।८६।। उनके पांव के पीछे पार्थ। सात्त्विक श्रद्धा से जो चलत। वही फल यथार्थ। पावत वह।।८७।। एक दीप लगावे यत्न से। दूजा उससे ही सहज से। क्या तब प्रकाश से। वंचित वह।।८८।। या कोई मोल अपार। व्यय करके बांधत धवलार। क्या न वह सुख वस्तीकर। भोगत पार्थ?।।८९।। रहने दो यह जो ताल खोदत। क्या वह उसकी तृषा

हरत?। क्या रसोइया को ही अन्न तृप्त करत। औरों को नहीं?।।९०।। बहुत क्या कहूं तुझको। क्या गंगा एक गौतम को?। अन्य समस्त जगको। क्या झरना क्षुद्र?।।९१।। अतः कुशलता से जो अर्जुन। करे शास्त्र अनुष्ठान। करे श्रद्धा से उसका अनुसरण। तरे मूर्ख भी वह।।९२।।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः। दम्भाहंकारसंयुक्ता कामरागबलान्विताः।।५।।

स्वयं न जानत नाममात्र। अध्ययन किया न किंचित शास्त्र। और किसी शास्त्रज्ञ को सीमापर। आने न देत।।९३।। बड़ों की धर्मक्रियाएँ पार्थ। देखकर खिल्ली उड़ावत। पंडितों के सामने बजावत। चुटकियां वे।।९४।। अपने अहंकार से। धनिकत्व के दर्प से। तप करत पाखंडपन से। ढोंगी वे।।९५।। आवे सामने उसपर। करत शस्त्र प्रहार। और भरत यज्ञपात्र। रक्त मांस से वे।।९६।। प्रदीप्त यज्ञकुंड में पार्थ। आहुति पिशाच्च की अर्पित। मानता के लिये बली देत। बालक को।।९७।। क्षुद्र देवता करने प्रसन्न। अति दुराग्रह से अर्जुन। करत सप्ताहभर अनुष्ठान। अन्नत्याग से।।९८।। ऐसे आत्म-पर पीड़ा करे पार्थ। तमक्षेत्र में बीज बोवत। आगे तब निश्चित। अंकुरत वही।।९९।। बाहू नहीं अपने समर्थ। और नौका में भी न बैठे पार्थ। उसकी जो दुर्गति होत। समुद्र में जैसी।।१००।। करत वैद्य का द्वेष। ढकेलत पांव से औषधि रस। जीवित से धोवत हाथ खास। रोगी वह।।१।। चक्षुवंत के द्वेष से पार्थ। फोड़त स्वचक्षु स्वतः। पश्चात घर में बैठत। अंध जैसा।।२।। उन असुरों का होवे वैसे। जो निंदत शास्त्र को मन से। और स्वैर धावत मोह

से। बन में वे।।३।। काम कसावत सो करत। क्रोध मरावत उसे मारत। किंबहुना मुझको गाड़त। दुःख दरड़ (पत्थर) में।।४।।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः। मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।६।।

अपने या पर शरीर को। दुःख जो-जो देत सबको। उतनी सब मुझ आत्मा को। पीड़ा होत।।५।। वाचा के भी पल्लू से। स्पर्शना ना उन पापियों को मन से। किंतु कहना पड़ा वैसे। त्यागने को ही।।६।। प्रेत को बाहर ही निकालिये। अंत्यज को भाषण में ही त्यागिये। और तो और धोइये। कश्मल भी।।७।। किया इस में शुद्धि का प्रयोजन। स्पर्श दोष न लगे अर्जुन। इसलिये किया वर्णन। त्यागार्थ यहां।।८।। तब तुम इसको अर्जुन। जब देखो करो मेरा स्मरण। जो और प्रायश्चित अन्य। न चलेगा यहां।।९।। अतः श्रद्धा जो सात्विकी। आगे एक ही उसकी। करना रक्षा नीकी। सर्वोपरि तुम।।११०।। और करना वैसा संग। जिससे वर्धत सात्त्विक का अंग। लेना सत्त्ववृद्धिकर भाग। आहार में।।११।। देखो और वैसे ही। स्वभाव वृद्धि के लिये तुम ही। जो आहारबिन नाहीं। हेतु बली।।१२।। प्रत्यक्ष देखो सुवीरा। जो सावधान लेवे मदिरा। रहे होकर तत्क्षण बावरा। नशा में वह।।१३।। की जो सात्त्विक अन्नरस सेवत। वह भी वातश्लेश्म स्वभाव से व्याप्त। क्या ज्वर को शमवत। पयादिक उसको?।।१४।। वैसे जैसा लेना आहार। वैसा ही होवे धातु आकार। और धातु जैसा अंतर। में वर्धत भाव।।१५।। नातर अमृत जिस प्रकार। सेवन से मरण टालत। या मृत्यु होवे प्राप्त। विष से जैसे। १६।। देखो पात्र के

ताप से। उदक भी भीतर तपत जैसे। धातुवश होत वैसे। चित्तवृत्ति।।१७।। अतः सात्त्विक रस सेविजे। तब ही सत्त्ववृद्धि पाईजे। राजस तामस होइजे। अन्य रस से।।१८।। अब सात्त्विक कौनसा आहार। राजस तामस का क्या आकार। कहूं यह करो आदर—। से श्रवण तुम।।१९।।

आहारस्त्वपि सर्वस्व त्रिविधो भवति प्रियः। यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु।।७।।

सर्वसामान्य जो आहार। हुए उसके तीन प्रकार। कैसे वही सविस्तर। कहूं अब।।१२०।। रुचि भोजन की जैसी किरीटि। वैसी पक्वान्न की निष्पत्ति। और भोजन को गुणों का निश्चिति। दास यहां।।२१।। जो जीव कर्ता भोक्ता। वह गुणवश स्वभावता। पाकर त्रिविधता। चेष्टत त्रिधा।।२२।। अतः त्रिविध आहार। यज्ञ भी त्रिप्रकार। तप ज्ञान और व्यापार। त्रिविध ही वे।।२३।। किंतु प्रथम आहार लक्षण। कहूं जो तुझको अर्जुन। वह करो श्रवण। नीका तुम।।२४।।

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।८।।

जब दैवयोग से अर्जुन। जीव सत्त्व गुणसंपन्न। तब मधुरस में पूर्ण। रुचि उसकी।।२५।। स्वयं जो पदार्थ सुरस। अंग से जो मधुर खास। स्वतः स्निग्ध बहुवस। सुपक्व जो।।२६।। न बड़ा आकार में। अति कोमल स्पर्श में। स्नेहल स्वाद में। जिव्हा को जो।।२७।। जो नरम रसपूर्ण। द्रवभाव से परिपूर्ण। पेड़पर ही पक्व अर्जुन। अग्निताप से।।२८।। लघु अंग परिणाम थोर। जैसे गुरुमुख के अक्षर। वैसे अल्प में भी जिनसे अपार। तृप्ति

पार्थ।।२९।। जैसे मुख में मधुर। परिणाम भी सुखकर। अन्त वह प्रीतिकर। सात्विकों को।।१३०।। एवं गुण लक्षण। सात्त्विक भोज्य जान। आयुष्य को नित्य नूतन। बलवर्धक।।३१।। ऐसे सात्त्विक रस से। जब देह में मेघ वर्षत जैसे। तब आयुष्य नदी पूर से। भरे दिन-दिन।।३२।। सत्वरक्षणार्थ किरीटि। कारण यही सुमति!। देखो दिन की उन्नति। करे भानु जैसा।।३३।। और शरीर एवं मनसा। वह बल को आश्रय सा। ऐसे आहार में कैसी दशा। रोग को पार्थ?।।३४।। यह सात्त्विक होवे भोग्य। तब ही भोगना आरोग्य। शरीर को भाग्य। उदित जानो।।३५।। और सुख की लेन-देन। सुखमय विस्तार अर्जुन। बढ़े मित्रभाव पूर्ण। आनंद से।।३६।। ऐसा सात्त्विक आहार। परिणाम में अति सुखकर। करे यह उपकार। सबाह्य को।।३७।। अब राजस से प्रीति। जिन रसों में किरीटि। उसकी करूं अभिव्यक्ति। प्रसंगानुसार।।३८।।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।

तब मारकपन् से रहित। कटु जैसे कालकूट। या चूने से भी दाहक पार्थ। और आम्ल अति।।३९।। पानी आटे में जितना। डाले नमक अन्न में उतना। और भी उसमें मिलाना। रस नमकयुक्त।।१४०।। इसविध नमकीन अपार। राजस को अतिप्रियकर। गरम इतना कि मुख से सुवीर। निगलत अग्नि ही।।४१।। भाप के अग्रपर पार्थ। बाति भी रखे तो जलत। ऐसे उष्ण पदार्थ मांगत। राजस वह।।४२।। वक्रवात से भी अधिक। सब्बल सा प्रहारक। वैसे वह खावे तीख। छेदत घावबिन जो।।४३।। और राख से भी रुक्ष।

अंतर्बाह्य समान एक। व्यंजन वह जिव्हादंशक। भाये बहुत उसको।।४४।। दांत के ऊपर दांत। चबाते घर्षण होत। ऐसे कठिन पदार्थ खात। होवे संतोष उससे।।४५।। पहले ही वस्तु चिरपिर। उपर डाले बघार। जिसके खाते होवे धुंवार। नाक मुख।।४६।। आग को भी पीछे करत। ऐसे तीक्ष्ण अत्यंत। वह प्राण से प्रिय पार्थ। राजस को।।४७।। ऐसा अतृप्त भूखा संतत। जिव्हाने किया भ्रमिष्ट। अन्न मिष से भड़भड़ भरत। अग्नि ही पेट में।।४८।। लौंग सोंठ मुख में मुरावत। भूमीपर लोट-पोट होवत। पानी का कभी न छूटत। पात्र मुख से।।४९।। तब न यह अन्न। व्याधिव्याल निद्रित अर्जुन। यह विषैला मदिरापान। जगाने को उसको।।१५०।। तब एक-एक की स्पर्धा से। उठत रोग एक साथ जैसे। राजस आहार फलत ऐसे। केवल दुःख।।५१।। इसविध राजस आहार। रूप उसका धनुर्धर। परिणाम का विस्तार। निरूपित तुझको।।५२।। अब सुनो तामस–। को प्रिय जो आहार खास। सुनकर जिसको घृणा विशेष। आवेगी तुझको।।५३।। सड़ा गला खाते पार्थ। न जाने अपना अहित। भैंस जैसे खात जात। भोजन बासा।।५४।।

यायतयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

सबेरे का पका अन्न। दोपहर या दुसरे दिन। अति प्रीत से तामस अर्जुन। भक्षत वह।।५५।। नातर अर्धपक्व। या केवल जली राख। रसहीन निःशेख। खावे जो।।५६।। जिसकी हुई पूर्ण निष्पत्ति। जहां इसकी सुरस व्यक्ति। वह ऐसी प्रतीती। तामस को नाहीं।।५७।। कभी कहीं कदाचित्। सदन्न उसको प्राप्त। सड़ने तक रखत।

व्याघ्रसमान।।५८।। रखा जो बहुत दिन। हुवा पूर्ण स्वाद हीन। शुष्क या सड़ा अर्जुन। या फूला हुवा जो।।५९।। या बालक के हाथ से। किया कर्दम जैसे। या एक थाली में गोत्रज जैसे। खिचड़ी खावे।।१६०।। ऐसा निकृष्ट सेवे अन्न। तब ही होवे सुखभोजन। किंतु इसमें भी न समाधान। पापी को उस।।६१।। देखो चमत्कार अद्भुत। जो पदार्थ दूषित। और शास्त्र मानत। निषिद्ध जिसको।।६२।। उस अपेय का पान। अभक्ष का भक्षण। वृत्ति होवे उत्तान। तामसोंकी।।६३।। ऐसे आहार में तामस। इच्छा जिसकी विशेष। उसका फल भी खास। पावे तत्क्षण।।६४।। ऐसा अन्न अपवित्र। स्पर्शत उसका वक्त्र। तब ही जानो पाप को पात्र। हुवा वह।।६५।। इसविध जो भोजन। वह भोजन की न रीत अर्जुन। वह तो पेट में भरण। यातनाओं का।।६६।। क्या दुःख शिरच्छेद का। या अग्नि प्रवेश का। क्या अनुभव लेना इनका। किंतु सहत वह।।६७।। अतः तामस अन्न–। का परिणाम और भिन्न। कहना न आवश्यक अर्जुन। कहत देव।।६८।। अब इसके उपरान्त। आहार के समान पार्थ। यज्ञ भी त्रिधा यथार्थ। सुनो तुम।।६९।। तब तीनों में जो प्रथम। सात्त्विक यज्ञ का मर्म। सुनो हे सुमहिम–। शिरोमणि।।७०।।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते। यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।११।।

तब एक प्रियोत्तम–। बिन बढ़ने न दे काम। जैसा कि यह मनोधर्म। पतिव्रता का।।७१।। या सिंधुतक पहुंछकर पार्थ। गंगा न आगे बढ़त। या वेद रहत निवान्त। आत्मदर्शन उपरान्त।।७२।। वैसे स्वहित में किरीटि। समर्पित अशेष चित्तवृत्ति। नष्ट करत

अहंकृती। फलकी जो।।७३।। पहुंचकर वृक्षमूल। पीछे न मुड़त जल। विलीन होत निखिल। अंग में उसके।।७४।। वैसे देह और मन–। से यज्ञकर्म में निमग्न। समर्पित जो पूर्ण। कामनारहित।।७५।। वे फलवांछा त्यागी। एक स्वधर्म बिन विरागी। यजत यज्ञ सर्वांगी। सुअलंकृत।।७६।। और दर्पण में अपने को अपने से। नयनों से निरखत जैसे। या हथेली पर के दीपक से। देखना रत्न पार्थ।।७७।। अथवा उदित जब दिनकर। मार्ग होवे दृष्टिगोचर। वैसा वेद पालनकर। निर्धार से।।७८।। वे कुंड मंडप वेदी। और भी यज्ञसमृद्धि। जुटावत जैसे विधि। स्वयं प्रत्यक्ष।।७९।। सकल अवयव में उचित। पहनकर अलंकार पार्थ। जहां के वहां पदार्थ। व्यवस्थित।।१८०।। बहुत क्या कहे धनुर्धर। जैसी सर्वाभरण से सजकर। आई यज्ञविद्या साकार। यज्ञमिष से।।८१।। वैसा यथासांग। पूर्ण होवे यह याग। न रखकर कुछ लाग। मन में कुछ।।८२।। प्रतिपालन कीजे इस प्रकार का। पानी सींचकर तुलसी का। किंतु उसमें फल-पुष्प छाया का। मोह नाहीं।।८३।। किंबहुना फलाशा बिन। इस युक्ति से परिपूर्ण। होवे जो यज्ञ वही जान। सात्त्विक पार्थ।।८४।।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्। इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।१२।।

अब यज्ञ दूजा वीरेशा। करत इसके सरिसा। किंतु श्राद्ध के लिये जैसा। निमंत्रित मृत।।८५।। राजा यदि घर में आवेगा। उपयोग बहुत होवेगा। और कीर्तिमान भी पावेगा। होगा श्राद्ध भी।।८६।। रखकर ऐसी कामना किरीटि। कहे होगी सहज स्वर्ग प्राप्ति।

दीक्षितपन की जग में कीर्ति। साधे यज्ञ भी।।८७।। ऐसे फलप्राप्ति सिद्ध्यर्थ। जग में प्रसरने महत्त्व। यज्ञनिष्पत्ति जो पार्थ। राजस वह।।८८।।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्। श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।१३।।

और पशु-पक्षी विवाह में कोई। कामबिन जोशी नाही। वैसा तामस को दुराग्रह ही। मूल जानो।।८९।। वायु यदि शोधे बाट। मरण यदि देखे मुहूरत। या निषिद्ध का भय धरत। अग्नि यदि।।१९०।। तब ही तामस के आचार–। को मर्यादा धनुर्धर। अतः वह साचार। उच्छृंखल।।९१।। नहीं विधि का यहां नियम। मंत्रादिक का नहीं काम। मक्षिका न पाये कण इतना संयम। अन्नदान में।।९२।। वैरभाव रखे ब्राह्मण से। वहां दक्षिणा का विचार कैसे?। अग्नि सहायक जैसे। वायु को पार्थ।।९३।। व्यर्थ संपत्ति व्यय। श्रद्धा का नाम न कौंतेय। मरण पश्चात निपुत्रिक का गृह। लूटत जैसे।।९४।। ऐसा जो यज्ञभास। नाम उसको याग तामस। सुनो कहत निवास। श्री का वह।।९५।। गंगा का एक पानी वैसा। गया भिन्न मार्गों से सहसा। लावे एक को मैल जैसा। शुद्धत्व दूजे को।।९६।। वैसे तीनों गुणों से तप। यहां हुआ त्रिरूप। किया वह एक को दे पाप। उद्धरत एक को।।९७।। जानना यदि कारण। तब प्रथम तप लक्षण। एक तप के भेद तीन। जानो तुम।।९८।। जिसको कहत तप। उसका दिखाऊ स्वरूप। पश्चात कहूं रूप। गुण भेद से।।९९।। तब जो सम्यक्। वह भी त्रिविध देख। शारीर, मानसिक। शाब्दिक पार्थ।।२००।। इन तीनों में सुवीर। सुनो तप शारीर। शंभु और श्रीधर–। की प्रिय जो।।१।।

उस प्रिय देवतालय–। में यात्रादिक करते कौंतेय। आठो प्रहर घूमत पाँव। लट्टू जैसे।।२।। देवांगन सुशोभित करने। अंगोपचार जुटाने। देवताओं की सेवा करने। शोभत हाथ।।३।। लिंग या प्रतिमा दृष्टि–। से देखत तत्क्षण किरीटि। लोटत जैसी लाठी। गिरे जैसी।।४।। और विधि विनय संपन्न। जग में श्रेष्ठ ब्राह्मण। उनका करे पादपूजन। मनोभाव से।।५।। प्रवास पीड़ा से श्रान्त। अथवा संकट से ग्रस्त। ऐसे जीव जो समस्त। सुखदायक उनको।।६।। सकल तीर्थों से धनुर्धर। श्रेष्ठ जो माता-पितर। उनकी सेवा में निछावर। करे शरीर।।७।। इस संसार में दारुण। हरे पीड़ा जिसका दर्शन। वह ज्ञानदानी करुण। गुरु को भजे।।८।। और स्वधर्म अंगिठी में पार्थ। देहजाड्य का कीट। जलाये स्वाध्याय का पुट। देकर जो।।९।। भूतमात्रस्थ वस्तु को बंदन। भजे परोपकार अर्जुन। स्त्री विषय में नियमन। सर्वतोपरि।।२१०।। केवल जन्मप्रसंग–। में स्त्री देह स्पर्शत अंग। आगे सर्वथा न लाग। आमरण जिसको।।११।। भूतमात्र के नाम से पार्थ। तृण को भी न ताडत। किंबहुना यत्न से छांडत। छेदभेद।।१२।। ऐसा जब आचरण–। का अभ्यास शरीर को अर्जुन। तब साकार जानो पूर्ण। शारीर तप।।१३।। यह जो करना समस्त। मुख्यतः शरीर से ही पार्थ। इस कारण इसको कहत। शारीर तप।।१४।। एवं शारीर जो तप। उसका दिखाया रूप। अब सुनो हे निष्पाप। वाङ्गमय तप जो।।१५।।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वांगमयं तप उच्यते।।१५।।

तब लोह का अंग आकार। न किंचित भी बदलकर। किया सुवर्ण साचोकार। पारस न जैसे।।१६।। वैसे न पीड़ा देकर किसीको। सुख होवे साथ वालों को। ऐसा साधुत्व जिस वाचा को। धनुर्धर।।१७।। पानी वृक्षमूल को जावे। तृण अनायास जीये। वैसे बोले एक को सबको होवे। हितकर वह।।१८।। अमृत की सुरसरी यदि प्राप्त। प्राणियों को अमर करत। स्नान से पाप-ताप नाशत। देवे मधुरता भी।।१९।। वैसे अविवेक भी नष्ट। अपना अनादित्व लभत। श्रवण से रुचि न घटत। अमृतसम।।२२०।। कोई यदि करे प्रश्न। तब ही करे भाषण। अन्यथा सदा आवर्तन। वेदाध्ययन का।।२१।। ऋग्वेदादि तीन। प्रतिष्ठित वाग्भुवन में अर्जुन। होवे जिनका वदन। ब्रह्मशाला स्वयम्।।२२।। नातर नाम एकमेव। शैव अथवा वैष्णव। सदा वाचा में वाग्भव–। तप जान।।२३।। अब तप जो मानसिक। वह भी कहूं सुनो देख। कहत लोकनाथ नायक–। के नायक वह।।२४।।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः। भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१६।।

तब सरोवर तरंग ने। छोड़ा आकाश मेघ ने। अथवा उद्यान उरग ने। चंदन का जैसे।।२५।। कलावैषम्य बिन चंद्र। चिंता रहित नरेंद्र। अथवा क्षीरसमुद्र। मंदराचलबिन।।२६।। वैसा नाना विकल्पजाल। निर्मूल होवे सकल। मन निमग्न केवल। स्वरूप में पार्थ।।२७।। तपन बिन प्रकाश। जाड्य विहीन अन्नरस। अंतराल बिना आकाश। रहे जैसा।।२८८।। वैसे होवे जब आत्मज्ञान। चांचल्य हीन होवे मन। शीतल

शीत से शीतांगपूर्ण। न बाधे शीत जैसे।।२९।। निश्चल और कलंक बिन। शशीबिंब जैसे परिपूर्ण। वैसे आत्मरूप में स्थिर मन। आनंदमय।।२३०।। नष्ट वैराग्य की चाड़। लुप्त मन की भड़ भड़। वहां निजबोध का सुघड़। वाष्प शेष।।३१।। अतः चिंतन करने शास्त्र। उपयोग करना वक्त्र। न धरे वह वाचा का सूत्र। हस्त में पार्थ।।३२।। स्वरूप का जब होवे ज्ञान। नष्ट मन का मनपन। लुप्त जैसे लवण का लवणपन। जलस्पर्श से।।३३।। वहां कैसे उभरत भाव। इंद्रियमार्ग में जिनकी धाव। कैसा प्राप्त उनको गांव। विषय भोग का।।३४।। अतः ऐसे मन को। भावशुद्धि सहज उसको। रोमशुचि जैसी तलहस्त को। धनुर्धर।।३५।। और क्या कहूं अर्जुन। ऐसी अवस्था पावे मन। तब मनोतपोभिधान–। को पात्र वह।।३६।। ऐसा मानस तप का लक्षण। यहां निरूपित संपूर्ण। अर्जुन को कहे श्रीकृष्ण। नीका जानो।।३७।। एवं देह वाचा मन से। त्रिविधत्व पावत जैसे। तप वह सामान्य रूप से। सुनाया तुझको।।३८।। अब गुणत्रय संग से पार्थ। पावे यही विशेष त्रिविधत्व। वह भी सुनो समस्त। प्रज्ञाबल से।।३९।।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्यत् त्रिविधं नरैः। अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।१७।।

तब यही तप त्रिविध। दिखाया तुझको प्रबुद्ध। करो वह पूर्ण सश्रद्ध। फलाशा बिन।।२४०।। जब संपूर्ण सत्त्व शुद्धि से। आचरत आस्तिक्य बुद्धि से। तब ही कहत ज्ञानी उसे। सात्त्विक तप।।४१।।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्। क्रियते तदिहं प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।१८।।

नातर तप करने पार्थ। स्थापन करने द्वैत। बैठने श्रृंगपर सार्थ। महत्त्वाद्रि के।।४२।। त्रिभुवन का सम्मान। न पावे कोई अन्य। मिले अग्रभाग का आसन। भोजन समय।।४३।। विश्व के स्तुति को संपूर्ण। स्वयं पात्र होना अर्जुन। होने अपना दर्शन। यात्रा करे विश्व।।४४। लोगों को विविध पूजा का आश्रय। न रहे दूजा कौंतेय। महत्त्वपूर्ण भोग सर्व। मिले स्वयं को ही।।४५।। अंग वाचा तप से पूर्ण। स्वरूप बिकने अपने को अर्जुन। करे वृद्ध वेश्या अंगहीन। बाह्य श्रृंगार जैसे।।४६।। और धनमान में आस। बढ़ाकर तप करे सायास। तब वही तप राजस। कहा पार्थ।।४७।। पहुरनने जिसका किया स्तनपान। उस ब्याई गैया का अशक्य दोहन। या खेत चराया पूर्ण। फसल न शेष।।४८।। तप जो प्रसिद्धि प्रीत्यर्थ। किया जो सापेक्ष पार्थ। फल उसका होवे व्यर्थ। निशेःष जानो।।४९।। तप निष्फल देखकर किरीटि। बीच में ही छोड़त निश्चिति। अतः ऐसे तपप्रति। स्थिरता नाहीं।।२५०।। अकाल आकाश में व्याप्त। गर्जना से ब्रह्मांड फोड़त। क्या मेघ वे रहत। घड़ीभर भी?।।५१।। वैसे राजस तप जो कौंतेय। बांझसम व्यर्थ जाय। आचार भी उसका होय। निरर्थक।।५२।। अब वही तप पुनः। किया तामस रीति से अर्जुन। परत्र और कीर्ति समान। वंचित दोनों।।५३।।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः। परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।१९।।

केवल मूर्खता का अहंकार। रख के मन में धनुर्धर। शरीर से भी वैर। करत

जात।।५४।। उष्मा शरीर में अर्जुन। पंचाग्नि से करके प्रदीप्त पूर्ण। डालत स्वशरीर का ईंधन। स्वयं पार्थ।।५५।। मस्तक पर जलावत गुग्गुल। पीठ में भोकत गल। प्रदीप्त अग्नि बीच रखत केवल। शरीर अपना।।५६।। बंद करके श्वासोश्वास। व्यर्थ करत उपवास। या धूम्र का लेत ग्रास। अधोमुख से।।५७।। हिम उदक से आकंठ। निवास पाषाण या नदी तट। अपने ही शरीर का लुंचत। मांस स्वयम्।।५८।। इसविध नाना प्रकार से पार्थ। स्वशरीर को कष्ट देत। तप करत सर्वतः। परनाशार्थ।।५९।। पत्थर अंगभार से छूटत। फूटकर खंड-खंड होवत। प्रतिबंध यदि करे तो करत। रगड़ा जैसे।।२६०।। अपने को पीड़ा देकर अर्जुन। करत बहुत तपाचरण। जीतने की इच्छा से इतर जन। सुखी श्रेष्ठ जो।।६१।। ऐसे अति अनिष्ट। नानाविध करत कष्ट। जानो वह दुष्ट। तामस तप।।६२।। सत्वादिक गुणानुरूप। त्रिविध हुआ जो तप। उसका कहा स्वरूप। स्पष्ट यहां।।६३।। अब बोलते प्रसंगानुसार। आया इसलिये धनुर्धर। दान लक्षण त्रिविध साचार। करूं रूप।।६४।। जग में त्रिविध गुण। अतः हुआ त्रिविध दान। प्रथम सात्विक का चिन्ह। सुनो अब।।६५।।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्।।२०।।

तब स्वधर्म से पार्थ। जो-जो अपने को प्राप्त। वही देना बहुत। सम्मानपूर्वक।।६६।। बीज यदि उत्तम अर्जुन। तथापि क्षेत्र क्यारी बिन। वैसी ही स्थिति इस–। दान की दिखत यहां।।६७।। अनर्घ्य रत्न आवे हाथ। तब सुवर्ण दुर्लभ होत। दोनो यदि मिले साथ। प्राप्त

न धारक।।६८।। किंतु सुपर्व सुहृत संपत्ति। इन तीनों की तब ही युति। जब होवे उन्नति। भाग्य की अपनी।।६९।। वैसे होना सात्विक दान। सहाय होत सत्वगुण। तब देश काल भाजन। जुटत द्रव्य ही।।२७०।। कुरुक्षेत्र या काशी तीर्थ। दान के लिये उचित। या तुले इन्हीं के साथ। योग्य देश वह।।७१।। वहां रवि, राहू, चंद्र का मेल। होवे वह पुण्यकाल। अथवा उनके सम निर्मल। अन्य अवसर।।७२।। ऐसे देश में किरीटि। रहे ऐसी पात्र संपत्ति। जो शुचित्व की मूर्ति। साक्षात स्वयम्।।७३।। और आचार का मूल पीठ। वेद ज्ञान की हाट-पेठ। ऐसा द्विजरत्न श्रेष्ठ। मिले जब।।७४।। उसके ठाँई वित्त को पार्था। अर्पण करना छोड़कर स्वसत्ता। प्रिय समीप कान्ता। जावे जैसी।।७५।। जिसकी रखी अमानत। लौटाकर होना कृतार्थ। या राजा को बीड़ा देत। सेवक जैसा।।७६।। और निष्काम जीव से। भूम्यादिक करना अर्पण जैसे। किंबहुना फलेच्छा यत्न से। उठने न पावे।।७७।। जिसको देना दान। होना वह ऐसा सज्जन। जिससे न कोई लाभ अर्जुन। अपने को कभी।।७८।। साद दी आकाश में। न होवे प्रति शब्द उसमें। या औंधे दर्पण में। देखा रूप।।७९।। उदक पर यदि कन्दुक। फेका बहु शक्तिपूर्वक। उछलकर न आवे देख। हस्त में कभी।।२८०।। सांड को दिया चारा। पूजा सम्मान से बुरा। न करे प्रत्युपकार वीरा। जिस प्रकार।।८१।। दिया जो दाता ने पार्थ। किसी प्रकार से न लौटावत। किंतु होना वह सुपात्र। सुनिश्चित।।८२।। ऐसे सामग्री से कौंतेय। दान जो होवे वीरराय। जानो वह सात्विक दानवर्य। सर्वोपरि जग में।।८३।। और वही देश-काल।

होवे वैसा ही पात्र मेल। दान भाग भी निर्मल। शास्त्रानुगत।।८४।।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः। दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

किंतु मन में दूध की आशा से। चराना धेनु को जैसे। या बंडा बनाकर पहिले से। बोना क्षेत्र।।८५।। उपहार की दृष्टि से अर्जुन। देना संबंधियों को निमंत्रण। या देना व्रत का दान। कीर्तिकारण व्रतीके।।८६।। रिश्वत पहले लेना। फिर दुसरोंका काम करना। द्रव्य लेकर दवा देना। पीड़ित को।।८७।। देना जिसको जो दान। होवे उसका संरक्षण। बार-बार करे बखान। हेतु से इस।।८८।। या मार्ग से जो करे गमन। जो न लौटा सके दिया दान। मिले जब ऐसा अर्जुन। द्विजोत्तम।।८९।। तब कौड़ी के लिये एक। गोत्रज के अपने अशेख। प्रायश्चित्त के संकल्प से देख। छोड़े उदक।।२९०।। वैसे पारलौकिक। वांछत फल अनेक। किंतु देवे इतना ही भूक। शमे न एक की भी।।९१।। उतना ही वह ब्राह्मण। जब ले जात दान। होवे दुखी जैसे किया हरण। सर्वस्व चोर ने।।९२।। बहुत क्या कहें सुमति। दान में जिस ऐसी मनोवृत्ति। दान वह त्रिजगत में किरीटि। राजस जानो।।९३।।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

म्लेच्छों का जहां वसतिस्थान। भूमि अपवित्र और अरण्य। शिविर या चौराह अर्जुन। नगर के।।९४।। ऐसे निंद्य स्थान पर। शाम या रात्रि को मिलकर। चोरी का धन उदार-। हस्त से बाटे।।९५।। तमासगीर और भाट। वेश्या जुआरी माने पात्र। अथवा चेटकी

मूर्तिमंत। भाये उसको।।९६।। रूप-नृत्यादि अनेक। सम्मुख दृष्टिवेधक। गीत-स्तुति श्रवण में देख। होवे कर्णजप।।९७।। उसमें भी और मंदमंद। पुष्प गंध गुग्गुल का सुगंध। तब संचरत अंग में समंध। महाभ्रम का।।९८।। वहां लूटकर जग समस्त। लावे पदार्थ पार्थ। डाले उससे अन्न सत्र। मांग-मातंग को।।९९।। एवं ऐसा जो दान। वह कहूं मैं तामसदान। और भी घटत दैवगुण–। से प्रकार एक।।३००।। घुनाक्षर में नाम निकलत। कौवा बैठे शाखा टूटत। वैसे तामस को पर्व लभत। तीर्थक्षेत्र में।।१।। ऐश्वर्य उसका देखकर। आया योग्य अतिथिवर। गर्व से कुछ देना सोचकर। धनुर्धर।।२।। किंतु श्रद्धा न मन में रखत। माथा भी न नवावत। स्वयं न करे ना करावत। अर्घ्यादिक।।३।। बैठने को न दे आसन। गंधाक्षत से कैसा पूजन?। ऐसा करे अतिथी का अपमान। तामस वह।।४।। टालिये जैसे ऋणकर पार्थ। वैसे झटकारत उसका हाथ। मैं-तू अपशब्द का करत। प्रयोग बहु।।५।। और जिसको जो देत। उसीका उलाहना करत। कुबोल से करे अपमानित। अवज्ञा करके।।६।। रहने दो बहुत इस प्रकार। द्रव्य-दान में जो धनुर्धर। उसको नाम चराचर–। में तामस दान।।७।। अपने-अपने चिन्ह से यथार्थ। दान तीनों अलंकृत। अभिधान तुझको निरूपित। रजतमादिक।।८।। वहां मैं जानत। जो ऐसे कदाचित। सोचोगे मन में पार्थ। विचक्षण तुम।।९।। ज़ो भवबंध मोचक। कर्म एक सात्विक। तब क्यों विरुद्ध सदोख। कहना अन्य।।३१०।। समंध हटाये बिन। पावत न निधि अर्जुन। या धूम्रसहने बिन। अग्नि न लभत।।११।। शुद्ध सात्विक मार्ग में वैसे। रज-तमका द्वार

जैसे। भेदना उसको यत्न से। क्या बुरा इसमें?।।१२।। हमने श्रद्धा से दान तक पार्थ। जो क्रियाजात समस्त। निरूपित वह व्याप्त। तीनों गुण से।।१३।। वहां मानू मैं निश्चित। तीनों कहना अनुचित। किंतु सत्त्व को दर्शाने स्पष्ट। कहे दो अन्य।।१४।। जो दोनों में तीजा बसत।। दोनों छांडकर ही दिखत। जैसे त्याग कर अहोरात्र पार्थ। संध्यारूप।।१५।। रज-तम विनाश से। तीजा स्पष्ट दिखत जैसे। वह सत्त्व तब अपने से। प्रकट वहां।।१६।। एवं सत्त्व दिखाने तुझको। निरूपित तम-रज को। छांडकर वे सत्त्व से काज को। साधो अपने।।१७।। इस सत्त्व से ही निर्मल। करो यज्ञादिक सकल। पावोगे तब करतल–। से अपना निज।।१८।। सूर्य स्वयं दिखावत जहां। क्या कुछ न दिखत वहां। सात्विक कर्म से फल यहां। क्या न प्राप्त?।।१९।। ऐसी सर्वतोपरि किरीटि। सात्विक सबल शक्ति। किंतु मोक्ष फल की प्राप्ति। होवे जिससे।।३२०।। वह वस्तु न्यारी एक। जब सत्त्वगुण को सहायक। मोक्ष गांव में प्रदायक। प्रवेश पार्थ।।२१।। सुवर्ण यदि बावनकश। किंतु जब मुद्रांकित विशेष। तब ही चलत खास। जिस प्रकार।।२२।। स्वच्छ शीतल सुगंध। जल होवे सुखप्रद। किंतु पवित्रत्व संबंध। तीर्थ में ही।।२३।। नहीं योग्यता कैसी भी पार्थ। किंतु गंगा जब अंगिकारत। तब ही उसको प्रवेश प्राप्त। सागर में।।२४।। वैसे सात्विक कर्म का अर्जुन। होने लगे जब मोक्ष से मिलन। वहां न कोई आवे विघ्न। न्यारा ही वह।।२५।। कथन यह सुनते तत्त्क्षण। अति उत्कंठित अर्जुन का मन। कहे कृपा करके कृष्ण!। कहो वह।।२६।। वह कृपालु चक्रवर्ती–। कहत सुनो उसकी उक्ति। देखे

जिससे सात्विक मुक्ति—। रत्न पार्थ।।२७।।

ॐ तत्सदिति निर्देसो ब्रह्मणस्त्रिविधिः स्मृतः। ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।२३।।

सुनो अनादि परब्रह्म। जो जगदादि का विश्रामधाम। उसका एक नाम। त्रिधा जानो।।२८।। वह अनाम अजात। किंतु अविद्या वर्ग की रात—। में श्रुति उसे जानने प्रीत्यर्थ। निर्देशित स्वयम्।।२९।। बालक को जन्मजात। न कोई नाम पार्थ। रखे नाम से जब पुकारत। उठे आवाज देकर।।३३०।। संसार ताप से तप्त। व्यथा से जब अपनी पुकारत। जिस नाम से प्रतिसाद देत। संकेत वही यह।।३१।। ब्रह्म का अनिर्वाच्यपन नष्ट। अद्वैतत्व से उसकी होवे भेट। खोजा ऐसा मंत्र कृपावन्त—। वेद ने पार्थ।।३२।। जिस मंत्र का उच्चारण। करे ब्रह्म का आवाहन। सहज पीछे जो अर्जुन। आवे सामने वह।।३३।। किंतु निगमाचल शिखरपर।। उपनिषदार्थ नगर में साचार। ब्रह्म के पंक्ति में बैठे जो नर। ज्ञात उन्हीं को।।३४।। सुनो, और प्रजापति। शक्ति से जिस करत सृष्टि। वह जिस आवृत्ति से किरीटि। नाम के एक।।३५।। सृष्टि उपक्रम पार्था। अकेले ब्रह्मा की अवस्था। बावरे सम सर्वथा। जानो तुम।।३६।। मुझ ईश्वर से न था परिचय। और न सृष्टि रचना का बल कौन्तेय। दी शक्ति जिसको वह। नाम ने ही एक।।३७।। जिसका अर्थ मन में ध्याते पार्था। और वर्णत्रय जपते तत्त्वता। विश्व सृजन की योग्यता। आई उसको।।३८।। तब निर्मित ब्रह्मजन। उसको देकर वेदशासन। दिया यज्ञमार्ग का आचरण। निर्वाह को।।३९।।

पश्चात न जाने कित्येक और। सृजित लोक अपार। ब्रह्मदत्त उनको अग्रहार। तीनों

भुवन।।३४०।। ऐसे जिस नाम-मंत्र ने पार्थ। धाता को बनाया श्रेष्ठ। उसका स्वरूप सुनो यथार्थ। कहे श्रीकान्त वह।।४१।। ऊँकार जिसका आद्याक्षर। तत्कार दूजा तदनन्तर। सत्कार तीजा आवे अखेर। ऐसा मंत्रराज जो।।४२।। एवं ऊँ तत्सदाकार। ब्रह्मनाम यह त्रिप्रकार। यह पुष्प सूंघो सुन्दर। उपनिषद का तुम।।४३।। ये तीनों मिलकर एक। जब कर्म होवे सात्विक। तब कैवल्य होवे पाईक। घर का पार्थ।।४४।। कर्पूर के आभूषण। सुदैव से प्राप्त अर्जुन। कैसे करना वह धारण। जानना कठिन।।४५।। वैसे आदर से किया सतकर्म। उच्चार भी किया ब्रह्मनाम। किंतु यदि न जाना मर्म। विनियोग का।।४६।। तब कोटि कोटि महंत। स्वेच्छा से घर आये पार्थ। यदि वे हुये अपमानित। होवे पुण्य क्षय।।४७।। या धारण करने सुंदर। हसली आदि सुवर्णालंकार। एकबार मोट बांधकर। गले में।।४८।। वैसे मुख में ब्रह्मनाम। हाथ से सात्विक कर्म। किंतु विनियोग बिना काम। विफल होत।।४९।। अरे अन्न और भूख। दोनों साथ किंतु देख। खा न सके बालक। पड़े लंघन उसे।।३५०।। या स्नेह सूत्र वैश्वानर। मिलाकर यदि एकत्र। किंतु यदि न युक्ति जाने नर। प्रकाश न प्राप्त।।५१।। योग्य काल में हुआ कृत्य। मंत्र भी स्मरा उचित। किंतु हुआ सब व्यर्थ। विनियोग बिन।।५२।। अतः वर्णत्रयात्मक। जो यह ब्रह्म नाम एक। सुनो सांप्रत विशेख। विनियोग उसका।।५३।।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रिया। प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।।२४।।

अतः इस नाम के अक्षर तीन। कर्म के आदिमध्यान्त में अर्जुन। योजना करनी

तीन–। स्थानों में तुम।।५४।। यही एक पद्धति। स्वीकार कर किरीटि। ब्रह्म से ऐक्यभाव की प्राप्ति। हुई ब्रह्मादिक को।।५५।। ऐक्य होने ब्रह्म से। न वे वंचित यज्ञादिक से। जो वे अभिज्ञ शास्त्रज्ञान से। इसीलिये।।५६।। वह आदि सो ॐकार। ध्यान से होवे गोचर। पश्चात करे उच्चार। वाचा से ही वह।।५७।। ध्यान से जब वह प्रकट। प्रणवोच्चार से स्पष्ट। करे क्रिया समस्त। यज्ञादिक।।५८।। अभंग दीप अंधेरे में। सखा समर्थ बन में। वैसा जानो कर्मारंभ में। प्रणव पार्था।।५९।। उचित देवोद्देश्य से। बहुत धर्म्य द्रव्य से। द्विज द्वारा और हुताशन से। करत यजन वे।।३६०।। आहवनीय अग्नि पार्था। निक्षेपरूप हवन से यथार्थ। विधि-विधान से यजत। निष्णात वे।।६१।। किंबहुना नाना याग। निष्पत्ति का लेकर अंग। अप्रिय उपाधि का त्याग। करत जात।।६२।। न्यायार्जित जो पवित्र धन। भूमिगृहादिक स्वाधीन। देशकाल शुद्ध दान। सत्पात्र को।।६३।। अथवा एकान्तर कृच्छ्र। चांद्रायण मासोपवास। शुष्क करके धातु-रस। करत तप।।६४।। एवं यज्ञ दान और तप। जो प्रसिद्ध बंधरूप। प्रणवोच्चार से अपने आप। होवे मोक्षदायक।।६५।। न हिले तरी भूमिपर। जल में तारे वही धनुर्धर। वैसे बंधक कर्म से छूटे नर। नाम से इस।।६६।। रहने दो यह पार्था। ये यज्ञयागादि क्रिया समस्त। ॐकार संग से होत। फलीभूत।।६७।। ये क्रियाएं जब निश्चित। दिखत होते फलप्रद। उसी समय प्रयोग करत। तच्छब्द वह।।६८।।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः। दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः।।२५।।

जो सब जगत से अलिप्त। जो एक साक्षी समर्थ। तत्त्शब्द से कहलावत। परब्रह्म

वह।।६९।। जो इन सबका आदिकारण। तद्रूपका करके मन में ध्यान। तन्नामोच्चार से पुनः। करत व्यक्त।।३७०।। कहत जो तद्रूप ब्रह्म। उसको अर्पित हो समस्त कर्म। यह एक अच्छा परम। होवे निःशेष भोग।।७१।। इसविध तदात्मक ब्रह्म को। अर्पण करके वहां कर्म को। न मम कहकर सबको। होत कर्ममुक्त।।७२।। अब ॐकार से प्रारंभित। तत्कार से समर्पित। इसविध ब्रह्मत्त्व प्राप्त। कर्म को पार्थ।।७३।। वह कर्म साचोकार। हुआ मानो ब्रह्माकार। किंतु कर्ता में दूजा और। द्वैतभाव।।७४।। लवण पानी में घुलत। किंतु क्षारपन शेष रहत। वैसे कर्म को ब्रह्म मानत। वही द्वैत।।७५।। और ज्यों-ज्यों उत्पन्न द्वैत। त्यौं-त्यौं संसारभय वर्धत। स्वमुख से देव कहत। वचन यह।।७६।। अतः परत्व में जो ब्रह्म पार्थ। आत्मत्व में पर्यवसान होत। सत्‌शब्द इस ऋणदोष प्रीत्यर्थ। योजत देव।।७७।। तब ॐकार तत्कार–। से किया ब्रह्म, शरीर कर्म से। प्रशस्त सत्‌शब्दादि से। प्रशंसित जो।।७८।। प्रशस्त कर्म से उस। सच्छब्द का विनियोग खास। वही सुनो अब विशेष। कहूं तुझको।।७९।।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते। प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।।२६।।

तब इस सत्‌शब्द से। ओटकर असत् सिक्का जैसे। दिखाना रूप अव्यंग से। ब्रह्म का पार्थ।।३८०।। देशकालादि प्रभाव से पूर्ण। जिसमें न होवे परिवर्तन। जो अपना आपुन। अखंडित।।८१।। दृष्य जो यह कोई। वस्तुतः वह असत्‌पन नाहीं। जो देखकर स्वरूप ही। जाने जिसको।।८२।। जिससे प्रशस्त वह कर्म। हुआ सर्वात्मक ब्रह्म। ऐक्य बोध को

करके सम। देखो उसको।।८३।। तब ॐकार ततकार—। से जो कर्म हुआ ब्रह्माकार। मिटाना वह भी संस्कार। सन्मात्र से।।८४।। ऐसा यह अंतरंग। सत्शब्द का विनियोग। जानो कहे श्रीरंग। न कहूं मैं।।८५।। कहूं मैं यह यदि मेरा मत। तब श्रीरंग से होगा द्वैत। अतः जानो यह मनोगत। देव का ही तुम।।८६।। और भी एक प्रकार। सत्शब्द सात्विक पर। करत जो उपकार। सुनो वह।।८७।। तो सत्त्कर्म शास्त्रोक्त। यथाविधि यदि चलत। तब भी रहे उसमे किंचित। व्यंग बाकी।।८८।। गात्रहीन शरीर। तब रुकत सब व्यापार। जैसे रथांग टूटने पर। गती रथ की।।८९।। वैसे किसी एक गुण बिन। जब सत् ही से होवे असत् निर्माण। कर्म में आवे असत्पन। धनुर्धर।।३९०।। तब ॐकार और तत्कार। होवे कर्म को नीका सहायकर। और सत्शब्द करे जीर्णोद्धार। असत् कर्म का।।९१।। नष्ट करे असत्पन किरीटि। लावे सद्भाव की स्थिति। निजसत्व के शक्ति—। से सद्शब्द यहां।।९२।। दिव्य औषध रोगी को। सहाय जैसे पराजित को। वैसे उपकारी न्यून कर्म को। सत्शब्द पार्थ।।९३।। अथवा कुछ प्रमाद से। स्वमर्यादा भूलकर वैसे। आवे कर्म को जैसे। निषिद्धपन।।९४।। पथिक जब मार्ग चूकत। पारखी को भ्रम होवत। तब क्या-क्या न घटत। व्यवहार देखो।।९५।। अतः वैसे ही कर्म। छांडे अविचार से सीमा परम। असाधुत्व का दुर्नाम। प्राप्त उसको।।९६।। वहां यह सत्शब्द। ॐ तत् दोनों से अनुविद्ध। प्रयोग से करे साधु। कर्म को उस।।९७।। लोह पारस का घर्षण। नदी गंगा से नाले का मिलन। या मृत को जैसा वर्षण। पीयुष का।।९८।। असाधु कर्म को वैसा। सद्शब्द

प्रयोग वीरेशा। क्या कहे गौरव ही ऐसा। नाम का इस।।९९।। सत्शब्द का समझकर मर्म। यदि सोचोगे यह नाम। तब यही केवल ब्रह्म। जानोगे तुम ।।४००।। देखो ॐ तत्सत् पार्थ। वचन वहां ले जात। वहां से सब यह प्रकाशत। दृश्य जात।।१।। वह जो निर्विशिष्ट। परब्रह्म चोख सुभट। उसका यह अंतर्गत। व्यंजक नाम।।२।। किंतु आकाश को आश्रय। आकाश का ही कौंतेय। इस नाम नामी का आश्रय। अभेद जान।।३।। आकाश में उदित। रवि ही रवि को प्रकाशत। वैसे नाम यह करत व्यक्त। ब्रह्म को ही पार्थ।।४।। अतः त्र्यक्षर यह नाम। वही जानो केवल ब्रह्म। इसीलिये जो जो कर्म। करेगा तू।।५।।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते। कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।।२७।।

वे याग अथवा दान। या तपादिक गहन। होवे पूर्ण या रहे अपूर्ण। पंडुकुमर।।६।। किंतु पारस की कसौटी। न चोख न कीट की भाष किरीटि। वैसे ब्रह्मार्पित क्रिया निश्चित। ब्रह्म ही होत।।७।। कर्म जब ब्रह्मार्पण। शेष न भेद पूर्ण अपूर्ण। जैसे नदी न दिखत भिन्न। सागर में।।८।। एवं पार्था तुमको संप्रति। ब्रह्मनाम की यह शक्ति। निर्देशित इसकी उपपत्ति। प्राज्ञराय!।।९।। और एक-एक अक्षर। पृथक-पृथक सुवीर। कथित विनियोग नागर—। रीति से यहां।।४१०।। एवं ऐसा सुमहिम!। और यह ब्रह्मनाम। क्या अब जाना यह मर्म। पार्थ तुमने।।११।। अतः आगे इसकी श्रद्धा। रखकर अखंडित सर्वदा। जन्मबन्ध से सदा। पावे मुक्ति।।१२।। जिस कर्म में यह प्रयोग। अनुष्ठित सद्विनियोग।।

वहाँ वेद ही यथासांग। अनुष्ठित जानो।।१३।।

अश्रद्धया हुत दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।।२८।।

मार्ग यह छांडकर। आश्रय श्रद्धा का तोड़कर। सत्ता दुराग्रह की बढ़ाकर। धनुर्धर।।१४।। फिर कोटि अश्वमेध कीजे। रत्न भरकर पृथ्वी दीजे। एकांगुष्ट पर तप अनुष्टिजे। सहस्त्र वर्ष।।१५।। सागर सम विस्तीर्ण। कीजे जलाशय निर्माण। किंतु वह व्यर्थ अर्जुन। जानो तुम।।१६।। पत्थर पर जल वर्षण। किया भस्ममध्ये हवन। या दिया आलिंगन। छाया को पार्थ।।१७।। नातर कभी थप्पड़ से। मारा गगन को जैसे। कार्य ये सब वैसे। हुए व्यर्थ।।१८।। डाले कोल्हू में कंकड पाषाण। निकले न तेल न खली अर्जुन। वैसे केवल दारिद्र्यपूर्ण। नाम मंत्र बिन।।१९।। मुद्रा के भ्रम से खप्पर। पल्ले में यदि बांधकर। किया देश-विदेश सफर। मरे उपवास से।।४२०।। वैसे कर्म जात से उन। प्राप्त न ऐहिक सुख अर्जुन। वहां करेगा अपेक्षा कौन। परत्र की।।२१।। अतः ब्रह्मनाम श्रद्धा। छांडकर कीजे जो धंधा। जानो केवल श्रम ही सर्वदा। इह परलोक में वह।।२२।। ऐसे कलुषकरिकेसरी। त्रितापतिमिरारी। श्रीवीरवरनरहरी। निरूपित स्वयम्।।२३।। पूर्णिमा की चांदनी में जैसा। खोया चंद्र दिखत वैसा। निमग्न हुआ अर्जुन सहसा। निजानंद में।।२४।। अहो युद्ध का व्यापार विचित्र। वहां नाप नाराच आणिया कठोर। लेवे जीवित्व समग्र तौलकर। मांस सहित।।२५।। ऐसा कर्कश समय। कैसा भोगत स्वानंद राज्य। ऐसा न देखा भाग्योदय। इतरत्र कहीं।।२६।। संजय कहे कौरवनाथ। त्रिगुणों से होवे संतुष्ट। और यहां तो गुरुही

पार्थ। आत्मसुख का।।२७।। यदि न ये पूछे बात। देव न छोड़े गठरी की गांठ। तब होवे हमरी भेंट। परमार्थ से कैसी?।।२८।। या अज्ञान रूप अंधेरे में। जन्ममरण के फेरे में। सो मुझे आत्ममंदिर में। लाया उसने।।२९।। इतना हम और तुम पर। किया महान उपकार। अतः हुआ यह व्यास सहोदर। गुरुत्व से अपने।।४३०।। तब संजय मन में कहत। यह स्तुति अतिशय नृपनाथ। न सहेगा इसलिये सांप्रत। न बोलू मैं।।३१।। अतः यह बोली छांड़त। तब दूसरी कहे बात। जो कि पूछी पार्थ–। ने श्रीकृष्ण को।।३२।। जैसा उसका प्रश्न। वैसा ही करूं मैं व्याख्यान। कहे ज्ञानदेव करना श्रवण। श्रीनिवृत्तिनाथ का।।४३३।।

इति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रहमविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुन संवादे श्रद्धादिनिरुपणयोगोनाम सप्तदशोऽध्यायः।।
(श्लोक २८; ओवियाँ ४३३)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।

।।गीता ज्ञानेश्वरी।।

अध्याय – अठारहवाँ

जयंजय देव निर्मल। निजजनाखिलमंगल। जन्मजराजलदजाल–। प्रभंजन।।१।। जयजय देव प्रबल। विदलितामंगलकुल। निगमागमद्रुमफल। फलप्रदा।।२।। जयजय देव सकल। विगतविषयवत्सल। कलितकालकौतुहल। कालातीत।।३।। जयजय देव निश्चय। चलितचित्तपानतुंदिल। जगदुन्मीलनाविरल। केलि प्रिय।।४।। जयजय देव निष्कल। स्फुरदमंदानंदबहुल। नित्यनिरस्ताखिलमल। मूलभूत।।५।। जयजय देव स्वयंप्रभ।

जगदंबुदगर्भनभ। भुवनोद्भवारंभस्तंभ। भवध्वंस।।६।। जयजय देव विशुद्ध। अविद्योद्यानद्विरद। शमदममदनमदभेद। दयार्णव।।७।। जयजय. देवैकरूप। अतिकृतकंदर्पसर्पदर्प। भक्तभावभुवनदीप। तापापह।।८।। जयजय देव अद्वितीय। परिणतोपरमैकप्रिय। निजजनजित भजनीय। मायागम्य।।९।। जयजय देव श्रीगुरो। अकल्पनाख्यकल्पतरो। स्वसंविद्द्रुमबीजप्ररो-। हणावनी।।१०।। क्या यह एकैक ऐसे। नाना परिभाषा वश से। स्तवन करे तुम्हारे उद्देश्य से। निर्विशेष तुमको।।११।। जो जो देना विशेषण। वह दृश्य न आपका रूप गुण। जानकर यह मेरा मन। लज्जित वर्णन को।।१२।। मर्यादा पालत सागर। लौकिक ऐसा उसका सुवीर!। जब तक न देखे सुधाकर। उदीयमान।।१३।। निजर्निर्झर से सोमकान्त। चंद्र को अर्घ्य न देत। जो चंद्रही स्वतः। करावत वही।।१४।। न जाने कैसे वसंतसंग। अवचित वृक्ष के अंग। प्रस्फुटत वैसे उनके जोग। स्थिति मेरी।।१५।। छुए पद्मिनी को रवि किरण। तब वहां लजावत कौन?। या जल स्पर्श से अंग लवण। भूलत अपना।।१६।। वैसे जहां आपका मुझे स्मरण। वहां मैं विस्मरत मैं-पन। अनावर होवे क्षुधा तृप्त मन-। को डकार जैसा।।१७।। जी, आपने मुझे किया वैसा। मेरा मैंपन भुलाकर जैसा। बांधा बावलापन वाचा को तैसा। स्तुतिमिष से।।१८।। नातर रखकर स्वस्मरण। करना जब स्तवन। गुण-अवगुण का विवेचन। करना ही प्राप्त।।१९।। किन्तु आप एक रस का प्रतीक। कैसा करूं गुणागुण विवेक। क्या फोड़कर मोती जोड़ना ठीक। या वैसा ही भला।।२०।। और आप माता-पिता। बोल से

न स्तुति तत्त्वता। डिंभोपाधि से सर्वथा। दोष वहां।।२१।। यदि स्वयं को पाईक कहना। स्वामीपन आपका कैसे बखानना। कैसे उपाधि से करना। दूषित उसे।।२२।। यदि आत्मा आप एकसर। यह भी कहते दातार!। तब अन्तर से आपको बाहर। खींचना प्राप्त।।२३।। अतः साच ही आपका स्तवन–। प्रीत्यर्थ शब्द न जग में स्वामिन्। मौन बिन और आभूषण। चढ़ाउं क्या?।।२४।। स्तुति कुछ न बोलना। पूजा कुछ भी न करना। विभक्त होकर न रहना। सन्निध आपके।।२५।। किंतु पछाड़कर भ्रान्ती से। बावला बर्रावत जैसे। वर्णन को भी मेरे वैसे। सहियो आप।।२६।। अब गीतार्थ की मुक्त मुद्रा। लगाईये मेरी वाग्वृद्धि को दातारा!। जिससे पावे वह मान पूरा। सज्जन सभा में।।२७।। वहां कहत श्रीनिवृत्ति। करो न बारम्बार बिनति। क्या पारस पर लोह की घृष्टि (घर्षण)। अवश्य पुनः-पुनः।।२८।। तब विनय करत ज्ञानदेव। कहत दीजे प्रसाद यह। जो अवधान देवे देव। ग्रंथनिरूपण में मेरे।।२९।। जी गीतारत्नप्रासाद का। कलश अर्थ चिंतामणि का। संपूर्ण गीतादर्शन का। मार्गबोधक जो।।३०।। जनसामान्य का यह मत। जो दूर से कलश देखत। और दर्शनफल हस्तगत। देवताओंका।।३१।। वैसा ही यहां होय। जो यह एकहि अध्याय। संपूर्ण गीता का स्वाध्याय। होवे सहज।।३२।। मैं कहूं कलश इसी कारण। इस अष्टादश अध्याय को पूर्ण। चढ़ावत जो बादरायण। गीताप्रासाद को।।३३।। कलश के बाद कोई। काम प्रासाद का शेष नाहीं। वैसा अध्याय यह कहत यही। समाप्ति गीता की।।३४।। श्री व्यास श्रेष्ठ सूत्रधार। निगमाचल भूमि में ऊसर। खोदी खदान

सुन्दर। उपनिषदार्थ की यह।।३५।। वहां त्रिवर्ग के अपार। कंकड़ जो निकले अणुयार। महाभारत रूप प्राकार। बनाया उनसे।।३६।। आत्मज्ञान के एकाकार। चुनकर समान पत्थर। रचा पार्थ– वैकुंठ संवाद मंदिर। कुशलता से।।३७।। निवृत्तिरूप सूत्र डालकर। सर्व शास्त्रार्थ मिलाकर। साधी मोक्षरेखा निश्चित कर। रचना चारू।।३८।। ऐसा आभार करत। अध्याय पंद्रहपर्यन्त। भूमि शुद्धि से प्रासाद तर होत। परिपूर्ण वह।।३९।। आगे सोलहवां अध्याय। वही ग्रीवा घंटा होय। सप्तदश वही ठाँव। कलाशाधार।।४०।। उसके भी ऊंपर अष्टादश। वह सहज रक्खा कलश। ऊपर लहराया गीता का श्री व्यास–। ने ध्वज सुन्दर।।४१।। अतः पूर्व निरूपित अध्याय सत्रह। वह भूमि के चढ़ते स्तर। पूर्णता उनकी दिखावत धनुर्धर। अंग से अपने।।४२।। पूर्ण कार्य में नहीं न्यून। यह स्पष्ट करे कलश दर्शन। वैसे अष्टादश में गीता विवरण। साद्यंत जानो।।४३।। इसविध श्री व्यास ने गीता मंदिर। बनाकर कुशलता से अतिसुन्दर। नाना प्रकार से किया उद्धार। प्राणिमात्र का।।४४।। एक परिक्रमा जपपाठ से। करत इसकी बाहर से। एक तो श्रवण मिष से। बैठत छाया में इसके।।४५।। कोई अवधान देकर। बीड़ा दक्षिणा लेकर। प्रवेशत गर्भगृह में भीतर। अर्थज्ञान के।।४६।। वे निजबोध से सत्वर। आत्मा श्रीहरि से भेटत नर। किन्तु मोक्षप्रासाद में बराबर। योग्यता सबको।।४७।। समर्थ गृह के पंक्ति में। एकहि पक्वान्न उंचनीच को उसमें। न भेद श्रवण अर्थ पठन में। प्राप्त मोक्ष ही।।४८।। ऐसा गीता वैष्णव प्रसाद। अष्टादश अध्याय कलश विशद। मैंने निरूपित किया यह भेद। विवेकपूर्वक।।४९।।

अब सप्तदश पश्चात। क्यों अष्टादश हुआ प्रवृत्त। देखे दृष्टि आपकी स्पष्ट। कहूं संबंध ऐसा।।५०।। जैसा गंगा जमुना उदक। ओघ बल से पृथक। दिखावत होकर एक। जलरूप से।।५१।। नष्ट न होते दोनों आकार। निर्मित हुआ एक शरीर। यह अर्धनारीनटेश्वर। रूप में प्रकट।।५२।। शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन। कला बिंब में वर्धमान। किन्तु न स्तर भिन्न-भिन्न। चंद्र में कोई।।५३।। चारों पद भिन्न जैसे। श्लोक में श्लोकावच्छेद से। अध्याय, अध्याय भेद से। भासत भिन्न।।५४।। किन्तु देखे यदि ग्रंथ सिद्धांत। एकता ही दिखत सर्वत्र। जैसे रत्नमणि बहुत। किंतु सूत्र एक।।५५।। मोती पिरोकर विपुल। बने एकावली माल। परन्तु शोभा का रूप उज्ज्वल। एक ही वहां।।५६।। फूल-फूल माला नाना। अंगुली से न होवे दृति की गणना। जाने श्लोक अध्याय रचना। उसी समान।।५७।। एवं सप्तदश श्लोक। अष्टादश अध्याय के लेख। किन्तु बोलत देव तत्त्व एक। अन्य नाहीं।।५८।। मैंने भी न छोड़ी वह रीत। गीतार्थ किया अभिव्यक्त। तदनुसार आप भी प्रस्तुत। सुनो निरूपण।।५९।। तब सप्तदश अध्याय--। के अंतिम श्लोक में देव। अर्जुन के प्रति कहत यह। सुनिश्चित।।६०।। ब्रह्मनाम विषय में धनुर्धर। आस्तिकी बुद्धि छोड़कर। किया जितना कर्म व्यवहार। असत् हुआ वह।।६१।। सुनकर देव का यह वचन। डोलन लागा अर्जुन। कहे कर्मनिष्ठापर दूषण। रखा देव ने।।६२।। वह अज्ञानांध पामर। न जाने सर्वव्यापी ईश्वर। आगे का इतना उसको विचार। सूझे कैसे?।।६३।। और रज-तम दोनों ही। संपूर्ण लुप्त बिनही। न पावे श्रद्धा सात्विक ही। ब्रह्माभिधान।।६४।। तब शस्त्र को

आलिंगना।। और डोर के ऊपर खेलना। अथवा नागिन से क्रीड़ना। नाशकारी।।६५।। वैसे कर्म श्रद्धाहीन। पुनर्जन्म का कारण। ऐसा दुर्गुण बड़ा दारुण। कर्म में पार्थ।।६६।। होवे यदि ऋजु उपाय में क्वचित्। तब योग्यता ज्ञान की पावत। अन्यथा इससे प्राप्त। निरयालय ही।।६७।। ऐसी कर्म मार्ग में भारत!। बाधाएं इसी सीमातक अनन्त। तब कहो कैसा हो मोक्ष प्राप्त। कर्मठों को इन।।६८।। कर्म का यह दैन्य जावे। सर्वथा उसका त्याग होवे। जीवन में अव्यंग आवे। संन्यास पूर्ण।।६९।। जहाँ कर्म बाधा की कोई। या जन्ममरण की व्यथा नाही। होवे आत्मज्ञान वही। स्वाधीन जिसके।।७०।। जो ज्ञान का आवाहन मंत्र। ज्ञानोत्पत्ति का सुक्षेत्र। अथवा ज्ञानाकर्षक सूत्र। सुप्रसिद्ध।।७१।। वे दोनों संन्यास त्याग। अनुष्ठान उनका करे जग। तब यही अब मुक्ति याग। पूछूं स्पष्ट।।७२।। ऐसा सोचकर अर्जुन—। ने त्याग संन्यास का लक्षण। विशद जिससे होवे यह प्रश्न। किया तब।।७३।। देने उसका प्रत्युत्तर। जो कहत जगदीश्वर। उसी का व्यक्त विस्तार। अष्टादश यह।।७४।। एवं जन्य-जनक भाव से। अध्याय प्रसवत अध्याय से। अब सुनो पूर्ण ध्यान से। पूछा जो।।७५।। तब पंडुकुमर अर्जुन। अब देव का कथन हुआं पूर्ण। जानकर हुआ अति खिन्न। अंतःकरण में।।७६।। वैसे तत्त्वविषय में पार्थ। निश्चिंत हुआ यथार्थ। किंतु वह न सह सकत। मौन देव का।।७७।। वत्स यदि हुआ तृप्त। परंतु दूर धेनु से न होना चाहत। अनन्य प्रीति की रीत। ऐसी होत।।७८।। बोले वो कारण बिन। देखकर भी देखे पुनः। होवे इच्छा भोग की दुगुन। सन्निध प्रिय के।।७९।। ऐसी यह प्रेम की जाती। और

पार्थ तो प्रेम की साक्षात मूर्ति। अतः मौन जब श्रीमूर्ति। हुआ दुःखित अति।।८०।। और संवाद के मिष से। अव्यवहारी वस्तु जो भासे। भोगना वही जैसे। दर्पण में रूप।।८१।। तब संवाद जब होवे बंद। लोपत भोक्ता भोग्य परमानंद। कैसा सहेगा ऐसे सुख छंद–। को लालायित वह?।।८२।। अतः त्याग एवं संन्यास। जानने का करके मिष। खोली वह तह खास। गीतावस्त्र की पुनः।।८३।। अठारहवां केवल अध्याय नहीं। यह तो एकाध्यायी गीता ही। गैया को जब दुहत वत्स ही। तब विलंब कैसा?।।८४।। वैसे समाप्ति के अवसर। पुनः कहलावत गीता सार। स्वामी भृत्य के संवाद सुखकर–। में अशक्य क्या?।।८५।। रहने दो यह विस्तार। कहत तब धनुर्धर। बिनती मेरी विश्वाधार!। सुनो अब।।८६।।

अर्जुन उवाच–

संन्यासस्य महाबाहो तत्तवमिच्छामि वेदितुम्। त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।१।।

जी हां संन्यास और त्याग। दोनों का एकहि अर्थ से लाग। जैसे संघात और संघ। कहिये संघात कोही।।८७।। वैसे त्याग और संन्यास को। त्याग ही अर्थ दोनों को यही मेरे मानस को। बोध एक ।।८८।। किन्तु यदि कोई इनमें अर्थभेद। करे देव आप विशद। वहां कहत श्री मुकुंद। दोनों भिन्न ये।।८९।। सांप्रत तेरा मन। त्याग और संन्यास अर्जुन। एकार्थ जाने न भिन्न। मानू मैं भी।।९०।। इन्हीं दो शब्द में। त्याग ही निश्चित उनमें। परन्तु भेद उनमें। इतना ही।।९१।। जो कर्म त्याग सर्वथा। वही संन्यास पार्था।

केवल फलत्याग जो तत्त्वता। जानो त्याग वही।।९२।। तब किस कर्म का फल। त्यागना कौनसा कर्म ही केवल। यह विशद करूं निखिल। देना चित्त तुम।।९३।। जैसे बन में पर्वतपर। सृजत वृक्ष अपने से अपार। किंन्तु धान या राजागर। न होत वैसे।।९४।। न बोते बढ़े तृण। किंतु न उपजत धान। कदापि श्रमबिन। जिसप्रकार।।९५।। अंग तो उत्पन्न सहाजिक। किंतु अलंकार उद्यम से विशेख। नदी बनी नैसर्गिक। कुआं खोदने से ही।।९६।। वैसे नित्य नैमित्तिक। कर्म होवे स्वाभाविक। न कामनाबिन कामिक। के न उत्पन्न कभी।।९७।।

श्री भगवान उवाच–

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः। सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।२।।

जो करने को अर्जुना। अंतर में प्रखर कामना। ऐसे अश्वमेधादिक नाना। यज्ञयाग।।९८।। बापी कूप आराम। अग्रहार और महाग्राम। और भी नाना महासंभ्रम। व्रतों के जो।।९९।। ऐसे इष्टापूर्त सकल। जिनको कामना एक मूल। कर्म का भोगवत फल। करके बद्ध।।१००।। देहग्राम में जब पहुंचत। जन्म-मृत्यु व्यापार समस्त। जीव को न कभी छूटत। धनंजय।।१।। अथवा ललाट का लेख। मिट सके न कुछ करके देख। न जाये काला गोरापन अशेख। धोकर कभी।।२।। कृत काम्य कर्म वैसा। फल भोगार्थ दे धरना तैसा। न पटाते ऋण साहूकार जैसा। न छोड़े कभी।।३।। अथवा न करते कामना पार्थ। घड़त कर्म अकस्मात। न जूझते भी प्राण हरत। वाय बाण जैसे।।४।। डाले अनजाने गुड़ मुख में। मिठास ही होत उसमें। मानकर राख, रखे पांव अग्नि में। जलावे ही वह।।५।। काम्य कर्म में यह एक।

सामर्थ्य होत स्वाभाविक। अतः कौतुक से भी न करना देख। मुमुक्षु ने यह।।६।। किंबहुना पार्थ ऐसे। काम्य कर्म स्वभाव से। तजिये वह विष जैसे। वमन करके।।७।। जग में ऐसे त्याग को। संन्यास कहत उसको। कहत सर्वदृष्टा अर्जुन को। अंतरंगी जो।।८।। यह काम्यकर्म यदि त्यागना। उखाड़ना समूल कामना। द्रव्यत्याग से दूर करना। भय चोर का जैसा।।९।। और सोम-सूर्य ग्रहण। पर्वकाल में करना पार्वण। या माता-पिता मरण। अंकित तिथि में जो।।११०।। अथवा अतिथि यदि आवे। तब जो कुछ करना होवे। वह सब जानिये। नैमित्तिक पार्थ।।११।। वर्षाकाल में क्षोभत गगन। बसंत में बहरत दुगना बन। अथवा जैसी शृंगारत यौवन–। दशा देह को।।१२।। सोमकान्त सोम से झरत। या सूर्य से सरोजिनी विकसित। यहां रहे जो वही विस्तरत। अन्य नाहीं।।१३।। वैसा नित्य जो कर्म। लाहे नैमित्तिक का नियम। पावे यहां बड़ा नाम। होवे नैमित्तिक।।१४।। और सायं प्रातः माध्यान्ह में। जो जो करणीय प्रति दिन में। किन्तु दृष्टि जैसी लोचन में। अधिक न होवे।।१५।। न संपादित फिर भी गति। चरण में ही जैसी किरीटि। दीप ज्योति में वैसी दीप्ति। सहजही।।१६।। न देना सुवास ऊपर से। चंदन में सौरभ अंग ही से। अधिकार का वैसे। रूप ही जो।।१७।। ऐसा अधिकारानुरूप कर्म। वही जानिये नित्यकर्म। एवं निरूपित तुझको मर्म। नित्य नैमित्तिक का।।१८।। यही नित्य नैमित्तिक। अनुष्ठान इसका आवश्यक। अतः कहत कोई एक। बांझ इसको।।१९।। या भोजन से जिसविध होवे। तृप्ति लाहे भूख जाये। वैसे नित्य नैमित्तिक से पावे। सर्वांगीण

फल।।१२०।। दागी सोना अग्नि में तपत। तब मैल छूटत तेज बढ़त। दोनों कर्म से बराबर प्राप्त। फल वैसे।।२१।। प्रत्यवाय होवे नष्ट। वर्धत स्वाधिकार बहुत। वहां हाथोहाथ प्राप्त। सद्‌गति को।।२२।। इतना यदि विशाल। नित्य नैमित्तिक का फल। त्यजिये जैसे बालक मूल। नक्षत्र जात।।२३।। लता सर्वांग में बहरत। आम्रवृक्ष पल्लवित। किन्तु हाथ न लगावे चला जात। वसंत जैसा।।२४।। वैसी न लांघकर कर्मरेखा को। दीजे चित्त नित्य नैमित्तिक को। पश्चात त्यागो अशेष फल को। वमन जैसे।।२५।। इसी कर्मफल त्याग को अर्जुन। कहत त्याग ज्ञानीजन। एवं त्याग-संन्यास निरूपण। बतलाया तुझको।।२६।। ऐसा संन्यास जब संभवत। तब काम्य कर्म न बाधत। और निषिद्ध कर्म लुप्त होत। निषेध से स्वयं।।२७।। और नित्यादिक सहज से। नाशत इसी फलत्याग से। काटने से सिर गिरत जैसे। कबंध पार्थ।।२८।। सस्य फलपाक उपरान्त। वैसे नष्ट जब कर्मजात। आत्मज्ञान आवे खोजत अपने से ही।।२९।। ऐसी युक्ति से अर्जुन। करत त्याग संन्यास अनुष्ठान। वे ही सत्पात्र होवत जान। आत्मज्ञान को।।१३०।। छोड़कर ऐसी युक्ति। करत अंदाज से त्याग किरीटि। त्याग न वे अधिक निश्चिति। फसत उलझन में ही।।३१।। औषध जो चिकित्साबिन। लिया यदि होवे विषसमान। या अन्न का जो छोड़े सेवन। क्या न मरे भूक से?।।३२।। अतः त्याज्य जो नाहीं। न तजना उसे कतही। और त्याज्य के लिए न होना तुमही। लोभी पार्थ।।३३।। चूके यदि त्याग की युक्ति पार्थ। होगा सर्वत्याग बोझ व्यर्थ। अतः न देखत फलत्यागबिन मर्म सर्वत्र। वीतराग वे।।३४।।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः। यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।३।।

फलाभिलाष न छोड़त एक। वे कहत कर्म को बंधक। जैसे नग्न स्वयं और जग को देख। कहे कलह कारक।।३५।। या रोगी जिव्हा लंपट। अन्न को ही कहत दूषित। अंग पर आते कुष्ट। कोपत मक्खी पर।।३६।। वैसे फलेच्छु अशक्त। कहत कर्म हीं कलुषित। निर्णय केवल देत। कर्म त्याग का।।३७।। एक कहत यागादिक। करनाहि आवश्यक। बिन इस शुद्धिकारक। अन्य नाहीं।।३८।। मन शुद्धि के मार्ग में। होना यदि विजयी उसमें। तब सबल कर्म में। आलस न कीजे।।३९।। यदि शुद्ध करना सुवर्ण। न भागना अग्नि से अर्जुन। साफ कराना यदि दर्पण मलिन। हटाना धूली जैसी।।१४०।। वस्त्र यदि शुभ्र होना। ऐसा यदि मन में माना। तब सौंदनी को न मानना। मलिन जैसी।।४१।। वैसे कर्म क्लेशकर। कहकर न करना अव्हेर। क्या अन्न होवे रुचिकर। पकाये बिन?।।४२।। इन युक्तिवाद से श्रीकृष्णा। कर्म-महति करे स्थापन। तब त्याग विसंवाद में अर्जुन। गया उलझ।।४३।। अब विसंवाद तो होवे नष्ट। त्याग का निश्चय प्राप्त। वैसे कहूं सुस्पष्ट। दो अवधान तुम।।४४।।

निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम। त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः।।४।।

तब जिसको कहत त्याग। उसके है त्रिविध विभाग। विवरण उसका यथासांग। करूं नीका।।४५।। त्याग के तीन प्रकार। करना यदि गोचर। तब तुम इत्यर्थ सार। जानो इतना।।४६।। मेरी सर्वज्ञ की बुद्धि। अचूक अपने माने त्रिशुद्धी। निश्चयतत्त्व वह आदि।

सुनो तुम।।४७।। पाना अपने को मोक्ष। इस विषय में जो दक्ष। उसने सर्वस्व से यही पक्ष। मानना युक्त।।४८।।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिमणाम्।।५।।

यज्ञ दान तपादिक। ये कर्म अति आवश्यक। चलना न छोड़े पथिक। वैसा न छोड़ों इनको।।४९।। खोया न जब तक दिखत। शोध न उसका छोड़ो पार्थ। पेट न जब तक तृप्त। थाली न छोड़े।।१५०।। नौका न छोड़िये तीर तक। कदली न कटिये फल तक। न बुझावे चीज दिखने तक। दीप जैसै।।५१।। वैसी आत्मज्ञान लाभ की। निश्चिति न जब तक मन की। तब तक यज्ञादिक की। उपेक्षा न कीजे।।५२।। अपनी योग्यतानुसार। यज्ञ दानादिक आचार। अनुष्ठान करना बारम्बार। अवश्यमेव।।५३।। सत्त्वर जो चलत। सत्वर वह विश्रांती पावत। वैसे कर्मातिशय से प्राप्त। नैष्कर्म शीघ्र।।५४।। ज्यों-ज्यों अधिक औषध। सेवन को रोगी सिद्ध। त्यों त्यों व्याधि से हे प्रबुद्ध!। पावे मुक्ति।।५५।। वैसे कर्म बारम्बार। कीजे यदि होकर तत्पर। रजतम दोष सत्वर। समूल नष्ट।।५६।। या एक पीछे एक पुट। क्षारका जब सुवर्ण को प्राप्त। होवे तब होकर दूर कीट। निर्दोष वह।।५७।। वैसे निष्ठा से किया कर्म। नष्ट करके रज तम। सत्वशुद्धि का दिव्य धाम। दिखावे दृष्टि को।।५८।। अतः हे भारत!। सत्व शुद्धि प्रीत्यर्थ। सत्कर्मंहि योग्यता पावत। तीर्थ की तब।।५९।। तीर्थ क्षालत बाह्यमल। कर्म से अभ्यंतर उज्ज्वल। एवं तीर्थ होत निर्मल। सत्कर्म से ही।।१६०।। मरुदेश में तृषार्त को अर्जुना। प्राप्त अमृत का झरना। या

अंध के नेत्र ने पाना। सूर्य तेज।।६१।। नदी तारे जैसे डूबते को। संवारे पृथ्वी ही गिरते को। दी आयुष्य वृद्धि मरते को। मृत्यु ने स्वयम्।।६२।। वैसे कर्म ही कर्मबद्धता से। छुड़ावत मुमुक्षको जैसे। या मरते को विष, रसायन रूप से। बचावे विष से जैसे।।६३।। अतः यद्यपि बंधकारक। कर्म किया यदि युक्तिपूर्वक। होत सर्वथा बंधमोचक। धनंजय।।६४।। अब वही कर्ममुक्ति। नीकी कहूं तुझको किरीटि। जिससे लभत मुक्ति। कर्मबंध से ही।।६५।।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यनीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।६।।

तब पंचमहायागादिक। कर्म यदि कीजे अचुक। कर्तापन का न आवे देख। अभिमान अंग में।।६६।। मोल से जो जावे तीर्थ को। मैं यात्रा करत ऐसा उसको। श्लाघ्यता से संतोष को। न माने जैसे।।६७।। चक्रवर्ती का सिक्का लेकर। जो मांडलिक को लावे पकड़कर। मैं विजेता ऐसा समझकर। गर्व न करे।।६८।। तैरत जो सहारे से। तैरने का न अभिमान उसे। पुरोहित को प्रतिष्ठा द्रव्यादान से। न प्राप्त जैसे।।६९।। वैसे कर्म यथावसर। बिन कर्तृत्व अहंकार। कृत्य जात के मोहर–। सम बढ़ावत आगे।।१७०।। कृत कर्म का फल। निश्चित पाऊं मैं सकल। इस विषय में प्रबल। वैराग्य मन में।।७१।। प्रथम फल की आसबिन। करे संतोष से कर्माचरण। जैसे धाय करे संगोपन। पर बालक का।।७२।। पीपल फलाशा बिन।। पीपल को करे जलसिंचन। वैसे फलाशा छोड़कर पूर्ण। कीजे कर्म।।७३।। दूध की अपेक्षा बिन। रखे ग्वाल गोधन। वैसे कर्मफल को

होवे मन। निरीच्छ पार्थ।।७४।। इसविध युक्ति से अर्जुन। करे जो सत्कर्माचरण। उसको आत्मरूपदर्शन। निश्चित होवे।।७५।। अतः फल में लाग। छोड़कर देहसंग। कर्म करना सुरंग। संदेश यह मेरा।।७६।। जीवबंध से जो श्रान्त। मुक्ति के लिए चिंतित। उसने पुनः पुनः इस बोल की पार्थ। अवज्ञा न करना।।७७।।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।७।।

नातर अंधेर के रोष से। फोड़ना आंख नख से। वैसे अशेष कर्म द्वेष से। छोड़े कर्म ही जो।।७८।। ऐसे कर्मत्याग को। कहूं मैं तामस उसको। सिरदर्द के लिए जैसे सिर को। काटना क्रोध से।।७९।। माना मार्ग दुस्तर। किन्तु करना पांव से ही पार। क्या क्रोध से मार्गापराध पर। काटना ही वे।।१८०।। बुभुक्षित सम्मुख अन्न। आया यदि अति उष्ण। बुद्धि से न लेवे करे लंघन। लथियावे पांव से।।८१।। वैसे कर्मदोष कर्म से। निस्तरना करके युक्ति से। न जाने तामस भ्रम से। उन्मत्त जो।।८२।। स्वभावानुसार पार्था। स्वकर्म जो सर्वथा। छोड़ना न उसको वृथा। तामसपन से।।८३।।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्। स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।८।।

अथवा स्वाधिकार जानना। विहित भी अपना समझना। किन्तु कर्म क्लेश डर से न करना। आलस्य जो।।८४।। कर्म का प्रारंभ अर्जुन। क्षणभर भासत कठिन। कलेवा भासे बोझ पूर्ण। ढोते समय।।८५।। निंब जीभ को कटु कौंतेय। हर्रा प्रथम कषाय। वैसा कर्मारंभ एवं अन्त होय। दुष्कर अति।।८६।। सींग मारक धेनु का। अंग कटा सेवति

का। सुख महँगा भोजन का। पाक करते।।८७।। वैसे शास्त्रविहित कर्म। प्रारंभ में अति विषम। अतः करते समय श्रम। माने वह।।८८।। प्रारंभ यथाविधि करत। किन्तु जब कष्टकारक होत। अग्निदाह सम त्यजत। मध्य में ही पार्थ।।८९।। कहे वस्तु देहसरिसी। पाई भाग्यविशेष से ऐसी। क्यों कर्मादिक से पापी जैसी। छलना उसको।।१९०।। कर्म करके जो भोगना। मुझे इसी क्षण प्राप्त होना। क्यों व्यर्थ हाथ से खोना। सुखोपभोग ये।।९१।। शरीर क्लेश भय से। छोड़ना नियत कर्म मन से। राजस त्याग कहत इसे। सुनो तुम।।९२।। वहां भी कर्म छूटत। किन्तु कर्मत्यागफल न प्राप्त। जैसे घी उफनकर अग्नि में गिरत। किन्तु न हवन वह।।९३।। डूबकर आवे मरण। न वह जल समाधि जान। वह तो निश्चित दुर्मरण। धनंजय।।९४।। वैसे देहलोभ से पार्थ। कर्म को तिलांजली देत। उससे साच न लभत। फल त्याग का।।९५।। किंबहुना आत्मज्ञान। जब उदित अर्जुन। जैसे सूर्योदय से नष्ट पूर्ण। नक्षत्र तेज।।९६।। वैसे अज्ञानसहित। कर्मही होवे। जिससे नष्ट। कर्मत्याग वह देवे निश्चित। मोक्षफल।।९७।। वह मोक्षफल भारत। अज्ञान त्याग से न प्राप्त। वह त्याग न मानो तत्त्वतः। राजस जो।।९८।। तब वहां किस त्याग से। मोक्षफल घर आवे जैसे। वह प्रसंगानुसार से। कहूं तुझको।।९९।।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन। सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।९।।

स्वाधिकारानुरूप पार्थ। कर्म जो स्वभाव से प्राप्त। करे विधिगौरवसहित। यथासांग जो।।२००।। किन्तु यह मैं करत ऐसा। स्मरण त्यजत मनसा। देवे फलाशा को जैसा।

तिलांजली वह।।१।। माता की करना अवज्ञा। या उसके लिये वासना। दोनों पतन को ही अर्जुना। कारण जानो।।२।। तजकर दोनों दोष। सेवा माता की करो विशेष। क्या तजना धेनु अशेष। मुख के लिए।।३।। अपना प्रिय फल। निरस उसका बीज छाल। क्या इसीलिये केवल। फेंकना उसे?।।४।। वैसा कर्तृत्व का मद। और कर्मफल का आस्वाद। इन दोनों का नाम बंध। कर्म का पार्थ।।५।। जैसे पिता आत्मजा संबंध में। वैसे निरिच्छ इन दोनों में। न दुखी विहीत क्रिया में। धनुर्धर।।६।। यह वो त्यागरूप वृक्ष। श्रेष्ठ इसका ही फल मोक्ष। प्रसिद्ध नाम से सात्त्विक। जग में यह।।७।। अब जलाकर बीज जैसे। वृक्ष को निर्वंश करे सहज से। फलत्याग कर कर्म वैसे। तजा जिसने।।८।। पारस स्पर्श से लोह तत्क्षण। रंग कालिमा नष्ट पूर्ण। वैसे इस त्याग से टूटत अर्जुन। रजतम दोनों।।९।। पश्चात सत्व निर्मल। खुलत आत्मबोध के चक्षु विमल। वहां मृगांबु सांजकाल–। में नष्ट जैसा।।२१०।। वैसा यह विश्वाभास। बुद्धि सन्मुख होवे अदृश्य। जैसे सर्वव्यापी आकाश। न दिखे कहीं।।११।।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते। त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

अतः प्राचीन के बल से। अलंकृत कुशलाकुशल कर्म वैसे। व्योम अंग में अभ्र जैसे। लोपत पूर्ण।।१२।। उसके दृष्टि से पार्थ। कर्म निर्दोष समस्त। अतः सुखदुःख खटपट। न कोई उसको।।१३।। शुभकर्म का आचरण। करे सहर्ष पूर्ण। अशुभ के लिए द्वेष अर्जुन। मन में नाही।।१४।। तब इस विषय में कोई। उसको अल्प भी संदेह नाही। जैसे

स्वप्न विषय में संशय कही। जागृत को नाही।।१५।। अतः कर्म और कर्ता। यह द्वैतभाव की वार्ता। न जाने पंडुसुता। सात्त्विक त्याग वह।।१६।। इस प्रकार कर्म पार्था। त्याग से ही छूटत सर्वथा। अधिक बाधक अन्यथा। छोड़े यदि।।१७।।

न ही देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।११।।

और सुनो हे सव्यसाची!। मूर्ति पाकर देह की। खंत करत कर्म की। वे मूढ़ सब।।१८।। मृत्तिका का द्वेष सुभट। कैसा करेगा घट। कहो तंतु को पट। छोड़ेगा कैसा?।।१९।। अंग में लेकर वन्हित्व। और अग्नि-ऊष्मा से उबके पार्थ। कैसा दीपको होवे उचित। द्वेष प्रभा का?।।२२०।। हींग दुर्गंध से त्रसित। किंतु लावे कहां से सुगंधत्व। पानी छोड़कर अपना द्रवत्व। रहे कैसा वह?।।२१।। वैसे शरीर के आभास से जैसा। जीव जब तक वर्तत तैसा। पागलपन कर्मत्याग का कैसा। धनुर्धर।।२२।। स्वयं लगावे तिलक अर्जुन। पोछ सके पुनः पुनः। किन्तु क्या भाग्य का वक्रपन। बदलना शक्य।।२३।। किया स्वयं जो कर्म विहित। अतः छोड़ना उसको शक्य पार्थ। किंतु देहकर्म अंतस्थ। छोड़ना कैसे?।।२४।। श्वासोच्छवास संतत। निद्रा में भी चले अव्याहत। अनैच्छिक रूप से चलत। जिस प्रकार।।२५।। इस शरीर के मिष से। कर्महीं जुड़ा उससे। जीते मरते न रुके जैसे। निरंतर।।२६।। इस कर्मत्याग का भारत। उपाय एकही तत्त्वतः। न जाना वश में किंचित। फलाशा के ।।२७।। कर्मफल करो ईश्वर को अर्पण। होगा तत्प्रसाद से बोध उद्दीपन। वहां रज्जुबोध से लोपत पूर्ण। व्याल शंका।।२८।। उस

आत्मबोध से। कर्म अविद्यासह नष्ट जैसे। पार्था! त्यजो जब ऐसे। कर्मत्याग वहां।।२९।। ऐसा जो योगी। वही सच्चा कर्मत्यागी। और तो मूर्छना, रोगी–। का विश्राम जैसा।।२३०।। कर्म से एक त्रसित। दूजा विश्राम खोजत। डंडे का दुःख ठोसे से पार्थ। कम करना जैसे।।३१।। और कितना कहूं किरीटि। वही श्रेष्ठ त्यागी जगत में निश्चिति। किया छोड़के जिसने फलासक्ति। निष्काम कर्म।।३२।।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।।१२।।

वैसे भी धनंजय!। त्रिविध कर्मफल यह। समर्थ भोगने को वह। न छोड़े आशा जो।।३३।। स्वयं जन्म देकर दुहिता। 'न मम' कहे पिता। छुटे माया से, प्रतिग्रहण कर्ता। फंसे दामाद जैसा।।३४।। विष का व्यापार करत। लाभ से सुख में जियत। अन्य मरत जो लेत। मोल से वह।।३५।। कर्म करे साभिमान। या करे फलाशाबिन। किन्तु न टरे अर्जुन। कर्म दोनों को।।३६।। मार्गतरू का पक्व फल। चाहत जो पावे सकल। वैसे वांछत जो कर्मफल। सो पावे उसको।।३७।। कर्म करके न लेवे फल। न फंसे संसार में वही केवल। जानो त्रिविध जग का कर्मफल। धनुर्धर।।३८।। देव मानव स्थावर। नाम इसका जगड़ंबर। और ये ही तीन प्रकार। कर्म फल के।।३९।। वही एक अनिष्ट। एक तो केवल इष्ट। और एक इष्टानिष्ट। त्रिविध ऐसे।।२४०।। जिनकी विषयासक्त बुद्धि। कर्म करत अविधि। प्रवर्तत कुकर्म में निरवधि। निषिद्ध में।।४१।। वहां कृमि कीट लोष्ट। ये देह पावत निकृष्ट। उसको ही नाम अनिष्ट। कर्मफल पार्था।।४२।। स्वधर्म को मानकर।

स्वाधिकार जानकर। वेदविहित आचार। करे जो।।४३।। तब इंद्रादि देवताओं की। काया प्राप्त सव्यसाची। उस कर्मफलको इष्ट की। संज्ञा पार्थ।।४४।। खट्टा मीठा एकत्र। वह रस की विचित्र। रुचि जिसकी मधुर। दोनों से अधिक।।४५।। रेचक ही योगयुक्त। करत स्तंभन उद्देश्य से पार्थ। वैसा सत्यासत्य सामरस्य जीतत। सत्यासत्य को।।४६।। अतः शुभ अशुभ समान। ऐसा जब आचरण। उससे पावे जो मनुजपन। मिश्रित फल वह।।४७।। ऐसा त्रिविध यह कर्मफल। जग में दिखत सकल। जिनकी फलाशा प्रबला फसत वे।।४८।। गले तक खाये मिष्टान्न। खाते होवे सुखपूर्ण। किंतु अंत में अजीरन। होकर मरे।।४९।। अरण्य न आवे जब तक। भली साव-चोर की मैत्री तब तक। वेश्या भली जब तक। न स्पर्शत अंग।।२५०।। वैसे देही कर्म अर्जुन। मन में रखकर अभिमान। पश्चात जब पावे निधन। भोगत फल सब।।५१।। देखो साहूकार प्रबल। लेत अवश्य ब्याज मूल। वैसे बिकट टारना सकल। कर्मभोग।।५२।। भुट्टे से जब बीज गिरत। प्रस्फुटित भुट्टे में चढ़त। आगे भूमि में बोवत। उठे पुनः।।५३।। भोग संचित कर्म से। सृजत जात कर्मांतर से। जैसे चलते पाँव आगे पाँव से। जीतत मार्ग।।५४।। नौका जैसे तरने का साधन। किंतु सदा इस-उस पार ही अर्जुन। वैसे न छूटे खींचातान। कर्म के भोग की।।५५।। किन्तु साध्य साधन प्रकार से। फलभोग प्रसरत जैसे। एवं फंसत संसार में वैसे। अत्यागी वे।।५६।। जातिपुष्प का विकसना। उसी का नाम सूखना। कर्म-मिष से न करके दिखाना। किया कर्म जैसे।।५७।। बीज यदि खाने में खपत। बढ़ती खेती होवे

नष्ट। फल त्याग से बंद होत। कर्मफल वैसे।।५८।। वह सत्वशुद्धि सहकार्य से। गुरुकृपामृत तुषार से। विकसित ज्ञान बोध से। नष्ट द्वैत दैन्य।।५९।। तब जगदाभासमिष। स्फुरण से करे त्रिविध फलका नाश। यहां भोक्ता भोग्य भोग अशेष। लोपत सहज।।२६०।। घड़त ऐशा ज्ञानप्रधान। संन्यास जिनको अर्जुन। वे ही फलभोग से पूर्ण। मुक्त जान।।६१।। और ऐसे संन्यास से साचोकार। जब आत्मरूप से दृष्टि स्थिर। क्या कर्ताकर्म भेद सुवीर। दिखत वहां?।।६२।। गिरत जब भित्ति। होवे अंकित चित्रों की केवल माटी। क्या नष्ट जब रात्री किरीटि। तम शेष?।।६३।। जब रूप ही न विद्यमान। छाया किसकी सोहे अर्जुन। बिंबत वैसे दर्पणबिन। वदन कहां।।६४।। नष्ट जब निद्रा का ठांव। कैसे स्वप्न का प्रस्ताव?। वहां सत्य मिथ्या का भाव। कहे कौन?।।६५।। वैसे संन्यास से इस अर्जुन। मूल अविद्या को ही न जीवन। तब कैसी करेगा कौन। लेनदेन उसकी।।६६।। अतः इस संन्यास में पार्थ। कैसी कर्म की कीजे बात। किन्तु यदि अपने देह में वसत। अविद्या जब।।६७।। तब कर्तापन का अहंकार। लेकर करे आत्मा शुभाशुभ आचार। भेद का प्रभाव गोचर। दृष्टि में जब।।६८।। तब तक हे अर्जुन। कर्म और आत्मा को द्वैतपन। दिशा जैसे भिन्न-भिन्न। पूर्व-पश्चिम।।६९।। आकाश और मेघमंडल। सूर्य एवं मृगजल। वायु और भूतल। विभिन्न जैसे।।२७०।। ओढ़कर नदी का उदक। नदी में ही रहे चट्टान एक। परंतु दोनों पृथक। कोटिगुण।।७१।। उदक के अति निकट। किंतु भिन्न ही शैवाल पार्थ। क्या संग से ही कहना यथार्थ। दीप कालिख को।।७२।। यदि चंद्र पर

कलंक। चंद्र को न उसका दोख। दृष्टि एवं नेत्र गोलक में विवेक। अपार जितना।।७३।। चलने को मार्ग भिन्न। ओघ प्रवाह अनेक अर्जुन। दर्पण से दृष्टा भिन्न। सुनिश्चित।।७४।। देखो उसी प्रमाण से। भिन्न कर्म आत्मा से। किंतु भासत एक जैसे। अज्ञान से।।७५।। विकास से करे सूर्योदय सूचित। दृती आलिवृंद से अनुभवत। वह सरोवर में वसत। अब्जिनी जैसी।।७६।। वैसी आत्मक्रिया पुनः पुनः। उपजत कारणों से अन्यान्य। उन पांचों का रूप लक्षण। कहूं स्पष्ट अब।।७७।।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे। सांख्येकृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१३।।

ये पांचो कारण पार्थ। ज्ञात तुमको कदाचित्। जो शास्त्र उठाकर हाथ। कहत इनको।।७८।। वेदराज के राजधानी में। सांख्य वेदान्त के भुवन में। निरूपण के नौबत ध्वनि में। गर्जत जो।।७९।। जो सर्व कर्म सिद्धि को। यही मूल मुद्दल उसको। न मानो आत्मा को। कारण तुम।।२८०।। यह बोल ढिंढोरे से। ये प्रसिद्ध हुए जैसे। अतः रहने दो इसे। कर्ण पुट में तेरा।।८१।। मैं तेरा चिद्रत्न। हस्तगत तेरे अर्जुन। क्या मुखांतर से श्रवण। का लेना बोझ?।।८२।। सामने प्रत्यक्ष दर्पण। देखने अपना वदन। क्यों मानना प्रमाण। दृष्टि औरों की।।८३।। भक्त देखे जो जहां। वही होऊ मैं वहां। वह मैं, तेरा हुआ यहां। खिलौना आज।।८४।। ऐसे प्रेमभाव से देव बोलत। मूल विषयान्तर होवत वहां आनंद में अर्जुन स्वतः। निमग्न अंग से।।८५।। चांदनी को आवे सुभर। पहाड़ सोमकान्त का द्रवकर। होने लगे महासरोवर। जैसा पार्थ।।८६।। वैसे सुख और अनुभूति। द्वैतभावों

की तोड़कर भित्ति। होवे प्रत्यक्ष अर्जुनाकृति। सुख ही वहां।।८७।। वहां समर्थ देव कृष्ण। इसलिये हुआ उनको स्मरण। किया सुखसागर में डूबते अर्जुन–। को मुक्त स्वतः।।८८।। इतना महान अर्जुन। किंतु प्रज्ञासहित डूबा पूर्ण। प्रेमावेश भर संपूर्ण–। से निकालकर पुनः।।८९।। देव कहे सुनो पार्था। अपना स्वरूप देखो सर्वथा। तब निःश्वास छोड़कर माथा। नवाया उसने।।२९०।। कहे जानत आप दातार। द्वैत आपसे न मुझको प्रियकर। आपसे अद्वैत मन में श्रीधर। चाहूं पूर्ण।।९१।। देव! आपने सदा समस्त। लालसा मेरी की तृप्त। तब प्रतिबंध क्यों सांप्रत। किया द्वैत को पुनः।।९२।। वहां साच कहत श्रीकृष्ण। पार्थ! अभी तक तुम अज्ञान। क्या चंद्र चंद्रिका भिन्न भिन्न। रहे कभी?।।९३।। और यही बोलकर भाव। दिखाऊं तुझको मैं भय। रूठत तुम, वर्धत जो अभिप्राय। सो यह प्रेम।।९४।। तेरा-मेरा भिन्नपन। वही अपने जीवन का कारण। अतः आगे यह कथन। समाप्त अब।।९५।। तब कैसे-कैसे सांप्रत। निरूपित तुझको पार्थ। जो कर्मजात समस्त। आत्मा से भिन्न।।९६।। तब कहत अर्जुन हे देव!। मेरा मनोगत स्वभाव। वही आपने प्रस्तावित प्रमेय। सुंदर आज।।९७।। जो सकल कर्मों का बीज। कारण भूत पंचकाज। कहूं तुझको यह पैज। ली है आपने।।९८।। और आत्मा को यहां कोई। सर्वथा संबंध नाहीं। यह जो कहा वही। कहो प्रियवस्तु मेरी।।९९।। इस बोलपर विश्वेश। मन में पावत संतोष। कहे ऐसा हठी जिज्ञासू विशेष। मिलेगा कौन?।।३००।। अब अर्जुन को अच्युत कहेगा गूढ़ सिद्धांत। जो हुआ प्रेम से मिश्रित। [illegible] उसका।।१।। तब अर्जुन कहत देव।

क्या भूले आप पूर्व अभिप्राय। जो राखत द्वैतभाव। कथन में अपने।।२।। यहां कहत श्रीकृष्ण। देकर नीका अवधान। करो अब श्रवण। करूं कथन जो।।३।। सुनो साच धनुर्धर। समस्त कर्मों का उभार। होत जात परस्पर। पंचकारणों से।।४।। कर्मों के पांचों उपादान। जिससे कर्म का आकार अर्जुन। होवत हेतु जान। पांच ही वे।।५।। अन्य आत्मतत्त्व उदासीन। वह न हेतु ना उपादान। वह न अंग से करे संवाहन। कर्म सिद्धि का।।६।। वहां शुभाशुभ अंश से। निपजत कर्म ऐसे। रात-दिन जैसे। आकाश में।।७।। तोय तेज धूम। इनका वायू से संगम। होवे तब अभ्रागम। व्योम न जाने।।८।। नाना काष्ठ से नौका बनाई। अनिल वेग से वही। मल्लाह ने चलाई। उदक तो साक्षी।।९।। अथवा कोई मृत्पिंड। बनत उससे भांड। जब हिलावत दंड। भ्रमत चक्र।।३१०।। और कर्तृत्व कुलाल का। वहां क्या खर्चत पृथ्वी का। एक आधारबिन उसका। सोचो तुम ही?।।११।। रहने दो यह, लोक समग्र–। के समरूप जग व्यापार। वाहं क्या काम भास्कर। करत स्वयम।।१२।। वैसे निमित्त और उपादान पांचों कारण से अर्जुन। होवे कर्मलतिका निर्माण। आत्मा अलिप्त।।१३।। अब पांचों वही पृथक–। का नीका करूं विवेक। तौलकर लेना देख। मोती जैसे।।१४।।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।१४।।

वैसे यथार्थ लक्षण। सुनो सब कर्म कारण। तब देह मैं कहूं अर्जुन। प्रथम यहां।।१५।। इसको अधिष्ठान ऐसे। कहत यही उद्देश्य से। जो स्वभोग्यसहित रहत जैसे। भोक्ता

यहां।।१६।। इंद्रियों के दश हस्त-। से कष्टत दिनरात। जुटावत सुखदुःख समस्त। प्रकृतिजन्य।।१७।। भोगने वे पुरुष को। न अन्य स्थान उनको। अतः अधिष्ठान संज्ञा देह को। धनंजय।।१८।। यह चौबीस तत्त्वोंकी। कुटुंब भूमि वस्ती की। टूटत बंधमोक्ष की। गुत्थी यहां।।१९।। जागृति स्वप्न सुषुप्ति। अवस्थात्रय में इसकी स्थिति। अतः इस देह को किरीटि। नाम यही।।३२०।। कर्म का दूजा कारण। उसको कर्ता यह अभिधान। जो प्रतिबिंबपूर्ण। चैतन्य का।।२१।। आकाश ही वर्षत नीर। तल में संचित वह सरोवर। तब प्रतिबिंब में तदाकार। होवे जैसा।।२२।। या निद्रा जब बहुत गहन। होवे राजा को अपना विस्मरण। समाये वह रंकपन-। से स्वप्न में स्वयम्।।२३।। स्वरूप विस्मरत वैसे। चैतन्य देहाकार होवे तैसे। वही देहभाव आभास से। वर्तत जग में। २४।। विस्मरण से चैतन्य शुद्ध। जीवभाव से देह में प्रसिद्ध। ममत्व से होवे संबद्ध। निश्चित पार्थ।।२५।। करे प्रकृति सब कर्म। स्वयं करत ऐसा होवे भ्रम। अतः जीव को कर्ता यह नाम। धनुर्धर।।२६।। देखो बरौनी के बाल से वैसी। दृष्टि एक किन्तु भासत ऐसी। मानो मुक्त चंवर जैसी। कटी पार्थ।।२७।। या गृह के भीतर एक। दीप को अवलोकत देख। गवाक्ष भेद से अनेक। भासत जैसे।।२८।। अथवा एक ही नट। नवरस जब करे प्रकट। नवविध दिखत स्पष्ट। दर्शक को जैसा।।२९।। वैसे बुद्धि का एक जानना। श्रोत्रादि भेद से आना। बाहिर इंद्रियभाव से प्रकटना। धनुर्धर।।३३०।। वह पृथक्विध करण। कर्मों का इन कारण। तीसरा पांचों में जान। नृपनंदन।।३१।। और पूर्व-पश्चिम वाहिनी। बहकर समुद्र से

मिलनीं। होवे नदी-नद पानी। एकही जैसे।।३२। वैसे पवन में क्रियाशक्ति। जो अनपायिनी किरीटि। नानास्थान में निश्चिति। भासत नाना रूप।।३३।। जब वाचा में आना। वही तब होवे बोलना। हाथ में प्रविष्ट तब लेना-। देना होवे।।३४।। देखो चरणों के ठाँई। होवत गति वही। अधोद्वार में दोनों ही। क्षरण वही।।३५।। कंद (नाभि) से हृदयपर्यंत। प्रणव की वृद्धि करत। उसको पार्थ। बोलिजे प्राण।।३६।। पश्चात उर्ध्व की जो गति। आगे वही शक्ति। उदान संज्ञा को किरीटि। होवे प्राप्त।।३७।। अधोरंध से बाहिर बहत। अपान यह नाम लभत। व्यापकपन से होत। व्यान वही।।३८।। आरोगत जब रस। शरीर में व्याप्त सरिस। औरं संधि-संधि में निवास। जिसका पार्थ।।३९।। इस विध जो क्रिया पद्धति। नाभिस्थान में जब उसकी स्थिति। 'समान' संज्ञा से किरीटी। बोलिये उसको।।३४०।। और जम्हाई, छींक, डकार। ऐसा जो होवे व्यापार। नाग, कूर्म, कृकर। इत्यादि जानो।।४१।। एवं वायु एक ही तत्त्वता। किंतु भिन्न उसकी क्रिया सर्वथा। अतः पृथक-पृथक नाम पार्था। प्राप्त उसको।।४२।। इसविध जो व्यापार। वायुशक्ति के अनुसार। वही चौथा जानो प्रकार। कर्म कारण।।४३।। ऋतु सुंदर शरद। शरद में शीतल चांद। और उसमें चंद्र को संबंध। पूर्णिमा का।।४४।। या वसंत में अच्छा आराम। आराम में भी प्रिय संगम। संगम में उपचार का आगम। चंदनादिका।।४५।। अथवा कमलपुष्प में अर्जुन। विकास होवे पूर्ण। और विकास में पराग उत्पन्न। सुगंधित।।४६।। वाचा में भला कवित्व। कवित्व में सुंदर रसिकत्व। रसिकत्व में परतत्त्व। स्पर्श जैसा।।४७।। वैसे सब

वृत्ति वैभव युक्त। बुद्धि एक ही उत्तम पार्थ। बुद्धि को भी शोभा नूतन नित। इंद्रिय प्रभुता से।।४८।। इंद्रिय मंडल को भूषण। जो जो देवता अधिष्ठात्री अर्जुन। वे सब अनुकूल पूर्ण। धनुर्धर।।४९।। श्रोत्र नेत्रादि वश। इंद्रियसमूह अशेष। करत स्वानुग्रह विशेष। सूर्यादिसुरवृंद।।३५०।। वे देववृंद अर्जुन। पांचवा कर्म कारण। कहत स्वयं श्रीकृष्ण। जानो यहां।।५१।। एवं बुद्धि तेरी इस प्रकार। कर्मजात की खानि समग्र। पंचविध निरूपित सुवीर। क्या सुना तुमने?।।५२।। अब यही कारण बढ़त। तब कर्म सृष्टि उपजत। जिनसे होवे हेतू स्पष्ट। दिखाऊं पांचों।।५३।।

शरीरवांग्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।।१५।।

आवे अकस्मात वसंत। नवपल्लवी को वह हेतु होत। पल्लव पुष्पपुंज बहरत। पुष्प से फल।।५४।। या वर्षा में आवे मेघ। मेघ से वृष्टि प्रसंग। वृष्टिकारण भोग। सस्यसुख का।।५५।। प्राची में होवे अरुणोदय। होवे तदनंतर सूर्योदय। सूर्योदय से होवे प्रकाशमय। दिन जैसा।।५६।। वैसे अर्जुन यह मन। कर्म संकल्प भाव को कारण। लगावे दीप वाचा का जान। संकल्प वह।।५७।। उस दीप तेज से पार्थ। कर्ममार्ग होवे प्रकाशित। कर्ता व्यापार में प्रेरित। कर्तृत्व के।।५८।। तब करने कर्म शारीर। कारण होवे शरीर। जैसे लोह के औजार। लोह से ही होत।।५९।। जब तंतुओं का ताना। उसमे तंतुओं का ही बाना। तब वही तंतु विचक्षणा। होवे वस्त्र।।३६०।। वैसे मन वाचा देह के पार्थ। कर्मों को मन ही हेतु यथार्थ। रत्न से ही रत्न की होत। कटाई जैसी।।६१।। यहां शरीरादि

कारण। हेतु वे ही कैसे अर्जुन। शंकित यदि होवे मन। अवधारो (सुनो) तुम।।६२।। सुनो सूर्य के प्रकाश को। हेतु कारण सूर्य ही उसको। कांड (पोर) गन्ने के हेतु वृद्धि को। गन्ना ही पार्थ।।६३।। अथवा वाग्देवता का वर्णन। वाचा के श्रम से ही अर्जुन। या वेद की प्रतिष्ठा बखान। वेदों से ही जैसे।।६४।। वैसे कर्म शरीरादिक समस्त। कारण यह सर्व विदित। किंतु वे ही हेतु निश्चित। जानो यहां।।६५।। देहादिक कारणों से। मिलकर देहादिक हेतु से। होवे उभार जैसे। कर्म जात का।।६६।। वैसे शास्त्रानुसार। करो वही मार्ग का आचार। तब ही न्याय, न्याय का साचोकार। हेतु होवे।।६७।। जैसे पर्जन्योदक का ओघ पार्थ। कदाचित पहुंचे धान के खेत। निरत किंतु होवे अत्यंत। उपयुक्त जैसा।।६८।। या रोष से निकले अकस्मात। द्वारिका मार्ग पर लगत। चलते यदि वह थकत। श्रम न व्यर्थ।।६९।। हेतु कारण मेल से। घटत कर्म जो अंधपन से। यदि लाहे शास्त्रचक्षु उसे। कहिये न्याय तब।।३७०।। दूध ऊपर तक उफनत। उफनकर सहज नीचे गिरत। खर्च तो वह भी पार्थ। किंतु व्यर्थ ही वह।।७१।। वैसे शास्त्रसहायबिन। किया यदि न होवे अकारण। तभी होगा लूटा धन। दानरूप।।७२।। अरे! बावन वर्ण विरहित। कौनसा मंत्र जग में पार्थ। या बावन में एक भी न उच्चारत। ऐसा जीव कोई?।।७३।। किंतु मंत्र की युक्ति। जब तक न ज्ञात किरीटि। तब तक मंत्रोच्चार की फल प्राप्ति। असंभव जैसी।।७४।। हेतु कारण योग से। कर्म घटत यदृच्छा से। शास्त्र कसौटी पर जैसे। निखरत जब।।७५।। तब भी कर्म घटत। किंतु न वह यथार्थ। वह अन्याय रे अन्याय का होत। हेतु जानो।।७६।।

एवं पंचकारण कर्म। को हेतु पांचहि सुमहिम!। अब देखो कोई संबंध तुम। आत्मा का यहां?।।७७।। भानु न स्वतः विषय रूप का। किंतु है प्रकाशक चक्षुरूपों का। वैसा आत्मा से कर्मों का। प्राकट्य जानो।।७८।। प्रतिबिंब और दर्पण। दोनों नहीं स्वयं आपुन। दोनों को प्रकाशत अर्जुन। निहारता वह।।७९।। या अहोरात्र सविता। न होकर करत पंडुसुता। वैसा आत्मा कर्म कर्ता। जानो तुम।।३८०।। किंतु देहाभिमान भ्रांति–। से ग्रसित जिसकी मति। उसको आत्मविषय में किरीटि। हुई मध्य रात्रि ही।।८१।। जिसने माना निज शरीर। ब्रह्म चैतन्य ईश्वर। आत्मा कर्ता यह निर्धार। अचल जिनका।।८२।। आत्मा ही कर्म कर्ता। निश्चय यह भी दृढ़ नहीं तत्त्वता। देह ही को कर्ता सर्वथा। मानत वे।।८३।। जो आत्मा मैं कर्मातीत। सर्व कर्म को साक्षीभूत। ऐसी स्वरूप की बात। न सुनत वे।।८४।। अतः असीम आत्मा को पार्थ। नापत केवल देहपर्यंत। विस्मय क्या न करे रात। दिवाभीत दिन को।।८५।। जिसने आकाश का कहीं। सत्य सूर्य को देखा नहीं। क्या वह डबरे के प्रतिबिंब को ही। न माने सूर्य?।।८६।। डबरे के अस्तित्व से ही पार्थ। माने सूर्योदय यथार्थ। सूखत जब माने अस्त। कंपित कंप से।।८७।। निद्रित को जागृति ज्यों न आवे। तब तक ही स्वप्न सच होवे। डोर न जाने सर्पभय पावे। विस्मय क्या?।।८८।। पीलिया से जब आंख ग्रसित। तब चंद्र को पीला देखत। क्या मृगजल से भ्रमित। मृग नाहीं?।।८९।। वैसे शास्त्रगुरू नाम पार्थ। सीमा को हवा भी छूने न देत।

केवल मूढत्व से ही जीवित। जीव जिसका।।३९०।। उसने देहात्म दृष्टि से। डाला आत्मा पर देह जाल जैसे। माने सियार अभ्रगति से। चले चंद्र ही जैसा।।९१।। उस देहात्म दृष्टि से निश्चित। देह बंदिशाला में पार्थ। कर्म की वज्रगांठ। कसत वह।।९२।। नलिका ऊपर शुक। दृढ़ बद्ध भावना से अशेख। पैर मुक्त रहते देख। न छोड़े वह।।९३।। अतः निर्मल आत्मस्वरूप–। पर प्रकृति का आरोप। नापत वह कोटिकल्प। कर्म ही पार्थ।।९४।। अब कर्म में रहत। किंतु कर्म उसको न स्पर्शत। वड़वानल से अलिप्त। समुद्रोदक जैसे।।९५।। ऐसे ही पृथकपन से। कर्म में रहना जिसका वैसे। पहचानना वह कैसे। कहूं तुझको।।९६।। मुक्त पुरुष का देखते लक्षण। लभत अपने को मुक्तपन। जैसी दीप से दिखत अर्जुन। वस्तु अपनी।।९७।। नातर दर्पण जब स्वच्छ करना। वही अपने को आपुन मिलना। तोय में घुलकर तोय होना। लवण का जैसा।।९८।। निर्वतकर पीछे पार्थ। प्रतिबिंब बिंब को देखत। समाप्त देखना होवे स्वतः। बिंबरूप।।९९।। वैसे संतरूप जब देखत। पावत निज रूप भारत। अतः बखानो श्रवण करो संतत। उन्हीं को तुम।।४००।। वैसे कर्म में रहते कर्म से। न लिप्त सम-विषम से। चर्म चक्षु के चाम से। दृष्टि जैसी।।१।। वैसे पायी जिसने मुक्ति। उसका अब लक्षण किरीटि। उठाकर बांह उसकी उपपत्ति। कहूं तुझको।।२।।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हान्ति न निबध्यते।।१७।।

तब अविद्या की नींद। उसमें विश्वस्वप्न का धंध। भोग रहा है प्रबुद्ध। अनादि

जो।।३।। वह महावाक्य के नाम से पार्थ। गुरुकृपाबल से हस्त। न रखा केवल दिया धपट। माथा पर।।४।। वैसी विश्वस्वप्न की माया–। नींद छोड़कर धनंजया। सहसा जगा अद्वया–। नंद में जो।।५।। तब मृगजल का पूर। दिखत एक निरंतर। लुप्त होत चंद्रकर–। प्रकाश से जैसे।।६।। या बीतत जब बालपन। न रहे हव्वा का अस्तित्व अर्जुन। दग्ध पूर्ण न शेष इंधन। रंधनत्व कैसे?।।७।। अथवा आवे जब जागृति। तब स्वप्न न देखे दृष्टि। वैसी अहंममता किरीटि। न शेष उसको।।८।। तब खोजने अंधेर को पार्थ। कोई सुरंग में सूर्य प्रवेशत। किंतु वह कभी उसके हाथ। न आवे जैसे।।९।। वैसे आत्मभाव से वेष्टित।जैसे जिस दृश्य को वह निहारत। दृश्य दृष्टापन पावत। भासत आत्मरूप।।४१०।।वन्हि का होवे लाग। तब वन्हि ही होवत अंग। दाह्य दाहक विभाग। छूटे तब।।११।। वैसे विभक्त कर्मकार। उसका कर्तृत्व आत्मापर। आरोप जब निरस्त सुवीर। शेष तब जो।।१२।। उस आत्मस्थिति का जो राव। क्या माने वह देह का ठाँव?। क्या प्रलयांबु के प्रलय–। से ओहर भिन्न?।।१३।। वैसी ब्रह्मत्व से पूर्ण अहंता। कैसा देह भाव वह पंडुसुता। क्या समावत सविता। बिंब में कभी?।।१४।। मंथन से मक्खन प्राप्त। पुनः यदि तक्र में प्रक्षिप्त। रहे अलिप्त न होवत। एकरूप उसमें।।१५।। अथवा काष्ठ में पार्थ। गुप्त हुताशन किया प्रकट। काष्ट मंजुषा में तब बंदिस्त। रहे कैसा?।।१६।। या रात्री के उदर से उदित। हुआ जो यह भास्वत। क्या वह रात की बात। सुने कभी?।।१७।। वैसे वेद्य वेदकपन। ज्ञान से जब निःशेष अर्जुन। देह में ऐसा अभिमान। कैसा उसको?।।१८।।

आकाश जहां-जहां से। जाये रहे भरकर जैसे। अतः व्याप्त पहले से। अपने आप।।१९।। वैसे उसने जो करना पार्थ। वह तो रहत स्वभावतः। तब स्वीकार किस कर्तृत्व–। का या कर्तापन का वह।।४२०।। नही गगनबिन ठाँव। नहीं समुद्र को प्रवाह। न ढ़ले स्थान से ध्रुव। अवस्था वैसी।।२१।। अहंकृति भाव इस प्रकार। व्यर्थ हुआ बोध से जिसका समग्र। जब तक देहनिर्वाह व्यापार। शेष कर्म।।२२।। रुके यदि वायु का बहना। चलत रहे वृक्ष का डोलना। कर्पूर द्युति का डिबिया में रहना। जलने उपरान्त।।२३।। या समाप्त गीत समारंभ। कम न गीतानंद का क्षोभ। भूमि में यदि सोकत अंभ। आर्द्रत्व शेष।।२४।। देखो अस्तंगत यदि अर्क। ज्योतिदीप्ति नवल कौतुक। संध्या समय आकाश में विशेख। दिखे जैसी।।२५।। लक्ष्यवेध के उपरान्त। बाण वेग से दौड़त। जब तक न समाप्त। शक्ति उसकी।।२६।। पूर्ण हुआ कुंभ चक्रपर। लिया कुलाल ने निकालकर। चक्र भ्रमत गरगर। पूर्व गति से।।२७।। वैसा देहाभिमान जब नष्ट। जिस स्वभाव से देह पार्थ। कर्म करावत समस्त। जानो सहज वह।।२८।। संकल्प बिन स्वप्न। बिन लगाये अरण्य में बन। बिन रचते गंधर्वभुवन। रचत जैसे।।२९।। आत्मा के उद्यम बिन। वैसे देहादि पंचकारण। करे कर्मजातका निर्माण। स्वभावतः।।४३०।। प्राचीन संस्कार वश से! पांचों कारण सहेतुक जैसे। करावत अनेक कर्माकार से। धनुर्धर।।३१।। तब उन कर्मों में पार्थ। नष्ट होवे जग समस्त। अथवा होवे सुंदर निर्मित। सृष्टि नूतन।।३२।। किंतु कैसे कुमुदिनी सूखत। या कैसे कमल फांकत। ये दोनों न रवि देखत। जिस प्रकार।।३३।।

आकाश से बिज्जु गिरत। भूतल खंडखंड करत। अथवा हरी-भरी होवत। पर्जन्य वृष्टि से।।३४।। किंतु इन दोनों को जैसे। आकाश न जाने वैसे। देह में विदेह दृष्टि से। रहे जो।।३५।। वह देहादिक चेष्टा को। सृजत-ध्वंसत सृष्टि को। न देखे स्वप्न सृष्टि को। जागृत जो।।३६।। चर्म चक्षु से जो पार्थ। आत्मा देहरूप ही जानत। आत्मा को ही कर्ता मानत। मूढ़ वे।।३७।। अथवा विभिषिका घास की। खेत में मेढ़ पर रखी। सच माने मति सियार की। संरक्षिका वह।।३८।। पगला पहने वस्त्र या नग्न। जानना लोगों ने ही अर्जुन। या रणवीरों के गिनना व्रण। औरों ने ही।।३९।। या महासती के भोग। देखत सकल जग। किंतु वह अग्नि ना अंग। न देखे लोग।।४४०।। वैसे स्वरूप प्राप्ति से जागृत। दृष्टा, दृश्य सहित नष्ट। क्या जाने वह क्रिया समस्त। इंद्रिय ग्राम की?।।४१।। महाकल्लोल से लुप्त लघु कल्लोल। जब देखत तीर के जन सकल। एक से एक गये निगल। माने यदि।।४२।। किंतु उदक दृष्टि से तत्त्वतः। किसको कौन ग्रासत। वैसे पूर्ण को नहीं पदार्थ। मारे जिसको वह।।४३।। सुवर्ण के चंडिका ने। सुवर्ण के ही त्रिशूल ने। सुवर्ण महिष को उसने। किया नष्ट।।४४।। भक्त मन को वह समग्र। भासत सत्य व्यवहार। किंतु शूल चामुंडा महिषासुर। सुवर्ण ही सब।।४५।। चित्र में जल हुतांश। वह तो दृष्टि का ही आभास। पटको अग्नि या आर्द्रांश। दोनों नाहीं।।४६।। मुक्त का देह वैसे। हिलत संस्कारवश से। देखकर मूढ़ भ्रम से। कर्ता कहत।।४७।। और उस कर्म से पार्थ। यदि हुआ त्रिलोक का घात। किंतु उसने किया ऐसी बात। न बोलना तुम।।४८।।

तेज ने देखना अंधेरे को। और करना नष्ट उसको। वैसे न दूजा कोई ज्ञानियों को। मारे जिसको वह।।४९।। अतः उसकी बुद्धि। न जाने पापपुण्य की उपाधि। गंगा को मिलते क्षुद्र नदी। अशुद्धि नष्ट सब।।४५०।। आग, आग से झपटत। वहां क्या जलत पंडुसुत। क्या शस्त्र कभी चुभत। अपने को स्वयम्।।५१।। वैसे अपने से न कुछ भिन्न। मानत क्रियाजात संपूर्ण। वहां क्या होवे बंधन। बुद्धि को उसके।।५२।। अतः कर्ता क्रिया कार्य। यह स्वरूप ही जिसका कौन्तेय। शरीरादिक कर्म से न होय। बंध उसको।।५३।। कर्ता जीव कुशलता से। पंचकारण खदान से। बनावत दशेंद्रिय औजार से। कर्म मंदिर।।५४।। वहां न्याय और अन्याय। द्विविध साधकर आकार यह। न लगे उभारते क्षण एक कौतेय। कर्म भुवन।।५५।। इस महाकर्म में पार्थां!। आत्मा न होवे सहाय्यकर्ता। और कर्मारंभ को तत्त्वता। न लगावे हाथ।।५६।। वह साक्षी चिद्रूप। अतः कर्मप्रवृत्ति का संकल्प। उठत जो ज्ञानस्वरूप। न देत आज्ञा स्वतः।।५७।। इसविध कर्मप्रवृत्ति में पार्थ। उसको न आयास किंचित। जो प्रकृति की खटपट। लोगों को ही।।५८।। इसलिये आत्मा का ही केवल। जो स्वरूप हुआ निखिल। उसको नहीं बंदिशाल। कर्म की यह।।५९।। परंतु अज्ञान के पट पर। द्वैत ज्ञान का निर्मित विचित्र। रेखांकित करे त्रिपुटी चित्र। प्रसिद्ध जो।।४६०।।

ज्ञानं ज्ञेय परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना। करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रह।।१८।।

जो ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय। यह जग का बीजत्रय। वह कर्म की निःसंदेह। प्रवृत्ति जानो।।६१।। अब इन तीनों की व्यक्ति। भिन्न-भिन्न सुमति। करूं उसकी अभिव्यक्ति। स्पष्ट अब।।६२।।

तब जीवसूर्य बिंब के। रश्मी श्रोत्रादि पंच इसके। कलिकाओं को विषय पद्म के। विकसित करत।।६३।। अथवा जीव नृप घुड़सवार। लेकर इंद्रियों के हथियार। विषय देश का धन अपार। लूटत जो।।६४।। जो इन इंद्रियों में रहत। सुखदुःखसहित जीव को प्राप्त। वह सुषुप्तिकाल में लुप्त। ज्ञान जहां।।६५।। उस जीव का नाम ज्ञाता। जो कथित सांप्रत तत्त्वता। वही ज्ञान यह पंडुसुता। जानो तुम।।६६।। जो अविद्या पेट से उत्पन्न। और उपजते ही तत्त्क्षण। बाटत अपने को अर्जुन। त्रिविभाग में।।६७।। अपने वृत्ति सम्मुख सुवीर। रखकर ज्ञेय का पत्थर। पिछवाड़े में उभार। करे दातृत्व का।।६८।। तब ज्ञाता ज्ञेय दोनों में। व्यवहार संबंध उनमें। ज्ञान दोनों के बीच में। रहत पार्थ।।६९।। प्राप्त जब ज्ञेयसीमा अर्जुन। गति आगे की रुकत पूर्ण। सकल पदार्थ को अभिधान। देत तब।।४७०।। वही देखो सामान्य ज्ञान। बोलको इस न दुमत अन्य। ज्ञेय का भी चिन्ह। सुनो अब।।७१।। तब शब्द स्पर्श। रूप गंध रस। यह पंचविध आभास। ज्ञेय का जानो।।७२।। जैसा एकही आम्रफल। उसका रूप परिमल। रस स्पर्शादि सकल। भासत पृथक।।७३।। वैसे एक ही यदि ज्ञेय। परंतु उसके पंचविषय। ज्ञात इंद्रिय को अतः होय। पंचविध वह।।७४।। समुद्र में प्रवाह मिलना। गंतव्य में गति का रुकना। अन्त सस्यवृद्धि का होना। फल में जैसा।।७५।। वैसे इंद्रिय व्यवहार में पार्थ। ज्ञान जहां होवे कुंठित। वही जान तुम यथार्थ। विषय ज्ञेय।।७६।। एवं ज्ञाता ज्ञेय ज्ञान। तीनों का बताया लक्षण। यह त्रिपुटी ही जानो कारण। क्रिया प्रवृत्ति का।।७७।। जो शब्दादि विषय। यह पंचविध ज्ञेय। प्रिय अथवा अप्रिय।

दोनों में एक।।७८।। करावे ज्ञाता को किंचित् ज्ञान। ज्ञेय वस्तु का दर्शन। स्वीकारने या त्यागने तत्क्षण। प्रवृत्त होवे वहां।।७९।। किंतु मीन को देखकर बक। जैसा निधान को रंक। या स्त्री को देखकर कामुक। प्रवृत्ति धरे।।४८०।। पानी दौड़े उतार पर। भ्रमर पुष्प गंध पर। या मुक्त वत्स संध्या अवसर। धेनु सन्निध।।८१।। अरे स्वर्ग की उर्वशी। सुनकर आकाश को मनुष जैसी। लगावत सीढ़ी हे प्रियदर्शी!। यज्ञयाग की।।८२।। कपोत पक्षी पार्थ। नभ के पीठ पर चढ़त। कपोती को देखकर लोटत। अंग पूर्ण।।८३।। गर्जना घन की सुनकर। करे मयूर स्वयं को निछावर। ज्ञाता ज्ञेय देखकर। दौड़त वैसा।।८४।। अतः ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता। ये त्रिविध पंडुसुता। होवत समस्त कर्मों को तत्त्वता। प्रवृत्त यहां।।८५।। किंतु वही ज्ञेय कदाचित्। ज्ञाता को यदि प्रिय भावत। तब भोग के लिए न सहत। विलंब क्षणैक भी।।८६।। अथवा वही ज्ञेय। लगे ज्ञाता को अप्रिय। छोड़ने युगान्तसमय असह्य। भासत क्षण।।८७।। व्याल या नीलमणि हार। होवे प्राप्त जब नर–। को हर्ष एवं डर। उठे एक साथ।।८८।। वैसे अप्रिय या प्रिय। ज्ञाता को दिखत ज्ञेय। त्याग स्वीकार का होय। कर्म व्यापार।।८९।। रागी प्रति मल्ल देखके किरीटि। सर्व दल का अधिपति। रथ छोड़कर पायाती। होवे जैसा।।४९०।। वैसे अर्जुन जो ज्ञाता। ज्ञेयसंगम से होवे कर्ता। बने मिष्टान्न का भोक्ता। रसोइया जैसा।।९१।। या बाग लगावे भ्रमर। कसौटि होवे स्वर्णकार। या बांधने लगा मंदिर। देव ही जैसा।।९२।। वैसे ज्ञेय की अभिलाषा से। इंद्रिय समुदाय को जैसे। कर्म करावत उनसे। होवे कर्ता वह।।९३।। और

स्वयं होकर कर्ता। ज्ञान को लाये करणता। वहां ज्ञेय ही स्वभावता। होवे कार्य।।९४।। ऐसी ज्ञान की निजगति। परावर्तित होवे सुमति। नेत्र की शोभा शक्ति। बदले रात्री में जैसी।।९५।। या दैव जब होवे उदास। पलटत श्रीमंत का विलास। पूर्णिमा पश्चात शीतांश। पलटे जैसा।।९६।। करते इंद्रिय व्यवहार पार्थ। कर्तापन से जब स्वयं वेष्टित। वहां ज्ञाता के लक्षण निश्चित। सुनो अब।।९७।। तब बुद्धि और मन। चित्त अहंकार अर्जुन। यह चतुर्विध चिन्ह। अंतःकरण का।।९८।। बाह्य त्वचा श्रवण। चक्षु रसना घ्राण। यह पंचविध जान। ज्ञानेंद्रिया पंच।।९९।। वहीं चतुर्विध अंतःकरण। कर्ता को कर्म का देत स्फुरण। और यदि जाने अर्जुन। सुखमूलक।।५००।। तब बाह्य इंद्रियों से। चक्षुरादि दश से। जागृत करके करावे उन्हीं से। कर्मव्यापार।।१।। वहां वह इंद्रिय समूह पार्थ। तब तक उसे श्रमवत। जब तक न हस्तगत। कर्तव्य लाभ।।२।। यदि वह कर्तव्य अशेख। देखत दुःखमूलक। दिखावे उनको त्याग मुख। इंद्रियों के दश।।३।। जब तक न दुःख नष्ट। रात्रंदिन करावत नष्ट। दरिद्र कृषिक को पार्थ। राजा जैसा।।४।। सुनो वैसे त्याग और स्वीकार–। में इंद्रियों की धुरा गर्दन पर। करते वहन ज्ञाता को ही साचार। कर्ता कहत।।५।। और कर्ता के सब कर्म–। में औजार सम सक्षम। अतः इंद्रियों को हम। "करण" कहत।।६।। इन्हीं करणों से सुवीर। "कर्ता" करे क्रिया का उभार। उनसे व्याप्त जो व्यापार। सुनो "कर्म" वह।।७।। आभूषण सुनार के बुद्धि से। व्यापत चांदनी चंद्रकिरणों से। अथवा व्यापत सौंदर्य विस्तार से। विल्लरी जैसी।।८।। अथवा

प्रथा व्यापत प्रकाश। मधुरिमा से इक्षुरस। और आकाश में अवकाश। व्याप्त जैसा।।९।। वैसे कर्ता के क्रिया में पार्थ। तत्त्वता जो रहे व्याप्त। वही कर्म जानो निश्चित। अन्य न कोई।।५१०।। एवं कर्था कर्म करण। इन तीनों का लक्षण। निरूपित तुझको विचक्षण—। शिरोमणि।।११।। यहां ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय। यह कर्म का प्रकृति त्रय। वैसे ही कर्ता करण कार्य। कर्मसंचय यह।।१२।। वन्हि में जैसा धूम। रहे बीज में द्रुम। या मन में निहित काम। सर्वदा जैसा।।१३।। वैसा कार्य किया करण। इनमें ही कर्म का जीवन। जैसे सुवर्ण खनी में सुवर्ण—। का जन्मस्थान।।१४।। अतः यह कार्य, मैं कर्ता। प्रकार यह जहां पंडुसुता। वहां आत्मा दूर सर्वथा। क्रियाओं से सब।।१५।। इसलिये पुनः पुनः। आत्मा पृथक अर्जुन। अब कितना करूं विवेचन। प्राज्ञ तुम।।१६।। कर्ता कर्म और ज्ञान। तुमको जो किया निवेदन। वे तीनों त्रिधा भिन्न। गुणभेद से।।१७।। अतः ज्ञान कर्ता कर्म पर। विश्वास न करो तीनों पर। दोनों बंध को, मुक्ति को सुवीर!। समर्थ एक ही।।१८।। ऐसा जो सात्त्विक गुण। गुणभेद से उनका विवेचन। किया सांख्य शास्त्र में पूर्ण। विस्तार जिसका।।१९।।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः। प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।।१९।।

जो विचार क्षीर समुद्र। स्वबोध कुमुदिनी चंद्र। ज्ञान चाक्षुस को नरेंद्र। शास्त्र का जो।।५२०।। या प्रकृति पुरुष दोनों पार्थ। संयुक्त जैसे दिन रात। त्रिभुवन में उनका विभाजक स्पष्ट। मार्तंड जो।।२१।। यह मोहमय विश्व समस्त। वह केवल चौबीस

तत्त्वांतर्गत। नापकर सही परमात्मासहित। लाहिजे सुख।।२२।। अर्जुन! वह सांख्य शास्त्र। गावे जिसका स्तोत्र। वह गुणभेद चरित्र। जानो ऐसा।।२३।। त्रिविधत्व के अंक से। अपने अपने जो आंगिक से। करत अंकित समस्त जैसे। दृश्यजात।।२४।। एवं सत्व रज तम। उनका देखो इतना महात्म्य। जो लावे त्रिविधता आदिब्रह्म–। से कृमिपर्यंत।।२५।। किंतु जो विश्व समुदाय समस्त। जिस गुणभेद से पार्थ। विभाजित वह ज्ञान यथार्थ। कहूं प्रथम।।२६।। दृष्टि यदि चोखी कीजे। तब कुछ भी चोख सूझे। वैसे शुद्ध ज्ञान से लाहिजे। शुद्ध ही सब।।२७।। अतः वह सात्त्विक ज्ञान। अब कहूं दो अवधान। ऐसे कैवल्य गुणनिधान। कहे श्रीकृष्ण।।२८।।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

वही, जानो निश्चित अर्जुन। सात्त्विक शुद्ध ज्ञान। उदय से जिसके होवे विलीन। ज्ञातासहित ज्ञेय।।२९।। जैसा सूर्य को न देखे अंधेर। सरिता को न जाने सागर। आलिंगन अशक्य सुवीर। आत्म छाया को। ५३०।। वैसे देखो यह ज्ञान। शिवादि तृणावसान। इन भूतव्यक्ति को भिन्न। जाने ना।।३१।। चित्र देखते हस्तस्पर्श से। नमक धोते पानी से। जागृति आते स्वप्न से। होवे जैसा।।३२।। वैसे जिस ज्ञान से पार्थ। ज्ञातव्य का लेते दर्शन। ज्ञेय ज्ञाता ज्ञान। शेष न कोई।।३३।। बुद्धिमंत सुवर्णालंकार–। से न निकालत सुवर्ण ओटकर। या तरंग पृथक छानकर। न लेत पानी।।३४।। वैसे जिस ज्ञान के हाथ। न लगे दृश्य पथ पार्थ। वही ज्ञान जानो तत्त्वतः सात्त्विक तुम।।३५।। देखे

कौतुक से दर्पण में भारता!। दिखत सम्मुख खड़ा दृष्टा। वैसे ज्ञेय लुप्त होकर ज्ञाता। दिखत जिससे।।३६।। वही सत्य सात्त्विक ज्ञान। जो मोक्षलक्ष्मी का भुवन। आगे कहूं चिन्ह। राजस का अब।।३७।।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्। वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।२१।।

तब अवधारो अर्जुन। सुनो रह राजस ज्ञान। जो आश्रय भेद का पूर्ण। लेकर चलत।।३८।। भूतमात्र की विचित्रता। करे ठिकरिया जिसकी पार्था। ज्ञाता को बहुत भ्रमिष्टता। लायी ज़िसने।।३९।। जैसे सत्यस्वरूप के आड़। लगाकर विस्मरण का किवाड़। पश्चात् स्वप्न का काबाड़। ला दे निद्रा।।५४०।। अंदर आवार स्वज्ञान का। बाहिर खलिहान मिथ्या मोह का। उसमें क्रम से तीनों अवस्था का। दिखावे खेल।।४१।। अलंकार में सोना आवृत। समझे बालक गया व्यर्थ। वैसे नामरूप से दूर जात। अद्वैत जिससे।।४२।। घट कलश में प्रकट। पृथ्वी हुई मूढ़ों को अपरिचित। दीपत्व रूप से बोध लुप्त। अग्नि का जैसे।।४३।। वस्त्रपन के आरोप–। से नष्ट मूर्खोप्रत तंतुरूप। अथवा होवे पट काल लोप। दिखाकर चित्र।।४४।। वैसे जिस ज्ञान से अर्जुना!। भूतव्यक्ति जानकर भिन्ना। ऐक्यबोध की भावना। हुई लुप्त।।४५।। इंधन से भिन्न अनल। फूलों से यथा परिमल। या जलभेद से सकल। चंद्र जैसा।।४६।। वैसे पदार्थ भेद बहुवस। जानकर लघु महान वेष। प्राप्त आकार वह राजस। ज्ञान यहां।।४७।। अब तामस का लिंग कहूं वह पहिचानो सुरंग। परित्याग को मार्ग–। सद्म जैसा।।४८।।

तब किरीटि! जो ज्ञान। घूमे विधिवस्त्र विहीन। श्रुति पीठ फेरे नग्न–। देखकर उसे।।४९।। शास्त्रों द्वारा इतर पार्थ। अस्पृश्य निंद्य मानकर। भगावत पहाड़पर। म्लेच्छ धर्म के।।५५०।। जो ज्ञान सुनो ऐसे। तामस-गुण ग्राह से!। पीड़ित घूमत जैसे। होकर भ्रमित।।५१।। न बाधत नाता संबंध। न माने किस पदार्थ का निषेध। शून्यग्राम में चेष्टत अनिर्बंध। मुक्त श्वान जैसा।।५२।। उसके मुख को जो अप्राप्त। या जिसको खाते मुख जलत। वही मात्र एक छूटत। बाकी खावे सब।।५३।। सोना चुराते मूषक। न देखत हीन या चोख। न जाने मांस भक्षक। काला गोरा जैसा।।५४।। दावानल लगे बन को। कोई विवेक न उसको। या न विचार मक्षिका को। जीता मृत का।।५५।। परोसा या किया वमन। ताजा या सड़ा अर्जुन। काक को एक समान। विवेक न कोई।।५६।। निषिद्ध सब छोड़ना। विहित सादर पालना। विषयासक्ती बिना। जाने न जो।।५७।। दृष्टि सम्मुख जो जो भोग्य। मानत विषय वे अपने योग्य। देवे उसका उपभोग। शिश्नोदर को।।५८।। पवित्र अथवा अपवित्र। भेद न जाने उदक में सर्वत्र। तृषाशमन एकमात्र। जाने वह।।५९।। वैसे ही खाद्याखाद्य। न कहे निंद्या-निंद्य। मुख को रोचक वही मेध्य। बोध यही।।५६०।। और अशेष स्त्री जात। त्वचेंद्रियसे ही जानत। उसके संबंध में मानत। बोध एक हीं।।६१।। सहाय करे जो स्वार्थ। जाने उसी को प्रिय आप्त। न करे देह संबंध में विभक्त। ज्ञान जो।।६२।। मृत्यु का ही सब अन्न। सारा अग्निका ही ईंधन। वैसे अशेष जग अपना धन।

तामस ज्ञान को।।६३।। इसविध जग सकल। माना विषय ही जिसने केवल। उसको इस जन्म का एक ही फल। देहभरण।।६४।। आकाश से पतित नीर। सिंधु एक ही उसे आधार। वैसे कृत्यजात उदर–। पोषणार्थ जाने।।६५।। स्वर्ग-नरक प्राप्ति। कर्म विहित निषिद्ध किरीटि। इन संबंध में रात्री। ज्ञान को जिसके।।६६।। देह खंड को ही नाम आत्मा। ईश्वर केवल पाषाण प्रतिमा। इसके अतिरिक्त प्रमा। न माने जिसकी।।६७।। कहे शरीर जब पावे पतन। कर्म सहित आत्मा नष्ट पूर्ण। पश्चात बचे वेष से कौन। भोगने को।।६८।। माना ईश्वरको द्रष्टा। कर्म फलभोग का दाता। तब खाये बेचकर पार्था। देव ही को।।६९।। ग्राम का देवालयेश्वर। नियामक यदि साचोकार। तब देश के पर्वत पत्थर। क्यों रहत मौन?।।५७०।। क्वचित यदि देव को मानत। तब पाषाण मात्र ही जानत। और देह को ही तब कहत। आत्मा पार्थ।।७१।। और पांप अथवा पुण्य। झूटा मानकर संपूर्ण। करत सर्वभक्षण। अग्निमुख सम।।७२।। चर्मचक्षु जो दिखावे। इंद्रियां प्रीत लगावे। वही सत्य प्रतीति कहे। निर्धार से जो।।७३।। किंबहुना ऐसी प्रथा। बढ़ती दिखत पार्था। धूम्र वल्ली वृथा। आकाश में जैसी।।७४।। शुष्क न आर्द्र पार्थ। नहीं कभी उपयुक्त। ऐसा बढ़कर मोड़त। कोई वृक्ष जैसा।।७५।। भुट्टा गन्ने का सुंदर। अथवा नपुसंक नर। बन लगा साबर–। वृक्ष का जैसे।।७६।। नातर बालक का मन। या चोरगृह का धन। अथवा अजागल स्तन। धनुर्धर।।७७।। वैसे जो निरर्थक। जानने को निष्कृष्ट देख। उसको मैं कहूं अशेख। तामस पार्थ।।७८।। वह भी ज्ञान यह भाषा। कहने का भाव ऐसा। जात्यंध

का होवे जैसा। विशाल नेत्र।।७९।। या बधिर का सुंदर कर्ण। अपेय का नाम पान। वैसे उपनाम ज्ञान। तामस को उस।।५८०।। जाने दो यह कितना कहे। फिर भी ऐसा जो देखिये। वह ज्ञान नहीं जानिये। साक्षात तम।।८१।। एवं तीनों गुण से। भिन्न यथा लक्षण से। ज्ञान श्रोता शिरोमणि! वैसे। दिखाया तुमको।।८२।। अब इसी त्रिप्रकार–। के ज्ञान प्रकाश से धनुर्धर। क्रिया होत गोचर। कर्ताओं की।।८३।। अतः कर्म भी अर्जुन। अनुसरत त्रिविध ज्ञान। दिशा देने से करे गमन। जलौघ जैसा।।८४।। वही ज्ञानत्रय वश से। होवे त्रिविध जैसे। वहां सात्विक जो वह ऐसे। सुनो प्रथम।।८५।।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।२३।।

स्वाधिकार के मार्ग से। प्राप्त कर्म जो माना अंग से। पतिव्रता के परिश्वंग से। प्रिय को जैसे।।८६।। शामल अंग को चंदन। प्रमदा लोचन में अंजन। वैसे अधिकार को मंडन। नित्यपन से।।८७।। वह नित्यकर्म उचित। नैमित्तिक उसको सहाय होत। होवे सुवर्ण को प्राप्त। सौरभ्य जैसा।।८८।। और अंगजीव की संपत्ति। खर्चकर करे बालक की रक्षा किरीटि। किंतु न जीव को उद्वेग की स्थिति। मानत माता।।८९।। वैसे सर्वस्व से करे कर्मानुष्ठान। न रखकर फल पर दृष्टि मन। अशेष क्रिया करे समर्पण। ब्रह्म में ही।।५९०।। भोजन समय सहज प्रिय आवे। भक्ष्य सामग्री शेष रहे न रहे। वैसे सत्प्रसंग में न होवे। विहित कर्म यदि।।९१।। उस अकरण के खेद से। द्वेष न बांधे जीव में जैसे। या कर्म पूर्ति के आनंद से। गर्व न करे।।९२।। ऐसी युक्ति से अर्जुन। कर्म जो घटत पूर्ण। सात्विक

यह जान। संज्ञा उसको।।९३।। इस उपरान्त राजस का। लक्षण साच कहूं उसका। न करो अवधान का। कृपणपन यहां।।९४।।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः। क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।२४।।

घर में वृद्ध माता-पितर। न करे भाषण व्यवहार मधुर। अन्य विश्व का करे आदर। मूर्ख जैसा।।९५।। तुलसी वृक्ष में अर्जुन। डाले न बूंदकर जीवन। द्राक्षवेली के जड़ में सिंचन। दुग्ध का करे।।९६।। वैसे नित्य नैमित्तिक। कर्म जो आवश्यक। उनके लिये न उत्सुक। बैठा उठेना।।९७।। अन्य काम्य कर्म के नाम से। अशेष देह सर्वस्व से। खर्चत न माने बहुत ऐसे। धनुर्धर।।९८।। चक्रवृद्धि ब्याज व्यवहार में। डाले चाहे जितना वित्त उसमें। जैसे बीज बोते खेत में। अधिक न कहे।।९९।। या पारस जब हस्तगत किरीटि। खर्च करके सब संपत्ति। करे लोह की प्राप्ति। धनार्थि जैसा।।६००।। वैसे फलपर दृष्टि रखकर। काम्य करे दुर्धर। समझे वह भी अल्पतर। धनुर्धर।।१।। उस फलकामना से। यथाविधि उत्तम प्रकार से। काम्य क्रिया सब मन से। करत जात।।२।। और जो-जो करे कर्म। ढिंढोरा पीटत स्वयम्। महाकर्मी यह नाम। बखान करे स्वतः।।३।। ऐसा बढ़त कर्माहंकारू। तब पिता अथवा गुरू। ना माने काल ज्वरू। औषध जैसे।।४।। ऐसे साहंकार से। फलाभिलाषी नर से। किया गया बहुत आदर से। कर्म जो-जो।।५।। किंतु वह भी कार्य बहुवस। आश्रय करके सायास। जीवनोपाय जो विशेष। मदारियों का।।६।। कण एक के लिये इंदुर। खोदत जैसे डोंगर। या शैवाल उद्देश्य से दर्दुर। मतथ समुद्र।।७।।

भिक्षाबिन अन्य न पाये। तब भी सपेरा सर्प ढोंये। क्या कीजे श्रम ही भाये। प्रिय किसी एक को।।८।। देखो परमाणु के लाभ से। दीमक पाताल तक पहुंचे जैसे। वैसे करना स्वर्ग सुख लोभ से। परिश्रम पार्थ।।९।। वह काम्य कर्म सक्लेश। जानिये यहां राजस। अब सुनो तामस–। का चिन्ह तुम।।६१०।।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्। मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।२५।।

तब जानो वह तामस कर्म। जो निंदा का काला धाम। शास्त्रनिषेध का जन्म। साच जिससे।।११।। जो करने पश्चात। कोई न दिखे फल प्राप्त। निकाली पानी पर पार्थ। रेखा जैसी।।१२।। अथवा कांजी मंथन से। या राख फूंकने से। कोल्हू में बालू डालने से। न प्राप्त कुछ।।१३।। ना नो पछाड़ने से तुष। अथवा विंधकर तीर से आकाश। किंवा डालना पांश। वायु के लिए।।१४।। यह अशेष ही वैसे। नाशत होकर बांझ से। जो करने उपरान्त जैसे। होवे व्यर्थ।।१५।। जिसमें नरदेह समान। निष्फल होवे महाधन। और कर्मपूर्ति से नष्ट अर्जुन। जग का सुख।।१६।। कमलबन में कटीला पाश। डाले और खींचे खास। स्वयं टूटे करे नाश। कमलों का भी।।१७।। दीप ऊपर ईर्षा से पतंग। झोंकत स्वयं का अंग। स्वयं जले छीनत जग-। से प्रकाश भी पार्थ।।१८।। वैसे सर्वस्व वृथा जावे। देह को पीड़ा भी देवे। किंतु दूसरों को होवे। अपाय जिससे।।१९।। मक्खी पेट में जाकर मरत। वमन से औरों को श्रमवत। ऐसे कल्मष का स्मरण देत। आचार जो।।६२०।। करने वह सदोष ही जैसे। सामर्थ्य होवे न होवे हठ से। आगे का न देखे

वैसे। करत जात।।२१।। मेरा कितना साधन। कितना विस्तार अर्जुन। करने से क्या लाभार्जन। उससे यहां।।२२।। इसविध विवेक को यथार्थ। अविवेक के पांव से रौंदत। होवे कर्म में उद्युक्त। अहंतायुक्त।।२३।। अपना ही आश्रय जलाकर। भभकत वन्हि धनुर्धर। या स्वमर्यादा लांघकर। उछले सिंधु जैसा।।२४।। तब अल्प बहुत न जानत। आगे पीछे न देखत। मार्गमार्ग एक साथ। करत नष्ट।।२५।। वैसे कृत्याकृत्य मिलावत। आपपर शेष न रखत। वह कर्म तामस निश्चित। जानो तुम।।२६।। ऐसे गुणत्रय भिन्न। कर्म का यहां अर्जुन। किया उसका विवेचन। उपपत्ति सहित।।२७।। अब कर्ता जो इस कर्म का। अभिमान करे कर्तृत्व का। होवे जीव भी त्रिप्रकार का। पृथक वह।।२८।। पुरुष चतुराश्रमवश से। एकही चतुर्धा दिखत जैसे। कर्ता को त्रैविध्य वैसे। कर्म भेद से।।२९।। तब उन तीनों में पार्थ। सात्विक जो प्रस्तुत। कहूंगा होकर दत्त चित्त। सुनो तुम।।६३०।।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः। सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

फलोद्देश को छोड़कर। बढ़त जैसी सरल अवक्र। शाखा चंदन की सुवीर। मलयाचल की।।३१।। अथवा जैसी नागवेल। सार्थक न लगते फल। वैसी नित्यादिका क्रिया सकल। करे जो।।३२।। यद्यपि फलशून्यता। नही उनको विफलता। तब फल को ही पंडुसुता। फल कैसे?।।३३।। अति आदर से कर्म करत। किंतु मैं कर्ता न जानत। मेघवृंद जैसे वर्षत। वर्षाकाल में।।३४।। वैसे ही परमात्मलिंग को। योग्य जो अर्पण करने को।

कर्मकलाप ऐसा करने को। धनंजय।।३५।। तब कालमर्यादा न लांघना। देश शुद्धि भी साधना। अतः शास्त्र दीप से देखना। क्रिया निर्णय।।३६।। वृत्ति एकाग्र करना। चित्त में फलाशा न लाना। हथकड़ी नियमों की रखना। अखंडित।।३७।। निरोध यह सहने कारण। करने उत्तम धैर्य धारण। जीति जागती चिंता अर्जुन। वहन करे जो।।३८।। प्राप्ति होने परमात्मा की। क्रिया करत नित्यादिकी। चिंता देहसुख की। न करे जो।।३९।। आलस्य-निद्रा त्यागकर। स्मरण क्षुधा का न रखकर। सुखावस्था भागे दूर। अंग की जब।।६४०।। तब अधिकाधिक। उत्साह धरे विशेख। अग्नि में सुवर्ण को कस अधिक। यद्यपि भार कम।।४१।। प्रीती यदि साच। तब स्वजीवित माने तुच्छ। अग्निप्रवेश में सती को रोमांच। आवत जैसे।।४२।। तब आत्मा समान प्रिय। प्यारा जो धनंजय। देहकष्ट से क्या होय। खेद उसको?।।४३।। विषय प्रीति नाशत। ज्यों ज्यों देहबुद्धि विस्मरत। त्यों-त्यों आनंद दुगुनत। कर्म में उसका।।४४।। जो कर्म करे इसप्रकार। और कभी किस अवसर। यदि अवस्था ऐसी धनुर्धर। होवे खंडित।।४५।। गिरा गाड़ा पहाड़पर से। न होवे मन में खिन्न उससे। न होवे कर्म रुकने से। उदासीन जो।।४६।। अथवा आदर से आरंभित। निर्विघ्न पूर्णता को प्राप्त। जीत से न फूले किंचित। अहंकार दर्प से।।४७।। ऐसे लक्षण से युक्त। करे कर्म जो सतत। कहना उसको तत्त्वतः। सात्विक कर्ता।।४८।। अब राजस का लक्षण। यही जानो अर्जुन। जग के अशेष अभिमान। को वसती स्थान जो।।४९।।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः। हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।।२७।।

ग्राह का कश्मल मलिन। घर में एकत्रित पूर्ण। या अमंगल को स्थान। स्मशान जैसे।।६५०।। वैसे विश्व में अशेष। सदोष जितने अभिलाष। पाद-प्रक्षालन का स्थान वह पुरुष। होवे सबको।।५१।। जहां फल की प्राप्ति। सुनिश्चित किरीटि। उसी कर्म की प्रीति। रखत मन में।।५२।। संपत्ति जो स्वर्जित। कौड़ी न उसमें से खर्चत। जीव निछावर करत। छिन-छिन अपना।।५३।। कृपण सा राखे स्वधन। दक्ष छिनने परधन। बक जैसा धरे ध्यान। मीन का पार्थ।।५४।। वस्त्र अटकत जाते निकट। झपटत यदि खरोचे अंग बिकट। फल खाते जिव्हा को कष्ट। बेरी के जैसे।।५५।। वैसे वाचा काया मन से। देत दूसरों को दुःख जैसे। स्वार्थ साधने न देखे वैसे। परहित कभी।।५६।। और शरीर से कर्म। सिद्ध करने अक्षम। किंतु न छोड़े मनोधर्म। उद्वेग उसका।।५७।। देखो धतूरे के फल पर। तीक्ष्ण कंटक मादक अंतर। वैसा भीतर बाहिर। अपवित्र जो।।५८।। और कर्म करने उपरान्त। पावे यदि फल पार्थ। हर्षभर से खिल्ली उड़ावत। जग की वह।।५९।। किंतु आदर से किया कर्म। हुआ यदि वह निष्फल सुवर्म। होवे शोकविव्हल मर्म। धिःकारत उसको।।६६०।। ऐसा कर्माचरण। देखो जिसका अर्जुन। वही राजस कर्ता जान। सुनिश्चित।।६१।। अब इसके अनन्तर। जो कुकर्म का आगार। उसको करूं मैं गोचर। तामस कर्ता जो।।६२।।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः। विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।।२८।।

होते अपना स्पर्श। सामने का जलत अशेष। यह न जाने हुताश। जिसप्रकार।।६३।। अपनी तीक्ष्णता से पार्थ। कैसे मरत शस्त्र न जानत। अथवा न जाने कालकूट। कर्म अपना।।६४।। वैसे स्वयं को औरों को। विघातक जो सबको। आदर से हीन क्रियाओं को। पसंद करे जो।।६५।। क्रिया करते समय। परिणाम न जाने धनंजय। चक्रवात में चलित वाय। चेष्टत जैसा।।६६।। कामना और कृति। इनमें न कोई संगति। लगे देखकर उसे किरीटि। सीमा पागलपन की।।६७।। इंद्रिय जो भोग देत। वही लेकर राखे जीवित। बैल नीचे चिपकत। कीलनी जैसी।।६८।। रोने-हँसने न लगे काल। जैसा कोई अज्ञान बाल। वैसा वर्तत उच्छृंखल। धनुर्धर।।६९।। प्रकृति के प्रभाव से। बुरा भला न जाने जैसे। फूले कुकर्म करने से। धुरासमान।।६७०।। लेकर अंग में अहंकार। ईश्वर सम्मुख न नवाये सिर। नित्य रहत टेटर। पहाड़ जैसा।।७१।। विषय तरंग जिसका मन। चोर जैसा आचरण। पण्यांगना सम दृष्टि अर्जुन। विषयी जैसी।।७२।। किंबहुना कपट का। देह ही बना जिसका। जीवन घर जुए का। तिगड्डे पर का।।७३।। उसका समग्र जीवन। साभिलाष भीलों का स्थान। न करना आवागमन। राहपर उस।।७४।। और जिसका भला हुआ। उससे बैर लिया। जैसे पेय का अपेय किया। लवण ने जैसा।।७५।। चंदनसम शीत पदार्थ। अग्नि में यदि प्रक्षेपित। तत्क्षण होकर प्रदीप्त। होवे अग्निरूप।।७६।। अथवा मिष्टान्न मधुर रसील। शरीर में रहते कुछ काल। होकर रहत केवल। मलरूप जैसा।।७७।। वैसी दूसरों की अच्छाई। अंदर जिसके गई। और विपरीत होकर आई।

बाहिर पार्थ।।७८।। गुण सुनकर जो माने दोष। दूध पीकर अशेष। अमृत का करे विष। व्याल जैसा।।७९।। और इहलोक में होवे कीर्ति। होवे परलोक की प्राप्ति। आवे ऐसी उचित कृति-। का अवसर जब।।६८०।। तब उसको निश्चित। घेरत निद्रा अवचित। किंतु दुर्व्यवहार में वहि अलिप्त। रहे दूर।।८१।। द्राक्ष आम्र के दिन में पार्थ। वायस को मुखरोग आवत। या दिन में नेत्र फुटत। उलुक के जैसे।।८२।। वैसे कल्याण काल जब आवे। तब आलस उसको खावे। प्रमाद समय में होवे। कहे जो वह।।८३।। समुद्र पेट में किरीटि। जले अखंड अंगिठी। वैसी सदा रहे विषाद स्थिति। मन में जिसकी।।८४।। लेंडी को अग्नि में धूमावधि-। या अपान अंग में दुर्गन्धि। वैसा विषादग्रस्त जीवितावधि पर्यंत जो।।८५।। कल्पना के उपरान्त। होवे कर्मफल प्राप्त। नये व्यापार का सूत्र डालत। साभिलाष जो।।८६।। अरे! जग के भी विपरीत। इच्छा मन में रखत। करने से न आवे हाथ। तृण भी कभी।।८७।। ऐसा जो समाज में पार्थ। पापपुंज मूर्तिमंत। दिखे जो अव्याहत। तामस कर्ता वह।।८८।। एवं कर्म कर्ता करण। तीनों के त्रिधा चिन्ह। हे सुजन चक्रवर्ती संपूर्ण। दिखाया तुझको।।८९।।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं श्रृणु। प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय।।२९।।

अब अविद्या ग्राम में स्थित। मोह का लपेटकर वस्त्र। संदेह के पहनकर पार्थ। आभूषण सब।।६९०।। आत्म निश्चय को शोभा स्पष्ट। दर्पण देखे नखशिखान्त। प्रवृत्ति भी त्रिधा भारत। बुद्धि की वह।।९१।। अरे! सत्वादि गुणों से इन। किसी एकको तीन

में विभाजन। न किया ऐसी वस्तु कौन। जग में इस?।।९२।। अग्नि पेट में जिसके नाही। काष्ठ ऐसा न जग में कोई। वैसे दृश्यजात में न एकही। न होवे त्रिविध जो।।९३।। अतः तीन गुणों से इन। बुद्धि भयी त्रिगुण। धृति का भी विभाजन। वैसा ही पार्थ।।९४।। वही भेद भिन्न। अलंकृत यथा चिन्ह। कहूं यहां विस्तार से पूर्ण। उनको अब।।९५।। बुद्धि एवं धृति। दो भाग में विभक्त किरीटि। प्रथम रूप करूं सुमति। बुद्धि भेद का।९६।। तब उत्तम मध्यम निकृष्ट। संसार में हे सुभट। प्राणि को आने के त्रिपथ। जग में इस।।९७।। करणीय काम्य निषिद्ध। वे ये तीनों मार्ग प्रसिद्ध। संसार में होवे बद्ध। इन्हीं से जीव।।९८।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

अतः अधिकार संमत। विधि अनुसार से प्राप्त। वह एक ही श्रेष्ठ। नित्य कर्म।।९९।। वही आत्म प्राप्तिफल-। पर रखकर दृष्टि केवल। जैसे का सेविजे जल। तृषार्त ने।।७००।। ऐसी युक्ति से वह कर्म। छुड़ावत जन्मभय से विषम। करावत वही सुगम। मोक्षसिद्धि।।१।। नित्यकर्म जो भला करत। संसारभय से वह छूटत। आचरण से होवे प्राप्त। मुमुक्षुत्व को।।२।। वहां बुद्धि जो ऐसा। करत दृढ़ भरोसा। खड़ा मोक्ष सन्मुख जैसा। पावे निश्चित वह।।३।। नीकी करके प्रवृत्ति को। उभारा जिसने निवृत्ति को। लगाना डुबकी चित्तको। कर्म में ऐसे।।४।। तृषार्त को उदक से जीना। पूर में यदि गिरे तैरना। अंधकूप में गति पाना। सूर्य किरणों से।।५।। पथ्यसहित औषध लेवे। तब रोग जर्जर भी जिये। मीन को आश्रय होवे। जल का यदि।।६।। तब उसका जीवित। निर्भय जानो निश्चित। ऐसे

आचरण से प्राप्त। मोक्ष ही उसको।।७।। यह नित्यकर्म करने को। शुद्ध प्रवृत्ति जिस ज्ञान को। और अकरणीय को। जाने स्पष्ट जो।।८।। ऐसे कर्म काम्यादिक। संसार भयदायक। निषिद्धपन का निःशंक। छींटा जिसमें।।९।। अतः जो अकरणीय। जन्ममरण का जिससे भय। प्रवृत्ति के पीछे पाव-। से हटावे शीघ्र।।७१०।। कर न सके प्रवेश अग्नि में। कूद न सके अथाह पानी में। धर न सके हाथों में। धधकता शूल।।११।। कालिया नाग जब फुत्कारत। बामी में न डालना हाथ। न शक्य प्रवेश पार्थ। व्याघ्रगुफा में।।१२।। वैसे कर्म अकरणीय। देखकर महाभय। उपजत निःसंदेह। बुद्धि में जिस।।१३।। पकाकर परोसा विष। मृत्यु वहां अटल गुड़ाकेश। निषिद्ध कर्म से प्राप्त अशेष। बंध जन्ममृत्यु का।।१४।। तब बंधभय की किरीटि। निषिद्ध कर्म से प्राप्ति। विनियोग जाने निवृत्ति। कर्म की जो।।१५।। ऐसी कार्याकार्य विवेकी। जो प्रवृत्ति-निवृत्ति नाप की। सच्चा झूठा रत्नपारखी। जाने जैसा।।१६।। वैसी कृत्याकृत्य शुद्धि। जानत जो निरवधि। सात्विक कहिये बुद्धि। वही तुम।।१७।।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च। अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

और जैसे बक ग्राम में। क्षीर-नीर एकत्रित उसमें। या अंध अहो-रात्री में। न जाने भेद।।१८।। पुष्प मकरंद जो सेवत। वही काष्ठ कुरेदत। किंतु न होवे व्यर्थ। भ्रमरपन उसका।।१९।। वैसे जो कार्याकार्य। धर्माधर्म रूप कौंतेय। न जानकर करत कर्म। बुद्धि जो।।७२०।। बिना परख से मोती। उत्तम की क्वचित ही प्राप्ति। किंतु न मिले सच्चा

किरीटि। निश्चित यह।।२१।। वैसे अकरणीय अवचट। न प्राप्त तब ही चूकत। अन्यथा भला-बुरा एकवट। माने जो।।२२।। वही चोख विषय में बुद्धि ऐसी। जानो यहां राजसी। आमंत्रित भीड़ जैसी। जनसमुदाय की।।२३।।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।३२।।

और राजा जिस मार्ग से जात। वही आड़मार्ग चोरों को होत। या राक्षस दिन उदित। रात्री में जैसा।।२४।। नाना निदैव को निधान विशेष। भासत काली कोयल की रास। अतः धन रहते अपने पास। वंचित फिर भी वह।।२५।। वैसे अशेष धार्मिक। जिस बुद्धि को लगे पातक। और असत्य जो घातक। माने सत्य जो।।२६।। जिसमें उत्तम अर्थ। समझत उसको अनर्थ। सद्गुण सब निरर्थ। दोष ही मानें।।२७।। किंबहुना श्रुति ने शिरोधार्य। माना जो सत्कार्य। माने विपरीत अकार्य। बुद्धि जो।।२८।। वह किसी को न पूछो किंचित। कहो बेलाशक तामसी पार्थ। क्या कभी दान-धर्मार्थ। उचित रात्री।।२९।। एवं बुद्धि के भेद। तीनों तुझको विशद। निरूपित किये हे स्वबोध-। कुमुद-चंद्र को।।७३०।। यह त्रिविधा बुद्धि किरीटि। निश्चय करे कर्म के प्रति। तब होवे वही धृति। त्रिधा वह।।३१।। उस धृति के भी विभाग। तीन यथा लिंग। कहूं तुझको सुरंग। दो अवधान अब।।३२।।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

उदित जब दिनकर। चोरी सहित थाके अंधकार। अथवा राजाज्ञा से पापाचार। रुकत जैसा।।३३।। अथवा जब पवन गति। होवे अति शीघ्र किरीटि। गर्जनासहित मेघ निश्चिति।

लोपत स्वयम्।।३४।। या होवे अगस्ति का दर्शन। धरे समुद्र तत्काल मौन। चंद्रोदय में सरोजबन। सकुचत जैसे।।३५।। देखो पाँव जो उठाया ऊपर। रख न सके मत्त गज भूमि पर। जब सन्मुख आवे गर्जना कर। सिंह यदि।।३६।। वैसा जब धीर। उपजत अंतर में सुवीर। होत मनादिक व्यापार। तत्क्षण बंद।।३७।। इंद्रिय विषयों की संगत। अपने से छूटत पार्थ। मन-माँ के पेट में प्रवेशत। दशही सब।।३८।। अधोर्ध्व गति छोड़कर। नवप्राणों की गठरी बांधकर। छलांग लगावे धनुर्धर। सुषुम्ना में।।३९।। संकल्प-विकल्प का वस्त्र। मन होवे खुला उतारकर। बुद्धि पीछे रहकर स्थिर। होवे मौन।।७४०।। ऐसा जो धैर्यराज अर्जुन। इंद्रियाँ, मन और प्राण-। का स्वचेष्टा से संभाषण। करत बंद।।४१।। पश्चात सब एकेक। ध्यान के अंतर कक्ष-। में बंदी करत अशेख। युक्ति से पार्थ।।४२।। किंतु परमात्मा चक्रवर्ती के हाथ। जब तक न उनको सौंपत। तब तक न लेकर रिश्वत। धृति धरत जिनको।।४३।। ऐसी जो धृति प्रबल। वही जानिये सात्विक केवल। कहत वह भक्त कृपाल। अर्जुन को ऐसे।।४४।।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन। प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

स्वयं शरीरी होकर पार्थ। स्वर्ग– संसार दो घर में रहत। त्रिवर्गोपाय से सुखसहित। परिपूरित जो।।४५।। वह मनोरथ के सागर–। में धर्मार्थ– काम– पोतपर। करे कर्म का व्यापार। धैर्यबल से जिस।।४६।। विनियोजत मुद्दल कर्म का। चाहे लाभ चौगुन उसका। उद्यम सहे आयास का। धृति से जिस।।४७।। वह धृति राजस। जानो यहां खास। अब

सुनो तामस। तीसरी जो।।४८।।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च। न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।३५।।

लेकर सब अधम गुण। जिनका हुआ निर्माण। कोयल लेकर कालापन। उत्पन्न जैसा।।४९।। जो सामान्य और हीन। उस तम को भी गुणत्व का मान। क्या न कहत संस्कृत में पुण्यजन। राक्षस को भी।।७५०।। देखो ग्रहों में अति जहाल। उसको भी कहत मंगल। सामान्य अर्थ से केवळ। गुण शब्द वैसा।।५१।। सर्व दोषों का आगार। उस तम का निचोड़कर सार। बनाया जिसका शरीर। ऐसा नर जो।।५२।। दबाकर बगल में आलस को। कभी न छोड़े निद्रा को। पोषण करते जैसे पाप को। हरत न दुःख।।५३।। देह धन पर प्रीति। अतः भय न जाये सदा किरीटि। जैसे पाषाण से काठिण्य अति। न दूर कभी।।५४।। और पदार्थजात का स्नेह। अतः शोक का होवे ठाँव। यत्न से भी पाप न जाय। कृतघ्न से जैसा।।५५।। और जीव से असंतोष। बांधा जिससे अहर्निश। अतः मित्र किया विशेष। विषाद ने जिसको।।५६।। दुर्गंध रहे लहसुन में। व्याधि अपथ्यशील में। मैत्री मरणपर्यंत उसमें। विषाद से जैसी।।५७।। तारुण्य वित्त काम–। इनका बढ़ावे संभ्रम। अतः मद ने आश्रय। किया वही।।५८।। अग्नि को न छोड़े तापु। प्रतिशोध को जातिवंत सर्पु। या भय जग का रिपु। अखंड जैसे।।५९।। नातर शरीर को काल। न विस्मरत किसी काल। वैसा रहे अटल। तामस में मद।।७६०।। एवं पांचों ये निद्रादिक। तामस के ठाँई दोष अशेख। जिस धृति ने देख। किये धारण।।६१।। वही जानो पार्था।

तामसी धृति सर्वथा। अखिल विश्व का वह पिता। कहत ऐसे।।६२।। ऐसी त्रिविध जो बुद्धि। कर्मनिश्चय करे आदि। धृति उसकी करत सिद्धि। धनंजय।।६३।। सूर्य से मार्ग गोचर होय। और चलत उसी पर पाँव। किंतु चलना तो कौन्तेय। धैर्य से ही जैसे।।६४।। वैसे बुद्धि करे कर्मदर्शन। कृति करत इंद्रिय साधन। परंतु उसका कारण। धीरता जैसी।।६५।। सो वह तेरे प्रति। कहीं त्रिविध धृति। इसीसे कर्मत्रय की निष्पत्ति। हुई पार्थ।।६६।। यहां फल जो एक उत्पन्न। सुख जिसको कहत अर्जुन। वह भी त्रिविध जान। कर्मवश।।६७।। तब फलरूप वह सुख। गुणानुरोध से त्रिविध देख। करे विचार उसका चोख। स्पष्ट बोल से।।६८।। किंतु चोखापन वह कैसा। शब्दमार्ग से होवे मलिन जैसा। और श्रवण में कर्ण हस्तका वैसा। लागे मैलही।।६९।। अतः जिसके अव्हेर–। से होवे अवधान भी बाहिर। उस जीव से ही सादर। सुनो तुम।।७७०।। ऐसा कहकर देव। त्रिविध सुख का प्रस्ताव। रखा जो उसका निर्वाह। विशद करत अब।।७१।।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं श्रृणु मे भरतर्षभ। अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।३६।।

कहत देव सुखत्रय संज्ञा। बतलाई मैंने प्रतिज्ञा–। पूर्वक वही अब, प्राज्ञा। सुनो तुम।।७२।। तब सुख वह किरीटि। दिखावेगी तेरी दृष्टि। को जो आत्ममिलन से स्थिति। जीव की होय।।७३।। किंतु मात्रा के नाप से। लेना दिव्यौषधि जैसे। या गिलट का करना रूपा जैसे। रस-भावन से।।७४।। लवण का यदि जल करना। तो उस पर तोय डालना। दो चार बार अर्जुना। धीरे धीरे।।७५।। वैसे प्राप्त जब सुखलेश। बढ़ाना वही अभ्यास।

जीवदशा का दुःख विनाश। होवे जिससे।।७६।। वही यहां आत्मसुख। हुआ जो त्रिगुणात्मक। कहूं अब तुझको एकेक। धनुर्धर।।७७।।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्। तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।३७।।

चंदन के तने पर। सर्प रहत भयंकर। अथवा गड़े निधान पर। पिशाच जैसे।।७८।। अरे! स्वर्ग के भोग सुघट। प्राप्ति को कठिन याग संकट। या बालपन का अति बिकट। त्रासकाल।।७९।। अग्नि दीपन की सिद्धि। सहना धूम आदि। या सेवन करने औषधि। होवे जिव्हा कष्ट।।७८०।। उसीप्रकार पार्थ। करना जिसको सुख प्राप्त। यमदम का भोगना पड़त। समुदाय विषय।।८१।। जलाकर देहादिक की प्रीति। प्रखर वैराग्य अग्नि से किरीटि। स्वर्ग संसार की कांटी। उखाड़त स्वयम्।।८२।। विवेक श्रवण रुक्ष। जहां व्रताचरण कर्कश। करते छेदन अशेष। बुद्ध्यादिक का।।८३।। सुषुम्ना मार्ग से अर्जुन। संचरना अपना प्राण। ऐसे प्रारंभ से ही कठिन। महाकष्ट यहां।।८४।। सारसयुग्म को जो बिछुड़त। स्तन वे वत्स को खींचत। पात्र पर से भिखारी को घसीटत। होवे दुःख तब।।८५।। माता के सामने से बालक। काल का ग्रास एकलौता एक। अथवा मीन को उदक। बाहर करत।।८६।। वैसे विषयों का घर। इंद्रियों को छोड़ते समग्र। युगान्तसम दुःख घोर। विराग सहत।।८७।। ऐसा जिस सुख का प्रारंभ। होवे काठिण्यमय क्षोभ। क्षिराब्धि मंथन से लाभ। अमृत का जैसा।।८८।। प्रथम वैराग्य गरल। धैर्य शंभु सम्मुख करे गल। तब ही ज्ञानामृत का सकल। पावेगा सुख।।८९।। द्राक्ष का खट्टापन।

अग्निशिखा से असह्य जान। वही परिपक्व जब अर्जुन। मधुर अति।।७९०।। वह वैराग्यादि वैसे। पूर्ण जब आत्मप्रकाश से। वैराग्य सहित नष्ट जैसे। अविद्याजात।।९१।। तब सागर में गंगा जैसी। मीनत आत्मा में बुद्धि वैसी। अद्वयानंद की आपैसी। खुलत खान।।९२।। ऐसे वैराग्य जब प्रखर। होवे आत्मरूप में स्थिर। वही जानिये साचोकार। सात्विक सुख।।९३।।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।३८।।

इंद्रियों का विषय सहित। मेल होवे अति निकट। दोनों तीर छोड़कर उछलत। सुख जो पार्थ।।९४।। अधिकारी करे गांव में प्रवेश। आवे जैसा उत्साह खास। या ऋण करके विस्तारत विशेष। विवाह कार्य।।९५।। या रोगी के जिव्हा को जैसी। केला शर्करा मधुरसी। अथवा बचनाग की वैसी। मधुरता प्रथम।।९६।। प्रारंभ में साहु– चोर की मैत्री। या बाजारू कलत्र की प्रीति। या लाघविया का किरीटि। विनोद विचित्र।।९७।। वैसे विषयेन्द्रिय दोष से जो सुख। जीव को प्रथम सुखदायक। जैसे धड़के अन्तमें पत्थरपर प्राणघातक। भ्रमित हंस।।९८।। संचित सब नष्ट। जीवित होवे व्यर्थ। सुकृत धन की छूटत। गाँठ पार्थ।।९९।। और भुक्त विषय सब ही। स्वप्न जैसे है और नाहीं। खरकना हानी के खाई में ही। शेष पार्थ।।८००।। ऐसा जो ऐहिक सुख। परिणाम जिसका विपत्कारक। परत्र में विषसम बाधक। धनुर्धर।।१।। जो इंद्रियजात का दुलार। करत धर्म उद्यान जलाकर। भोगत विषयसुख। अपार। पंडुकुमर।।२।। जहां पावत बल। होवे

नरक प्राप्ति निखिल। जिस सुख में अपाय केवल। परत्र में ऐसा।।३।। विष का नाम यदि मधुर। किंतु अंत में मारक ही खर। वैसे जो आदि में मधुर। अंत में कटु।।४।। पार्थ वह सुख सर्वथा। जानो बना हुआ रजका। अतः न स्पर्शना उसका। अंग कभी।।५।।

यदग्रे चानुबन्ध च सुखं मोहनमात्मनः। निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।।३९।।

और अपेय के पान से। अखाद्य भोजन से। स्वैर स्त्री संग से। होवे सुख जो।।६।। या औरों को मारकर। नातर परधन अपहार कर। सुख जो उपजत सुवीर। भाट स्तुती से।।७।। जो आलस्य से पुष्ट। जो निद्रा में अनुभूत। निजधर्ममार्ग साद्यंत। विस्मरत जिससे।।८।। वह सुख हे पार्था। तामस जानो सर्वथा। न कहूं बहुत यह कथा। सुख न संभवत जहां।।९।। ऐसे मूल कर्म भेद से। होवे फलसुख भी त्रिधा जैसे। वह यथाशास्त्र वैसे। किया गोचर तुझको।।८१०।। वह कर्ता, कर्म, कर्मफल। त्रिपुटी यह एकहि केवल। बिन इस न कुछ स्थूल–। सूक्ष्म जग में।।११।। गुंफित पट जैसा तंतुसे। यह त्रिपुटि भी वैसे। ओतप्रोत त्रिगुण से। धनुर्धर।।१२।।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।।४०।।

प्रकृति के सत्वादि त्रिगुण। इनका न जिनको बंधन। स्वर्ग-पृथ्वी में नहीं अर्जुन। वस्तु ऐसी।।१३।। कम्बल नहीं ऊन बिन। गोला न बने मिट्टी बिन। या न उठत जलबिन। कल्लोल कभी।।१४।। वैसे गुण विरहित। सृष्टिरचना कही घटत। न ऐसा प्राणिजात। सुनिश्चित।।१५।। अतः यह सकल। तीनों गुणों का ही केवळ। निर्माण हुआ निखिल।

जानो ऐसे।।१६।। त्रिगुण से ही देव होवे। गुण से ही लोक त्रिपुटी पावे। और चतुर्वर्ण को आवे। विभिन्नता जग में।।१७।।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।४१।।

वे ही चारों वर्ण। पूछोगे यदि कौन-कौन। तब उनमें मुख्य ब्राह्मण। धुरंधर।।१८।। इतर क्षत्रिय वैश्यवर्ण। वे भी ब्राह्मण समान। कारण सब विधिविधान–। को योग्य वे।।१९।। चौथा वर्ण शूद्र। जिसको नहीं वेदाधिकार। वृत्ति जिसकी अधीन समग्र। वर्णत्रय के।।८२०।। सेवावृत्ति भाव से पार्थ। ब्राह्मणादिक के आवे निकट। अतः शूद्र को भी मानत। वर्ण चौथा।।२१।। जैसे पुष्प के सहित। तंतुभी सूंघत श्रीमंत। वैसी द्विजसंग से स्वीकारत। श्रुति शूद्र को।।२२।। ऐसी ऐसी यह पार्था। चतुर्वर्ण की व्यवस्था। करूं कर्ममार्ग का तत्त्वता। रूप अब।।२३।। जिन गुणों से वे वर्ण चार। तजकर जन्म-मृत्यु का फेर। प्रविष्ट होत धनुर्धर। परमेश्वर पद में।।२४।। जिस आत्मप्रकृति से। सत्वादि इन गुणों से। चारों को चतुःस्थान में जैसे। बाटा कर्म को।।२५।। पूंजी बाप की पुत्र को। मार्गदर्शन सूर्य का पथिक को। अथवा व्यापार सेवक को। स्वामी का जैसा।।२६।। वैसे प्रकृति के गुण से। कर्म का विस्तार उनसे। किया इन चार वर्ण में जैसे। धनुर्धर।।२७।। वहां सत्व स्व-अंग से स्वयम्। अनुपात से सम विषय। ब्राह्मण क्षत्रिय सुमहिम!। सृजत दोनों।।२८।। सत्वसहित रजोगुण। उससे उत्पन्न वैश्यवर्ण। रजसहित तमोगुण–। से हुआ शूद्र।।२९।। ऐसे एक ही जो प्राणिवृंद। उसका चतुर्वर्णधा भेद। त्रिगुण ने ही हे

प्रबुद्ध!। किया जानो।।८३०।। तब स्वतः ने ही रखा जैसे। दिखत सहज दीपाधार से। गुण भिन्न कर्म वैसे। दिखावे शास्त्र।।३१।। वही अब कौन-कौन। वर्ण– विहित का लक्षण। कहूं तुझको करो श्रवण। सौभाग्यनिधि तुम।।३२।।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।४२।।

सर्वेंद्रियों की वृत्ति। लेकर स्वहस्त में किरीटि। बुद्धि आत्मा से मिले एकांती। प्रिया जैसी।।३३।। बुद्धि का उपरम। उसको संज्ञा शम। वह गुण उपक्रम। कर्म का जिस।।३४।। और जो बाह्येंद्रिय समूह को। दंडत विधिदंड से उनको। कभी अधर्म पथ को। जाने न दे।।३५।। ऐसे शम का सहायकर्ता। दम गुण दूजा पार्था। चलावत इंद्रियोंको सर्वथा। स्वधर्म से।।३६।। छटी के रात में अर्जुना। दीप को न बुझने देना। वैसे ईश्वर को स्मरना। अखंडित।।३७।। उसका नाम तप। वह तीसरे गुण का रूप। चौथा शौच भी निष्पाप। द्विविध यहां।।३८।। मन शुद्ध भाव से पूरित। शरीर सत्कर्म से भूषित। ऐसे सबाह्य जीवित। सुंदर जो।।३९।। उसको नाम शौच पार्था। ब्रह्मकर्म का गुण चौथा। और पृथ्वीसम सर्वथा। सहे सब जो।।८४०।। सुनो वह क्षमा पांडवा। गुण जहां पांचवा। सप्त सुरों में सुहावा। पंचम जैसा।।४१।। ओघ यद्यपि वक्र। गंगा ऋजु ही सर्वत्र। ईख कांड में वक्र। मधुरता एक।।४२।। वैसे विषम भी जीवों से। बरतना उजुकार से। वह आर्जव षष्टम वैसे। गुण जहां का।।४३।। माली पानी से प्रयत्नपूर्वक। सींचत वृक्षमूल देख। जानत फलप्राप्ति से अशेख। सार्थकता जैसे।।४४।। शास्त्राचार से पार्थ। ईश्वर ही एक

करना प्राप्त। ऐसा जानना निश्चित। यहां ज्ञान वह।।४५।। ब्रह्मकर्म में वह ज्ञान। सो जान सातवा गुण। और अब देखो विज्ञान–। का रूप जो।।४६।। सत्व शुद्धि जब होवे पूर्ण। शास्त्र या ध्यान बल से अर्जुन। होवे ईश्वर में विलीन। निष्टंक बुद्धि।।४७।। ऐसा यह विज्ञान। ब्रह्मकर्म में आठवा गुण। और नवम सो जान। आस्तिक्यभाव।।४८।। राजमुद्रा प्राप्त जिसको। मान्यता देवे लोक उसको। वैसे स्वीकारत जिस मार्ग को। शास्त्र सब।।४९।। उस मार्ग का करना आदर। कहत आस्तिक्य उसको सुवीर। कर्म होवे सार्थक समग्र। नवम् गुण से इस।।८५०।। एवं नव ही शमादिक। गुण जहां निर्दोख। कर्म जानो स्वाभाविक। ब्राह्मण का वह।।५१।। यह नव गुणों का रत्नाकर। इन नवरत्नों का हार। धारण करे सूर्य निरन्तर। प्रकाश को जैसा।।५२।। चंपा निजपुष्प से शोभित। चंद्र से चंद्रिका प्रकाशित। स्वयं के सौरम्य से चर्चित। चंदन जैसा।।५३।। वैसे नव गुण नग। आभूषण ब्राह्मण का अव्यंग। कभी न छोड़त अंग। ब्राह्मण का वे।।५४।। अब क्षत्रिय को जो उचित। वही कर्म कहूं संक्षिप्त। सुनो बुद्धि सर्वस्व से पार्थ। नीका तुम।।५५।।

शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।४३।।

विश्व यह प्रकाशने को। सहाय न चाहिये सूर्य को। किंवा न अपेक्षित सिंह को। सहायक कोई।।५६।। ऐसा स्वयंभु जो बलिष्ट। सहाय बिन उद्भट। वह शौर्य जहां श्रेष्ठ। प्रथम गुण।।५७।। सूर्य जब प्रकाशित। कोटी नक्षत्र होत लुप्त। किंतु न लोपत चंद्रसहित। नक्षत्र से वह।।५८।। अपने गुण प्रभाव से अद्भुत। सब जग को करे विस्मित।

किंतु न करे स्वयं क्षोभ किंचित्। किसी से कभी।।५९।। वह अलौकिक तेजा। जिस कर्म का गुण दूजा। और धैर्य सो जानो तीजा। गुण जहां का।।८६०।। भला टूट पड़े आकाश। बुद्धि के चक्षु मानस–। को न ढ़ांकत ऐसा विशेष। धैर्य जहां।।६१।। पानी कितना भी सखोल। चीर के ऊपर खिलत कमल। ऊंचाई में जीते पदार्थ सकल। आकाश जैसा।।६२।। वैसी विविध अवस्था। प्राप्त जीतकर पार्था। फलरूप मार्ग को सर्वथा। खोजे बुद्धि जो।।६३।। वही दक्षत्व चोख। जहां चौथा गुण देख। और युद्धकौशल अलौकिक। पांचवा गुण वह।।६४।। सूर्य फूल पार्था। सूर्याभिमुख सर्वथा। वैसे शत्रु सम्मुख वीरता–। से धावे जो।।६५।। गर्भवती प्रयत्नपूर्वक जैसी। शय्यासमागम टारे वैसी। रिपु को पीठ न दिखावे तैसी। समरांगण में।।६६।। क्षत्रिय आचार में विशिष्ट। पांचवा गुणेंदु यह प्रशस्त। चारों पुरुषार्थ में श्रेष्ठ। भक्ति जैसी।।६७।। जैसे वृक्ष पुष्प फल। सबको देत सकल। किंवा सुगंध देत कमल। उदारता से।।६८।। अपनी चाहका नाप जितना। चांदनी सुख लेना उतना। याचक के संकल्प से देना। दान जो।।६९।। वह अमर्याद दान। जहां छटवा गुणरत्न। और वेदाज्ञा को एकायतन। होना जो।।८७०।। अपने अवयव को पोषणकर। काम जैसे लेना भरपूर। वैसे प्रेम से जग पालकर। भोगना जो।।७१।। उसको नाम ईश्वरभाव। जो सब सामर्थ्यों का ठाँव। वह सब गुणों का राव। सातवा जहां।।७२।। इसविध जो शौर्यादिक। इन सात गुणोंसहित विशेख। अलंकृत सप्त ऋषियों से देख। आकाश जैसे।।७३।। ऐसा सप्तगुणी विचित्र। कर्म जो जग में पवित्र।

वह जानो सहज क्षात्र–। धर्म क्षत्रियों का।।७४।। वह क्षत्रिय नहीं नरु। वह तो साच सुवर्ण का मेरु। अतः स्वर्ग को आधारू। सप्त गुण समुद्र।।७५।। या सप्तगुणार्णव से पार्थ। क्षात्र क्रिया सुंदर वेष्टित। क्रिया न यह पृथ्वी श्रीयुक्त। भोगत वह।।७६।। या सप्तगुण प्रवाह से इन। यह क्रियागंगा जग में अर्जुन। क्षत्रिय महोदधि के अंग में पूर्ण। विलसत जैसे।।७७।। अब बहुत हुआ वर्णन। ये शौर्यादि सप्तगुणात्मक पूर्ण। क्षत्रियों का कर्म जान। नैसर्गिक।।७८।। अब वैश्य जाति–। को उचित कर्म महामती। सुनो तुम सांप्रति। बतलाऊं मैं।।७९।।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।

सुनो भूमि बीज हल धनुर्धर। इस मुद्दल का आधार। लेकर लाभ अपार। उठाना जो।।८०।। किंबहुना कृषि से जीना। गोधन संवर्धन करना। या समर्घ लेकर बेचना। महर्घ वस्तु।।८१।। ऐसे ये कर्म तीन। वैश्य को करना पालन। यह उनका धर्म पूर्ण। स्वाभाविक।।८२।। और वैश्य क्षत्रिय ब्राह्मण। द्विज जाति के ये तीन वर्ण। इनका जो शुश्रूषण। शूद्र धर्म वह।।८३।। द्विजों की सेवाबिन। कर्म नाही शूद्र को अन्य। किया ऐसा कर्म निरूपण। चतुर्वर्णोचित।।८४।।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।४५।।

अब यही कर्म हे विचक्षण!। उचित वर्म को भिन्न-भिन्न। शब्दादिक विषय ही युक्त जान। कर्णेंद्रिय को जैसे।।८५।। नातर जलदच्युत। पानी को सरिता ही उचित। और

सरिता को उचित। स्थान सिंधु ही।।८६।। वैसे कर्मानुसार पार्थ। स्वभाग्य से जो प्राप्त। गोरे अंग को सहज प्राप्त। गौरवर्ण जैसा।।८७।। वही कर्म स्वभावप्राप्त। आचरण को शास्त्रोक्त। बुद्धि करना सुस्थित। वीरोत्तम तुम।।८८।। अपने लिये रत्न। लेना पारखी से ही अर्जुन। वैसे करना स्वकर्माचरण। शास्त्रविधि से ही।।८९।। अपने ही यदि लोचन। किंतु वस्तु न दिखे दीपबिन। क्या उपयोग मार्ग मिले बिन। पाव रहकर भी।।८९०।। अतः ज्ञातिवश साचोकार। स्वाभाविक जो अधिकार। वह स्वयं यथाशास्त्र गोचर। करना युक्त।।९१।। गृह में ही स्थित निधान। दिखावत दीप नेत्र को अर्जुन। तब लेने में क्या विघ्न। आवे वहां?।।९२।। स्वभाव से जो भाग्य में प्राप्त। और शास्त्र को भी संमत। वह कर्म कहा जो विहित। आचरत जो।।९३।। किंतु आलस छोड़कर। फलकामना तजकर। तन मन धन लगाकर। करे कर्म जो।।९४।। प्रवाह में गिरा पानी। भिन्न गति न उसने जानी। होवे शास्त्र प्रमाणित से प्राणी। व्यवस्थित।।९५।। इस प्रकार पार्थ!। करे स्वयं जो कर्म विहित। वैराग्य द्वार में वह स्थिर होत। निकट मोक्ष के जो।।९६।। अकर्म और निषिद्ध।। होने न दे इनसे संबंध। अतः भवभय विरुद्ध–। से मुक्त वह।।९७।। ठेंगुर चंदन का भी पार्थ। कोई न पांव में डालत। वैसे काम्यकर्म न देखत। कौतुक से भी कभी।।९८।। इतर नित्य कर्म सकल। फलत्याग से किये विफल। अतः मोक्षसीमा निकट सफल। पहुंचे वह।।९९।। इसविध होते कर्म का निरसन। छूटे शुभाशुभ संसार बंधन। वैराग्य मोक्षद्वार में अर्जुन। होवे खड़ा वह।।९००।। सीमा सकल भाग्य की।

निश्चिति मोक्ष लाभ की। समाप्ति कर्म मार्ग की। होवे जहां।।१।। जिसको मोक्षफल दिया जामीन। जो सुकृत तरु का सुमन। उस वैराग्य पर रखे चरण। साधक भ्रमर जैसा।।२।। आत्मज्ञान का सूर्योदय। सूचित करे अरुणोदय। वैसा वह परमवैराग्य। प्राप्त नियत कर्म से।।३।। किंबहुना आत्मज्ञान। जिससे हस्तगत वह निधान। करे धारण वैराग्य दिव्यांजन। जीव से वह।।४।। ऐसे कर्म शास्त्र विहित। पालन करते अव्याहत। मोक्ष की योग्यता पंडुसुत। प्राप्त उसको।।५।। यह विहित कर्म। मानो अपना जीव प्राण। यही परमसेवा पूर्ण। मुझ सर्वात्मक की।।६।। देखो समस्त भोगसहित। प्रिय पति संग पतिव्रता क्रीड़त। जानो उसीका नाम निश्चित। तप उसका।।७।। बालक को माता बिन। कौनसा और जीवन। अतः उसी की सेवा अर्जुन। परम धर्म उसका।।८।। पानी समझकर गंगा को। न छोड़कर मीन उसको। सर्वतीर्थ सहवास को। पावन सहज।।९।। वैसे अपने विहित कर्मबिन। उपाय नहीं कोई अन्य। होवे इस भाव से करते आचरण। भार जगन्नाथ को।।९१०।। अरे! जिसका जो विहित। वही ईश्वर का मनोगत। इसलिये करके निभ्रांत। प्राप्त वह।।११।। दासी राजा को होते मान्य। पावे स्वामिनी की योग्यता अर्जुन। राजकाज को करे शीश अर्पण। पावे पारितोषिक वह।।१२।। पालना स्वामी का मनोभाव। न चूकना परमसेवा कौंतेय। और सब कर्म वह। वाणिज्य केवल।।१३।।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः।।४६।।

विहित कर्म का आचरण। वह ईश्वर इच्छा का पालन। जिससे हुआ उत्पन्न। भूतमात्र

सब।।१४।। जो अविद्या का चिथड़ा पार्थ। लपेटकर जीव गुड़िया को संतत। अहंकार रज्जु से नचावत। त्रिगुणात्मक।।१५।। जिससे जग यह समस्त। अंतर्बाह्य पूर्ण व्याप्त। तेज से भरा ओतप्रोत। दीप जैसा।।१६।। उस सर्वात्मक ईश्वर–। को स्वकर्म-कुसुमों से वीर!। पूजा करते होवे अपार। संतोष पार्थ।।१७।। ऐसी होते स्वकर्मपूजा। संतुष्ट होकर आत्म राजा। प्रसाद वैराग्य सिद्धि का साजा। देवे उसको।।१८।। जो वैराग्य दशा होवे प्राप्त। लगे ईश्वर का ध्यान भारत!। अन्य सब भोग भासत। वमन सम।।१९।। प्राणनाथ का होते विरह। होवे विरहिणी को जीवित भी दुःसह। वैसे संसार सुख सब होय। दुःखदायक।।९२०।। न होवे यदि सम्यक ज्ञान। ध्यान से ही तन्मयता पूर्ण। उपजत ऐसा बोध संपूर्ण। स्वकर्म में।।२१।। अतः मोक्ष लाभार्थ। मन में उत्कट इच्छा पार्थ। उसने स्वधर्म आस्थासहित। आचरना नीका।।२२।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।४७।।

अरे! अपना यह स्वधर्म। आचरण को यदि विषम। किंतु सोचो उसका परिणाम। अंतिम फल जो।।२३।। कटुनीम का सेवन। यदि अपना सुख साधन। तब न मानो उसका कटुपन। असह्य तुम।।२४।। फलने के पूर्व पार्थ। देखो कर्दली तो आस टूटत। ऐसे में उखाड़त तो कैसा प्राप्त। उत्तम फल उससे।।२५।। वैसे स्वधर्म आचरण। दुष्कर मानके त्यजा अर्जुन। तब मोक्ष सुख पूर्ण। जानो गया दूर।।२६।। देखो अपनी माय। कुब्जा यदि होय। प्रेममय उसका हृदय। न वक्र कभी।।२७।। और दूसरं की माता। माना रंभा से

सुंदर पार्था। बालक चित्तको न सर्वथा। भाये वह।।२८।। अरे! पानी से बहुत बढ़कर। गुण घी के अंदर। किंतु क्या मीन के लिये सुखकर। होवे वह।।२९।। समस्त जग को जो विष। वह विषकीटक को पीयुष। गुड़ जो सबको मधुर विशेष। मरण उसको।।९३०।। अतः विहित कर्म जो जिसका। पाश टूटे उससे संसार का। यदि कठोर भी पालन उसका। करना वही।।३१।। परधर्म श्रेष्ठ मानकर। करना उसका आचार। पाँव का चलना मस्तक से सुवीर!। किया जैसा।।३२।। अतः कर्म अपना। जातिस्वभाव से प्राप्त अर्जुना। पालन कर मुक्ति पाना। कर्म बंध से।।३३।। अतः स्वधर्म का स्वीकार। और परधर्म का परिहार। यही नियम धनुर्धर। क्यों न करना?।।३४।। जब तक न होवे आत्मज्ञान। तब तक न छूटे कर्माचरण। और कर्म वहां प्रथम अर्जुन। कष्ट निश्चित।।३५।।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।४८।।

अतः अशेष कर्म में। आयास यदि आरंभ में। तब कहो स्वधर्माचरण में। दोष क्या?।।३६।। ऋजुमार्ग से चलना। तब पाँव ही थकाना। या आड़मार्ग से दौड़ना। अर्थ एकही।।३७।। कंकड या कलेवा पार्थ। भार एक ही यथार्थ। किंतु विश्राम में जो उपयुक्त। लीजे वही।।३८।। वैसे तो कण और तूष। कूटने में श्रम सरिस। श्रम रंधन में श्वानमांस। वही हवि में।।३९।। दधि या जल का मंथन। व्यापार एकहि विचक्षण। कोलू में बोलू या तिलहन। श्रम समान।।९४०।। नित्य आहुति देना। या पाक को आगी सिलगाना। फूंकते धुआं सहना। आवश्यक ही।।४१।। धर्मपत्नी या बाजारू अर्जुन। खर्च

पोषण को समान। तब क्यों दाग अन्याय्यवर्तन–। का लगावे अंग को।।४२।। पीठ में जब लागे वार। न चूके मरण अनिवार। तब क्यों न सामने से प्रहार। शत्रु को कीजे।।४३।। कुलस्त्री जावे पर घर। और डंड़े का खावे मार। तब स्वपति का परिहार। व्यर्थ ही न सब?।।४४।। वैसे कर्म करते स्वेच्छा का। कष्ट न चूकत प्रारब्ध का। तब क्यों विहित कर्म का। माने कष्ट?।।४५।। जिससे प्राप्त अमरत्व। पाने को वह थोड़ासा अमृत। क्यों न करना समर्पित। सर्वस्व अपना।।४६।। क्यों मोल देकर। विष पीना खरीदकर। जहां आत्महत्या का पाप लेकर। मरना निश्चित।।४७।। वैसे इंद्रियों का करके दंडन। बिताकर आयुष्य के दिन। पाप संचय करके क्या दुःख बिन। फल अन्य।।४८।। अतः करना स्वधर्म। जो नष्ट करत श्रम। उचित देगा परम। पुरुषार्थ राज।।४९।। संकट यदि आवे घोर। न बिसारिये सिद्ध मंत्र। वैसा स्वधर्म यदि दुष्कर। न छोड़ो कभी।।९५०।। नौका न छोड़ो उदधि में दिव्यौषधि महारोग में। विवेक से न त्यागो जग में। स्वकर्म पार्थ।।५१।। तब यही हे कपिध्वजा!। करके स्वकर्म की महापूजा। छोड़कर तम-रज देवराजा। संतोषत स्वयम्।।५२।। अपने मानस में अर्जुन। बढ़ाकर सत्वगुण। दिखावे कालकूट समान। भव-स्वर्ग दोनों।।५३।। वैराग्य यही संसिद्धि निरूपित तुझको आदि। करावे उसकी उपलब्धि। स्वकर्म पार्थ।।५४।। जीतते वैराग्य भूमि किरीटि। पुरुष की सर्वत्र जो स्थिति। पश्चात लाहे पूर्णत्व प्राप्ति। सो कहूं अब।।५५।।

तब देहादिक यह संसार से। रचा सब जाल जैसे। न कसे वागुरा से। वायु जैसा।।५६।। परिपाक के काल। फल को डंठल या डंठल को फल। न धरे वैसा स्नेह सकल। होवे अनासक्त।।५७।। पुत्र वित्त कलत्र। यदि होवे स्वतंत्र। अपना न कहे पात्र। विष का जैसे।।५८।। विषयाग्नि में जली पार्थ। बुद्धि होकर परावृत्त। पीछे पाँव लेकर एकान्त। प्रविष्ट हृदय में।।५९।। तब दासी स्वामी भय से। अवज्ञा न करे स्वैरपन से। न होवे बुद्धि अंतःकरण प्रभाव से। बहिर्मुख जैसी।।९६०।। वैसे ऐक्य के मुट्ठि में पार्थ। दृढ़ पकड़कर चित्त। आत्मस्थान में केन्द्रित। करे जो।।६१।। तब सब स्पृहा दृष्टादृष्ट। संपूर्ण होवे नष्ट। दबाके अग्नि जैसे धूम्र रहत। वैसे पार्थ।।६२।। नियमबद्ध करत चित्त। वासना नाशत अकस्मात। किंबहुना दशा वासनातीत। प्राप्त उसको।।६३।। अन्तर का विपरीत ज्ञान। अस्तंगत सर्वथा अर्जुन। उदित होवे सत्यज्ञान। उसके ठाँयी।।६४।। संचित पानी न रहे खर्च से। नष्ट भोग प्राचीन जैसे। और नये क्रियमाण से। न उत्पन्न कुछ।।६५।। ऐसी कर्मसाम्यदशा। होवे जहां वीरेशा। श्रीगुरु अपने से सहसा। भेटत तब।।६६।। रात्रि के चारों प्रहर। समाप्त जब तदनंतर। आवे जैसा तमारि भास्कर। चक्षु सम्मुख।।६७।। पाकर फल का छौर पार्थ। बढ़ना कदली का रुकत। श्री गुरु भेंट बुभुत्सु की रोकत। कर्मगति वैसे।।६८।। आलिंगत जब पूर्णिमा। कला को छोड़े चन्द्रमा। वैसे होवे वीरोत्तमा। गुरु कृपाबल से।।६९।। तम अबोध संपूर्ण। गुरुकृपा से नाशत पूर्ण। जैसे निशासहित तम

अर्जुन। होवे नष्ट।।९७०।। कर्ता कर्म कार्य त्रिपुटी। नष्ट अविद्यासहित किरीटि। मारते गर्भिणी निश्चिति। मरे गर्भ जैसा।।७१।। वैसे अबोधसहित। लोपत सब क्रिया जात। ऐसा समूल संभवत। संन्यास यह।।७२।। इस मूल अज्ञान का संन्यास। लुप्त करत सकल दृश्य। तब जानने को शेष। स्वरूप केवल।।७३।। जागृत जब तत्क्षण। स्वप्न के उस दह से अर्जुन। खींचने अपने को आपुन। क्या आवश्यक यत्न?।।७४।। मैं अज्ञानी, होगा मुझे ज्ञान। न रहे उसको यह दुःस्वप्न। हुआ ज्ञात ज्ञेयबिन। चिदाकाश वह।।७५।। प्रतिबिंबसहित दर्पण। दूर हटाते अर्जुन। दृष्टा दृश्यपन बिन। होवे जैसा।।७६।। वैसा गया जब अज्ञान। उसने ज्ञान भी किया विलीन। तब शेष क्रियाशून्य। चिन्मात्र ही।।७७।। स्वभावता ही वहां। नहीं कोई भी क्रिया। अतः प्रवाद उसको धनंजया। नैष्कर्म्य ऐसा।।७८।। वह अपना स्वयं स्वतः। मूलरूप होकर रहत। वायुलोप से तरंग होत। समुद्र जैसा।।७९।। वैसे न होना कोई कर्म। वही नैष्कर्म सिद्धि सुवर्म। सब सिद्धियों में परम। सिद्धि यही।।९८०।। चढ़ाना देवालय के ऊपर कलश। या गंगा का समुद्र में प्रवेश। सोना उतरना बावन कश। अंतिम स्थिति यह।।८१।। वैसे अज्ञान अपना। ज्ञान से ही नष्ट करना। पश्चात वह भी निगलना। ऐसी दशा जो।।८२।। उसके उपरान्त कोई। प्राप्तव्य अन्य नाही। अतः कहिये उसीको ही। परम सिद्धि पार्थ।।८३।।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे। समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

किन्तु यही आत्मसिद्धि। जो कोई भाग्यनिधि। श्रीगुरुकृपालब्धि—। काल में पावे।।८४।।

उदित होते ही दिनकर। प्रकाशरूप होवे अंधेर। या दीपसंग कर्पूर। होवे दीप ही।।८५।। अथवा लवण का कण। मिले पानी में तत्क्षण। पानी ही होवे आपुन। धनंजय।।८६।। किंवा निद्रा से किया जागृत। स्वप्नसहित नींद व्यर्थ। होकर स्वरूप को प्राप्त। होवे जैसा।।८७।। वैसे जिस किसीको दैवसे। त्वरित गुरुवाक्य श्रवण से। द्वैत निगलकर प्राप्त जैसे। आत्मस्थिति स्थिर।।८८।। तब उसने कुछ करना। किसने यह कहना। आकाश का आनाजाना। संभव कैसा?।।८९।। अतः उसको कोई। त्रिशुद्धि कर्म नाहीं। किंतु स्थिति यदि ऐसी ही। प्राप्त न जिसको।।९९०।। जहां-जहां सद्गुरु मुख से अर्जुन। श्रवण करते ही बोधवचन। ब्रह्मरूप होवे तत्क्षण। विरला ही जानो।।९१।। वैसे स्वकर्म वन्हि में पार्थ। काम्य निषिद्ध ईंधन डालत। रजतम दोनों करत। भस्म प्रथम।।९२।। पुत्र, वित्त, परलोक। इन तीनों का अभिलाख। जिस गृह में होवे पाईक। धनुर्धर।।९३।। विषयभोग करने स्वच्छंद से। इंद्रिया जो लिप्त पापसे। उनको प्रत्याहार तीर्थोदक से। धोई जिसने।।९४।। और स्वधर्म का फल। ईश्वरार्पण करके सकल। प्राप्त किया अचल। वैराग्यपद।।९५।। आत्म साक्षात्कार की पार्थ। पात्रता ज्ञान की जितनी उपयुक्त। वह संपूर्ण सामग्री प्राप्त। की जिसने।।९६।। और ऐसे समय अर्जुन। हुआ सद्गुरु का दर्शन। दिया उन्होंने सम्यग्ज्ञान। अशेष उसको।।९७।। किन्तु औषध लेते तत्क्षण। क्या प्रकृति होवे निरोग पूर्ण। या उदित जब दिन। माध्यान्ह होवे?।।९८।। सुक्षेत्र और सही वृष्टि। बोया बीज भी उत्तम किरीटि। होवे अपार फलप्राप्ति। किन्तु यथावकाश ही।।९९।।

मिला मार्ग प्रांजल। हुआ सुसंगत का मेल। किन्तु चाहिये कुछ काल। गंतव्य तक।।१०००।। वैसे हुआ वैराग्य लाभ पार्थ। और सद्गुरु भी प्राप्त। हिय में अंकुर प्रस्फुटित। विवेक का।।१।। तब ब्रह्म एक सत्य किरीटि। बाकी सब असत्य भ्रांति। यही दृढ़ प्रतीति। स्थिर अन्तर में।।२।। किंतु वही जो परब्रह्म। सर्वात्मक सर्वोत्तम। मोक्ष प्राप्ति का भी काम। न शेष जहां।।३।। साध्य साधक साधन। निगलत जो अवस्था तीन। उस ज्ञान का भी लय पूर्ण। होवे वस्तु में जिस।।४।। ऐक्य का एकपन नष्ट। आनंद अंश भी न अवशिष्ट। न अन्य शेष कैवल्य जो।।५।। उस ब्रह्म में ऐक्यपन से। ब्रह्म ही होकर रहत जैसे। वह प्राप्त स्वाधिकार क्रम से। केवल पार्थ।।६।। तब क्षुधित सम्मुख विशेष। परोसे जैसे षड्रस। तृप्ति प्रति ग्रास। लाहे जैसी।।७।। वैसे स्नेह डालकर वैराग्य का। दीप वह विवेक का। प्रदीप्त करके निधान आत्मा का। खोजत ही वह।।८।। तब भोगिये आत्मसिद्धि। इतनी योग्यता की सिद्धि। जिसके अंग में निरवधि। प्राप्त पार्थ।।९।। वह जिस क्रम से ब्रह्म। बनना होवे सुगम। उस क्रम का अब मर्म। सुनो कहूं मैं।।१०१०।।

बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च। शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।

गुरुदर्शित मार्ग से पार्थ। पहुंचकर विवेक तीर्थतट। बुद्धिका मैल समस्त। धोवे जो।।११।। राहुपाश से मुक्त। प्रभा चंद्र को आलिंगत। शुद्धता से बुद्धि भेटत। आत्मरूप को वैसी।।१२।। छोड़कर दोनों कुल को। अनुसरत कामिनी प्रिया को। निमग्न बुद्धि तजकर द्वंद्व को। आत्मचिंतन में।।१३।। इंद्रियों ने दूर हटाकर। गुह्य वस्तु ज्ञान का

निरंतर। शब्दादी को महत्त्व प्रचुर। दिया पार्थ।।१४।। लुप्त होवे किरणजाल। अदृश्य होवे मृगजल। किया वृत्ति निरोध से निर्बल। पांचों को वैसे।।१५।। अनजाने अधम गृह का अन्न। सेवन करते करो वमन। वैसे सवासना की वांती अर्जुन। इंद्रिय विषय में।।१६।। प्रत्यगावृत्ति गंगा के चोखट। तीर पर उनको लाकर सुभट। प्रायश्चित्त से शुद्ध पापरहित। किया जिसने।।१७।। पश्चात सात्त्विकं धृति से अर्जुन। शुद्ध करणों को उन। योगधारणा में स-मन। लगाया पूर्ण।।१८।। वैसे प्राचीन इष्टानिष्ट। भोग जब प्राप्त। देखकर वहां अनिष्ट। द्वेष न करे।।१९।। अथवा उत्तम भोग कदाचित। आये दैवयोग से सम्मुख पार्थ। उनके लिए न होवत। साभिलाष वह।।१०२०।। इष्टानिष्ट से इस प्रकार। रागद्वेष को छोड़कर। निकुंज या गिरीकंदर—। में वसत जो।।२१।।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः। ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।५२।।

जन कोलाहल से मुक्त। किसी वनस्थली में वसत। एकल स्वअंग अवयव का पार्थ। समुदाय जहां।।२२।। शम दम ही मनोरंजन। न बोले रहे मौन। गुरुवाक्य चिन्तन से विस्मरण। होवे काल का।।२३।। अंग में बल आवे। अथवा क्षुधा जावे। या जिव्हा तृप्त होवे। धनुर्धर।।२४।। भोजन करते समय। इन तीनों को न जाने कौन्तेय। मिताहार से संतोष होय। अपार उसको।।२५।। आसन पावक से अर्जुन। होते प्राणशोषण होवे तोषण। इसलिये नित भोजन। करे वह।।२६।। पर पुरुष से अभिलाषित। कुलवधु न अपना अंग देत। वैसे निद्रालस्य से न छोड़त। आसन अपना।।२७।। दंड प्रणाम के

अवसर। अंग गिरत भूमिपर। अन्यथा न लेटे शरीर। राभस्य से कभी।।२८।। देह निर्वाह के लिये केवल। करे हाथ पांव की हलचल। ऐसा बाह्यांतर सकल। स्वाधीन जिसका।।२९।। और अपनी वृत्ति को। मन के देहलीतक उसको। जाने न दे वहाँ वाग् व्यापार को। तब समय कैसा?।।१०३०।। ऐसे देह वाचा मानस। जीतकर बाह्यप्रदेश। स्वाधीन किया आकाश। ध्यानका पार्थ।।३१।। गुरुवाक्य से जागृत। सोऽहं बोधसे निश्चित। हस्तगत दर्पण में निहारत। स्वरूप जैसे।।३२।। ध्याता स्वयं पार्थ। ध्यानरूप वृत्ति में स्थित। ध्येयत्व में अपने को स्वीकारत। पद्धति ध्यान की ऐसी।।३३।। वहां ध्येय ध्यान ध्याता। इन तीनों की एकरूपता। जब तक होवे पंडुसुता। कीजे वह।।३४।। अतः वह मुमुक्षु। आत्मज्ञान में हुवा दक्षु। लिया योगाभ्यास का पक्षु। धनुर्धर।।३५।। गुदशिश्न दो अपानरंध्र। मध्य में पार्ष्णी गुड़ाकर। साधत सीम दबाकर। मूलबंध।।३६।। आकुंचन करके अध। लगाकर तीनों बंध। करे सब एकविध। वायुभेद।।३७।। कुंडलिनी जगाकर। सुषुम्ना विकसित कर। आधार चक्रादि भेदकर। आज्ञापर्यंत।।३८।। सहस्रदल मेघ से अर्जुन। पीयूष का करे सिंचन। लाकर ओघ पूर्ण। मूलाधारपर्यंत।।३९।। अग्निचक्र पुण्यगिरी पर। नाचत चिद्भैरव खप्पर–। में मनपवन की परोसकर। खिचड़ी पार्थ।।१०४०।। ऐसा योगाभ्यास बलिष्ट। समुदाय आगे करके सुभट। पश्चिम मार्ग से ध्यान निश्चित। स्वयंभु करत।।४१।। दोनों योग और ध्यान। इनको आत्मज्ञान में निर्विघ्न। स्थिर होने अर्जुन। पहले ही उसने।।४२।। वीतराग सम नीका। प्राप्त किया सखा। वह अशेष

भूमिका—। संग चलत।।४३।। देखना जो दिखतपर्यंत। दृष्टि को ही दीप न छोड़त। तब क्या देर लगत। दिखने को।।४४।। जैसे मोक्षमार्ग में जो प्रवृत्त। जब तक ब्रह्म में वृत्ति न लोपत। तब तक यदि वैराग्य साथ। फिर बाधा कैसी?।।४५।। अतः सवैराग्य। ज्ञानाभ्यास जो सभाग्य। इसलिये हुआ वह योग्य। आत्मलाभ के।।४६।। ऐसे वैराग्य का निरन्तर। वज्रकवच चढ़ाकर अंग पर। हुआ राजयोग तुरंग पर। सवार वह।।४७।। तब जो-जो दृष्टि देखत। छोटा बड़ा निरास करत। दृढ़ मुट्ठी में धरत। ध्यान खड्ग।।४८।। इसविध संसार रणभीतर। सूर्य जैसे अंधेरे में समग्र। मोक्षविजयश्री का वर। होवे पार्थ।।४९।।

अहंकारं बलं दर्प-कामं क्रोधं परिग्रहम। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५३।।

वहां आये जो आड़। दोष वैरी सो दिये पछाड़। उनमें प्रथम वैरी दृढ़। देहाहंकार।।१०५०।। मुक्त न करे मारकर। जीने न दे जन्म देकर। कष्ट देवे पुनः पुनः डालकर। देह अस्थि खोड़े में।।५१।। उसका देहदुर्ग आश्रय। फोड़कर जीता वह। और बल दूजा कौन्तेय। मारा वैरी।।५२।। जो विषयोपभोग के नाम से। चौगुना बढ़े उनसे। लावे निकट मृतावस्था जैसे। समस्त जगको।।५३।। वह विषय विष का दह। अशेष दोषों का राव। किंतु ध्यान खड्ग का घाव। सहे कैसा?।।५४।। और प्रिय विषयप्राप्ति। करे जिस सुख की अभिव्यक्ति। वही खोल पहनकर किरीटि। गर्जत वह।।५५।। सन्मार्ग को भुलावत। अधर्म बनमें करावे प्रविष्ट। नरकादि बाघ के जखड़त। पंजेमें जो।।५६।।

विश्वास देकर मारक जो रिपु। मार दिया वह दर्पु। और नाम से जिसके छूटत कंपु। तापसों

को भी।।५७।। क्रोध जैसा महादोख। देखा जिसका परिपाक। और भोग अधिकाधिक-। से रीता ही जो।।५८।। वह कामशस्त्र भयंकर। निःशेष नष्ट किया सुवीर। वैसे क्रोध का भी संहार। हुआ सहज।।५९।। जैसे उखाड़ते मूल। शाखा सूखत सकल। वैसे काम करते निर्मूल। नाशत क्रोध।।१०६०।। अतः काम बैरी पार्थ। हुआ जहां नष्ट। आना-जाना बंद होत। क्रोध का भी।।६१।। समर्थ डालकर ठेंगुर जैसा। लादे सिर पर बोझ वैसा। भोगवत जीव को तैसा। परिग्रह बली।।६२।। माथे पर पगड़ी सा सवार। अंगरखा अवगुण का पहिनकर। हाथ में जीव के पकड़ाकर। लाठी ममत्व की।।६३।। शिष्य शास्त्रादि विलास से। मठादि मुद्रा के मिष से। डालत फांस जैसे। निःसंग को।।६४।। होवे कुटुंब संसार का त्यांग। करे बन्य पदार्थ का बन में भोग। ऐसे दिगंबर को भी लाग। जिसका पार्थ।।६५।। ऐसा दुर्जय जो परिग्रह। उसका तोड़कर ठांव। भवविजय का उत्साह। भोगत जो।।६६।। वहां अमानित्वादि सकल। ज्ञानगुणों का जो मंडल। आवत सब भूपाल। कैवल्य देश के।।६७।। और सम्यग्ज्ञान का आधिपत्य। मानकर उसको सत्य। पारिवारिक बनकर नित्य। रहत स्वयम्।।६८।। प्रवृत्ति राजपथ पर। अवस्थात्रय प्रमदाओं से सुंदर। निजसुख करत निछावर। प्रतिपल जो।।६९।। आगे विवेक लेकर बोध यष्टि। हटावत दृश्य दर्शकों की भीड़ किरीटि। आवे योगभूमिका करने आरती। सम्मुख जैसी।।१०७०।। वहां ऋद्धि-सिद्धि के अनेक। समुदाय एकत्रित देख। उस पुष्पवर्षा से विशेख। नहात वह।।७१।। ऐसे ब्रह्मैक्य सरिस पार्थ। स्वराज्य जब आवे

निकट। हर्ष भरसे उमड़त। तीनों लोक।।७२।। जब साम्यस्थिति प्राप्त। मेरा यह बैरी या मित्र। न शेष ऐसा द्वेष। धनंजय।।७३।। इतना ही नहीं किसी ब्याज से। कहे जिसको मेरा ऐसे। न शेष द्वैतपन से। जो अद्वितीय वह।।७४।। अपनी एकही सत्ता–। से व्याप्त सब पंडुसुता। सहज गृह स्त्री पुत्र ममता। छोड़ी जिसने।।७५।। इसविध जीतकर रिपुवर्ग। अपना मानकर यह जग। अपने से वह योगतुरग। हुआ स्थिर।।७६।। वैराग्य का दृढ़ पार्थ। वज्रकवच जो अंग में पहनंत। शिथिल उसको वह करत। कुछ काल।।७७।। दूजा न सम्मुख कोई। अतः ध्यान-खड्ग का काम नहीं। अतः हाथ वृत्तिका ही। खींचे वह।।७८।। जैसा सच्चा रसायन। काम करके अपना पूर्ण। निःशेष स्वयं आपुन। होवे जैसा।।७९।। प्राप्त होवे अपना स्थान। रुके पांव की दौड़ अर्जुन। वैसा अभ्यास छूटत पूर्ण। ब्रह्मपद प्राप्ति से।।१०८०।। संगम होते महोदधी से। गंगा वेग छोड़त जैसे। या कांतसमीप कामिनी जैसे। होवे स्थिर।।८१।। कर्दली को फल प्राप्त। तब वृद्धि उसकी खूंटत। या ग्रामनिकट रुकत। मार्ग जैसा।।८२।। वैसा आत्मसाक्षात्कार। होते देखकर गोचर। धीरे से साधन हथियार। रखे नीचे।।८३।। अतः ब्रह्मसहित एकता। जब होवत तत्त्वता। उतार उपाय को भारता। होवे तब।।८४।। पश्चात वैराग्य की गोधूलिक। जो ज्ञानाभ्यास का वार्धक्य। योगफल के परिपाक–। की दशा जो।।८५।। वही सच्ची शांती। जब संपूर्ण लाहे किरीटिं। आवे योग्यता निश्चिति। ब्रह्मत्वकी उसमें।।८६।। पूनम से चतुर्दशी। जितना न्यून शशी। सोला से पंधरह में जैसी। न्यूनता कस में।।८७।। सागर

में सवेग करे प्रवेश। रूप वह गंगा का गुड़ाकेश। किंतु निश्चय स्थिर निःशेष। समुद्र वह।।८८।। ब्रह्म और ब्रह्मयोग्यता। भेद दोनों में यही पार्था। शांती से ही वह तत्त्वता। त्वरित नष्ट।।८९।। प्रत्यक्ष ब्रह्म होनेबिन। प्रतीत जो ब्रह्मपन। जानो वही योग्यता पूर्ण। ब्रह्मत्व की तुम।।१०९०।।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम्।।५४।।

वही ब्रह्मभाव योग्यता। पाकर पुरुष पंडुसुता। आत्मबोध प्रसन्नता। पदपर बैठे।।९१।। जिससे होवे सिद्ध पाक। ताप वह जब शमत देख। तब होवे सुखकारक। अन्न वह।।९२।। बढ़ते गंगा का पूर। शरत्काल में होवे दूर। या बंद गीत रुकते सुर। उपांग वाद्य के।।९३।। वैसा आत्मबोधार्थ उद्यम। करते जो होवत श्रम। वह भी जहां शांत सम। होवे पार्थ।।९४।। आत्मबोध प्रशस्ति। जिस दशा की यह ख्याति। वह भोगत महामती। योग्य जो।।९५।। वहां आत्मत्व से शोक मनाना। पाने कुछ यत्न करना। न शेष उसको केवल रहना। समभाव भर से।।९६।। उदित जब गभस्ति। नाना नक्षत्र व्यक्ति। खोवत निज आंगिक दीप्ति। धनुर्धर।।९७।। वैसे प्राप्त जब आत्मप्रथा। यह भूतभेद व्यवस्था। टूटकर नष्ट होवे पार्था। सर्वत्र देख।।९८।। अक्षर पाटीपर के जैसे। पोंछ सकत कर से। लोपत भेदांतर वैसे। दृष्टि से उसके।।९९।। वैसे सब अन्यथा ज्ञान। जागृति स्वप्नावस्था में अर्जुन। दोनों होवत लीन। अव्यक्त में।।११००।। आगे वह भी अव्यक्त। बोध बढ़ते क्षीण होत। पूर्णबोधमें समस्त। डूबत पार्थ।।१।। जैसे भोजन के व्यापार में। क्षुधा शमत

प्रतिग्रास में। पश्चात तृप्ति के अवसर में। नष्ट अशेष वह।।२।। चाल बढ़ते पार्थ। मार्ग धीरे धीरे क्रमत। स्थान गंतव्य का जब प्राप्त। न शेष वह।।३।। ज्यों ज्यों जागृति प्रकाशत। त्यों त्यों निद्रा खोवत। जब संपूर्ण जागृति प्राप्त। नष्ट निद्रा पूर्ण।।४।। और पूर्णत्व पाते पार्थ। वृद्धि चन्द्रमा की रुकत। वहां शुक्लपक्ष क्षीण होत। निःशेष जैसा।।५।। वैसे बोध्यजात निगलकर। बोध बोध से मेरे भीतर। नष्ट वहां प्रविष्टकर। अबोध साद्यंत।।६।। तब कल्पान्त के समय। नदी सिंधु मर्यादा कौन्तेय। छोड़कर होवे जलमय। आब्रह्म जैसे।।७।। नातर फूटत जब घट मठ। आकाश रहत एकवट। या काष्ट जलकर काष्ठ। वन्हिही होत।।८।। अथवा नाना अलंकार। मूस में औंटकर। नामरूप भेद छोड़कर। शेष सुवर्ण प्राप्त।।९।। और जागृति उपरान्त। स्वप्न अशेष नष्ट पार्थ। केवल स्वयं स्वतः। शेष जैसा।।१११०।। वैसे मैं एक बिन कुछ ही। उसको स्वसहित भाव नाही। मेरी चौथी भक्ति यही। पाये वह।।११।। इतर आर्त जिज्ञासु अर्थार्थि। इन तीनों की त्रिविध भक्ति। सापेक्षतः इसे कहत किरीटि। भक्ति चौथी।।१२।। वैसी न यह पहली ना दूसरी। ना चौथी या तीसरी। जो यह सहज स्थिति मेरी। भक्ति नाम।।१३।। अज्ञान मेरा आलोकित कर। अन्यथा ज्ञान को दिखाकर। सबसे सर्वात्मक का भजन कराकर। शांत करे जो।।१४।। जो यहां देखे जैसे। उसको वहां दिखत वैसे। जिस अखंड प्रकाश से। भासत सब यह।।१५।। स्वप्न दिखना या न दिखना पार्थ। अपने ही अस्तित्व से तत्त्वतः। विश्व का भास अभाव समस्त। प्रकाश से जिस।।१६।। ऐसा यह मेरा प्रकाश। जो सर्वथा

निर्विशेष। उसको ही भक्ति विशेष। संज्ञा पूर्ण।।१७।। यही आर्तो के ठाँयी। रहे होकर आर्तताही। और अपेक्षणीय जो कोई। स्वयं वही।।१८।। जिज्ञासूही आगे वीरेशा। होकर स्वयं जिज्ञासा। मुझको ही जिज्ञासु ऐसा। दिखावत यही।।१९।। यही भक्ति अर्थसाधन। और अर्थार्थि होकर अर्जुन। अर्थ यह अभिधान। देत मुझको।।११२०।। एवं लेकर अज्ञान। करे मेरी भक्ति वर्तन। दिखावे मुझ दृष्टाको ही अर्जुन। दृश्य बनाकर।।२१।। यहां मुख से ही मुख दिखत। बोल यह सत्य निश्चित। किंतु दूजापन यह करे झूठ। दर्पण ही वह।।२२।। वैसे दृष्टि देखे एक चन्द्र। परंतु जब होवे रोग तिमिर। जो एकही उसको दो आकार। दिखावे दो।।२३।। वैसे मैं ही मैं सर्वत्र। भक्ति से अपने को प्रतीत। किंतु दृश्यत्व यह व्यर्थ। अज्ञान वश।।२४।। अज्ञान यह अब नष्ट। दृष्टत्व मेरा मुझको प्राप्त। निजबिंब में एकवटत। प्रतिबिंब जैसे।।२५।। जब अशुद्धि से मिश्रित। सोना ही सोना पार्थ। कीट जब होवे नष्ट। केवल शुद्ध वह।।२६।। क्या पूर्णिमा के पहले ही। चंद्र संपूर्ण नाही। किंतु मिले उसी दिन ही। पूर्णता उसको।।२७।। वैसे मैं ही वृत्ति ज्ञानद्वार से। दिखत किन्तु हस्तान्तरसे। दृष्टत्व जब नष्ट आत्मज्ञान से। प्राप्त मुझको ही मैं।।२८।। अतः दृश्य पथ–। अतीत मेरा पार्थ। भक्ति योग निश्चित। कहा यह।।२९।।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।५५।।

इस ज्ञान भक्ति बलसे। ऐक्य जिसका हुआ मुझसे। जानो केवल मैं ही उसे। श्रुतही तुमको।।११३०।। जो उठाकर दोनों भुजा। ज्ञानी मेरी आत्मा साजा। कहा तुमको

कपिध्वजा। सप्तम अध्याय में।।३१।। वह कल्पादि भक्ति पार्थ। भागवत में सर्वोत्कृष्ट। उपदेशित जो सुस्पष्ट। ब्रह्मदेव को।।३२।। ज्ञानी इसको स्वसंविर्त्ति। शैव कहत शक्ति। हम तो अपनी परम भक्ति। कहत पार्थ।।३३।। मुझको मिलते समय। क्रमयोगी को फलत यह। तब अखिल विश्व कौन्तेय। भासत मद्रूप।।३४।। वहां वैराग्य विवेक सहित। लोपत बंध मोक्षसहित। वृत्ति-निवृत्ति सहित। डूबत सब।।३५।। इह पर भेद समस्त। इस भक्ति से होवे निरस्त। निगलकर चारों भूत। आकाश जैसे।।३६।। इसविध वह क्रमयोगी सिद्ध। साध्य साधनातीत शुद्ध। मद्रूप होकर एकवद (एकरूप)। भोगत मुझको।।३७।। गंगा समुद्र को मिलने उपरान्त। समुद्ररूप से दिखे शोभित। प्रकार वही उस भोग में प्रतीत। जानो तुम।।३८।। या दर्पण सम्मुख दर्पण। दिखाया निर्मल करके अर्जुन। वैसे मद्रूप भोग सुख पूर्ण। दृष्टा वह।।३९।। दर्पण दूर किया। मुखबोध नष्ट हुआ। अकेले ही स्वाद लिया। स्वरूपानंद का।।११४०।। पाकर जागृति स्वप्न नष्ट। ऐक्य अपना ही स्वयं देखत। वह जैसे अनुभवत। दूजे बिन।।४१।। भोक्ताही भोग्य जहां का। न घटे भोग भाव यह जिनका। तब कहे वे शब्द से शब्द का। उच्चार कैसे।।४२।। न जाने उनके गांव में पार्थ। क्या करे दीप सूर्य को प्रकाशित। अथवा क्या मंडपी निर्मित। आकाश के लिये।।४३।। यदि न हो अंग में राजन्यत्व। कैसा राजा राजपन भोगत। क्या अंधःकार आलिंगत। दिनकर को कभी?।।४४।। आकाश जो नाहीं किरीटि। कैसी उसको आकाश की प्रतीति। क्या कभी रत्न दीप्ति-। पर आभूषण गुंज के?।।४५।। अतः मदूप जो न

हुआ। न जाने मेरा स्थान कहां। मेरी सच्ची भक्ति वहां। संभव कैसी?।।४६।। इसलिये क्रमयोगी वह पार्थ। होकर मद्रूप मुझको भोगत। तारुण्य स्वयं अनुभवत। तरुणांगी जैसी।।४७।। तरंग सर्वांग से तोय चुंबत। प्रभा बिंब में सर्वत्र विलसत। अवकाश नभ में सर्वतः। विचरत जैसे।।४८।। वैसा रूप मेरा होकर पार्थ। बिन क्रिया मुझको वह भजत। सहज सुवर्ण में स्थित। अलंकार जैसे।।४९।।

या चंदन की दृति जैसी। चंदन में वसत अपने सी। अथवा सहज शशी में। चंद्रिका जैसी।।११५०।। वैसी क्रिया यदि न होवे। अद्वैत में फिर भी भक्ति ही रहे। अनुभव से ही यह जानिये। न गम्य बोलसे वह।।५१।। तब पूर्व संस्कार वश से। अनुवादत जो कुछ नाम से। आवाज दूं उसी प्रकार से। पुकारता भी मैं।।५२।। बोलते का बोल ही मैं जहां। मिलूं तब संवाद कैसे घटे वहां?। मौन ही उसका सुहाया। स्तवन मेरा।५३।। अतः उस बोलते को जैसे। बोली बोलत भेंट होवे मुझसे। मौन होकर करे तत्त्वतः मौन से। स्तुति मेरी।।५४।। वैसे बुद्धि या दृष्टि–। से देखने जावे किरीटि। देखना वह दिखावे दृश्य निश्चिति। हटाकर दृष्टा को ही।।५५।। दर्पण में देखने पूर्व पार्थ। दर्पण जो दिखे मुझको यथार्थ। वही मुख देखने उपरान्त। देखे दृष्टाको।।५६।। दृश्य जाकर दृष्टा। भेटत दृष्टा को ही तत्त्वतः। तब दृष्टापन भी न शेष सर्वथा। एकलपन से।।५७।। स्वप्न में देखी प्रिया। होके जागृत लगे लिपटने जहां। स्त्री, स्वप्न न दोनों वहां। अकेला ही जैसा।।५८।। जो काष्ठका करते घर्षण। वन्हि जो एक उत्पन्न। तब दोनों यह भान नष्ट पूर्ण। स्वयं वन्हि ही

शेष।।५९।। या प्रतिबिंब डबरे में हाथ से। लेने जावे यदि गभस्ति उससे। तब बिंबपन भी अपना जैसे। खोवत वह।।११६०।। वैसा मद्रूप होकर जो अर्जुन। करे दृश्य का दर्शन। मूल दृश्यसहित दृष्टापन। लोपत वहां।।६१।। अंधेरे को प्रकाशत भास्कर। वहां न शेष प्रकाश्य अंधकार। वैसे दृश्य में नही दृश्यत्व सुवीर। मैं ही होत जब।।६२।। तब देखना या न देखना। शेष न कुछ भी करना। वही मेरा दर्शन जानना। सुनिश्चित।।६३।। कुछ भी देखे किरीटि। होवे वस्तु की ही प्राप्ति। दृष्टादृश्यातीता दृष्टि–। को निरंतर।।६४।। और आकाश यह आकाश से। व्याप्त न कहीं हिलत जैसे। उसे स्वयं को मुझ आत्मा से। हुआ वैसे।।६५।। कल्पान्त में उदक उदक से। अवरोधित बहना रुके जैसे। एक मुझ आत्मस्वरूप से वैसे। व्याप्त वह।।६६।। पाँव कैसा चढ़े स्वयं के ऊपर। वन्हि कैसा जलावे स्वशरीर। प्रवेशत पानी अपने भीतर। स्नानार्थ कैसा?।।६७।। मैं ही सर्वत्र जब। आना जाना उसका बंद तब। वही यात्रा हुई सब। अद्वय को मुझ।।६८।। जल ऊपर का तरंग। दौड़त यदि सवेग। न आक्रमत भूमिभाग। कदापि वह।।६९।। छोड़ना या जोड़ना स्थान। चलना और जिससे चलना अर्जुन। वह तोय ही एक पूर्ण। इसीलिये।।११७०।। गया कहीं भी स्वभावता। उदकपन से पंडुसुता। उस तरंग की एकात्मता। अभंग सदा।।७१।। वैसे मै–पन से जो चलत। मेरे भीतर पहुंचत। इस यात्रा से नीका होवत। यात्रिक मेरा।।७२।। और शरीर स्वभाववश। करे कुछ भी कार्य विशेष। तथापि मैं ही उसी मिष–। से मिलूं उसको।।७३।। वहां कर्म और कर्ता। भेद यह नष्ट सव्यसाची। आत्मरूप से देखते पार्था।

मद्रूप ही वह।।७४।। दर्पण को देखे दर्पण। देखना न वह होवे दर्शन। सुवर्ण से ढका सुवर्ण। न ढांक सके जैसे।।७५।। दीप को दीप ने प्रकाशना। साच न वह प्रकाशना। वैसे मद्रूप होकर कर्म करना। वह करना कैसा?।।७६।। कर्म तो करत ही सतत। किंतु कर्ता भाव जब नष्ट। तब न करना ही होत। करना उसका।।७७।। मद्रूप जब क्रिया समस्त। क्रिया न शेष तत्त्वतः। इसका ही नाम पूजन पार्थ। सांकेतिक मेरा।।७८।। अतः करके शास्त्रोक्त कर्म साजा। वह अकर्म ही कपिध्वजा। निष्पन्न जो महापूजा। उससे पूजत मुझे।।७९।। एवं जो बोले वह स्तवन। जो देखे वह दर्शन। मुझ अद्वय के प्रति गमन। वह चलें वहीं।।११८०।। वह करे वही पूजा। संकल्प करे वह जप साजा। स्थिति उसकी जो कपिध्वजा। समाधि मेरी।।८१।। सुवर्ण एवं कंकण। जैसे परस्पर को अनन्य। वह भक्तियोग से अर्जुन। मुझसे वैसा।।८२।। उदक से कल्लोल। कर्पूर से परिमल। रत्न से कांती उज्ज्वल। अनन्य जैसी।।८३।। किंबहुना तंतु से पट। या मृत्तिका से घट। वैसा वह एकवट। मुझको ही।।८४।। ऐसी अनन्य सिद्ध भक्ति से। मुझको ही सर्वभूतों में उससे। जानत जो भक्त ऐसे। मद्रूप हुआ जो।।८५।। तीनों अवस्थाओं से। उपाध्युपहिताकार से। भावाभावरूप स्फुरण से। दृश्य जो यह।।८६।। वह अशेष ही मैं दृष्टा। इस बोध का जो ज्ञाता। जब अनुभव का झंडा सुभटा। नचावे जो।।८७।। रज्जु होवे गोचर। आभास उसका व्यालाकार। रज्जु ही ऐसा निर्धार। होवे जैसा।।८८।। वैसे सुवर्णबिन कोई। आभूषण गुंजभर भी नाही। औटकर एकही ठाँयी। कीजे जैसे।।८९।। उदक ही एक

बिन। तरंग निश्चित नाही भिन्न। होवे ज्ञान तब लोपत पूर्ण। आकार भ्रम जैसा।।११९०।। अथवा स्वप्नविकार समस्त। नापत यदि जागृति उपरान्त। तब एक अपनेबिन पार्थ। न दिखे जैसे।।९१।। वैसे जो कुछ है या नहीं किरीटि। जिससे होवे ज्ञेयस्फूर्ति। भोगत वह मैं ही यह प्रतीति। ज्ञाता होकर।।९२।। जाने, मैं अमर मैं अजर। अक्षय मैं अक्षर। अपूर्व मैं अपार। आनंद मैं।।९३।। अचल मैं अच्युत। अनंत मैं अद्वैत। आद्य मैं अव्यक्त। व्यक्त भी मैं।।९४।। ईश्य मैं ईश्वर। अनादि मैं अमर। अभय मैं आधार। आधेय मैं।।९५।। स्वामी मैं सदोदित। सहज मैं संतत। सर्व मैं सर्वगत। सर्वातीत मैं।।९६।। नूतन मैं पुराणु। शून्य मैं संपूर्णु। स्थूल मैं अणु। सब कुछ मैं।।९७।। अक्रिय मैं एक। असंग मैं अशोक। व्याप्य और व्यापक। पुरुषोत्तम मैं।।९८।। अशब्द मैं अक्षोत्र। अरूप मैं अगोत्र। सम मैं स्वतंत्र। परं ब्रह्म मैं।।९९।। ऐसा मुझ एकको आत्मभाव से। साँच जानकर इस अद्वय भक्ति से। इस बोध ज्ञाता को वैसे। जाने मैं ही।।१२००।। जागृति उपरान्त अर्जुन। शेष अपना एकपन। और यह भी स्फुरण। उसी को ही जैसा।।१।। या प्रकाशत जब अर्क। वही होवे प्रकाशक। उस अभेद का द्योतक। वही जैसा।।२।। वैसे वेध जब विलीन। केवल वेदकही शेष अर्जुन। होवे जिससे यह ज्ञान। जाने वह भी जो।।३।। वह अपना अद्वयपन। जान वह ज्ञप्ति अर्जुन। वह ईश्वर ही मैं पूर्ण। होवे बोध उसको।।४।। पश्चात द्वैताद्वैतातीत। मैं ही आत्मा एक निभ्रांत। जानकर ज्ञान भी जहां पार्थ। प्रविष्ट अनुभव में।।५।। जागृत होते एकपन। देखे अपना जो आपुन। वह भी न जाने कौन। हुआ जो

स्वयम्।।६।। अलंकार तो सुवर्ण। चक्षु को प्रतीत जिस क्षण। न औटते भी उसका सुवर्णपन। अनुभवत जैसे।।७।। अथवा होवे लवण तोय। रहे क्षारता तोयत्व से कौंतेय। वहां भी जब क्षरण होय। नष्ट क्षारता पूर्ण।।८।। मैं आप वह भेद वैसे। स्वानंदानुभव समरसता से। लुप्त होकर प्रवेशत जैसे। मेरे में ही पार्थ।।९।। जहां वह की भाष जावे। वहां मैं यह किसको कहे। वैसा मैं और वह दोनों समाये। मद्रूप में ही।।१२१०।। कर्पूर निःशेष जलकर। वहां अग्नि भी नष्ट बुझकर। पश्चात उभयातीत होकर। शेष आकाश जैसा।।११।। घटाया एक-एक में से। बढ़े वह शून्य विशेष जैसे। हैं और नहीं शेष वैसे। मैं ही पार्थ।।१२।। वहां ब्रह्म आत्मा ईश। इस बोलका नष्ट स्वारस्य। न बोलने को भी अवकाश। न रहे जहां।।१३।। वहां न बोलना ही न बोलकर। वही बोलना पेटभर। ज्ञान-अज्ञान छोड़कर। जानना जिसको।।१४।। वहां बोध जानिये बोधसे। आनंद लेना आनंद से। केवल सुख ही भोगना सुख से। निरंतर।।१५।। वहां लाभ को लाभ जुड़त। प्रभा को प्रभा आलिंगत। विस्मय खड़ा डूबत। विस्मय में ही।।१६।। समता वहां समावत। विश्राम विश्रांति पावत। अनुभव स्वतः भ्रमित। अनुभूति में।।१७।। किंबहुना ऐसा निर्मल। मद्रूपता का प्राप्त फल। सेवन करके सुंदरवेल। क्रमयोग की।।१८।। वह क्रमयोगी के चक्रवर्ती-। के मुकुट में चिद्रत्न मैं किरीटि। बदले में होव वह निश्चिति। भक्त मेरा।।१९।। किंवा क्रमयोग प्रासाद का। कलश जो यह मोक्षका। उसके ऊपर अवकाश का। हुआ विस्तार वहां।।१२२०।। संसार अटवी में पार्थ। चलकर क्रमयोग

की उत्तम बाट। मदैक्य गांव में प्रविष्ट। सुनिश्चित।।२१।। और यही क्रमयोग ओघ से। उस भक्ति ज्ञान-गंगा से। मेरे स्वानंदोदधि में जैसे। मीनत सवेग।।२२।। अतः इस सीमा तक महत्त्वपूर्ण। क्रमयोग की महिमा अर्जुन। इसलिये किया निवेदन। बारंबार तुझको।।२३।। किंतु देश काल पदार्थ। अनुकूलता से करना मुझको प्राप्त। ऐसा नहीं मैं सर्वात्मक स्वतः। सर्वस्व सबका।।२४।। अतः आने मेरे ठाँई। न करना कष्ट कोई। प्राप्त इसी उपाय से ही। सत्य सत्य।।२५।। एक शिष्य एक गुरु। यह तो रूढ़ व्यवहारू। वह मत्प्राप्तिप्रकारू। जानने को।।२६।। निधान पृथ्वी के पेट में। अग्नि सोहि काष्ठ में। और दूध जैसा स्तन में। स्वयंसिद्ध।।२७।। किंतु यदि करना उनको प्राप्त। उपाय तो करना निश्चित। वैसा सिद्ध मैं सर्वगत। प्रयत्न से ही प्राप्त।।२८।। इस फलप्राप्ति उपरान्त। प्रस्ताव यह किमर्थ। तब सुनो अभिप्राय पार्थ। उसका ऐसा।।२९।। गीतार्थ का उत्तम गुण। जो वह मोक्षप्राप्ति का साधन। समस्त शास्त्रोपाय अन्य। न स्वयंप्रमाण।।१२३०।। वायु अभ्र को छाटत। न सूर्य को सृजत। या हाथ से शैवाल हटावत। किंतु न करे तोय।।३१।। वैसा आत्मदर्शन में बाधक। जो अविद्यामल विशेख। शास्त्र निर्मल करत अशेख। किंतु स्वयं प्रकाशक मैं।।३२।। अतः संपूर्ण शास्त्र। अविद्या विनाश का यंत्र। किंतु नहीं वे स्वतंत्र। आत्मबोधप्रद।।३३।। उस अध्यात्म शास्त्र को। सत्यप्रमाण अपना दिखाने को। शरण जाना जिसको। सो गीता यह।।३४।। प्राची भानू भूषित। सर्व दिशा करे प्रकाशित। वैसे शास्त्रेश्वर गीता से सनाथ। शास्त्र सब।।३५।। वैसे इस शास्त्रेश्वर ने पार्थ। बहुविस्तार से

पूर्वी निवेदित। होवे आत्मा हस्तगत। सहज जिससे।।३६।। किंतु प्रथम श्रवण से कदाचित्। अर्जुन को न होवे स्पष्ट। इस भाव को कृपासहित। लेकर श्रीहरी।।३७।। वही प्रमेय पुनः एकबार। शिष्य मन में होने स्थिर। मुकुलित मुद्रा से लक्ष्मीवर। कहत अब।।३८।। यह समग्र गीता। पावत यहां संपूर्णता। अतः दिखावे एकार्थता। साद्यन्त में।।३९।। इस ग्रंथ के मध्य में। नाना अधिकार प्रसंग में। किया निरूपण सिद्धांत का उसमें। अनेक विध।।१२४०।। वही सब सिद्धान्त। इस शास्त्र में प्रस्तुत। पूर्वापर न जानते मानत। यदि ऐसा कोई।।४१।। अतः महासिद्धान्त की ऐक्यता। मिलाकर विविध सिद्धान्त पार्था। उपक्रम जो किया सर्वथा। उपसंहरत-वह।।४२।। यहां अविद्यानाश यह स्थल। उससे मोक्षोपादन फल। इन दोनों को केवल। साधन ज्ञान।।४३।। नाना प्रकार से यही ज्ञान। सविस्तार किया प्रतिपादन। उसका ही करना निवेदन। संक्षेप से अब।।४४।। अतः यदि प्राप्त उपेय। तथापि कहने उपाय। पुनः प्रवृत्त हुए देव। इसी भाव से।।४५।।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः। मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।५६।।

तब कहत हे सुभटा। वह क्रमयोगी यह निष्ठा—। से मैं होकर होवे पैठा। मद्रूप जीवांश में।।४६।। स्वकर्म पुष्प से अर्जुन। करके मेरा सुपूजन। पावत प्रसाद पूर्ण। ज्ञानमार्ग का।।४७।। यह ज्ञाननिष्ठा प्राप्त जहां। भक्ति मेरी उल्लसित वहां। भजन समरस से सुखिया। होवे वहां।।४८।। और अखिल विश्व प्रकाशक को। मुझ अपने आत्मरूप को। अनुसरत सर्व व्याप्त को। धनुर्धर।।४९।। छोड़कर अपना रूप धन।

आश्रय लेत जल में लवण। या घूमकर सर्वत्र व्योम में पवन। होवे स्थिर।।१२५०।। वैसे बुद्धि वाचा काया से। रहे जो मेरे आश्रय से। निषिद्ध कर्म भी अनजाने से। करे वह।।५१।। तब गंगा के संबंध में। एक नाले और महानदी में। जानो वैसे मेरे बोध में। शुभाशुभ सब।।५२।। या सामान्य काष्ठ और चंदन। तब तक ही दोनों भिन्न। जब तक न ग्रासत पूर्ण। अग्नि उनको।।५३।। देखो लोह और सुवर्ण। तब तक ही भिन्न वर्ण। जब तक पारस करे अंग मिलन--। से एकरूप।।५४।। वैसे शुभाशुभ कर्म पार्थ। तब तक ही रहे भिन्नत्व। जब तक न प्रकाशत। सर्वत्र मैं।।५५।। अरे! रात्रि और दिन। द्वैतभाव शेष अर्जुन। जब तक न प्रवेशत ग्राम। गभस्ति के।।५६।। अतः होते ही मुझसे भेंट। कर्म सब उसके समाप्त। साम्राज्य पर आरूढ़त। सायुज्य के वह।।५७।। देश काल स्वभाव से। संभव न नाश जैसे। पावे पद मेरा सहज से। अविनाश वह।।५८।। मुझ परमात्मा की प्रसन्नता। लभत जिसको पंडुसुता। लाभ उससे श्रेष्ठ सर्वथा। कौनसा जग में।।५९।।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः। बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव।।५७।।

इस कारण तुम अर्जुन। अपने कर्म जात पूर्ण। मेरे स्वरूप में संपूर्ण। करो संन्यस्त।।१२६०।। परंतु वही संन्यास सुवीर। न करना दिखावा मात्र। आत्मविवेक में लगावो समग्र। चित्तवृत्ति यह।।६१।। तब उस विवेक बल से। अपने को पृथक कर्म से। मेरे निर्मल स्वरूप में सहज से। देखोगे तुम।।६२।। और कर्म की जन्मभूमि किरीटि। होवे जो यह प्रकृति। अपने से बहु दूर निश्चिति। देखोगे तुम।।६३।। वहां यह प्रकृति

माया। न शेष अपने से धनंजया। भिन्न न रूपबिन छाया। जिस प्रकार।।६४।। ऐसा जब प्रकृति नाश। होकर कर्म-संन्यास। घटत बिन सायास। सकारण।।६५।। जब कर्मजात नष्ट तत्त्वता। केवल आत्मा शेष भारता। वहां बुद्धि को करके पतिव्रता। राखो तुम।।६६।। इस बुद्धियोग से अनन्य। मुझमें जब प्रवेशत अर्जुन। तब चित्त चैत्य त्याग से पूर्ण। भजत मुझको ही।।६७।। ऐसे चिंत्यविषय से मुक्त। चित्त मेरे ठाँई युक्त। रहेगा वैसा त्वरित। सर्वदा करो।।६८।।

मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि। अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।।५८।।

ऐसी अभेद भक्ति से पांडव। चित्त मद्रूप होवे जब। मेरा प्रसाद संपूर्ण तब। जानो तुम।।६९।। वहां सकल दुःखधाम। भोगत जिससे मृत्यु-जन्म। वही जो दुर्गम किंतु सुगम। होंगे तुझको।।१२७०।। देखो सूर्य का सहाय। चक्षु को प्राप्त जब कौंतेय। तब अंधकार का क्या होय। सामर्थ्य वहां?।।७१।। वैसे जब मेरे प्रसाद से। होवे जीवांश का नाश जैसे। वह संसार हव्वा से। होवे दुःखित कैसे?।।७२।। अतः हे गुड़ाकेश। तुम संसार दुर्गति से इस। त्रस्त उबारोगे अशेष। प्रसाद से मेरे।।७३।। अथवा अहंभाव पर सवार। मेरा बोलना यह समग्र। कर्ण, मन के सीमा पर। न लायेगा तू।।७४।। यदि नित्य अव्यय मुक्त। जो तुम अब होकर व्यर्थ। देहसंबंध का घाव बलिष्ट। सहोगे तुम।।७५।। जिस देह संबंध से पार्थ। प्रतिपद पर आत्मघात। भोगते विश्राम किंचित। कदापि नाही।।७६।। इतना यह दारुण। मरणबिन मरण। भोगेगा यदि कथन। न मानेगा मेरा।।७७।।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे। मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।५९।।

पथ्य द्वेषी का बढ़त ज्वर। दीपद्वेषी का अंधःकार। विवेक द्वेष से अहंकार। पोषत वैसा।।७८।। स्वदेह को नाम अर्जुन। परदेह को ना स्वजन। संग्राम को नाम मलिन। पापाचार।।७९।। ऐसे तीनों के नाम तीन। स्वबुद्धि से रखकर अर्जुन। न करूं मैं युद्ध कृष्ण। कहोगे तुम।।१२८०।। ऐसा यदि मन में निश्चित। लेओगे निर्णय तुम पार्थ। किंतु स्वभाव तेरा जन्मजात। करेगा व्यर्थ वह।।८१।। और मैं अर्जुन ये आत्मिक। इनका वध महापातक। यह तो मायाबिन कुछ तात्त्विक। सोचो तुम।।८२।। पहले तो योद्धा बनना। जूझने को शस्त्र लेना। पश्चात न जूझने की करना। प्रतिज्ञा दृढ़।।८३।। अतः युद्ध न करना। व्यर्थ यह कहना। लोकदृष्टि से भी अर्जुना। न मानु मैं।।८४।। तब न लढू मैं ऐसे। निश्चित किया जो मानस से। वह तेरी प्रकृति विरुद्ध तुझसे। करावेगी सहजता से।।८५।।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा। कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।६०।।

पानी बहते पूर्व को। तैरना चाहो पश्चिम को। तब आग्रह से उसे पूर्व दिशा को। खींचे वह।।८६।। अथवा कहे यदि धान का कण। न होऊं मैं धानपन से उत्पन्न। क्या बदलना संभव अर्जुन। स्वभाव को।।८७।। वैसा क्षात्र संस्कार सिद्ध। प्रकृति धर्म से बना प्रबुद्ध। यदि न करूं कहोगे युद्ध। किंतु करावेगा तुझसे।।८८।। शौर्य तेज दक्षता। एवमादिक पंडुसुता। गुण दिये जन्मता। प्रकृति ने तुझको।।८९।। इसलिये इस गुण समवाय–। से युद्ध न करते धनंजय। बैठना चुपचाप न संभव। कदापि कभी।।१२९०।। अतः इन

गुणों से बद्ध सर्वथा। हे कोदंडपाणी पार्था। क्षात्रमार्ग से ही निश्चित तत्त्वता। जाओगे तुम।।९१।। यदि अपना जन्ममूल। न सोचकर केवल। न लढूं ऐसे अचल। व्रत लेवोगे तुम।।९२।। तब बांधकर पाँव हाथ। रथ में जिसको रखा पार्थ। न चले तथापि जात। दिगंत में जैसा।।९३।। वैसे तुम अपने से। मैं कुछ न करूं ऐसे। स्वस्थ बैठकर भी भरोसे से। करोगे युद्ध तुम।।९४।। उत्तर विराट का राजपुत्र। रण से जब भागा पार्थ। किया युद्ध वही क्षात्रस्वभाव निश्चित। लढ़ावेगा तुझको।।९५।। महावीर अकरा अक्षौहिणी। अकेले तूने किया पराजित रणीं (रण में)। वही स्वभाव कोदंडपाणी। जुझावेगा तुझको।।९६।। क्या रोग प्रिय रोगी को?। भाये दारिद्र्य दरिद्री को। किंतु प्रारब्ध बलिष्ट उनको। भोगवत वह।।९७।। वह अदृष्ट अर्जुन। न करेगा ईश्वरवश से भिन्न। वही ईश्वर स्थित जान। हृद्य में तेरे।।९८।।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जिन तिष्ठति। भ्रामसन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।६१।।

सर्व भूतों के अन्तर में। हृदय महाअंबर में। चिद्वृत्ति के सहस्त्र कर में। उदित जो।।९९।। अवस्थात्रय तीनों लोक। आलोकित करके अशेख। किये अन्यथादृष्टि पांथिक। जागृत पार्थ।।१३००।। वेद्योदक के सरोवर में। विकसते विषय-कल्लार में। चरावे इंद्रिय षट-पदों को उसमें। जीवभ्रमर को।।१।। रहने दो यह रूपक वह ईश्वर। सकल भूतों का अहंकार। ओढ़कर निरन्तर। प्रकटत पार्थ।।२।। स्वमाया का आड़वस्त्र। पहनकर अकेला चलावे सूत्र। बाहिर नचावे छाया चित्र। चौरासी लक्ष।।३।। उन ब्रह्मादि कीटांत

को। अशेष भूत जात को। देहाकार सृजत उनको। योग्यतानुरूप।।४।। जो देह जिसको पार्थ। अनुरूपपन से प्राप्त। वह भूत उसपर आरूढ़त। सोचूं यही मैं।।५।। सूत्र ग्रथित सूत्र से। तृणबद्ध तृण से। मानत आत्मबिंब को स्वरूप जैसे। बालक जल में।।६।। देहाकार से उसी प्रकार। अपने को दुसरा मानकर। जीव उसका करे स्वीकार। आत्मबुद्धि से।।७।। इस विध शरीर यंत्रपर। बिठाकर जीव को सुवीर। चलावत सूत्र वह ईश्वर। प्राक्तन का।।८।। वहां जिसको जो कर्मसूत्र। नियमित किया स्वतंत्र। वह उसी गति को पात्र। होवे पार्थ।।९।। किंबहुना धनुर्धर। भूतों को स्वर्ग संसार-। मध्ये घुमावत तृण को समीर। आकाश में जैसा।।१३१०।। भ्रामक के संग से। लोहा गोल घूमे जैसे। ईश्वरसत्ता योग से वैसे। चेष्टत भूत।।११।। जैसे क्रियाएं अपनी अनेक। चकोर समुद्रादिक। चेष्टत सानिध्य से ही एक। चंद्र के पार्थ।।१२।। सिंधु को चढ़े ज्वार। सोमकान्त द्रवत सुवीर। कुमुद और चकोर-। का संकोच नष्ट।।१३।। वैसे बिना प्रकृतिवश। अनेक भूतों को एक ईश। चेष्टवत जो उसका वास। है हृदय में तेरे।।१४।। अर्जुन-पन के अभिमान बिन। मैं ऐसा हृदय में जो मैं-पन। वही तत्त्वता जान। रूप उसका।।१५।। वही ईश्वर तेरे हृदयस्थ। करेगा युद्ध को प्रवृत्त। यदि न करोगे युद्ध स्वतः। तथापि करावेगा वह।।१६।। अतः ईश्वर सर्वाधिपति। देवे वह जैसी प्रकृति। वर्तत अनुरूप उसके किरीटि। इंद्रियाँ अपनी।।१७।। तुम दोनों करना न करना। आधीन प्रकृति के जानना। और प्रकृति भी वश में अर्जुना। हृदयस्थ के किया।।१८।।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसिशाश्वतम्।।६२।।

उसको अहं वाचा चित्त अंग। अर्पण करके शरण रिग (प्रवेश)। महोदधि में उदक गांग। रीगत जैसे।।१९।। जब उसके प्रसाद से। सर्वोपशांति प्रमदा का जैसे। कांत होकर रमेगा स्वानंद से। निजरूप में।।१३२०।। जो उत्पत्ति का कारण। विश्रांति का विश्रामस्थान। अनुभूति ही लेत पूर्ण। अनुभव जिसका।।२१।। उस निजात्म पद का राव। होकर रहेगा अव्यय। कहत पार्थ को माधव। सुनिश्चित।।२२।।

इति ते ज्ञानमाख्यतं गुह्याद्गुह्यतरं मया। विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।६३।।

यह गीता नाम विख्यात। सर्व वाङ्मय का मथित। आत्मा जिससे हस्तगत। रत्न होय।।२३।। ज्ञान ऐसी रूढ़ी। वेदान्त में जिसकी प्रौढ़ी। वर्णन से कीर्ति चोखड़ी। प्राप्त जग में।।२४।। इंद्रियगम्य जो ज्ञान। जिसके अत्यल्प किरण। उस सर्वदृष्टा का भी दर्शन। पाया जिसने।।२५।। सो यह आत्मज्ञान। मुझ गौप्य का गुप्त धन। छिपाना अशक्य अर्जुन। जो मेरे तुम।।२६।। इसी कारण किरीटि। अपनी यह गुप्त संपत्ति। दी तेरे हाथ संप्रति। करुणायुक्त।।२७।। जैसी प्रेम से भ्रमित। बालोद्देश्य से माता बोलत। साच यह प्रीति की रीत। किंतु मैं न करूं वैसा।।२८।। यहां आकाश भी छानना। अमृत को भी छीलना। अथवा दिव्य से करवाना। दिव्य जैसे।।२९।। जिसके अंग प्रकाश से। दिखे पाताल का परमाणु वैसे। उस सूर्य को भी डालना जैसे। अंजन पार्थ।।१३३०।। वैसा में सर्वज्ञ, अर्जुन। करके निर्धारण पूर्ण। नीका वही निरूपण। किया तुझको।।३१।। अब

इसके ऊपर। करो नीका निर्धार। निर्धारण से भाये जो आचार। करो वही।।३२।। सुनकर वह कृष्ण वचन। निवांत रहे अर्जुन। देखकर कहे कृष्ण। अच्छे अवंचक तुम।।३३।। परोसते सम्मुख बुभुक्षित। संकोच से कहे मैं तृप्त। रहे क्षुधापीड़ित और प्राप्त। असत्य दोष।।३४।। वैसे, सर्वज्ञ श्रीगुरु सुवीर। भेटत तब आत्मनिर्धार। न पूंछत धरे आभार। धनंजय।।३५।। तब लाभ अपना गमावत। वंचित करे स्वयं को स्वतः। और पाप भी वंचना का प्राप्त। उसको पार्थ।।३६।। वैसा यह तेरा मौन। क्या इसी कारण अर्जुन। जो एकबार कहूं पुनः। ज्ञान यही।।३७।। तब पार्थ कहे भगवंत!। अच्छा जाना मेरा चित्त। कहूं यदि दूसरा ज्ञाता अच्युत। कौन मेरा?।।३८।। यह विश्व ज्ञेय समस्त। ज्ञाता आप एक स्वभावतः। क्या सूर्य को बखानना प्रशस्त। सूर्यही कहकर।।३९।। तब कहत श्रीकृष्ण। किसलिये यह स्तवन। जो किया इतना वर्णन। क्या कम वह?।।१३४०।।

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः। इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

अब अपना अवधान। एकबार और करके विस्तीर्ण। सुनो मेरा निर्मल वचन। धनंजय!।।४१।। जो वाच्य इसलिये बोलना। अथवा श्राव्य यह सुनना। ऐसा न यह ज्ञान अर्जुना। पाया भाग्य से तुमने।।४२।। शिशु के लिये कूर्मी को। पान्हा फूटत दृष्टि को। या आकाश वहत पानी को। चकोर के लिये।।४३।। जो व्यवहार न होवे जहां। उसी का फल पावे वहां। क्या न लभत जब हुआ। सानुकूल दैव।।४४।। वैसे द्वैत का फेरा पार्थ। टालकर ऐक्य गृह में यथार्थ। भोगना जो निवान्त। ऐसा दुर्लभ जो।।४५।। और निरुपचार

जो प्रेम। उसका विषय जो प्रियोत्तम। न दूजा वह आत्मा स्वयम्। जानो तुम।।४६।। दर्पण करना निर्मल। न उसके लिये केवल। देखने अपना रूप उज्ज्वल। इसीलिये।।४७।। वैसे पार्थ तेरे मिष से। बोलू मैं अपने उद्देश्य से। तेरे मेरे ठाँयी कैसे। मैं– तू पन कोई।।४८।। यह हृदय के गुह्य को। कहूं जीव को ही तुझको। जो अनन्य गतिक का मुझको। व्यसन सदा।।४९।। छोड़कर स्वरूप को लवण। जल में होते विलीन। जलरूप होत संपूर्ण। न लजे वह।।१३५०।। वैसे तुम मेरे ठाँयी। गुह्य न रखत कुछही। तब कहो कैसे तुझसे कोई। राखूं गौप्य?।।५१।। अतः अशेष गूढ़ पार्थ। किया सम्मुख अति स्पष्ट। वह गुह्यातिगुह्य शुद्ध समस्त। सुनो मेरा।।५२।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।

अपना सर्वहि व्यापार। बाह्य और अभ्यंतर। मैं सर्वव्यापी परमेश्वर। करो विषय मुझको।।५३।। वायु सर्वतोपरि जैसे। मीनत आकाश में वैसे। रहो तुम सब कर्मों में तैसे। मुझमें ही पार्थ।।५४।। किंबहुना अपना मन। करके मेरा एकायतन। मेरेही श्रवण से कर्णा। भरो सदा।।५५।। आत्म-ज्ञान से संपन्न। जो सन्त मेरा ही रूप जान। लुब्ध होवे वही तेरे नयन। कामिनी पर जैसे।।५६।। मैं सबका वसतिस्थान। सुन्दर नाम मेरे जो अर्जुन। भेजो उनको अंतःकरण–। में वाचा पथ से।।५७।। हाथों से जो करना। या पाँव से चलना। होवे मेरे ही लिये अर्जुना। करो ऐसे।।५८।। अपने या औरों के लिये पार्थ। किया सब करो मुझको समर्पित। उस यज्ञ से बनो नीका निश्चित। याज्ञिक मेरे।।५९।।

कितना यह पढ़ाऊं एकेक। करो अपने को सेवक–। भाव से सेव्य इतर जग लोक। धनुर्धर।।१३६०।। वहां लुप्त होकर भूतद्वेष अशेख। सर्वत्र नमोनमः मैं एक। इससे आश्रय आत्यंतिक। पावोगे तुम मेरा।।६१।। तब इस भरे जगत में पार्थ। तीजे की होकर लुप्त बात। तेरा-मेरा होगा एकान्त। निरन्तर।।६२।। तब किसी भी अवस्था में संतत। मैं तुझको, तुम मुझको निश्चित। भोगोगे ऐसा सहज वर्धत। सुख नित्य।।६३।। और तीजा प्रतिबंध जहां। अर्जुन संपूर्ण नष्ट हुआ। मैं ही होकर मुझको अन्त में वहां। पावोगे तुम।।६४।। देखो पवन अंबर को। या कल्लोल सागर को। मिलते बाधा उनको। कौन सी पीर्थ?।।६५।। जैसे जल में प्रतिबिंब। जलनाश से वही बिंब–। होते बोलो प्रतिबंध। कोई वहां।।६६।। अतः तुम और हम। दिखत यह जो देहधर्म। पावत जब विराम। होवे मैं ही।।६७।। इस कथन में किंचित। यदि कुछ भी विपरीत। तब साच अर्जुन शपथ। मुझको तेरी।।६८।। यहां शपथ तेरी लेना। यह तो आत्मलिंग को ही स्पर्शना। प्रीत की जाति में लजाना। न संभव कदा।।६९।। वैसे जो वेद्य निष्प्रपंच। भासत जिससे विश्वाभास साच। उसकी आज्ञा का नटनाच। जीतत काल को।।१३७०।। वह देव मैं सत्य संकल्प। जग का हितकर्ता बाप। क्यों शपथ का आक्षेप। करूं मैं?।।७१।। किंतु अर्जुन तेरा मुझको छंद। अतः छोड़ा देवपन का ब्रीद। वैसा मैं अपूर्ण अर्ध। हुआ पूर्ण तुझसे।।७२।। अपने ही काज निमित्त। लेवे राजा अपनी शपथ। वैसे ही जानो निश्चित। धनंजय यह।।७३।। वहां अर्जुन कहत हे कृष्ण। ऐसे विपरीत न करना भाषण। नाम से आपके ही पूर्ण।

मनोरथ मेरे।।७४।। इस पर भी आप कहत। कथन में शपथ लेत। क्या इस विनोद को अच्युत। पार कुछ?।।७५।। कमल बन का विकास। करे रवि का एक अंश। वही नित्य देत प्रकाश। जग को पूर्ण।।७६।। पृथ्वी को शमवत सागर। वर्षत इतना मेघ अपार। वहां केवल मिषान्तर। चातक का पार्थ।।७७।। अतः आपका असीम औदार्य। मेरे निमित्त से कहना यह। प्राप्ति सब जग को दानी राय। कृपानिधि!।।७८।। देव कहत अब अर्जुन। न करो मेरा स्तवन। किन्तु इसी उपाय से मेरा स्थान। पावोगे तुम।।७९।। सैंधव सिंधु में गिरत। जिस क्षण वही विरत। वहां शेष बचने का पार्थ। कारण ही क्या?।।१३८०।। वैसे सर्वत्र मुझे भजते निश्चित। मैं ही सब होवे तत्त्वतः। अहंता निःशेष होकर अन्ततः। होवोगे मैं ही।।८१।। कर्मादिक ये प्रकार। मेरे प्राप्ति तक ही समग्र। जो उपाय शुद्ध नाना प्रकार। दिखाये तुझको।।८२।। जो प्रथम ही कर्म संपूर्ण। करना मुझको अर्पण। तब सहज होवे प्रसन्न। मन मेरा।।८३।। पश्चात मेरे इस प्रसाद से। मेरा ज्ञान सिद्ध जैसे। त्रिशुद्धि मीनत उससे। स्वरूप में मेरे।।८४।। उस स्थान में पार्था कोई। साध्यसाधन करना नाहीं। किंबहुना तुझको किंचित ही। शेष न वहां।।८५।। देखो सब स्वकर्म किया अर्जुन। तुमने सदा मुझको अर्पण। उससे प्रसन्नता प्राप्त पूर्ण। आज यह मेरी।।८६।। अतः इस प्रसाद बल से। न प्रतिबंध हुआ युद्ध प्रसंग से। जो मोहित तेरे प्रेम से। हुआ आधीन मैं।।८७।। जिससे सप्रपंच अज्ञान जाये। एक मैं ही गोचर होवे। ऐसा युक्तिसहित उपाय बताये। सो गीतारूप यह।।८८।। मैंने ज्ञान तुझको अपना। उपदेशित प्रकार से

नाना। जिससे अज्ञान जात नष्ट अर्जुना। धर्माधर्म जो।।८९।।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।

आशा जैसी दुःख को। प्रसवत निन्दा दुरित को। और दुर्भाग्य दैन्य को। धनुर्धर।।१३९०।। वैसे स्वर्ग नरक सूचक। प्रसवत अज्ञान धर्मादिक। वह निर्मूल करत अशेख। ज्ञान से इस।।९१।। हाथ में लेकर डोर। छोड़िये जैसा सर्पाकार। या निद्रात्याग से घर बार। स्वप्न का जैसा।।९२।। पीलिया जब नष्ट अर्जुन। नष्ट चन्द्र का पीलापन। या व्याधित्याग से नष्ट कटुपन। मुख का जैसा।।९३।। अस्तंगत जब दिवस। लोपत मृगजल अनायास। काष्ठत्याग से बिन सायास। होवे वन्हिनाश।।९४।। वैसे धर्माधर्म का मिथ्या फल। दिखावे जो अज्ञान मूल। त्यजकर वह त्यज सकल। धर्मजात।।९५।। तब अज्ञान नष्ट होकर। मैं ही एक सहज सर्वत्र। जागृत स्वप्न से सनिद्र। अपना अकेला जैसा।।९६।। वैसे मैं एकबिन कोई। भिन्ना-भिन्न दूजा नाही। सोऽहं बोध से उसके ठाँयी। होत अनन्य।।९७।। अपने स्वयं के भेदबिन। जानना मेरा ही एक पन। उसका नाम आना शरण। मुझको पार्थ।।९८।। होते घट का विनाश। गगन का गगन में होवे प्रवेश। मुझको शरण आने से गुड़ाकेश। होवे ऐक्य।।९९।। सुवर्णमणि सुवर्ण को। आवे कल्लोल जैसा पानी को। वैसे धनंजय मुझको। आना शरण तुम।।१४००।। किन्तु पृथकपन से सागर के प्रति। बडवाग्नि शरण आवें किरीटि। उसको ही जलावे ऐसी कृति। न करना तुम।।१।। मुझको ही शरण आना। और पृथक जीवित्व रखना। धिक्कार ऐसे बोल को अर्जुना। प्रज्ञा न लजे

क्यो?।।२।। राजा को जो स्वीकृत। सामान्य सी कोई पार्थ। वह दासी भी लभत। समानता उसकी।।३।। मुझ विश्वेश्वर से भेंट हुई। और जीव ग्रंथी छूटी नहीं। ऐसी दुर्भाष कर्णतक कतई। न लाना तुम।।४।। अतः मैं होकर मेरी पार्थ। भक्ति करना सहज स्वतः। वह होवे पूर्ण हस्तगत। ज्ञान से जिस।।५।। तब तक्र से निकाला। पीछे पुनः तक्र में डाला। न कभी मक्खन मिला। उसमें जैसे।।६।। वैसे अद्वैत से मुझको पार्थ। शरण आने के उपरान्त। धर्माधर्म न बाधत। सहज तुझको।।७।। लोह खड़ा मिट्टी खावे। वह पारस संग जब होवे। बनके सुवर्ण न पुनः होवे। मलिन मल से।।८।। करके काष्ठ का मंथन। होवे अग्नि निर्माण। न रह सके पुनः। काष्ठ में कभी।।९।। अर्जुना क्या दिनकर। देख सकत अंधेर। या जागृति में होवे गोचर। स्वप्न भ्रम।।१४१०।। वैसा मैं जो सर्वव्याप्त। उससे ऐक्य होने उपरान्त। अन्य शेष रहने को पार्थ। क्या निमित्त कोई?।।११।। अतः धर्माधर्म की कोई। चिंता न रखना अपने ठाँई। तेरा पाप-पुण्य दोनो ही। होऊंगा मैं।।१२।। मुझसे रहना भिन्न। यही पापबंध कारण। मेरे होते शुद्ध ज्ञान। होगा नष्ट बंध।।१३।। जल में गिरत लवण। सबही होवे जल विचक्षण!। तुझको मैं अनन्य शरण। होऊं वैसा।।१४।। अनायास इससे भारत!। बंधन से तुम छूटत। जानो मुझको पूर्णतः। करूं मुक्त मैं तुझको।।१५।। इस कारण सर्वथा। न करो ऐसी मनोव्यथा। आओ मुझ एक को ही पार्था। शरण तुम।।१६।। ऐसे सर्वरूप रूपस ने। सर्व दृष्टिमान ने। सर्व देशनिवास ने। कहा श्रीकृष्ण ने।।१७।। तब शामल सकंकण। बाहु पसारकर दक्षिण।

आलिंगित स्वशरण। भक्तराज वह।।१८।। जिसकी न होवे प्राप्ति। वाणी लजाकर किरीटि। बुद्धि को लेकर संगति। लौटत पीछे।।१९।। ऐसे जो शब्द बुद्धि को। दुष्कर जो प्राप्ति को। किया वही एक दिखाने को। मिष आलिंगन का।।१४२०।। हृदय से हृदय एक होत। इस हृदय का उस हृदय में डालत। द्वैत न मोड़ते करत। अपनासा अर्जुन को।।२१।। दीप से दीप प्रज्ज्वलित। वैसे परिश्वंग से घटित। न छोड़कर द्वैत। किया अपने जैसा।।२२।। वहां सुख का अपार। आया अर्जुन को महापूर। वहां सर्वव्यापी वह ईश्वर। डूबा उसमें।।२३।। सागर को भेंटत सागर। वहां मेल से दुगनत पूर। व्यापत आकाश समग्र। उछलत ऐसा।।२४।। वैसा कृष्णार्जन का मिलन। अनावर दोनों को जाने कौन। किंबहुना नारायण ने पूर्ण। व्याप्त चराचर।।२५।। एवं वेद का मूल सूत्र। सर्वाधिकारैक पवित्र। श्रीकृष्ण ने ऐसा गीताशास्त्र। किया प्रकट।।२६।। वहां वेदों का मूल गीता। यह बोध हुआ कैसा तत्त्वता। यदि कहोगे तब कहूं पार्था। उपपत्ति प्रसिद्ध।।२७।। तब जिसके निःश्वास से। उत्पन्न वेदराशी जैसे। वह सत्य प्रतिज्ञ प्रतिज्ञा से। बोलत समुख से।।२८।। अतः वेदों को मूलभूत। गीता यह कथन उचित। और भी एक पार्थ। उपपत्ति यहां।।२९।। जो स्वरूप से न नष्ट। विस्तार जिसका जहां सुप्त। वही उसका यथार्थ। बीज जग में।।१४३०।। तब कांडत्रयात्मक। शब्दराशी जो अशेख। गीता में विद्यमान वृक्ष। बीज में जैसा।।३१।। अतः वेद का बीज। श्री गीता यह मुझ–। को भाये और सहज। दिखत भी पार्थ।।३२।। जो वेदों के तीन विभाग। गीता में प्रकट सुरंग। भूषणरत्न से सर्वांग।

सुशोभित जैसे।।३३।। कर्मादिक तीनो अर्जुन। काण्ड का किस स्थान में वर्णन। गीता में विद्यमान वह नयन–। को दिखाऊं सुनो।।३४।। तब प्रथम जो अध्याय। वह शास्त्र प्रवृत्ति प्रस्ताव। द्वितीय में सांख्य सद्भाव। प्रकाशित।।३५।। मोक्ष दान में स्वतंत्र। ज्ञान प्रधान यह शास्त्र। इस प्रकार दूजे में सूत्र। डाला पार्थ।।३६।। अज्ञान से जो बद्ध। उनको प्राप्त करना मोक्षपद। कहां कर्मयोग साधन प्रसिद्ध। तृतीयाध्याय में।।३७।। जो देहाभिमानबंध। छोड़कर काम्य निषिद्ध। विहित किन्तु अप्रमाद। बुद्धि से करना।।३८।। कर्म करना सद्भाव से। तृतीयाध्याय में भगवंत ने ऐसे। निरूपित जो निश्चय से। वही कर्मकांड यहां।।३९।। और कर्म नित्यादिक। आचरते आवश्यक। अज्ञान से मोचक। होवे कैसे?।।१४४०।। ऐसी जिज्ञासा लेकर। बद्ध मुमुक्षु होकर। ब्रह्मार्पण क्रिया समग्र। निरूपित देवने।।४१।। जो देह वाचा मानस से। कर्म विहित घटत जैसे। वह केवल ईश्वरोद्देश्य से। करना पार्थ।।४२।। यही ईश्वरी कर्म योग से। भजन कथन निमित्त से। निरूपित शेष भाग में आदर से। चतुर्थाध्याय के।।४३।। विश्वरूप जहां हुआ व्यक्त। उस ग्यारहवें अध्याय पर्यंत। कर्म से भजना भगवंत। निवेदित जो।।४४।। वह अष्टाध्याय में स्पष्ट। जानो उपासना काण्ड भारत। प्रतिबंध हटाकर शास्त्र। निरूपित वहां।।४५।। और उसी ईश्वर प्रसाद से। प्राप्त श्री गुरु संप्रदाय से। सत्यज्ञान उद्बोध से। कोमल जो।।४६।। वही अद्वेष्टादि प्रभृतिक। अथवा अमानित्वादिक। अतः मानना परिपक्वता का लेख। बारह में जानो।।४७।। वह बारह अध्याय आदि। और पंधरहवां अवधी–। तक ज्ञानफल पाक

सिद्धि। निरूपण को।।४८।। बारह से ऊर्ध्वमूल पर्यन्त। इन चारों अध्याय में पार्थ। ज्ञानकाण्ड समस्त। निरूपित यहां।।४९।। एवं कांडत्रय निरूपिणी। श्रुति ही यह मनमोहिनी। गीता पद्यरत्न धारिणी। सुविभूषित।।१४५०।। एवं कांडत्रयात्मक। श्रुति मोक्षरूप फल एक। प्राप्त करना आवश्यक। गर्जत ऐसी।।५१।। उस ज्ञान साधन का। प्रतिदिन करे बैर जो उसका। वही अज्ञानवर्ग का। वर्णन षोड़श में।।५२।। लेकर शास्त्रों का सहाय। करे अज्ञान का पराजय। कहे सतरहवां अध्याय। संदेश यह।।५३।। इसविध प्रथमाध्याय से। सतरहवें के अंत तक जैसे। आत्मनिःश्वास स्वरूप विवरण से। दिखाया देव ने।।५४।। उस अर्थजात का अशेष। तात्पर्य विचार विशेष। जिस अठारहवें में सो खास। कलशाध्याय यह।।५५।। एवं सकल सांख्य सिंधु। श्रीमद्भगवद्गीता प्रबंधु। औदार्य में श्रेष्ठ वेदु। मूर्त जानो।।५६।। वेद यद्यापि ज्ञान संपन्न। किन्तु न कोई ऐसा कृपण। जो कहे अपना गुह्य ज्ञान। त्रिवर्ण को ही।।५७।। स्त्री शूद्रादिक जो अन्य। भोगत भवव्यथा दैन्य। करे अनवसर से पूर्ण। वंचित उनको।।५८।। पूर्ण करने वह न्यूनपन। मानू मैं धारण करके गीतापन। लेवे कोई भी अपना ज्ञान। हुआ सेव्य सबको।।५९।। अर्थरूप से वह मन में। श्रवण से प्रवेशत कर्ण में। जपमिष से वसत वदन में। गीतारूप यह।।१४६०।। नित्य गीतापाठ जो करत। संग में उसके जो रहत। गीता लिखकर बाटत। पुस्तक रूप में।।६१।। इसविध मेरे सहित। संसार चौराहे पर पार्थ। अन्नसत्र डाले सुघट। मोक्ष सुख की।।६२।। जैसे करने आकाश में संचार। अथवा निवास पृथ्वी पर। या रविदीप्ति के व्यवहार—। को

सहाय आकाश एक।।६३।। उत्तम-अधम वैसे। उपासक माने एक से। कैवल्यपद देवे समान रूप से। जग को सब।।६४।। पूर्वारोप से भयभीत। वेद गीता पेट में छिपत। तब कीर्ति उत्तम होवे प्राप्त। जग में उसको।।६५।। अतः वेद की सुसेव्यता। सो यह मूर्त गीता। पार्थ को श्रीकृष्ण स्वतः। उपदेशत स्वयम्।।६६।। किन्तु वत्स के प्रेमपान्हा से। दूध होवे घेरोद्देय से। हुआ पांडव के मिष से। जगदुद्धरण।।६७।। चातकी की कृपा कारण। मेघ करत जलवर्षण। वहां चराचर संपूर्ण। शमत जैसे।।६८।। कमल के लिये अनन्य गतिक। पुनः पुनः आवे सूर्य प्रकाशक। परन्तु प्राप्त नेत्रसुख। त्रिभुवन को संपूर्ण।।६९।। वैसे अर्जुन के ब्याज। प्रकाशत गीता श्रीराज। संसारसम भारी बोझ। किया दूर।।१४७०।। सर्व शास्त्र रत्नदीप्ति। प्रकाशक त्रिजगत में किरीटि। क्या सूर्य यह लक्ष्मीपति। वक्त्राकाश का?।।७१।। धन्य वह कुल पवित्र। जिसका पार्थ इस ज्ञान को पात्र। जिसने किया गीता-शास्त्र स्वतंत्र। आवार जगको।।७२।। अस्तु! उस दिव्यालिंगन–। से अर्जुन हुआ अद्वैतमग्न। वहां लाया द्वैतपन। सद्गुरु श्रीकृष्ण ने।।७३।। पश्चात कहत पार्थ!। क्या शास्त्र मन में हुआ स्पष्ट। वहां कहे वह अच्युत!। कृपा आपकी।।७४।। प्राप्त होने निधान। भाग्य होना अर्जुन। किन्तु प्राप्त का भोगज्ञान। क्वचित ही किसी को।।७५।। इतना बड़ा क्षीरसागर। निर्मल दूध का पात्र। कितना कष्ट सुर-असुर। को मंथन समय।।७६।। उसका फल अमृत। यत्न से हुआ प्राप्त। किंतु रक्षण को असमर्थ। अविवेकी वे।।७७।। मिलना जिससे अमरपन। उससे ही हुआ मरण। न था उनको भोगज्ञान। इसीलिये।।७८।।

हुआ नहुष स्वर्गाधिपति। किन्तु न जाने आचार नीति। पावे वह भुजंगजाति। क्या न जानत तुम।।७९।। अर्जुन! तुमने निश्चित। पुण्य किया बहुत। जो इस शास्त्रराज प्रीत्यर्थ। हुए विषय तुम।।१४८०।। इस शास्त्र का सनातन। संप्रदाय जानकर पूर्ण। शास्त्रार्थ का आचरण। करो नीका।।८१।। नहीं तो अमृत मंथन–। समान होगा अर्जुन। यदि करोगे आचरण संप्रदाय बिन।।८२।। धेनु उत्तम पुष्ट। किंतु तबही दुग्ध प्राप्त। जब युक्ति कला ज्ञात। दोहन की पार्थ।।८३।। वैसे श्रीगुरु प्रसन्न होवे। विद्या भी शिष्य लाहे। परंतु तभी फल पावे। करने से संप्रदायपूर्वक।।८४।। अतः इस शास्त्र में उपयुक्त। संप्रदाय जो युक्त। सुनो आदर से अत्यंत। धनंजय।।८५।।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन। न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

तब तुमने जो यह पार्थ। जाना गीता शास्त्र आस्था सहित। वह तपोहीन को सर्वतः। न कहना कभी।।८६।। अथवा तपस्वी यदि अर्जुन। किंतु गुरुभक्ति विहीन। त्यजो अंत्यज समान। बहिष्कृत वेद से जो।।८७।। वृद्ध यदि वायस। न देना उसको पुरोड़ाश। न दो गीता वैसी तापस–। को गुरुभक्तिहीन जो।।८८।। जो देहसे करे तपहि। और भजत गुरुदेव को ही। किन्तु गीता श्रवण में नहीं। इच्छा मन में।।८९।। तब तापसी और गुरुभक्त दोनों गुणों से संयुक्त। किंतु गीता श्रवण को निश्चित। अयोग्य वह।।१४९०।। मुक्ताफल कितना भी सुंदर। किन्तु न उसको छिद्र। गुणप्रवेश उसमें सुवीर। संभव कैसा?।।९१।। माना सागर गंभीर। कौन न यह माने नर?। किंतु होवे यदि वृष्टि उसपर।

जावे वृथाहि वह।।९२।। जो भोजन से हुआ तृप्त। उसको परोसना मिष्टान्न व्यर्थ। क्यों न करना औदार्य प्रकट। क्षुधित को देकर।।९३।। अतः और सब दृष्टि से युक्त। किंतु गीता श्रवण में नहीं चित्त। न कहना यह शास्त्र। कदापि उसको।।९४।। चक्षु यथार्थ जाने रूप को। किंतु क्या वह जाने परिमल को?। अतः जो योग्यता जिसको। फल पावे वही।।९५।। अतः तप और भक्ति। देखना तुम सुभद्रापति। किंतु शास्त्र श्रवण में यदि अनासक्ति। त्यागना ही उसको।।९६।। नातर तप एवं भक्तियुक्त। श्रवण विषय में आर्त। ऐसी भी गुणसंपत। देखो यदि।।९७।। तथापि गीताशास्त्र निर्माता। जो मैं सकल लोकशास्ता। ऐसे मुझ में सामान्यता। देखे जो।।९८।। मैं और मेरे भक्तगण। इनको जो देत दूषण। वे सर्वथा अपात्र जान। गीता श्रवण को।।९९।। उनके वे सब गुण। जानो ऐसे व्यर्थ अर्जुन। दीपस्थान दीपबिन। रात्रि समय में।।१५००।। अंग गोरा और तरुण। ऊपर आभूषण किये धारण। किन्तु यदि उसको अकेले प्राण–। न छोड़ा जैसे।।१।। सुवर्ण का अति सुंदर। निर्मित विशुद्ध घर। किंतु सर्पिणी से द्वार। रुद्ध जैसा।।२।। मिष्ठान्न सुरस स्वादिष्ट। किंतु मिलाया उसमें कालकूट। बाहिर मैत्री अंतर में कपट। व्यर्थ जैसा।।३।। वैसे तप भक्ति मेधा। वृथा उनकी जानो प्रबुद्धा। जो मेरे भक्तों की करे निंदा। अथवा मेरी।।४।। इस कारण पार्थ। यदि वह मेधावी तपी भक्त। न करने देना इस शास्त्र–। को स्पर्श उसको।।५।। बहुत क्या कहूं अर्जुन। निंदक यदि विधाता समान। न करो गीता निरूपण। कौतुक से भी कभी।।६।। अतः तप की धनुर्धर। नीव दृढ़ तल में डालकर।

ऊपर गुरुभक्ति का सुंदर। प्रासाद हुआ जो।।७।। और श्रवणेच्छा का द्वार। खुला नित्य निरन्तर। कलश रम्य शोभत ऊपर। अनिंदा रत्नों का।।८।।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति। भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८।।

ऐसे भक्तालय में अर्जुन। करो गीता रत्नेश्वर का प्रतिष्ठान। तब योग्यता मेरे ही समान। पावोगे जग में।।९।। मात्रात्रय के कोख से। प्रणव जो एकाक्षरत्व से। अवरुद्ध गर्भवासमें जैसे। धनुर्धार।।१५१०।। वह वेदों का बीजमंत्र। गीतारूप से हुआ विस्तृत। श्लोक पुष्पफल से बहरत। गायत्री रूप से।।११।। वही यह मंत्ररहस्य गीता। भेंट करत भक्त को मेरे पार्था। अनन्य जीव को माता। बालक को जैसी।।१२।। वैसे गीता और भक्त का। मेल करे सादर दोनों का। देहान्त में मुझसे वह मेरा सखा। एकरूप होत।।१३।।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः। भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।६९।।

ऐसा करके देहालंकार धारण। देहभाव से अलिप्त पूर्ण। वही जीव प्राण से अर्जुन। प्रिय मेरा।।१४।। ज्ञानी कर्मठ तापस। इन लक्षणों से युक्त मानुष। मध्ये वह एक विशेष। प्रिय मुझको।।१५।। वैसा अशेष भूतल पर। अन्य न देखूं धनुर्धर। जो कहे गीताशास्त्र। भक्त समुदाय को।।१६।। मुझ ईश्वर के भक्ति से पूर्ण। शांति से करे गीता पठण। होवे वह सभा को मंडण। संतसज्जनों की।।१७।। करे नवपल्लव रोमांचित। मंदानिल से करे कंपित। आमोद जल से भरत। नयन पुष्प को।।१८।। कोकिल कलरव मिष से। गद्गद् पुकारते जैसे। प्रवेशत बसंत वैसे। मद्भक्त आराम में।।१९।। अंबर में जब आवे चंद्र।

सफल जन्म होवे चकोर। अथवा नूतन मेघ को मयूर। देत साद।।१५२०।। गीता पद्यरत्न की वृष्टि। सज्जन समुदाय पर किरीटि। करे मत्प्राप्ति पर दृष्टि। रखकर जो।।२१।। मुझको उसके समान। प्रिय न देखो अन्य। न हुआ न होगा अर्जुन। त्रिभुवन में कोई।।२२।। प्रिय इस सीमा तक पार्थ। उसे मैं हृदय में रखत।जो गीतार्थ की करत। मेजवानी सन्त को।।२३।।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः। ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।।७०।।

मेरे तेरे मिलन में पार्था। विस्तारित जो यह कथा। मानो मोक्षधर्महि आया सर्वथा। जीने यहां।।२४।। सो यह सकलार्थ बोध। हम दोनों का संवाद। न करते विस्तृत पदभेद। पठण करे जो।।२५।। उसने ज्ञानानल में प्रदीप्त। मूल अविद्या की आहुति पार्थ। देकर किया संतुष्ट। मुझ परमात्मा को।।२६।। गीतार्थ का अनुभव लेकर। फल जो पावत ज्ञानी नर। गीता का गायन पठनकर। पावत वही।।२७।। गीता पाठक को वैसे। फल प्राप्त अर्थज्ञ को जैसे। गीता माता को न भेद वैसे। बालकों में अपने।।२८।।

श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो नरः। सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।।७१।।

और सर्वमार्गी निन्दा। छोड़कर आस्था शुद्धा—। गीता श्रवण में श्रद्धा। रखे जो।।२९।। उसके कर्ण में पार्थ। गीताक्षर जब प्रविष्ट। होवे तत्क्षण भागत। पाप दूर।।१५३०।। अटवी भीतर जैसा।। प्रवेशत वन्हि सहसा। भागत दश दिशा—। में वनचर सब।।३१।। अथवा उदयाचल पर। उदित जब भास्कर। अंतराल में तिमिर। लुप्त होत।।३२।। वैसे

कर्ण महाद्वार में पार्थ। गीता गजर जहां करत। सृष्टि के आदि से कृत समस्त। पाप नष्ट।।३३।। ऐसी प्रक्षालित वंशवेल। होवे पुण्यरूप निर्मल। इससे भी श्रेष्ठ फल। लाहे वह।।३४।। इस गीता के अक्षर। जितनों के कर्णद्वार। में रीगत उतने होत समग्र। अश्वमेघ पूर्ण।।३५।। अतः श्रवण से पाप नष्ट। और धर्म होवे उन्नत। उससे स्वर्गराज्य संपत। पावे अन्त में।।३६।। मेरे प्राप्ति के मार्ग में। प्रथम पड़ाव स्वर्ग में। सुख यथेच्छा भोगकर उसमें। मीनत मुझमें।।३७।। ऐसी गीता अर्जुन। करे जो श्रवण पठण। लाहे आनंदमय मद्रूपता पूर्ण। बहुत क्या कहूं?।।३८।। अतः रहने दो यह पार्थ। जिसलिये शास्त्रविस्तार समस्त। किया वह क्या हुआ परिपूर्त। कार्य तेरा।।३९।।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा। कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय।।७२।।

तब कहो हे पार्थ!। सब यह शास्त्रसिद्धान्त। हुआ तुमको ज्ञात स्पष्ट। एक चित्त से।।१५४०।। हमने जिस रीति से। किये स्वाधीन कर्ण के जैसे। क्या चित्त में तेरे वैसे। समर्पित वे।।४१।। अथवा बीच में ही। छांड़े बिखरे सबही। या उपेक्षा से तुमने ही। छोड़ा उनकों।।४२।। जैसे हमने निरूपित। वैसे ही यदि हृदय में प्रविष्ट। तब कहो अब त्वरित। जो पूछूं मैं।।४३।। जो स्व-अज्ञानजनित। पूर्व मोह से तुम भ्रमित। क्या वह अभी है या लुप्त। कहो पार्थ!।।४४।। अधिक क्या पूछूं सांप्रत। इतना ही कहो भारत। कर्माकर्म अपने में अवशिष्ट। देखत कुछ।।४५।। स्वानंदैक्यरस में अर्जुन। होगा अब निमग्न। जगावत भेददशा को कृष्ण। प्रश्न मिष से।।४६।। यदि पूर्ण ब्रह्म हुआ पार्थ। तब साधने

अग्रिम कार्यार्थ। द्वैत मर्यादा श्रीकृष्ण नाथ। लांघने न देत।।४७।। वैसे क्या अपना कार्य। न जानत वह सर्वज्ञ। परंतु किया प्रश्न। इसीलिये।।४८।। एवं पूछकर प्रश्न। नष्ट हुआ जो अर्जुनपन। लाकर अनुभव पूर्णपन–। का कहलावत स्वयं।।४९।। देखो छांडके क्षीरसागर। गगन में पुंजमंडित वही हिमकर। अभिन्न किंतु भासत पूर्णचंद्र। भिन्न जैसा।।१५५०।। वैसे जब ब्रह्म मैं यह विस्मरत। वहां जग ही ब्रह्मत्व से भरत। वह भी जहां छांडत तब नष्ट। ब्रह्मपन भी।।५१।। ऐसी ब्रह्मस्मृति विस्मृति से। आकर देहस्थिति पर दुःख से। मैं अर्जुन इस नाम से। हुआ खड़ा।।५२।। तब कंपित करतल से। रोमावली दबाकर वैसे। स्वेद बिंदु पुलकित शोषत जैसे। जहां के वहां।।५३।। प्राण क्षोभ से डोलता। अंग अंग से सम्भालता। स्तंभित हुआ स्वतः। भुलाकर सब।।५४।। नेत्र युगल के प्रवाह को। आनंदामृत के भर को। उछलते अश्रुधारा को। पोंछकर पुनः।।५५।। विविध उत्कंठा से परिपूर्ण। कंठ गदगद संपूर्ण। उसे पैठा कर पूर्ण। हृदय भीतर।।५६।। स्वरभंग वाचा का। विपरीत क्रम श्वास का। क्षोभ ऐसा प्राण का। करके स्थिर।।५७।।

अर्जुन उवाच–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।७३।।

तब अर्जुन कहत हे अच्युत। क्या पूंछत मोह की बात। वह तो समूल हुआ नष्ट। कुटुंबसहित।।५८।। समीप आकर दिनकर। क्या नयन को अंधेर?। प्रश्न को इस क्या आधार? किस गांव में।।५९।। वैसे आप रमावर। मेरी दृष्टि को गोचर। मोह निर्दालन

कर। क्या न पर्याप्त वह?।।१५६०।। माता से भी बढ़कर प्यार से। आपने निरूपित विस्तार से। जो न संभव अति प्रयास से–। भी जानना शक्य।।६१।। अब मोह शेष अथवा नाही। ऐसे यह पूंछत काइ। कृत्यकृत्य हुआ मैं सच ही। कृपा से आपकी।।६२।। था अर्जुनपन से बद्ध। हुआ त्वद्रूप से मुक्त शुद्ध। अब पूंछने कहने का संबंध। दोनों का नाहीं।।६३।। देव आपका प्रसाद। पाया मैंने आत्मबोध। मोह के विषयकंद। करूं निर्मूल मैं।।६४।। अब करना या न करना। उत्पन्न जिस द्वैतभावना–। से सो न जानु आपबिना। सर्वत्र मैं।।६५।। इस विषय में मेरे मन में कोई। संदेह कुछ भी शेष नाहीं। त्रिशुद्धि कर्म जहां नाहीं। वह हुआ मैं।।६६।। आप से ही मुझको मैं ज्ञात। कर्तव्य हुआ समूल नष्ट। अब आपकी आज्ञाबिन अच्युत। अन्य न शेष।।६७।। क्यों की जो दृश्य को नाशत। जो दूना द्वैत को ग्रासत। जो एक किंतु व्यापत। सर्वदेश।।६८।। संबंध से जिसके बंध नष्ट। जिसकी आशा से आशा लुप्त। मिलने से जो सब प्राप्त। अपने को।।६९।। सो आप मेरे गुरुदैवत। जो एकपन को साह्य होत। जिसके लिये करना उल्लंघित। अद्वैत बोध।।१५७०।। स्वयं होकर ब्रह्म। कृत्याकृत्या का छोड़िये काम। पश्चात कीजे निःसीम। सेवा जिसकी।।७१।। गंगा समुद्र सेवा में जात। जाते ही स्वयं समुद्र होत। वैसी भक्त को पात्रता देत। निज पद की।।७२।। सो आप मेरे निरूपचारू। श्रीकृष्ण सव्य सद्गुरु। किया ब्रह्मत्व का उपकारू। मानु यह।।७३।। जो मेरे आपके आड़। भेद का था किवाड़। हटाकर सेवासुख की जोड़। दी मुझको।।७४।। अतः अब आपकी आज्ञा। सकल देवाधिदेवराज्ञा। करूं मैं दो

अनुज्ञा। चाहो जैसी।।७५।। अर्जुन के बोलपर अच्युत। सुखमगन नाचन लागत। कहे विश्वफल को मुझे प्राप्त। फल यह आज।।७६।। न्यून रहित सुधाकर। देखकर पूर्ण अपना कुमर। क्या न भूलत क्षीरसागर। मर्यादा अपनी।।७७।। ऐसे संवाद वेदी पर। लग्न दोनों का देखकर। संजय हुआ विभोर। अत्यानंद से।।७८।। आनंदोत्कर्ष से सद्गदित। धृतराष्ट्र को संजय कहत। कैसे हम दोनों रक्षित। बादरायण से।।७९।। आपको देखने संसार। चर्मचक्षु भी नहीं नृपवर। हुआ ज्ञानदृष्टि का व्यवहार। प्राप्त आपको।।१५८०।। और रथ संचालन सेवक। रखा मुझको अश्वपरीक्षक। ऐसे हम सबको सब प्रत्यक्ष। हुआ गोचर।।८१।। यह युद्ध का निर्वाण। रचा यहां अति दारुण। उभय पक्ष से हम पूर्ण। हुए पराजित जैसे।।८२।। इतना जहां संकट। किन्तु कैसा अनुग्रह बलिष्ट। जो ब्रह्मानंद का स्पष्ट। अनुभव देत।।८३।। इसविध संजय बोलत। किंतु वृन्द्ध स्तब्ध न हुआ द्रवित। चंद्रकिरणों से स्पर्शित। पाषाण जैसा।।८४।। देखकर उसकी दशा। न रखते संबंध जैसा। सुखोन्माद से सहसा। बोलत जात।।८५।। हर्षवेग में मग्न। धृतराष्ट्र को करे कथन। अन्यथा अपात्र वह पूर्ण। जानो निश्चित।।८६।।

संजय उवाच--

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः। संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

तब कहत कुरुराज को। ऐसे बंधुपुत्र तेरा अधोक्षज को। बोलत वह कथन उसको। भाया अति।।८७।। देखो पूर्वापर सागर। इनमें नाम का ही अन्तर। वैसे अशेष वह नीर।

एक जैसे।।८८।। वैसे श्रीकृष्ण और अर्जुन। देहरूप से मात्र भिन्न। किंतु संवादरूप से पूर्ण। अभेद वे।।८९।। दर्पण से भी चोख। दोनों यदि आवत सम्मुख। वहां एक दूजे को देख। देखत स्वयम्।।१५९०।। वैसे देवसहित पंडुसुत। अपने में देव देखत। पांडव सहित देखे अनंत। स्वयं में ही पार्थ।।९१।। वह देवाधिदेव श्रीकृष्ण। स्वरूप में निहारे जो अर्जुन। विवेक से तब हुआ दर्शन। दोनों का वहां।।९२।। और कुछ भी द्वैत। न दोनों में अवशिष्ट। हुआ पूर्ण अद्वैत। कृष्णार्जुन का।।९३।। अब यदि भेद हुआ दूर। कैसे संभव प्रश्नोत्तर। और यदि भेद न हुआ दूर। संवाद सुख कैसे?।।९४।। अतः द्वैतभाव से बोलत-बोलत। संवाद में द्वैत हुआ लुप्त। वह अलौकिक सुनी बात। दोनों की मैंने।।९५।। साफ करके दर्पण। रखे सम्मुख समान। इसको देखत कौन?। जानना कैसे?।।९६।। क्या दीप के सम्मुख। रखा यदि दीपक। कौन किसका आर्थिक। जाने कौन?।।९७।। अथवा अर्कसम्मुख अर्क। उदित यदि अन्य एक। कौन वहां प्रकाशक। और प्रकाश्य कौन?।।९८।। श्रीकृष्ण और अर्जुन। संवाद से ऐसे हुए अभिन्न। करना उनका निर्धारण। असंभव।।९९।। अजी, मिलते दो उदक। मध्ये रखा लवण वारु एक। की हुआ वह निमिख–। भर में एक।।१६००।। वैसे श्रीकृष्ण और अर्जुन। संवाद का करके मंथन। मेरी भी होवे उसी समान। अवस्था वैसी।।१।। ऐसा जो करे भाषण। तब सात्त्विक भाव उत्पन्न। वहां न जाने संजयपन का स्मरण। खोया कैसे?।।२।। रोमांच जब उभरत। त्यों-त्यों अंग संकुचत। स्तंभ स्वेद को जीतत। अकेला कंप।।३।। वहां अद्वयानंद स्पर्श से।

दृष्टि रसमय होवे उससे। अश्रु न ये धारण किये जैसे। साक्षात् द्रवत्व ही।।४।। कुछ न समाये पेट में। शब्द न एक भी कंठ में। वागर्थ श्वासोश्वास में हुआ एक।।५।। अष्ट सात्त्विक भाव उमड़त। शब्द मुख में मुरावत। संजय शरीर चौहट्टा होत। संवाद सुख का।।६।। उस सुख की ऐसी जाती। जो स्वयं ही धरे शांति। तब पुनः देहस्मृति। प्राप्त उसको।।७।।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्। योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।।७५।।

तब शमित आनंद से। कहे जो न ज्ञात उपनिषद से। वह सांप्रत व्यास प्रसाद से। सुनी मैंने।।८।। सुनते तत्त्क्षण वह गोष्ठी। ब्रह्मत्व की हुई प्राप्ति। मैं तू पन की सृष्टि। विलीन हुई सब।।९।। ये अशेष ही योग। जहां पहुंचत ये मार्ग। उसका वचन किया सुलभ सुरंग। व्यासदेव ने मुझको।।१६१०।। अजी, अर्जुन के मिष से। स्वयं ही दूजा होकर जैसे। नटकर अपने ही उद्देश्य से। निरूपित जो देव ने।।११।। उसको सुनने पात्र। हुए मेरे ये श्रोत्र। क्या बखानु स्वतंत्र। सामर्थ्य श्रीव्यासजीका।।१२।।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्। केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

हुआ विस्मित स्वयं कहते यह। संजयपन विस्मरत संजय। रत्नदीप्ति से आच्छादित होय जो। रत्न ही जैसे।।१३।। हिमवंत के सरोवर। चंद्रोदय में होत काश्मीर। होवे सूर्योदय में पुनः नीर। आवे द्रवत्व।।१४।। वैसा शरीर की स्मृति से। संवाद स्मरत चित्त से। और पुनः देह विस्मृति से। होवे विस्मरण।।१५।।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः। विस्मयो मे महान्राजनन्हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

तब सानंद उठकर नृप को। कहे श्रीहरि के विश्वरूप को। देखकर न प्रसन्नता तुझको। कैसे चुप हो तुम?।।१६।। जो न देखते ही दिखत। नाहीपन से भी भासत। विस्मरण से भी स्मरत। भुलाऊँ कैसे उसको?।।१७।। उसका मानू चमत्कार। इतना भी नहीं अवसर। मेरे सहित वह महापूर। बहावत सब।।१८।। ऐसा जो श्रीकृष्णार्जुन। —संवाद संगम में स्नान। करके देत तिलोदक दान। अहंता का।।१९।। उस अनिवार आनंद से। अलौकिक कुछ सिसकान से। कृष्ण-कृष्ण कहे कंठ से। बारम्बार।।१६२०।। इस आनंद की कोई। अंध कौरव को वार्ता नाहीं। अतः करे जब कल्पना कुछ ही। राव तब।।२१।। हुआ था जो सुख लाभ। अंतर में करके स्वयंभ। बुझावत अवष्टंभ। संजय स्वतः।।२२।। तब नृप कहे इस अवसर। कहना जो बात छोड़कर। कहत बात अनवसर। कैसी रीत तेरी?।।२३।। सुनो तुम यहां व्यास से। बिठाये किस उद्देश से। सो तुम अप्रसंग में ऐसे। बोलत काई।।२४।। राजमहल में जंगली जात। दशहि दिशा सुनी पावत। दिन होते ही रात भासत। निशाचर को जैसे।।२५।। जो न जाने जिसका गौरव। उसको लगे वह निःसत्त्व। अतः उसको अप्रसंगत्व। कहत वह।।२६।। तब कहे कहो प्रस्तुत। यह कलह जो उदित। किसको वह जैत्य। देगा अन्त में।।२७।। वैसे विशेष बहुतेक। हमारा ऐसा मानसिक। जो दुर्योधन का अधिक। प्रताप सदा।।२८।। और पांडवों की तुलना में संजय। देव्हड़ा इसका सैन्य। अतः पायेगा वहां जय। सुनिश्चित।।२९।। हमको तो भासत

ऐसा। किंतु कहो ज्योतिष तेरा कैसा। न जानु जैसा होवे वैसा। कहो संजय अब।।१६३०।।

संजय उवाच–

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

सुनकर कहे यह संजय। न जानू परस्पर का जयाजय। किंतु जितना होगा आयुष्य। निश्चित जीना उतना।।३१।। चंद्र जहां चंद्रिका वहां। शंभु जहां अंबिका वहां। संत जहां विवेक वहां। सुनिश्चित।।३२।। राजा जहां वहां सैन्य। मैत्री वहां जहां सौजन्य। वन्हि जहां वहां सामर्थ्य। दाहक जानो।।३३।। दया वहां धर्म। धर्म वहां सुखागम। सुख वहां पुरुषोत्तम। विद्यमान जैसा।।३४।। वसंत वहां वन। वन वहां सुमन। सुमन वहां भ्रमरगण। एकत्रित जैसे।।३५।। गुरु वहां ज्ञान। ज्ञान वहां आत्मदर्शन। दर्शन में समाधान। सहज जैसे।।३६।। भाग्य वहां विलास। सुख वहां उल्लास। और सूर्य वहां प्रकाश। रहे जैसा।।३७।। वैसे सकल पुरुषार्थ। जिस स्वामी से सनाथ। ऐसे जहां श्रीकृष्णनाथ। लक्ष्मी वहां।।३८।। और अपने पति सहित। जगदंबा जहां सतत। अणिमादि दासियां निश्चित। रहत वहां।।३९।। विजयस्वरूप निजांग से कृष्ण। जिस विभाग में विद्यमान। तब जयलाभ पूर्ण। जानो वहां।।१६४०।। विजय नाम से अर्जुन विख्यात। विजय स्वरूप श्रीकृष्णनाथ। अतः विजय श्री सहित। निश्चित वहां।।४१।। उस देश के वृक्ष समस्त। कल्पवृक्ष को होड़ से जीतत। लक्ष्मी एवं लक्ष्मीनाथ। मां-बाप जिसके।।४२।। वहां के पाषाण वे। क्यों न चिंतामणि होवे। उस भूमि को क्यों न आवे। सुवर्णत्व।।४३।। उस

गांव की नदियां। क्यों न अमृत बहे वहां। नवल क्या इसमें राया। सोचो जरा।।४४।। उनके स्वच्छंद शब्द। वही निश्चय से बनत वेद। सदेह सच्चिदानंद। क्यों न होवत वे।।४५।। अतः स्वर्गापवर्ग दोनों पूर्ण। पद जिसके स्वाधीन। वह पिता जिसका श्रीकृष्ण। और जननी कमला।।४६।। अतः जिस पक्ष में पद्मनाभ। खड़ा लक्ष्मी का वल्लभ। वहां सब सिद्धियां स्वयंभ। और न जानू मैं।।४७।। समुद्र से उत्पन्न जलधर उपयोग में उससे बढ़कर। भाग्य पार्थ का उसी प्रकार। विशेष आज।।४८।। लोह को देवे सुवर्णपन। अतः पारस को गुरुपन। किंतु जग का परिपोषण। वही जाने।।४९।। यहां गुरुत्व को आवे हीनत्व। ऐसे यदि कहे कोई क्वचित। क्या न वन्हि दीपत्व से प्रकाशत। प्रकाश अपना?।।१६५०।। वैसे लभते देव की शक्ति। पावे अधिक योग्यता निश्चिति। अतः करके उसकी स्तुति। गौरव देवका ही।।५१।। मुझको सर्वगुणों से जीतना–। पुत्र ने पिता की यह कामना। सो फलीभूत यह भावना। कृष्ण मन की।।५२।। किंबहुना इसविध नृपनाथ। कृष्ण कृपा से समर्थ पार्थ। साक्षेप से सज्ज यथार्थ। पक्ष में जिस।।५३।। वही जानो विजय का ठांव। यहां तुमको क्या संदेह?। यदि न वहां तो व्यर्थ होय। विजय स्वयम्।।५४।। अतः जहां श्री वहां श्रीमंत। और जहां वह पंडुका सुत। वहां विजय समरूप निश्चित। अभ्युदय वहां।।५५।। यदि श्री व्यासपर सत्य। मन आपका विश्वास करत। तब ध्रुवहि मानो बात। मेरी यह।।५६।। जहां वह श्रीवल्लभ। जहां भक्तगण कदंब। वहां सुख और लाभ। मांगल्य का।।५७।। यदि होगा वचन यह असत्य। तब न कहूं स्वयं को व्यास का

अंकित। इसविध गरजकर उभारत। बाहू वह।।५८।। एवं महाभारत का सार। श्लोक एक में संचित कर। दिया संजय ने कुरुवीर–। के हाथ तब।।५९।। जैसा न जाने वन्हि कितना श्रेष्ठ। किंतु गुणाग्र पर रखके लावत। सूर्य का न्यून निस्तारत। रात्रि समय में।।१६६०।। वैसे शब्द ब्रह्म अनन्त। हुआ सवालक्ष भारत। भारत का सप्त-शत। सर्वस्व गीता।।६१।। उस सप्तशती गीता का। इत्यर्थ श्लोक यह अंतका। व्यासशिष्य संजय का। पूर्णोद्धार जो।।६२।। इस एक ही श्लोक का चिंतन। आस्तिक जो करे पूर्ण। विद्याजात का सार स्वाधीन। किया उसने।।६३।। ऐसे सप्तशत श्लोक सुंदर। धरत गीतापद अंक पर। पद कहे या परमामृत मधुर। गीताकाश का यह।।६४।। आत्मराज के सभागृह में। श्लोक ये स्तंभ उसमें। ऐशी मेरी प्रतिभा में। कल्पना एक।।६५।। अथवा गीता यह सप्तशती। मंत्रप्रतिपाद्य भगवती। देकर मोह-महिष को मुक्ति। मुदित वह।।६६।। अतः मन काया वाचा से जो एक। बनेगा इसका सेवक। होगा स्वानंद साम्राज्य का अशेख। चक्रवर्ती वह।।६७।। या अविद्या तिमिर दोष से। प्रतिज्ञा से सूर्य को जीते जैसे। श्लोक प्रकाशित गीता मिष से। श्रीकृष्ण राय ने।६८।। या यह श्लोकाक्षरद्राक्षलता। मंडप हुई श्री गीता। संसार पथ श्रांत को सर्वथा। विश्राम स्थान।।६९।। श्रीकृष्ण दिव्य सरोवर। जहां श्लोक कल्लार मनोहर। भाग्यवंत संत भ्रमर। लूटत मकरंद।।१६७०।। अथवा ये श्लोक नहीं अन्य। भाये श्री गीता का महिमान। बखानत बंदिजन। उदंड जैसे।।७१।। या श्लोक परकोट। सप्तशत के करके सुघट। आये बस्ती को आगम

समस्त। गीतापुर में।।७२।। अथवा आत्मरूप निज कान्त को। आई गीता प्रेम से मिलने को। श्लोक न ये इन बाहों को। पसार के स्वयम्।।७३।। या ये गीता कमलों के भृंग। अथवा ये गीतासागर तरंग। या हरि के ये तुरंग। गीता रथ के।।७४।। अथवा श्लोक सर्व तीर्थ संघात। श्री गीतागंगा में प्रवेशत। जो अर्जुन नर सिंहस्थ। हुआ यहां।।७५।। किंवा न यह श्लोक श्रेणी। अचिन्त्य चित्त चिन्तामणि। की यह कल्पतरु की रोपनी। निर्विकल्प के लिए।।७६।। ऐसे ये सप्तशत श्लोक। एक से बढ़कर एक। छोटे बड़े कैसे पृथक। बखाने अब।।७७।। एक छोटी करे स्तनपान। एक ब्याही करावे दुग्धपान। न संभव ऐसा कथन। कामधेनु को।।७८।। दीप अगला पिछला प्रकाशकर। छोटा या बड़ा भास्कर। उथला या सखोल सागर। संभव कैसे?।।७९।। वैसे प्रथम एवं अंत के। श्लोक न कहो गीता के। क्या पुष्प पारिजात के। नये पुराने कभी?।।१६८०।। इन श्लोकों को उपमा नाही। कैसा समर्थन करे इनका कोई। वाच्य वाचक भेद कतई। न संभव यहां।।८१।। जो इस शास्त्र में एक। श्रीकृष्ण ही वाच्य वाचक। जानत सब लोक। प्रसिद्ध यह।।८२।। अर्थज्ञान और पारायण। दोनों का फल समान। जो हुआ एकीकरण। वाच्य वाचक का यहां।।८३।। अतः मुझको कोई। समर्थन को विषय नाहीं। गीता जानो यह वाङ्मयी। श्रीमूर्ति प्रभु की।।८४।। शास्त्र वाचन से अर्थ ज्ञात। पश्चात वह भी पावत अस्त। नहीं यह शास्त्र समस्त। परब्रह्म ही स्वयं।।८५।। कैसे विश्व को कृपा से। करके महानंद सुलभ जैसे। दिखाया अर्जुन मिष से। श्रीकृष्ण देव ने।।८६।। चकोर का करके

निमित्त। तीनों भुवन को संतत। शमवत वह कलावंत। चंद्र जैसा।।८७।। कलिकाल के महाज्वर–। से पीड़ित जन का करने उद्धार। गौतम मिष से शंकर। गंगा को देत।।८८।। वैसे दुग्ध यह गीता को। वत्स करके पार्थ को। दोहत इस गाय को। समस्त जगकारण।।८९।। यहां जीव से यदि करोगे स्नान। होगे गीता स्वरूप पूर्ण। अथवा केवल पारायण। जिव्हा से यदि।।१६९०।। लोह यदि एक अंश से। स्पर्श करे पारस से। सहज पूर्णत्व से। सुवर्ण होय।।९१।। गीतापाठ का यह पात्र। श्लोकपाद यदि स्पर्शत ओष्ठ। तत्क्षण ब्रह्मता से पुष्ट। होवे अंग।।९२।। किंवा यदि मुख मोड़कर। गीता पारायण टालकर। पावोगे श्रवण मात्र–। से फल वही।।९३।। श्रवणपाठ अर्थ से सर्वथा। मोक्ष से न्यून न देत गीता। जैसे किसी को भी समर्थ दाता। नास्ति न कहत।।९४।। अतः विद्वान के साथ। गीता ही एक पढ़ो संतत। क्या लाभ अन्य समस्त। शास्त्रों से यहां?।।९५।। और कृष्णार्जुन में मुक्त। विशद हुई जो बात। वह व्यासने की करतलगत। होवे ऐसी।।९६।। बालक को अति प्रेम से। माता जिमाने बिठाएं जैसे। योग्यता उनकी जानकर। वैसे करत ग्रास।।९७।। या अनिवार समीर को। ज्ञानी स्वाधीन उसको। करत जैसे विंजन को। निर्माण कर।।९८।। जो ज्ञान शब्दातीत। अनुष्टुभ छंद में वह ग्रथित। स्त्री शुद्र बुद्धि को होवे ज्ञात। किया ऐसे।।९९।। स्वाति नक्षत्र के पानी से। न होते यदि मोती उससे। तब सुंदरियों के कैसे। शोभित अंग।।१७००।। नाद न यदि वाद्य में समाहित। तब कैसा गोचर होवत। पुष्प न यदि होते प्राप्त। आमोद कैसा?।।१।। यदि मधुर न होवे पक्वान्न।

कैसा रसना को रसास्वादन। दर्पण बिन नयन को नयन। दिखत कैसे।।२।। दृष्टा श्रीगुरुमूर्ति। यदि न होवे साकार किरीटि। तब शिष्य को उसकी उपास्ति। संभव कैसी।।३।। वैसे वस्तु जो संख्यातीत। वह संख्या में सप्तशत। न किया होता ग्रथित। होवे ज्ञान कैसे?।।४।। मेघ करे सिंधुजल धारण। किंतु जग को होवे उसका ही दर्शन। अमर्याद सिंधु से अर्जुन। लाभ किसको?।।५।। और वाचा को जो अप्राप्त। वे ये श्लोक सुंदर यदि न रचित। श्रवण मुखको यथार्थ। पावक कैसे?।।६।। अतः श्री व्यास श्रेष्ठ ग्रंथकार। विश्व को हुआ उपकार। जो श्रीकृष्ण उक्ति साकार। की ग्रंथ में।।७।। और वही ग्रंथ सांप्रत। श्री व्यास के पद निरखत। श्रवण पथ को किया प्रकट। प्राकृत में अब।।८।। व्यासदिक का उन्मेख। होवे जहां साशंक। वहां मैं भी एक रंक। बकवास करत।।९।। किंतु गीता ईश्वर भोला सरल। धारण करे व्यासोक्ति सुमन माल। किंतु नाही न करे मेरे दूबादल। कदापि वह।।१७१०।। और क्षीरसिंधु के तट–। पर आवे जल पीने गजघट। वहां क्या मच्छर मुरकट–। को रोकत कोई?।।११।। नवजात पंख पखेरू। न उड़त किंतु नभ में ही स्थिरू। गगन जो आक्रमत सत्वरू। वह गरुड़ भी वहां।।१२।। राजहंस का चलना। उत्कृष्ट जग में माना। इसलिये क्या न कभी चलना। अन्य किसी ने?।।१३।। सुनो अपने अवकाश से। समावत कलश में बहु जल जैसे। किंतु चुल्लु में चुल्लु जैसे। क्या न भरे वह।।१४।। मशाल का बड़ा आकार। तेज धारण करे बहुर। वहां क्या न शक्ति अनुसार। प्रकाशत बाती?।।१५।। अजी! समुद्र के विस्तार से।

आभासत नभ समुद्र में जैसे। क्या न ड़बरे में ड़बरा जैसे। बिंबत वह?।।१६।। वैसे व्यासदिक महामति। प्रवृत्त इस ग्रंथ में किरीटि। क्या हम जैसे अल्पमति। को मज्जाव वहां?।।१७।। जिस सागर में जलचर। संचरत मंदराकार। क्या मछलियां उनको देखकर। तैरना छोड़े?।।१८।। अरुण अंग समीप पार्थ। अतः सूर्य को देखत। वहां भूतल की क्या न देखत। चीटी उसको?।।१९।। इसलिये हम जन प्राकृत--। न देशी भाषा में गीता ग्रथित। क्या इसमें हुआ अनुचित। बोलो आप ही।।१७२०।। और पिता आगे चलत। पुत्र पदचिन्ह देखके अनुसरत। तब क्या न वह पहुंचत। इष्ट स्थान?।।२१।। वैसा व्यास के पद चिन्ह पर। भाष्यकारों को बाट पूछकर। अयोग्य मैं न पाऊं चलकर। गंतव्य बिन अन्य।।२२।। और पृथ्वी जिसकी क्षमा से। स्थावर जंगम सम्हाले जैसे। चंद्रमा जिसके अमृत से। शमवत जग।।२३।। जिसकी सत्ता से आंगिक। तेज लेकर अर्क। अंधेर समुदाय अशेख। करत दूर।।२४।। समुद्र को जिससे तोय। तोय को जिससे माधुर्य को सौंदर्य। कृपा से जिसकी।।२५।। पवन को जिसका बल। आकाश जिससे विशाल। ज्ञान जिससे उज्ज्वल--। चक्रवर्ती।।२६।। वेद जिससे सुभाष। सुख जिससे सोल्लास। विश्व जिससे रूपस। सुनिश्चित।।२७।। वह सर्वोपकारी समर्थ। सद्गुरु श्री निवृत्तिनाथ। मेरे भीतर होकर प्रविष्ट। वास करत।।२८।। अतः अनायास जग में गीता। मैं कहूं प्राकृत में तत्त्वता। क्या विस्मय को वार्ता। कोई यहां।।२९।। मिट्टी की बनी गुरुमूर्ति। बनमें सम्मुख जिसके थी। हुई एकलव्य की कीर्ति। मान्य त्रिजगत में।।१७३०।। चंदन के सांनिध्य में

वृक्ष। हुए चंदनसम देख। सूर्यसम हुई प्रदीप्त। छाटी वशिष्ठ की।।३१।। तब मैं चेतन शुद्ध चित्त। और सहायक श्रीगुरु समर्थ। जो दृष्टिपात से देत। निजपद अपना।।३२।। पहले ही सतेज दृष्टि। और सर्वत्र सूर्यप्रकाश की व्याप्ति। तब न दिखे ऐसी सृष्टि–। में वस्तु कौनसी?।।३३।। अतः मेरे नित्य नूतन। श्वासोच्छवास भी होवे प्रबंध पूर्ण। क्या न शक्य गुरुकृपा से सुजन!। कहे ज्ञानदेव।।३४।। अतः मैंने प्राकृत में समस्त। श्री गीतार्थ किया व्यक्त। जो होवे सुस्पष्ट। विषय दृष्टि का।।३५।। किंतु प्राकृत भाषारंग–। में निरूपण करते गीता अंतरंग। लाये गायक को वही सुरंग। न्यून न कोई।।३६।। कोई करे गीता गायन। ओवियां यही होंगी भूषण। करे यदि कोई वाचन। पावे गीतार्थ पूर्ण।।३७।। धारण न किया शरीर पर। तब वह मुक्त श्रृंगार। पहिना यदि सुंदर अंगपर। तब कहना क्या?।।३८।। मोती सुवर्ण जड़ित। सुवर्ण को शोभा देत। किंतु वैसे भी मुक्ता शोभत। निजकांतीसे।।३९।। ग्रथित अथवा मुक्त। न होवे परिमल लुप्त। वसंतागम में सुशोभित। बेला पुष्प जैसे।।१७४०।। गायक को शोभा देत। बिन गायन भी रंग लावत। वह ओवी छंद में रचित ग्रंथ। लाभदायक।।४१।। आबालवृद्ध को सुबोध। ऐसे अक्षर ओवीबद्ध। जो ब्रह्मरस सुस्वाद–। से पिरोये मैंने।।४२।। चंदन तरु का सर्वत्र। परिमल होने प्रकट। न आवश्यक पुष्प पर्यंत। प्रतीक्षा कोई?।।४३।। वैसे यह प्रबंध श्रवण। समाधि लागे तत्क्षण। सुनकर करने व्याख्यान। क्या न लागे व्यसन?।।४४। करके ग्रंथ का पठण। पांडित्य आवे अंग में पूर्ण। तब सहज प्राप्त अमृत को न्यून। माने

वह।।४५।। वैसे कवित्व यह अनायास। प्रकट हुआ यहां विशेष। श्रवण ने मनन निदिध्यास। जीत लिये अब।।४६।। उत्तम स्वानंद भोग की प्राप्ति। किसी को भी देगा निश्चिति। सर्वेंद्रियों की करावे तृप्ति। श्रवणमात्र से।।४७।। चतुरता से अपनी चकोर। चंद्रामृत प्राशत चतुर। किंतु चांदनी का भोग समग्र। जग को जैसे।।४८।। इस अध्यात्मशास्त्र में वैसे। आत्मनिरत ही अधिकारी जैसे। किंतु होंगे सुखी वाक्‌चातुर्य से। अन्य लोग।।४९।। ऐसे श्री निवृत्तिनाथ–। का गौरव देखो यथार्थ। न केवल यह ग्रंथ। कृपा वैभव उनका।।१७५०।। क्षीरसिंधु परिसर में। शक्तिदेवी के कर्णकुहर में। कहा जो त्रिपुरारी ने जाने कब।।५१।। वह क्षीरकल्लोल में स्थित। मकर उदर में गुप्त। जो थे उनके हाथ। हुआ प्राप्त।।५२।। वही जानो मत्स्येंद्रनाथ। सप्त शृंगीपर जो चौरंगीनाथ। भग्नावयव भेटते ही वह होत। संपूर्ण सर्वांग में।।५३।। तब समाधि अव्यत्यया। भोग इच्छा से दिया। मुद्राज्ञान श्री गोरक्षराया–। को मीननाथ ने।।५४।। जो योगब्जिनीका सरोवर। विषय विध्वंसैक वीर। किया सर्वेश्वर पदपर। अभिषिक्त उसको।।५५।। पश्चात उन्होंने वह शांभव। अद्वयानंद वैभव। संपादित सप्रभव। श्री गहिनीनाथ को।।५६।। तब भूतजात यह समस्त। देखकर कलिकाल ग्रस्त। आज्ञा देत गहिनीनाथ। श्रीनिवृत्तिनाथ को ऐसी।।५७।। जो आद्यगुरु श्री शंकर। उनका रहस्यज्ञान अपार। शिष्य परंपरा से समग्र। प्राप्त हमको।।५८।। सो वह लेकर पूर्ण। उबारने कलि पीड़ित जन। दौड़कर शीघ्र छुड़ाओ बंधन। सर्वप्रकार से।।५९।। पहले ही वह कृपाल। उसपर गुरुआज्ञा के बोल। हुआ जैसा वर्षाकाल।

क्षोभित मेघ को।।१७६०।। तब आर्त की दया से। गीतार्थ ग्रथन मिषसे। जो वर्षत शांतरस से। सो ग्रंथ यह।।६१।। वहां मैं चातकसम तृषार्त। सम्मुख आया दौड़त। अतः यश यह प्राप्त। हुआ मुझको।।६२।। एवं परंपरा से प्राप्त। समाधि धन अपना स्वतंत्र। ग्रंथरूप से दिया एकत्रित। गोसावी ने मुझको।।६३।। न किया मैंने वाचन पठन। न मुझको गुरुसेवा का ज्ञान। कैसी करने ग्रंथ निर्माण। योग्यता मुझको।।६४।। किंतु कृपालु मेरे सद्गुरुनाथ। ज़ो करके मुझको निमित्त। प्रबंधरूप से जग का समस्त। जानो किया रक्षण।।६५।। वह मैंने पुरोहित गुण से। निरूपित जो अधिक न्यून जैसे। वह आप मातृपन से। सहना जी।।६६।। शब्द की कैसी योजना?। प्रमेय में कैसे बढ़ना?। अलंकार कैसे साधना?। न जानू मैं।।६७।। देखो कठपुतली जैसे। चले सूत्रधार के सूत्रसंग से। मुझको दिखाकर बोलत वैसे। स्वामी मेरे।।६८।। इसलिये मैं गुणदोष। विषय में क्षमा न मांगू विशेष। जो गुरुसंजात ग्रंथोपदेश। किया ग्रथित मैंने।।६९।। और आपकी संत सभा में कोई। न्यून शेष रहा कुछ ही। यदि अपूर्ण वह, दुलार से आपसे ही। होऊं कुपित मैं।।१७७०।। स्पर्श होकर पारस का। न गया हीनत्व लोह का। तब हुआ दोष किसका। बोलो आप ही?।।७१।। ओहर का यही कार्य। जो प्राप्त होवे गंगा प्रवाह। तब भी यदि गंगा न होय। बोलो क्या करे वह?।।७२।। मेरा भाग्य योग महान। जो पाये आप संतों के चरण। अब क्या मुझमें न्यून। रहेगा जग में?।।७३।। जी समर्थ मेरे स्वामी। मेल किया आप संतों से नामी। जिससे हुआ सर्वकामी। परिपूर्ण मैं।।७४।। आप

समान उदार। पाया मैंने नैहर। अतः हठ ग्रंथ का दुष्कर। हुआ सिद्ध।।७५।। जी कनक का निखिल। ढ़ालना शक्य भूमंडल। चिंतामणि के कुलाचल–। का निर्माण शक्य।।७६।। सप्त ही सागर। अमृत से भरना सुकर। चंद्र करना न दुष्कर। तारांगण को।।७७।। कल्पतरू का उद्यान। लगाना नहीं कठिन। किंतु गीतार्थ का आकलन। गहन अति।।७८।। वह मैं सर्वथा मूक। कहकर प्राकृत में लोक। चक्षु से देखे प्रत्यक्ष। किया ऐसा।।७९।। इतना महाग्रंथ सागर। लांघकर किया पार। फहराया परतीरपर। कीर्तिध्वज मैंने।।१७८०।। वहां गीतार्थ का प्राकारू। कलशाध्याय महामेरू। मंदिर में पूजी श्रीगुरु–। मूर्ति मैंने।।८१।। गीतामाता निष्कपट। बालक भूलकर घूमे व्यर्थ। उन मातापुत्र की होवे भेंट। यह धर्म आपका।।८२।। आप सब संतजन। कृपा मुझपर की महान। जो मैं होकर समर्थ किया प्रवचन। कहे ज्ञानदेव।।८३।। क्या कहूं बहुत सकल। पाया मैंने जन्मफल। जो ग्रंथसिद्धि सकल। कर दी आपने।।८४।। मैंने जिन-जिन आशाओं से भरोसा किया आपसे। पूर्ण करके आपने जैसे। किया सुखी।।८५।। मेरे लिये ग्रंथ की स्वामी। की दूजी सृष्टि यह जो नामी। वह देखकर हंसे महाकर्मी। विश्वामित्र को भी।।८६।। जो त्रिशुंकु के उद्देश्य से। न्यून लाये विधाता को जैसे। क्षणभंगुर नहीं निश्चित से शाश्वत यह।।८७।। उपमन्यु के वात्सल्य से। निर्मित क्षीरसागर शंभु ने जैसे। वह भी उपमा न पावे उससे। जो विषगर्भ वह।।८८।। अंधेरा और निशाचर–। से त्रस्त हुआ जब चराचर। प्रार्थना से आया भास्कर। किंतु तापदायक वह।।८९।। संतप्त जग देखकर। शमवत चांदनी की वर्षीकर।

किंतु कलंकयुक्त वह चंद्र। भी पावे उपमा कैसी?।।१७९०।। अतः आप संतजन। कराया मुझसे ग्रंथ निर्माण। त्रिजगत् में उपयुक्त पूर्ण। निरूपम यह।।९१।। किंबहुना आपका किया। धर्म कीर्तन यह सिद्ध हुआ। बचा शेष जो यहां। सेवकपन मेरा।।९२।। अब हे विश्वात्मक सदये!। इस वाग्यज्ञ से तोषिये संतोष से मुझे दीजिये। पसायदान। यह।।९३।। हो खलों का कुटिलत्व नाश। उन्हें सत्कर्म में रति हो अशेष। बढ़े भूतों में परस्पर विशेष। मित्र भाव।।९४।। दुरितों का तिमिर जावे। विश्व स्वधर्म सूर्य उदित होवे। जो, जो वांछत सो वह पावे। प्राणिजात।।९५।। वर्षत सकल मंगलमय। ईश्वर निष्ठों का समुदाय। अनवरत भूमंडल में यह। मिले सबको।।९६।। चलते कल्पतरू का आरव। चेतन चिंतामणि का गांव। मुखरित मूर्त अर्णव। पियूष के जो।।९७।। चंद्रमा जो अलांछन। मार्तण्ड जो तापहीन। वे सबको सदा सज्जन। होवे प्रियजन।।९८।। किंबहुना त्रिलोक पूर्ण। होवे सब सुख से संपूर्ण। करे आदिपुरुष का भजन। अखंडित।।९९।। और ग्रंथोपजीविक। इश जग में विशेख। होवे दृष्टादृष्ट सुख। प्राप्त उनको।।१८००।। तब कहत श्री विश्वेशराव। होगा इच्छित दान। पसाव। हुआ इस वर से ज्ञानदेव। सुखी संपूर्ण।।१।। ऐसे यह कलियुग में। और महाराष्ट्र देश में। प्रशांत दक्षिण भाग में। श्री गोदातट पर।।२।। त्रिभुवनैक पवित्र। पंचक्रोश अनादि क्षेत्र। चलाये जहां से जीवन सूत्र। मोहिनी राज।।३।। वहां यदुवंश विलास। जो सकल कला-निवास। न्याय से पोषत क्षितीश। श्री रामचंद्र।।४।। वहां श्री महेशान्वय संभूत। श्री निवृत्तिनाथ का सुत। किया

देशीकार में गीता को अलंकृत। श्री ज्ञानदेव ने।।५।। महाभारत ग्रंथ में। प्रसिद्ध भीष्मपर्व में। श्रीकृष्णार्जुन सुसंवाद में। वर्णित जो।।६।। जो सब उपनिषदों का आगार। सब शास्त्रों का नैहर। सेवित रम्य क्रीड़ा सरोवर। परमहंसों ने जो।।७।। ऐसा गीता का पूर्ण कलश। अध्याय यह अष्टादश। कहे ज्ञानदेव निवृत्तिदास। हुआ संपूर्ण यहां।।८।। आगे आगे सब जीवजाति। लाहे इस ग्रंथ की पुण्य संपत्ति। होवे संपूर्ण सुख की प्राप्ति। सबको सदा।।९।। शके बारह शत बारोत्तर। तब भाष्य करत ज्ञानेश्वर। सच्चिदानंद बाबा सादर। लेखन होत।।१८१०।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सर्वगीतार्थसंग्रहोनाम अष्टादशोऽध्यायः।।
(श्लोक ७८; ओवियाँ १८१०)
ॐ श्रीसच्चिदानन्दार्पणमस्तु।।

श्री एकनाथजी ने ज्ञानेश्वरी ग्रंथ संशोधित करने के उपरांत ज्ञानेश्वरी संबंधित विरचित ओवियां–

पंधारासौ छटवे श्री शक में। तारण नाम संवत्सर में। अत्यादर से की एकनाथ जी ने। गीता ज्ञानेश्वरी प्रति शुद्ध।।१।। ग्रंथ पहले ही अतिशुद्ध। किंतु पाठभेद से शुद्ध अबद्ध। वह खोजकर एवंविध। प्रतिशुद्ध सिद्ध ज्ञानेश्वरी।।२।। नमो ज्ञानेश्वरा निष्कलंका। जिनकी गीता की पढ़ते टीका। ज्ञान होवे लोगों को नीका। अतिभाविक ग्रंथार्थियों को।।३।। बहुकाल पर्वणी चोखटी। भाद्रपद मास कपिला षष्ठी। प्रतिष्ठान में श्री गोदातटी। हुआ लेखनकार्य संपूर्ण।।४।।

अनुवादिका द्वारा–

ॐ नमोजी ज्ञानेश्वर। आत्मज्ञानी योगीश्वर। संतश्रेष्ठ कवीश्वर। आराध्य उर्मिला के।।१।। प्रतिशुद्धि पश्चात चारसौ साल में। श्रीशके उन्नीससौ छटोत्तर में। रक्ताक्षी नाम संवत्सर में। अद्भुत रचना यह।।२।। श्री ज्ञानेश्वरजी की वाणी। प्राकृत साहित्य का मुकुटमणि। आविष्कृत हिंदी में चिंतामणि–। सम फलदायक जो।।३।। पाया गुरुकृपामृत का घूंट। श्री गीता ज्ञानोर्मि हुई प्रकट। किया गुह्य आत्मज्ञान स्पष्ट। सुलभ सबको।।४।। आषाढ़ मास पक्ष शुद्ध। पुण्य पर्व एकादशी प्रसिद्ध। भृगुक्षेत्र में अनुवाद हुआ सिद्ध। पावन रेवा तट पर।।५।।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु। श्री ज्ञानेश्वरार्पणमस्तु
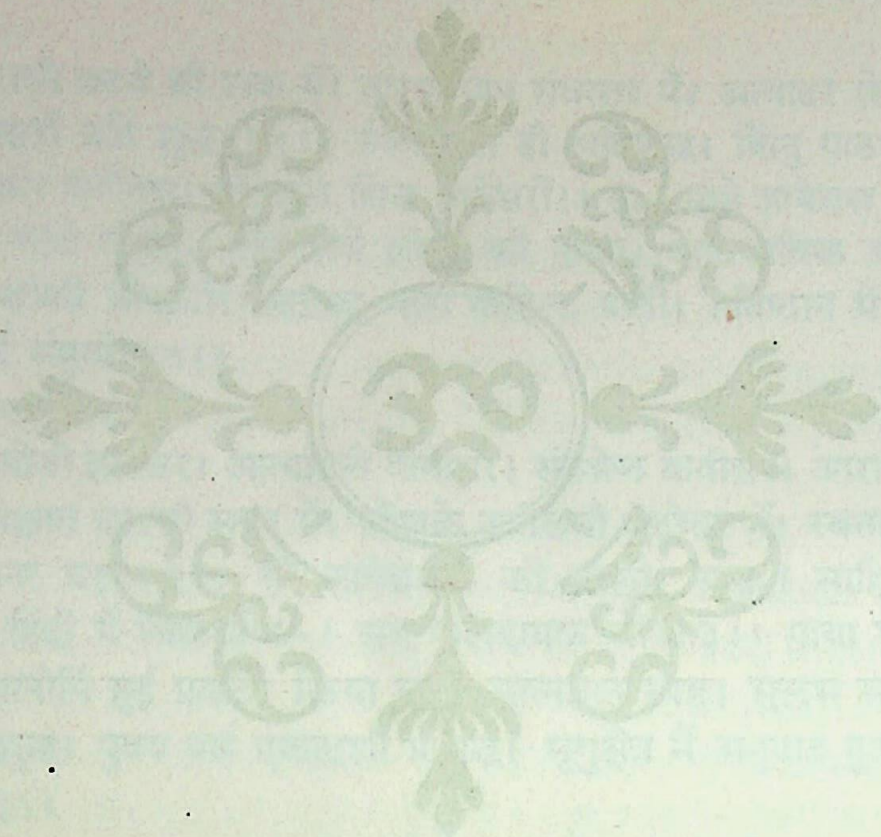
श्री ज्ञानेश्वरी शुद्धिपत्रक

अध्याय पहला :

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
४	५३	३	भीष्मपर्व सुनय	भीष्मपर्व में सुनय
४	५३	३	वर्णित जो निर्देशित।।	वर्णित जो।।
७	८९	४	अंबर तर।।	अंबर तक।।
८	१०४	४	कुलांत मनमें।।	कृतांत मन में।।
९	१२	२	जंग श्रेष्ठ	जगश्रेष्ठ
१४	७६	१	तहां	वहाँ
१५	८८	१	अवधारे	अवधारो
१६	२०६	३	आत	आवत
१७	९	२	वज्र	वज्र

अध्याय दूसरा :

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
२९	७३	४	लड़ूंगा	लढूंगा
३०	८५	१	सस्वरूप	स्वस्वरुप
३२	११९	३	ज्ञानत	जानत
३९	९४	३	धर्ममान	वर्धमान
४३	२५६	३	पूरिपूर्ण	परिपूर्ण
४७	९८	२	क	का

अध्याय तीसरा :

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
५४	१५	४	क्या	
६१	११३	३	स्थलको	स्थल-।को
६२	२३	३	अमृतपानसे	अमृतपान-।से
६५	१७०	३	सर्वदा	सर्वथा
६८	९८	४	सूचत	सूझत

अध्याय चौथा :

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
८३	९५	२	सम्यक	सम्यग्
८४	११०	१	निजदुष्टि	निजदृष्टि

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
८८	५९	१	समरत	समस्त
८९	६४	३	बिनाक्रम	बिनाकष्ट
९०	७६	१	का प्रदीप्त	का अग्नि प्रदीप्त
९२	२०४	१	निंविड	निबिड़
९२	७	१	ज्ञानशास्त्र	ज्ञानशस्त्र

अध्याय पाँचवाँ :

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
१००	५३	२	जन	जब

अध्याय छटवाँ :

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
१११	१	२	वो ही	वही
११३	२६	२	होत	होवे
११३	३०	१	तैसे	वैसे
११७	७१	४	आपन	आपुन
११७	८३	१	घटाकश	घटाकाश
११७	८४	४	स्वतः सिद्धः	स्वतः सिद्ध
११९	१०५	४	आत्मारत	आत्मरत
१२१	४१	३	बतलाओ	बतलाओगे
१२३	७४	४	सुलभ जहाँ	सतत जहाँ
१२४	८०	१	रूजत	रूचत
१२५	९२	४	रको	रखो
१२७	३६	१	गे	से
१२८	५२	४	दैसा	जैसा
१३३	३२०	१	उनमनिया	उन्मनिया
१३५	५६	३	राज्यतट	राज्यपट
१४४	६३	२	अष्टांग्र	अष्टांग

अध्याय सातवाँ :

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
१५०	५	३	की	भी
१५०	५	४	जिसे	कभी
१५०	११	४	लक्ष्यपर्यंत	लक्षपर्यंत

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
१५१	४७	२	विस्तारसे	व्यवहार से
१५१	४८	१	प्रवर्तन	प्रवर्तत
१६१	१५७	३	रोचन	प्रिय जान

अध्याय आठवाँ :

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
१७१	४८	१	जंधन	इंधन
१७२	६२	३	ब्राह्य	बाह्य
१७६	११६	४	विलसत	विलीन
१७६	१७	४	से	में
१७९	५८	१	सुरगुणों	सुरगंणों
१७९	१६०	२	का	
१८१	८४	३	राजहिस्सा	स्वहिस्सा
१८३	२०९	१	ऐशा	ऐसा
१८७	इतिश्री	——	ब्रह्मानाक्षरनिर्देशो नाम	अक्षर ब्रह्मयोगो नाम

अध्याय नवाँ :

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
१९०	१८	३	दुणवतट	दुणवटत
१९३	५०	३	सामावस्था	साम्यावस्था
१९४	६१	३	तोड़िये	तोडत
१९८	११३	१	ग्रह	यह
२०४	२०६	३	आगे	आवे
२०८	५९	३	की	ही
२२१	४२	१	धरत	ग्रासत

अध्याय दसवाँ :

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
२३०	७	१	दैवि की	दैविकी
२३५	७९	४	बांधत	बाधक
२३५	८६	३	मुझमें	मुझ से
२४१	१५९	१	विश्व	विष
२४३	१९०	१	पूछा	पूछी
२४४	९५	१	हिलाकरत	हिलाकर

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
२४५	२१४	२	असमि	असीम
२४९	६०	१	हथियान	हथियाना
२५८	९	१	नीर	तीर
२६३	७५	२	कि	ही
२६६	१२५	१	धुर्मित	घुर्मित
२६६	१२५	१	सावद्य	सावध
२७३	२११	२	धारणा	धारण
२७४	२२	२	पारज	पारद
२७६	५७	२	स्वापद	श्वापद
२७७	६१	२	चुतरानन	चतुरानन
२८५	३५७	३	प्रवर्तन	प्रवर्तत
२९४	४६४	२	पोपला	पोला
२९५	८०	२	दुर्गद	दुर्मद
३०४	५८३	१	कृताकृत्य	कृतकृत्य
३०५	६०४	३	गोविंद। शोभा	गोविंद शोभत।

अध्याय बारहवाँ :

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
३१७	२६	३	के	से
३२०	७४	२	कुछ	छुए
३२६	१५८	३	वाणि	वाणी
३२८	८२	१	संतप्त	सतत

अध्याय तेरहवाँ :

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
३३३	२	४	के	को
३३६	३४	१	आगुंतक	आगंतुक
३४०	१०५	१	से	के
३४२	१२६	३	उस लाभ की वृत्ति	उपजत जो वृत्ति
३४६	२०६	३	आच्छावत	आच्छादत
३५२	८६	३	अंगलीपर	अंगुलीपर
३५८	३८८	४	लक्ष्य	लक्ष
३५८	९०	१	का	की

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
३५९	४०२	४	पाथ	पार्थ
३६४	७३	३	सृजन	सृजत
३६५	९६	२	धुल	घुल
३६६	५१८	२	अतिकाश्रय	अतिकृश
३६९	६४	१	रंगारू	रंगाऊ
३६९	६८	४	लोढयत	लोटत
३७५	६५१	१	से	ये
३७६	६५	१	के	से
३७६	६८	४	पूर्व	पूर्ण
३७८	९०	२	कळी	कभी
३८०	७२१	३	धड़धड़त	धगधगत
३८१	३७	३	में करे	में न करे
३८५	८०१	३	वैसी	वैसा
४००	१०१३	३	एकसाथ	एकसाथ वैसा

अध्याय चौदहवाँ :

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
४१६	४३	३	वन्हि और जानु	वन्हि यह जानो
४१७	६३	३	तुझसन	तुझसम
४२३	१४७	४	तलपारधी	जलपारधी
४२३	५५	४	ब्राह्यज्ञानसे	बाह्यज्ञानसे
४२४	६०	३	तरुणापन	तरुणपन
४२६	९४	४	बहु	वह
४२७	१४	१	सत्यवर्धन	सत्ववर्धन
४२८	२२	१	सत्यबुद्धि	सत्वबुद्धि
४२९	३७	३	समाज-	समय-
४२९	४३	२	सत्य	सत्व
४३०	५९	४	का	या
४३३	३०३	२	धुरधुरत	घुरघुरत
४३७	४३	३	का	को

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
अध्याय पन्द्रहवाँ :				
४४५	२९	२	प्रसुत	प्रस्तुत
४४७	५७	३	अद्य	अध
४४८	६८	१	सरोवर	सराबोर
४४९	९०	१	पर्थ	पार्थ
४४९	९२	१	संदेहान्तर	देहांकुर
४५४	६७		अथर्व	अथर्वण
४५४			खंड	खड्ग
४६२	२७२	१	सेना	लेना
	७८	३	ही	की
	३२४	१ + २	लक्ष	लक्ष्य
अध्याय सोलहवाँ :				
४८८	९	४	महासिद्ध	महासिद्धि
			मुझे	मैं
४९४	१००	४	लक्ष	लक्ष्य
४९४	१०५	१	करे	कीजे
४९६	१२१	३	कर	करे
४९८	६६	१	महासिद्ध	महासिद्धि
५०१	९९	४	को	का
५०४	२४३	२	नाराज	नाराच
५०९	३१७	२	अभेध्योदक	अमेध्योदक
५०९	२४		दंब मान	दंभ मान
५१२	६०	४	त्याग	याग
५१५	९९	१	अपनो	अपने
५१७	२९	२	पावन	पावत
अध्याय सतरहवाँ :				
५३३	४३	१	वक्रवात	चक्रवात
५३६	८५	४	मृत	नृप

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
५३९	१६	४	न	ने
५४२	६८	१	आरे	आवे
५५५	२	४	फलप्रदा।।	फलप्रद।।
५५५	३	१	निश्चय।	निश्चल।
५५८	३९	१	आभार	उभार
५५८	३९	३	तर	तक
५६७	६९	३	द्रव्यादान	द्रव्यदान
५७५	८१	१	तेरा	तेरे
५९०	५०४	२	नष्ट	कष्ट
५९०	८	४	विल्ळरी	वल्लरी
५९१	९	१	प्रथा	प्रभा
५९१	११	१	कर्था	कर्ता
५९३	४४	३	काल लोप	का लोप
५९८	६०७	४	मतथ	मथत
६०१	५०	१	ग्राह	ग्राम
६०६	७२५	२	कोयल	कोयले
६०८	४९	३	कोयल	कोयला
६०८	५८	३	आश्रय	आश्रम
६१०	८५	२	वे	से
६१७	८८५	२	वर्म	वर्ण
६१९	९०९	४	पावन	पावत
६२१	४०	३	बोलू	बालू
६२८	१०३६		गुडाकर	गडाकर
६३१	७३	२	मित्र	आप्त
६३१	७३	३	न शेष ऐसा द्वेष	ऐसा द्वेष न अवशिष्ट
६३२	११०१	३	पूण बोधमें	पूर्ण बोधमें
६३४	३०	४	श्रुतही	सुनाया
६३५	३३	१	स्वसंविर्ति	स्वसंवित्ति
६३६	५९	३	भाग	भाष
६३९	१२०३	१	वेध	वेद्य

पृष्ठ	ओवी	चरण	अशुद्ध	शुद्ध
६४०	१९	३	होव	होवे
६४५	७९	२	ना	नाम
६४६	९८	४	हृद्य	हृदय
६५५	१४२५	१	कृष्णार्जन	कृष्णार्जुन
६५५	२८	४	समुखसे	स्वमुखसे
६५८	६७	२	घेरोद्देय	घरोद्देश
६६०	१५०१	४	न छोडा	ने छोडा
६६१	१०	४	धनुर्धार	धनुर्धर
६६५	७१	२	कृत्याकृत्या	कृत्याकृत्य
६६५	७३	२	सव्य	सेव्य
६७५	१७०६	४	पावक	पावत
६७६	२०	२	न	ने
६७६	२५	३	को सौंदर्य	माधुर्य का सौंदर्य
६८१	९७	४	पियूष	पीयूष
६८१	१८००	२	इश	इस
६८१	१०	४	लेखन	लेखकु

* * *